निवेदिता

रजत जयंती अंक

१९९८

कुबेरनाथ राय विशेषांक

स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय

गाजीपुर

निवेदिता

रजत जयंती अंक, १९९७

कुबेरनाथ राय विशेषांक

प्रधान संपादक

डॉ. मान्धाता राय, प्राचार्य

स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय

गाजीपुर

प्रकाशक :
प्राचार्य
स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय
गाजीपुर

विशेष सहयोग
डॉ. अवध बिहारी राय
श्री नागानन्द वात्स्यायन
डॉ. वरमेश्वर नाथ राय

वर्ष १९९७

मुद्रक :
रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड
बी. २१/४२ ए, कमच्छा,
वाराणसी

दण्डी स्वामी सहजानन्द सरस्वती
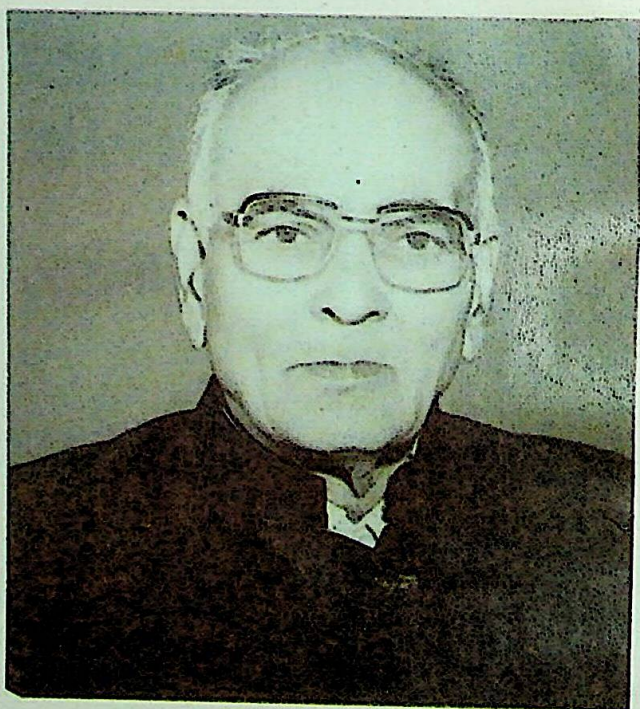
संस्थापक
स्व. केशव प्रसाद शर्मा
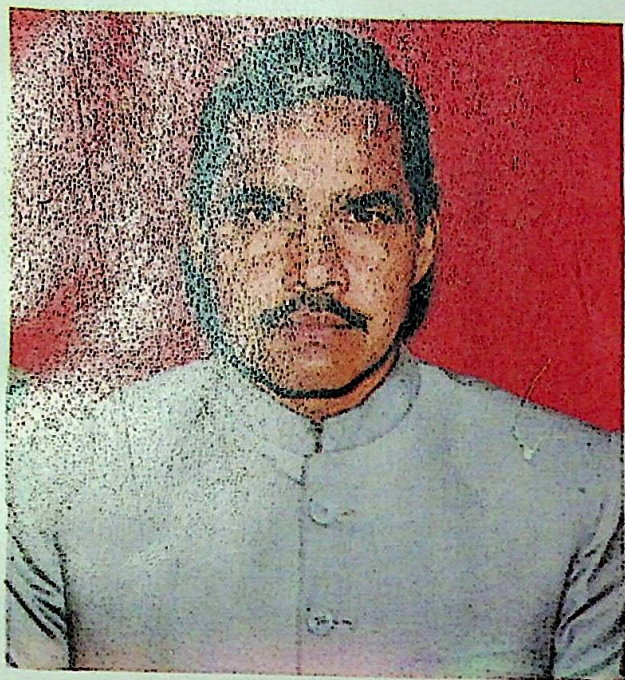
डॉक्टर मान्धाता राय

- प्राचार्य

कवीन्द्र नाथ शर्मा

मंत्री/सचिव, प्रबन्ध समिति

संपादकीय

पत्रिका के रजत जयंती अंक के रूप में संस्था की अब तक की गतिविधियों, स्वामी सहजानन्द सरस्वती तथा देश और समाज की ज्वलन्त समस्याओं से संबंधित सामग्री प्रकाशित करने की योजना थी, किन्तु 5 जून, 1996 को पूर्व प्राचार्य श्री कुबेरनाथ राय के आकस्मिक प्रयाण के बाद परिदृश्य बदल गया और पूरा अंक उन्हें समर्पित कर देना अधिक श्रेयस्कर लगा । इस कार्य में सार्थक प्रेरणा और सहयोग प्रबंध के सदस्य डॉ. अवधबिहारी राय, पं. नागानन्द वात्स्यायन और डॉ. बरमेश्वर नाथ राय से मिला । गुरुवर डॉ. शिव प्रसाद सिंह जी ने सुझाव दिया कि अच्छी सामग्री छपी भी हो तो उसका उपयोग करना । ऐसी सामग्री का भरपूर उपयोग इस विशेषांक में किया गया है । डॉ. वेद प्रकाश पाण्डेय और डॉ. महेन्द्रनाथ राय ने अपना आलेख भेजने के साथ-साथ दूसरों से भी सामग्री भेजवायी । विश्वविद्यालय प्रकाशन के श्री पुरुषोत्तम दास मोदी ने प्रोत्साहित करने के अतिरिक्त डॉ. विद्या निवास मिश्र का आलेख उपलब्ध कराया ।

हमारा संकल्प था कि कुबेरनाथ राय पर मानक अंक निकले । विषय की रूप-रेखा तैयार होने पर भाई नागानन्द जी ने स्व. राय के परिचित लोगों को अपनी ओर से पत्र लिखा और घर रखी सामग्री की छायाप्रति तथा चित्र उपलब्ध कराया । डॉ. अवध बिहारी राय और डॉ. बरमेश्वर नाथ राय दिल्ली तक गये । मेरे अथक प्रयास के बावजूद 'ललित निबन्ध और कुबेर नाथ राय' अध्याय की अधिकांश सामग्री कुछ लोगों के बार-बार आश्वासन देकर भी न भेजने के कारण नहीं उपलब्ध हो सकी । इसी प्रकार चार पुस्तकों की समीक्षा भी नहीं आयी । शेष सामग्री भेजने के लिये हम सहयोगी विद्वान् लेखकों के आभारी हैं ।

स्व. कुबेरनाथ राय एक यशस्वी लेखक के पूर्व मेधावी विद्यार्थी रहे । हाईस्कूल परीक्षा शिवपूजन इण्टर कालेज मलसा (गाजीपुर) से और इण्टरमीडिएट परीक्षा विज्ञान विषयों के साथ क्वीन्स कालेज, वाराणसी से प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए और उन्हें आठवीं पोजीशन मिली । बी.ए. अंग्रेजी, दर्शनशास्त्र और गणित विषयों को लेकर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से तथा एम.ए. (अंग्रेजी), कलकता विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण हुए । लेखन के लिये प्रेरक के रूप में वे पं. श्री नारायण चतुर्वेदी का आभार मानते थे जिन्होंने उनको 'धर्मयुग' से जोड़ा । स्व. राय ने आरंभ में कविताएं लिखी फिर निबन्ध की ओर मुड़े और उस विधामें बहुविध प्रयोग किये । अंत में भी उनका झुकाव कविता के प्रति हुआ । निबन्धों में वे गांव की माटी से बराबर जुड़े रहे । धरती, मनुष्य और ईश्वर के जिस अविभाजित 'त्रिक' का

उल्लेख उन्होंने कई बार किया है उसमें वस्तुतः लोक संस्कृति, लेखक का निजीपन और भारतीय दर्शन का समन्वित रूप ही अभिव्यक्त हुआ है । जिस हाहाकार की वे बात करते हैं वह वस्तुतः प्रसाद जी की 'वेदना की विवृत्ति' है । वे अन्तर्मुखी व्यक्ति थे, कम बोलना, लोगों से कम मिलना एकान्त जीवन साधना, पढ़ने की अबाध भूख और बीच में घुमड़ते-घुमड़ते सृजन की पीड़ा, यही था उनका जीवन । परिवार के वैष्णव संस्कार ने उन्हें भगवान् राम से जोड़ा । गंगातीरी गांव के निवास ने निषाद संस्कृति की ओर खींचा तो सुदूर असम की लंबी सेवावधि ने किरात संस्कृति में मन रमाया । स्वाभाव और संस्कार से विनम्र कुछ भीरुता की हद तक । निबन्धों में आये सन्दर्भों की बहुलता और उन सभी को प्रस्तुत करने की उत्कट अभिरुचि के चलते लेखन में वह सहजता नहीं आ पायी जो साधारण पाठक के लिये भी बोधगम्य हो सके । उत्तर कालीन कई निबन्ध जैसे संस्कृति का शेषनाग, कबूतर पुराण, फागुन डोम आदि अपवाद हैं । 'उत्तर कुरु' को उन्होंने अंतिम निबन्धं संग्रह बताते हुए कहा था आगे कुछ लिखूंगा तो भिन्न और लिखे भी । कंथामणि (कविता संग्रह) इसका प्रमाण है । यह अकेला ग्रंथ उनके कवि रूपको स्थापित करेगा । डॉ. विद्या निवास मिश्र की यह टिप्पणी पर्याप्त है 'यह पूरा का पूरा ग्रंथ विशिष्ट प्रकार ... संग्रह है । इसे अपने ढंग का आधुनिक हिन्दी में नया संग्रह कह सकते हैं ।'

प्रस्तुत अंक के लिये साहित्येतर सामग्री बहुत मिली थी किन्तु पत्रिका के कलेवर और स्तर को ध्यान में रखकर उसे हटाना पड़ा । अनेक कविताएं थी जिन्हें भविष्य के लिये अलग कर दिया गया । इसके लिये उन सभी लोगों से क्षमा प्रार्थी हूं । विद्वत् समुदाय के समक्ष अपने लघु प्रयत्न को संकोचपूर्वक इस भरोसे के साथ रख रहा हूँ कि इसमें जो कमियाँ हों अथवा जो पक्ष छूट गया हो उस ओर ध्यान दिलाकर हमारा मार्ग दर्शन करें ताकि अपेक्षित संशोधन के साथ इसे पुस्तक रूपमें प्रकाशित किया जा सके । जिन महानुभावों ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर रचनाएं भेजी अथवा शुभकामना दी उन सभी के प्रति संस्था की ओर से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं । जिन लोगों ने बार-बार आश्वासन देकर भी कुछ नहीं भेजा और जिनके चलते प्रकाशन में विलम्ब हुआ उनके प्रति भी सम्मान व्यक्त करते हुए हम भविष्य में सहयोग की कामना करते हैं । कई लेखकों के कुछ अंशों को काटना पड़ा । ऐसा पाठकों को तथ्यों की पुनरावृत्ति से बचाने और व्यास पद्धति की घबराहट को कम करने के लिये विवशता से करना पड़ा । इसके लिये भी उन बन्धुओं से हम क्षमा चाहतें हैं । सुन्दर छपाई के लिए रत्ना प्रेस के मालिक श्री वी. एस. पंड्या का आभारी हूं ।

मान्धाता राय

●

विषय-सूची

●

शुभ कामना संदेश

राष्ट्रपति
भारत गणतंत्र

PRESIDENT
REPUBLIC OF INDIA

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर रजत जयंती वर्ष में पत्रिका का विशेषांक अपने पूर्व प्राचार्य एवं यशस्वी निवन्धकार श्री कुवेर नाथ राय पर प्रकाशित करने जा रहा है । श्री राय के निबन्धों में भारतीय संस्कृति एवं मानवीय कल्याण की उदात्त भावना निहित है । इस अवसर पर महाविद्यालय के उज्ज्वल भविष्य एवं विशेषांक की सफलता के लिये अपनी शुभकामनाएं प्रेषित करता हूँ ।

(शंकर दयाल शर्मा)

नई दिल्ली
२५ जनवरी, १९९७

अटल बिहारी वाजपेयी
नेता, प्रतिपक्ष
लोक सभा

13 दिसम्बर, 1996

संदेश

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाज़ीपुर स्वनामधन्य श्री कुबेरनाथ राय की पुण्य स्मृति में एक स्मारिका प्रकाशित करने जा रहा है, जिसमें उनके कृतित्व और व्यक्तित्व पर पठनीय सामग्री प्रस्तुत की जायेगी ।

श्री कुबेरनाथ राय बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और उन्होंने साहित्य की प्रायः सभी विधाओं को अलंकृत और समृद्ध किया । उनके द्वारा लिखित निवन्ध अपने भाव, भाषा तथा शैली के लिए माँ भारती के भण्डार की अक्षय निधि हैं । उनके विचारों की गहराई, उनकी अभिव्यक्ति की स्पष्टता और चिन्तन के क्षेत्र में नये आयाम जोड़ने की उनकी क्षमता विज्ञ पाठकों को सदैव ही प्रेरणा देती रहेगी ।

मुझे विश्वास है कि स्मारिका में उनके जीवन और लेखन के अनछुए पहलू पाठकों तक पहुंचाये जायेंगे और हम उस महान् साहित्यकार की पवित्र स्मृति में अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करने में समर्थ होंगे ।

(अटल बिहारी वाजपेयी)

❑

डॉ० कर्ण सिंह

20 सितंबर, 1996

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर अपनी पत्रिका "निवेदिता" का आगामी अंक "कुवेर नाथ राय विशेषांक" के रूप में निकालने जा रहा है । स्वर्गीय कुबेर नाथ राय वास्तव में अच्छे निबंधकार एवं चिंतक थे । इस अंक से उनसे जुड़े सभी पाठकों को पूर्ण जानकारी प्राप्त होगी । मैं इस अंक की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभकामनायें प्रेषित करता हूँ ।

(कर्ण सिंह)

शुक्रवार, नई दिल्ली-110021

प्रो० सिद्धेश्वरप्रसाद
राज्यपाल, त्रिपुरा

राजभवन, अगरतला
दिसम्बर 2, 1996

संदेश

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर, श्री "कुबेरनाथ राय विशेषांक" के रूप में "निवेदिता" का अंक प्रकाशित कर रहा है।

श्री कुबेरनाथ राय हिन्दी-साहित्य की विरल विभूतियों में थे। वे अनेक विषयों के प्रकाण्ड पंडित एवं अनेक भाषाओं के मर्मज्ञ विद्वान थे। पर सबसे बड़ी उनकी विशेषता थी अपनी मिट्टी से उनका लगाव। आसाम में नलवाड़ो जैसे स्थान में रहकर भी उनका मन गाजीपुर जनपद की अपनी जन्मभूमि में ही रमा रहता था। कालिदास जिस प्रकार से प्रथम मेघ के आगमन से उठने वाली मिट्टी की सोंधी गंध का विस्मरण कभी नहीं कर पाये उसी प्रकार से कुबेरनाथ राय जी ने महान् भारतीय परम्परा के विशाल प्रवाह को सदा अपनी दृष्टि में रखते हुए भी गंगा की उस धारा को ही विशेष महत्त्व दिया जो गाजीपुर की मिट्टी को छूती हुई प्रवाहित होती है। आसाम का अपना प्राकृतिक सौन्दर्य और आकर्षण है। फिर भी उनके लिए गाजीपुर गाजीपुर था। उसका वह स्थान उन्होंने कभी किसी और को दिया नहीं।

"निवेदिता" अपने नाम के अनुरूप अपने उस पृथ्वी-पुत्र को निवेदिता के रूप में इस विशेषांक से विशेष यश अर्जित करे, यही मेरी कामना है।

(सिद्धेश्वर प्रसाद)

❑

राज्यपाल, अरुणाचल प्रदेश

राजभवन, ईटानगर
दिसंबर 30, 1996

संदेश

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि हिन्दी के प्रख्यात ललित निबंधकार एवं प्राचीन भारतीय वाङ्मय के महान अध्येता आदरणीय श्री कुबेरनाथ राय के कार्यों से संबंधित सामग्री, स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर की "निवेदिता" पत्रिका में, स्मृति विशेषांक के रूप में निकलने जा रही है।

श्री राय ने आर्येतर भारत एवं लोक-संस्कृति को प्रकाश में लाने के लिए जो महान् कार्य किया है, वह अविस्मरणीय है।

उम्मीद करता हूँ कि दूसरे विद्वान् भी उनके द्वारा आरंभ किये गए कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होंगे। इस अवसर पर मैं आपके प्रयास और 'निवेदिता' की सफलता के लिए अपनी शुभकामनायें देता हूँ।

भवदीय.

(माता प्रसाद)

सचिव, श्रीराज्यपाल
उत्तरप्रदेश

राजभवन, लखनऊ
दिनांकः – 25-10-96

संदेश

यह जानकार प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर रजत जयन्ती वर्ष में अपनी पत्रिका 'निवेदिता' का "कुबेर नाथ राय विशेषांक" निकालने जा रहा है। स्व. कुबेर नाथ राय एक चिन्तक और भारतीय परम्परा के विशिष्ट लेखक रहे हैं। उन्होंने अपने निबन्धों में भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों का सांगोपांग विवेचन किया है। गंगातीरी निषाद संस्कृति और असम की किरात संस्कृति को उन्होंने जिस कौशल से प्रस्तुत किया है उसके लिये वे सदा याद किये जायेंगे। उन्होंने गांधीवादी जीवन दर्शन को अपने लेखन के साथ-साथ जीवन में भी उतारा था। ऐसे मनीषी की स्मृति में प्रकाशित पत्रिंका समाज के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसकी सफलता के लिये हार्दिक शुभकामना देता हूँ।

(सुबोधनाथ झा)

❑

प्रो० शरत कुमार सिंह
कुलपति

पूर्वाञ्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर
दिनांक- 23-11-96

संदेश

मुझे यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर द्वारा संस्था की पत्रिका "निवेदिता" का अंक यशस्वी निबन्धकार एवं प्रख्यात चिंतक स्व. कुबेरनाथ राय, पूर्व प्राचार्य की स्मृति में "कुबेरनाथ राय विशेषांक" के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। पत्रिकाएं महाविद्यालय की गतिविधि एवं शैक्षणिक उपलब्धियों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ छात्रों में छिपी सर्जनात्मक प्रतिभा का प्राकट्य भी करती हैं। इनका प्रकाशन छात्रहित में अति उपयोगी है। अस्तु, पत्रिका प्रकाशन के अवसर पर मैं छात्रों, प्राध्यापकों एवं महाविद्यालय परिवार को साधुवाद देता हूँ।

(शरत कुमार सिंह)

डॉ. प्रभुदयालु अग्निहोत्री भोपाल
भूतपूर्व कुलपति 6-1-97

संदेश

स्वामी सहजानन्द सरस्वती और स्व. कुबेरनाथ राय इन दोनों नामों के साथ मेरा भावनात्मक लगाव है। स्वामी सहजानंदजी शत प्रतिशत गाँवों और किसानों को समर्पित, यू. पी. के पूर्वाञ्चल और बिहार के ऊपरी भाग के राष्ट्रीय नेता थे। उनकी और राहुल सांकृत्यायन की जोड़ी ने गाजीपुर और उसके चारों ओर के जिलों में गरीब-किसान जनता के बीच स्वाभिमान और क्रान्ति की ज्योति जगा दी थी। लगानबन्दी आन्दोलन के वह पुरोधा थे। इस निमित्त उन्होंने न केवल जेलयातना अपितु और भी बड़े कष्ट सहे। अब ऐसे सत्यनिष्ठ और समर्पित नेता कहाँ हैं? उनके नाम पर स्थापित महाविद्यालय उनके प्रति उचित कृतज्ञताज्ञापन है।

इस महाविद्यालय के साथ स्व. कुबेरनाथ राय की सम्बद्धता स्वर्णमुद्रिका में जड़े माणिक के सदृश थी। स्व. श्रीराय मेरे मित्रों में थे। श्रेष्ठ मौलिक चिन्तन और व्यापक अध्ययन-मनन के साथ उनका भाषा पर विलक्षण अधिकार था। शर्मीले स्वभाव के, प्रचार-प्रसार से दूर, भाषण से घबराने वाले, सीधे-साधे, ग्रामीण स्वभाव के श्री कुबेरनाथ राय स्वामी सहजानंद जी के साहित्यिक परिपूरक थे। उनका कोई आलोचक नहीं रहा। हिन्दी जगत में वह अजातशत्रु, मौन साधक थे। उनकी देन अपूर्व है। साहित्य जगत में ऐसे लोगों की संख्या नगण्य है। ऐसे सम्मानित तपस्वी को पाकर यह महाविद्यालय धन्य हुआ था। उनकी स्मृति में विशेषांक निकालकर आप एक उदात्त चरित साधक का सम्मान कर रहे हैं। मेरी शुभकामनायें आपके साथ हैं,

सप्रेम

प्रभु दयालु अग्निहोत्री

भारतीय भाषा परिषद दि० 2-11-96
कलकत्ता

संदेश

कुबेरनाथ जी के जाने से हिन्दी के विद्या-क्षेत्र को और ललित निबन्ध को गहरी क्षति पहुँची है। उनके अधिकांश निबन्धों में लालित्य और पाण्डित्य का समन्वय है। उनके कई निबन्ध ऐसे है, जो साहित्य की स्थाई निधि हैं।

विशेषांक निकालने के आपके विचार से मुझे बड़ा संतोष हुआ। लगता है कि इसमें कुबेरनाथ जी का व्यापक और महत्वपूर्ण मूल्याकंन हो सकेगा।

सधन्यवाद, आपका

(प्रभाकर श्रोत्रिय)
निदेशक

❑

ओमप्रकाश शर्मा लखनऊ
नेता, शिक्षक दल दि० 17-12-1996
विधान परिषद्, उ० प्र०

संदेश

प्रिय डॉ. राय,

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर द्वारा अपने पूर्व प्राचार्य स्व. कुबेरनाथ राय की स्मृति में पत्रिका "निवेदता" का वर्तमान अंक "कुबेरनाथ राय विशेषांक" के रूप में प्रकाशित होने जा रहा है।

पूर्ण विश्वास है कि यह विशेषांक यशस्वी निबन्धकार एवं प्रख्यात चिन्तक स्व. कुबेर नाथ राय के जीवन कृत्यों के अतिरिक्त प्रदेश के शिक्षकों, शिक्षिकाओं, विद्यार्थियों एवं अभिभावकों को कर्त्तव्य बोध कराने तथा उन्हें एक नयी दिशा प्रदान करने में भी सहायक सिद्ध होगा।

विशेषांक के सफल प्रकाशन हेतु मेरी शुभकामनाएं हैं।

आपका,

(ओम प्रकाश शर्मा)

महाविद्यालय गीत

प्रमोद कुमार 'अनंग'
(प्रवक्ता-हिन्दी)

मधुर मनमोहक सुन्दर छन्द.
महाविद्यालय सहजानन्द.

गाधिपुर की शोभा में वृद्धि.
निरन्तर आध्यात्मिक समृद्धि.
'स्वामी सहजानन्द' गुण-गान.
महत् कर्मों ने दी सम्मान.
चतुर्दिक फैल गया यश-गन्ध.
महाविद्यालय सहजानन्द.

अद्भुत ऋष्यभूमि वन्दन.
'संत पवहारी' कोटि नमन.
काशी नरेश का यह अर्पण.
हम करते उनका अभिनन्दन.
फैले प्रकाश, हो दूर अन्ध.
महाविद्यालय सहजानन्द.

सुरसरि की निर्मल धारा.
प्रक्षालित कण-कण सारा.
प्रकृति ने ली मानो विश्राम.
यहां सब एक राम-इस्लाम.
भारती-राग बहे स्वच्छन्द.
महाविद्यालय सहजानन्द.

नव-संस्कृति देते गुरु-गण.
शिष्य भी पूरा करते प्रण.
अवनि का अतुलनीय यह ग्राम.
धन्य ये धरा भारती-धाम.
चतुर्दिक विद्यानिल मधु-मन्द.
महाविद्यालय सहजानन्द.

●

परिचय खण्ड

कुबेरनाथ राय की वंशावली

पं० नागानन्द वात्स्यायन

पुत्र **रामजीवन** के, हरगोबिन्द प्रवीन ।
ढढ़नी तजि मतसा बसे, बस्ती बनी नवीन ॥

तासु सुवन त्रय परम यशस्वी । घूरन फेंकू नाम मनस्वी ॥
तीसर सुत कतवारू नामा । जेहि भुज अर्जित सुजस सुनामा ॥
नाविक सहित बंग दिसि गयऊ । बानिज करि धन-संग्रह करेऊ ॥
ज़ियेउ वर्षशत दस त्रय काला । निरखि नयन परिवार बिसाला ॥
अभिराजा तेहि केर लुगाई । दुइ सुन्दर सुत दीन्हेंउ भाई ॥
प्रथम तनय **गोबर्धन** नामा । तीर्थ सकल करि भयो निकामा ॥
दीपनरायन सुत भयो दूसर । नाम सुजस बहु भयो अवनि पर ॥
भारी बहुत कृषक यह भयऊ । चालीस बैल द्वार पर ठयऊ ॥
महिषी, गो, हय नाना जाती । अन्न-दूध-पूरित बहु भाँती ॥
सुढ़ना गाँव छावनी छाजत । तहँ यह बंस अबहुँ लौं राजत ॥
अपर महर्था मांहिं विहारा । चली गयी निज कुल व्यवहारा ॥
दीपनरायन द्वैगज-स्वामी । बावन दोनवारन महँ नामी ॥
बंस-बिमल जस-कीर्तिपताका । नभमंडल महँ फहरेउ जाका ॥

दीपनरायन-काल, मतसा को रह्यो स्वर्णयुग ।
नाहिन कोउ दुकाल, सबहि सुखी निज-निज भवन ॥

रोबदाब विधि बहुत बढ़ायो । भृकुटि बिलासहिं लोग डेरायो ॥
लसति तियन हित तीन हवेली । एक महँ बृद्धा अपर नवेली ॥
बारह दरी बैठका साजत । जेहि महँ घर के पुरुष विराजत ॥
आगे कूप सुखद चौपाला । बगल माहिं राजत हयसाला ॥
तेहि आगे तृण-अन्नागारा । बगल माहिं बैलन बिस्तारा ॥
तेहि आगे-गो-महिषी को घर । आगे ओहिके कुटिया श्रीवर ॥
बिसद कूप तहँ सोभा पावत । अब लौं कुटिया-कूप कहावत ॥
तेहि पच्छिम एक पाकरि अहई । तेहि तर द्वै गज सोभा लहई ॥
एहि उत्तर उपवन इक सोभत । तेहि देखत पथिकन मन लोभत ॥
पनस रसाल निम्बु बहु जाती । बिलग-बिलग फूलन की पाँती ॥
जुरत तहाँ मुनि संत समाजू । कथा होति जिमि तीरथ राजू ॥
हरगोबिन्द को बंस बिसाला । शतविंशति सदस्य ओहि काला ॥

दीपनरायन की रहीं, राजकली प्रिय दार ।
बुद्धिमती, तिनको मिलो, पाँच सुतन को प्यार ॥

प्रथम **पलकधारी** सुत, संता । सेवारत नित प्रिय श्रीकंता ॥
दूसर दवन, तिसर रघुनाथा । पिता जिनहिं राखत निज साथा ॥
चौथे सुत भए राजकुमारा । अलप वयस सुरलोक सिधारा ॥

पंचम राजनरायन सुन्दर । सुढ़ना नरवन बसे मनोहर ॥
रहे पलकधारी गुनधारी । साधु संत सेवक सुखकारी ॥
बादि सितार राम गुन गावहिं । नारायण को भजन सुनावहिं ॥
कुर्था पौहारी गुरु भाई । ऋषि-मुनि जाकर महिमा गाई ॥
श्री वैष्णव श्री रामाचारी । गुरु दोऊ के बिगत बिकारी ॥
तिनको दिया मूर्ति मनभावन । सालिग्राम की पूजत पावन ॥
हम तेहि बंसज अबहिं लौं पूजत । एहि कुल इष्ट दुसर नहिं सूझत ॥
पलकू बाग आजु लगि नामी । कहत सुजस तेहि सुरपुरगामी ॥
दानी बड़ो दीन हितकारी । करत काज सद् मति अनुसारी ॥

जिए अर्द्धशत अवनि पै, प्रिया सुषेना नाम ॥
पंच तनय तेहि ते भयो, सुता बदाम-सुदाम ॥

प्रथम तनय बनारसी नामू । अलप बयस तेहि गयो सुरधामू ॥
दूसर परिब्राजक **इन्द्रासन** । पैदल तीर्थ कियो स्रुतिसासन ॥
रामलला के भक्त लालजी । तीसर तनय भयो गृहकाजी ॥
अध्यापक मुन्नी चौथे सुत । विद्यादान कियो तेहि इत-उत ॥
मतसा प्रथम मिडिलची एही । जोगी सम भइ सद्‌गति तेही ॥
बटुकदेव शर्मा ब्रह्मचारी । पंचम तनय रहे अबिकारी ॥
पत्रकार, कवि, लेखक ज्ञानी । भारत-स्वतन्त्रता-सेनानी ॥
पत्र **लोक - संग्रह** महिमाकर । **देश, तरुणभारत** सुक्रान्तिकर ॥
कामधेनु आदिक संपादक । भारत माता को आराधक ॥
बड़न-बड़न को कछु नहिं जानत । सब सों कलमहिं सो रण ठानत ॥
निर्विकार, पदलोलुप नाहीं । जस-अपजस सों मतलब नाहीं ॥
नाम असबरनपुर इक ग्रामा । भयो लालजी-ब्याह ललामा ॥
सुता तीनि तेहि भइ अति लोना । शबरी, गिरिजा, सब प्रिय सोना ॥

अंतिम ब्याही नगसर, दोइ बबेड़ी माहिं ।
दूध-पूत-परिपूर्ण दुइ, प्रथमहिं काहू नाहिं ॥

इन्द्रासन-सुत श्री बैकुण्ठा । नारायण-रत भगति अकुण्ठा ॥
पंडित ज्ञानी लेखक नामी । सारद-प्रिय, पर रह्यो निकामी ॥
पत्रकार, कवि, ब्यसनन्हि न्यारे । दीपनरायन-बंसहिं तारे ॥
पलियां, भैरव - दुहिता माता । नाम राजवंती बिख्याता ॥
भगिनी कौशिल्या-सावित्री । कौशल्या गइ छाँड़ि धरित्री ॥
सावित्री नगसर महँ ब्याही । नयनहीन होइ गइ सुर पाहीं ॥
भा सुलतानपुरहिं बैकुंठहिं । ब्याह, प्रिया लक्ष्मी सों कुंदहिं ॥
दानशील नित गंगागामी । गयी यशस्वी सुत दै नामी ॥
तीन सुवन **लक्ष्मी-बैकुंठहिं** । प्रथम **कुबेरनाथ** जस जाकहिं ॥
ललित निबन्धकार बिख्याता । अध्येता बहु भाषा-ज्ञाता ॥
प्राचार्य, इंग्लिश-व्याख्याता । राष्ट्र गिरा- सेवक निष्णाता ॥
रचेउ अनेक ग्रन्थ हिन्दी महँ । भयो पुरस्कृत बहु संस्थन सहँ ॥
विनयशील अति नयपथगामी । सदा धर्मरत, स्रुति-अनुगामी ॥
सरल बहुत अरु परम सनेही । बिगत बिकार, धर्म प्रिय जेही ॥

सुकृत-सुजस- प्रसाद, दीपनरायन-कुल-तिलक ।
प्रगट कियो आह्लाद, दोइ अनुज तेहि केर हैं ॥

नागेश्वर प्रसाद प्रिय भ्राता । अपर **शंभुनारायण** ख्याता ॥
भगिनी त्रय **श्यामा** अरु **शान्ती** । **रमा** मध्य जन्मी एहि भाँति ॥
गयी दहिनवर **श्रीश** को **श्यामा** । **परदेसिहि उधरनपुर रामा** ॥
गाँव तराँव, **रबीन्दरनाथा** । ब्याह भयो **शान्ती** के साथा ॥
तीन सुवन श्यामा को जायो । दया, उमेश, प्रमोद कहायो ॥
रमा अजीत तनय इक पायो । सुता मनीषा नाम धरायो ॥
मन्दाकिनी, सुधा, अलका की । माँ शान्ती पत्नी रवीन्द्र की ॥
सुत एकहिं राजीव कहायो । चाचा बरमेश्वर को भायो ॥
हरिहरपुरी मुसाफिर-तनया । **नागेश्वर प्रसाद** की भार्या ॥
नाम **रामरति** नैहर केरा । नाम उर्मिला सासुर फेरा ॥

पलिया ग्राम निवासिनी, पुत्री **पारसनाथ** ।
हीरामणि को ब्याह भो, **शंभुनरायन साथ** ॥

वीनू एक सुता तेहि केरी । **प्रज्ञा** दूजी चपल चितेरी ॥
सुत उपजेउ **राघवेन्द्र कुमारा** । होनहार प्रिय अति सुकुमारा ॥
पुत्र **कुबेरनाथ** को एकू । **कौशलेन्द्र** बिनयी अति नेकू ॥
नाम **महारानी** माता कहँ । अरु ननिआउर बंगालहि महँ ॥
रोड भालुका, जिला मालदह । नाना **बीर भंजन पाण्डे** कहँ ॥
विश्रुत एक गाँव काशी महँ । कौशलेन्द्र को ब्याह भयो तहँ ॥
तासु नरोत्तमपुर शुचि नामा । तहँ एक परिवार ललामा ॥
ख्यात रहेउ अर्जुन सिंह धीरा । तासु ज्येष्ठ जयता सिंह बीरा ॥
विद्याशंकर सुत जयता को । भगत सदा डिम डमरूधर को ॥
तासु तनय राकेश ललामा । तेहि सुत पंकज-नीरज नामा ॥
प्रिया **कंचना** श्री **विद्या** श्री । माता परम सुशील **सुमन** की ॥
सुमन-कौशलेन्द्र की जोरी । देखत नित अँखियाँ भइ भोरी ॥
राय-सिंह-कुल भएउ सनाथा । कौशलेन्द्र लखि सुमनसिंह साथा ॥
हरगोबिन्द की अठवीं पीढ़ी । कोशल-राघव अठवीं सीढ़ी ॥
सुता एक, सुत एकहि भयऊ । **वर्षा-पवन** नाम सब कहेऊ ॥
अपराजिता नाम वर्षा को । कोशल-सुमन-हृदय-हर्षा को ॥
पवन **अनन्तविजय** अभिरामा । पायो सुन्दर नाम ललामा ॥

निज लेखनी बरनन कियो मैं बाप-दादन की कथा ।
लिख दीन्हि सोइ वंशावली जैसी रही निजमति जथा ।
नित कृपा माँगत पूर्वजन सों जो सुरन्ह महँ मिलि गयो ।
बुधिहीन, अति ही दीन जेहि कुल जन्म **नागानन्द** भयो ।
माँगउ दुहुँ कर जोरि, पूजित श्री भगवान सों ।
सुजस बढ़े चहुँ ओर, श्री कुबेर के बंस को ॥

●

कुबेरनाथ राय की जन्म कुण्डली

जन्म पत्रक - माननीय कुबेरनाथ जी शर्मा - M.A. साहित्य रत्न - नलवाड़ी कॉलेज (आसाम)

अत्र शुभ संवत १८८५ शाके १९५४ दिनाड्क २६ मार्च ईश्वी सन् १९३३ चैत्र मास कृष्ण पक्ष २0 तदुपरि प्रतिषदा रविवार - जन्म नक्षत्र - उतराभाद्रपद - तृतीय चरण - ब्रह्मयोग - वा- करणे अयनांश २२° ४९' (न्यू कॉम्ब, प्रतिपादित) श्री सूर्योदयादिष्टम् ९/३८ सूर्य ११/१२ ग्राम मतमा - जिला गाजीपुर अक्षांश २५°१९' ३0 देशान्तर ८३°३४' पून्प्रामाणिक समय समयान्तर १४ मम. २६ से. स्थानिक सूर्योदय ५-५८-२२४१ प्रामाणिक समय सूर्योदय ५.५४.0७ जन्म समय ४.४५.१८ I.S.T. ४.४८.३४ C.M.T. श्री इष्ट सांपातिक़ काल २२ घं. २ मि. १३ से. लग्न स्पष्ट १0°२0°२६'

अथ स्पष्टा ग्रहाः–

Θ			४	२+
			+	
.५४	१२.४0	१३+	५१+	१0+
५.२३	९.३४	१५२.३८	३५९.३0	१६६.११
२२.४४	२२.४९	२२.४९	२२.४९	२२.४९
३४२.३४	३४६.३५	१.२९.४८	३३६.४१	१४३.२२
.१९	४.0६	४+	.१६+	२+
३४२.१५	३४२.३९	१२९.५३	२३६.५७	१४३.२४

0	h	Ω	H	Ψ
+				
१.१५	५	३+	३	२+
३५८.४0	३१३.२८	२३६.२८	२२.१९	२२.४९
३३५.५१	२९0.२९	३१३.३७	३५९.३0	१३५.१७
.२४	2	.१–	१	१+
३३१.२७	२९0.३७	३१२.३0	३५९.२९	१३५.१८

परिवारिक पृष्ठभूमि, जीवनी एवं कृतित्व

पं० नागानन्द वात्स्यायन

जन्मः २६ मार्च सन् १९३३ ई., दिन रविवार तदनुसार चैत्र अमावस्या संवत् १९९० विक्रमाब्द को वृषलग्न व मीन राशि पर उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जनपद में जमानियां क्षेत्र के मतसा गाँव में, भार्गव, च्यवन, आप्नवान, और्व एवं यमदग्नि प्रवर वाले वत्स गोत्री किसान ब्राह्मण कुल में माता श्रीमती लक्ष्मी देवी एवं पिता पं. वैकुंठ नाथ राय की प्रथम संतान के रूप में हुआ था। प्रमाण पत्रों एवं पुस्तकों पर ३ जनवरी सन् १९३५ ई. जन्मतिथि अंकित है। भविष्य में अब इसे सुधार लिया जायेगा। जन्म कुण्डली वाली सही जन्म तिथि यही है।

पारिवारिक परिवेशः प्रपितामाह पलकधारी (पलकू) राय द्वारा कुर्था (गाजीपुर) के पौहारीबाबा के गुरु स्वामी रामाचारी से दीक्षित होने के उपरान्त परिवार श्री वैष्णव रामानुज सम्प्रदाय में गत चार पीढ़ियों से है। प्रपितामह की गुरु द्वारा दी गई पूजित शालिग्रांम शिलामूर्ति अब भी परिवार में प्रतिदिन पूजित है। यही गृह देवता हैं किन्तु कुलदेवी ढढ़नी ग्राम में स्थित चण्डी देवी हैं। परिवार सनातनी स्मार्त वैष्णव है। प्रपितामह के पिता (वृद्ध प्रपितामह) बाबू दीपनारायण राय का समय इस परिवार का स्वर्णयुग था। इन्हीं के नाम पर पूरे खानदान का नाम गाँव जवार में अब तक प्रचलित और सम्मानित है। उस समय वे एक बड़े संयुक्त परिवार के मुखिया थे। लम्बी चौड़ी खेती कई गांवों में थी। जमींदारी भी थी। कहते हैं कि इस बाबत गाँव दोनवारों में उनको छोड़कर कोई हाथी नशीन नहीं हुआ चाहे धन कितना ही क्यों न हो गया हो। उनकी मृत्यु के बाद खानदान के बँटवारे और आपसी कलह और मुकदमेबाजी से प्रपितामह के बाद खाते-पीते किसान की स्थिति हो गई। हिस्सा भी छोटा था। पितामह चार भाई थे। अपने बाबा तो अल्प में ही स्वर्गवासी हो गये किंन्तु आजी जीवित थीं। शेष तीनों में बड़े बाबू लाल जी राय. थे वही घर पर रहते थे और घर के मालिक थे। उनसे छोटे बाबू मुन्नी राय प्राइमरी स्कूल के अध्यापक थे। ये गाँव में प्रथम मिडिल पास व्यक्ति थे। सन् '५२ में प्रधान अध्यापक के पद से सेवामुक्त हुए। चौथे बाबा पं. वटुकदेव शर्मा मिडिल पास करने के बाद गाजीपुर, फिर बक्सर में अंग्रेजी स्कूल में पढ़ने चले गये। वहीं पहले क्रांतिकारियों का, फिर कांग्रेसियों का साथ हो गया। वहीं इन्होंने जीवन भर अविवाहित रहकर देश सेवा का व्रत लिया था। आजादी मिलने के पहले ३६ वर्ष तक घर नहीं आये। वे 'देश' 'तरुणभारत', 'लोकसंग्रह' 'प्रणवीर' 'राष्ट्रीयभाषा' आदि अनेक पत्रों का सम्पादन करके कलम के माध्यम से देश सेवा करते रहे। घर

से बस इतना ही नाता था कि कभी कभार चिट्ठी पत्री पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें एवं कुछ पुस्तकें किसी के हाथ आ जाती थीं । किन्तु जिस तमन्ना को लेकर पिता एवं बड़े भाइयों ने इनको पढ़ाया लिखाया उसे वे पूरा नहीं कर सके । इन चारों भाइयों का परिवार संयुक्त रहा । मेरे अल्पवय में स्वर्ग सिधारे वावा पं. इन्द्रासन राय को छोड़ कर अन्य लोगों को कोई सन्तान नहीं थी । वस मेरे पिता श्री वैकुण्ठनाथ राय ही लड़का होकर पैदा हुए, शेष ५-६ लड़कियां ही घर में थीं । पिता जी से हम तीन भाई एवं तीन बहनें पैदा हुईं । भैया वड़े थे, तव मैं और मेरे वाद तीन बहनें । छोटा भाई श्री शंभू नरायन तो हम दोनों से वहुत छोटे हैं ।

बड़का बाबा अर्थात् बाबू लालजी राय कहा करते थे कि जब तुम लोगों की एक वहन और एक भाई पैदा होकर मर गये तो देवल गद्दी के कीनाराम आदित राम बाबा के वरदान से कुबेरनाथ हुए । बात यों हुई कि प्रतिवर्ष की भांति दशहरा के आसपास कीनाराम बाबा एक दिन के लिए गांव में आये थे । परम्परानुसार बाबा एक आदमी का परोसा लेकर बाबा के यहां गये । हालचाल पूछने पर मेरे वाबा रोने लगे और बोले कि मेरा पूजा-पाठ व्यर्थ हो गया, चार भाइयों के बीच एक ही बैकुण्ठ हुए, देखता हूँ तो उनको भी कोई नहीं रह जायेगा । दो बच्चे होकर मर गये । इस पर कीनाराम ने कहा "दुधुवा (शराव) पिला दे और सात अनाज की लिट्टी ले आ खिला । मेरे हाथी को झुल्ल सिलादे । तुम्हारे बाबा (दीपनारायन राय) को तो केवल चार पांच जिला जवार जानता था तेरा जो पौत्र आ रहा है उसे तो सारा हिन्दुस्तान जानेगा ।" बाबा ने कहा कि मैं दुधुवा तो नहीं 'छू' सकता दो रुपया लीजिए मंगा लीजिए । शेष आपकी मांग पूरा कर दे रहा हूं । शेष मांगी वस्तुयें श्रद्धा पूर्वक दे आये । अगले दशहरा में जब कीना राम बाबा आये तो भैया ६ माह के लगभग थे । मेरे बाबा ने उनको चरण स्पर्श कराया । जब तक आदित राम बावा जीवित रहे मेरे परिवार की उनमें श्रद्धा बनी रही ।

जब भैया साढ़े तीन वर्ष के थे तो पिताजी और माताजी के गुरु श्री जगन्नाथाचारी ने श्रीभद्भागवत की दो माह कथा दरवाजे पर कही थी। दरवाजे पर कथा की पूर्णाहुति को ज़ो यज्ञ कुण्ड बना था उसकी स्मृति और चर्चा सदैव हमसे करते रहते थे । परविार के शिक्षित एवं सात्विक होने से कोई न कोई साधु संत कभी कभार गांव में आता तो लोग मेरे दरवाजे को इंगित कर देते थे । कोई नई बात, कथा कहानी वे लोग सुनाया करते थे । मेरी आजी और माँ भी बहुत सी लोक कथायें कहती थीं और हम बच्चे मन लगाकर सुनते थे । इनमें कितनों का समावेश भैया ने अपने लेखन में किया है ।

पिताजी प्ररम्भ में पटना में छोटे बाबा के साथ रहे । इन्हें भी उन्होनें पत्रकारिता के धंधे में लगा रखा था । किन्तु घर पर रहने वाले दोनों बाबा लोगों ने इनको घर बुला लिया । ये भी घर पर रहने लगे, क्योंकि पं. बटुकदेव शर्मा के बाद वे लोग

इनको भी देशसेवा में नही देने चाहते थे । पिताजी संध्या समय. किसी न किसी धार्मिक ग्रंथ का सस्वर पाठ ठाकुर जी के यहाँ करते थे और घर के सभी लोग श्रद्धापूर्वक सुनते थे । बचपन में ही हम दोनों को संस्कृत और हिन्दी के प्रार्थना-पद कंठस्थ करा दिये गये थे । ब्रिटिश शासन द्वारा जब्त 'भारत-भारती', आनंद मठ उपन्यास जो शर्माजी द्वारा घर भेज दिया गया था हम लोग बचपन में कोठे पर चढ़कर छिप-छिप कर कई बार पढ़ चुके थे । 'सरस्वती' 'माधुरी' विशालभारत आदि की पुरानी प्रतियां जो पिताजी शर्माजी के यहां से लाये थे हम लोग बचपन में ही पढ़ गये थे । घर पर प्रतिदिन 'आज' या 'संसार' या शर्माजी जिस पत्र के सम्पादक होते वह आया करता था जिसे पढ़ने के लिए आस-पास के गाँव के लोग भी आते थे । कहने का तात्पर्य कि घर की आर्थिक स्थिति पहले से हीनतर होते हुए भी घर की शैक्षणिक और सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर बाढ़ पर थी । मास्टर बाबा तथा पिताजी को जानने वाले गाँव जवार में अनेक लोग थे । राजनैतिक परिवेश के जिला के लोगो में शर्मा जी को जानने वाले बहुत लोग थे और उन्हीं के कारण मेरे परिवार से उस समय के जनपद के सभी राजनैतिक पुरुषों का सम्पर्क रहा करता था । भैया तो अपनी पढ़ाई में कुशाग्र थे और आस-पास ख्यात होते गये ।

शिक्षाः— प्राम्भिक शिक्षा अपने गाँव मतसा के प्राइमरी स्कूल एवं ढढ़नी मिडिल स्कूल में तथा हाई स्कूल की श्री शिवपूजन इण्टर कालेज मलसा में कृषि विज्ञान से और इण्टरमीडिएट की क्वीन्स कालेज वाराणसी से विज्ञान वर्ग में हुई । बी. ए. की पढ़ाई काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य, दर्शन एवं गणित लेकर पूरी की थी । एम. ए. अंग्रेजी साहित्य से कलकत्ता विश्वविद्यालय कलकत्ता से पास किया और वहीं से हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की 'साहित्य-रत्न' परीक्षा भी पास की थी । एम. ए. की पढ़ाई के दिन इनके लिए कठिनाई भरे थे । पिताजी ने कुछ रुपये और दो पत्र देकर कलकत्ता रवाना कर दिया और कहा कि जाओ ट्यूशन करके पढ़ो । उनके सामने भी लाचारी थी । कोई खास अपना कलकत्ता में था नहीं । गाँवघर के किसी व्यक्ति ने अपने यहाँ पहले स्थान नहीं दिया । उन दोनों पत्रों के आधार पर पं. परमानन्दशर्मा बंग प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंत्री तथा श्री राजकुमार शर्मा कलकत्ता में शिक्षा विभाग में कार्यरत किसी अधिकारी से मिले । इन दोनों ने पं. बटुकदेव शर्मा के पौत्र होने के नाते ट्यूशन दिलाने में मदद दी और उन्हीं दो ट्यूशनों के आधार पर इन्होंने अपनी पढ़ाई पूरी की थी । प्रारम्भ से ही ये पढ़ने में मेधावी थे । प्राइमरी स्कूल, मिडिल स्कूल एवं हाई स्कूल की परीक्षा में ये स्कालरशिप होल्डर रहे । मिडिल स्कूल और हाई स्कूल की परीक्षाओं में मेरिट लिस्ट में भी नाम था । अध्ययन इतना विशाल और गहन होता था कि लोग दंग रह जाते थे । शिव पूजन इण्टरकालेज मलसा के पुस्तकालय की कोई पुस्तक बिना इनके पढ़े बचीं नही थी । काशी और कलकत्ता प्रवास के समय तो एक से एक पुस्तकालय उपलब्ध थे ।

विवाह एवं परिवारः– भैया का विवाह १२-१३ वर्ष की अवस्था में हो चुका था। विवाह बहुत दूर पश्चिम बंगाल (मालदह जिले) के एक गांव में बड़े किसान श्री वीरभंजन पाण्डेय की पुत्री श्रीमती महारानी देवी से हुआ था। बात यह थी कि बड़का बाबू लालजी राय घर के मालिक थे। पं. वटुकदेव शर्मा के पढ़ लिख कर घर सेवा न करने के कारण दूध का जला मट्ठा फूंक कर पीने के लिए बावा ने पिताजी और मास्टर बाबा के दबे विरोध के बावजूद इनका विवाह कर दिया। ससुराल वाले बलियावासी हैं जो अब वहीं बस गए हैं। यों अनुशासन के नाम पर जब बाबा न विवाह ठीक किया तो भैया बहुत रोये थे। माँ और मैने छिपकर रोने में भैया का साथ दिया था। हम लोग लाचार थे, परिवार को एक रखना था। यों परिवार की न उन्होंने कभी उपेक्षा की और न किसी को जीवन भर दोष ही दिया। संयुक्तपरिवार की अवधारणा और जिम्मेदारी का निर्वहन जीवन भर करते रहे। संतान के रूप में एक मात्र श्री कोशलेन्द्रकुमार ही पैदा हुए जिन्हें अपराजिता और अनंतविजय दो संततियाँ हैं। छोटे भाई श्री शंभू नारायण राय को भी एक पुत्र तथा दो पुत्रियां वसुंधरा और प्रज्ञा हैं। मेरे तो यही लोग हैं दूसरो न कोई।

कृतित्वः– एम.ए. पास करने के बाद विक्रम विद्यालय हवड़ा में कुछ दिन अंग्रेजी अध्यापक रहे। फिर १९५९ में नलबारी कालेज नलबारी (असम) में अंग्रेजी व्याख्याता नियुक्त हुए। वहीं अपने जीवन के २९ वर्ष अंग्रेजी व्याख्याता और विभागाध्यक्ष के रूप में बिताये। वहां का राजनैतिक माहौल बदल जाने के कारण असम छोड़ कर ९ वर्ष तक स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय गाजीपुर में प्राचार्य पद पर कार्य करके ३० जून सन् १९९५ को सेवामुक्त हुए थे।

लेखनकार्य साथ साथ चलता रहा। पढ़ाई के समय जव कक्षा ८ में थे तभी 'विशालभारत' और 'माधुरी' में निबन्ध निकले थे। फिर क्वीन्स कालेज की साइन्स मैगजीन का सम्पादन हो या काशी हिन्दू विश्वविद्यिलय की 'प्रज्ञा' या कलकत्ता यूनिवर्सिटी जरनल, अंग्रेजी साहित्य के निबन्ध सभी में छपते गये। प्रारम्भ में अंग्रेजी में ही लिखना शुरू किया था। किन्तु श्री बाल कृष्ण राव ने इन्हें हिन्दी में लिखने का सुझाव दिया। वे आंध्र के निवासी होकर भी हिन्दी सेवी थे और बाद में गोरखपुर के कुलपति भी हुए थे। भैया के लेखन से प्रभावित थे। इनका पत्र व्यवहार उनसे होता था। उन्ही दिनों प्रो. हुमायूँ कबीर देश के शिक्षा राज्यमंत्री थे। उनका एक वक्तव्य भारत के इतिहास लेखन के संदर्भ में एक दिन संसद में आया था। इन्होंने उसके प्रतिवाद में 'सरस्वती' में एक निबन्ध भेजा 'इतिहास और शुक सारिका कथा'। सरस्वती सम्पादक, हिन्दी के भीष्म पितामह पं. श्री नारायण चतुर्वेदीजी ने इसे सहर्ष छापा। चतुर्वेदी जी की ही प्रेरणा से ये 'धर्मयुग' 'कल्पना'

ज्ञानोदय, माध्यम वीणा आदि हिन्दी पत्रिकाओं में छपने लगे । मृत्यु पर्यन्त लेखन और अध्ययन चालू रहा, इसमें कोई विराम नहीं आया । यहाँ तक कि मृत्यु के दिन भी पढ़ते लिखते रहे । रात में इतनी देर तक पढ़ना लिखना आज के छात्रों के बूते की बात नहीं है ।

लेखन पर प्रभाव, एवं श्रेय तथा प्रेयः— अपने पारिवारिक परिवेश एवं वंशानुगत धार्मिक, सामाजिक वृत्तियों की छाप एवं राष्ट्रीयता का बोध इन्हें बचपन से ही प्राप्त था । कनिष्ठ पितामह पं. बटुकदेवशर्मा इनको अंग्रेजी भाषा का ज्ञान एवं राष्ट्रीय विचारधारा का बीज अपनी भेजी पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से इन्हें उत्तराधिकार में सौंप चुके थे । सातवीं कक्षा में पढ़ने के पूर्व ही गुप्त जी की 'भारतभारती' बंकिम का 'आनंन्दमठ' एवं देउसकर की देशेरकथा (देश की बात) से ये परिचित हो चुके थे । विशालभारत और सरस्वती में प्रतिमास प्रकाशित टैगोर की अजन्ताशैली के चित्रों ने इनके सौन्दर्यबोध को प्रथम आधार दिया । इनमें छपी कविताओं, कहानियों, निबन्धों नें इनकी रुचि और रसबोध की मूलप्रकृति का बीजारोपण किया । जैसा कि ऊपर आप पढ़ चुके हैं मैट्रिक में पढ़ते -पढ़ते माधुरी और विशालभारत में ये छप चुके थे ।

भैया लेखन से प्राप्त श्रेय एवं प्रेय के प्रति बड़े तटस्थ रहे और इसके प्रति उदासीन भी रहे । उन पर कौन क्या लिख रहा है इसकी न इन्हें खबर रहती थी और न कभी खबर रखने की चेष्टा ही करते थे । हिन्दी के किसी साहित्यिक मोर्चे से इनका कभी सम्बन्ध नहीं रहा । लेखन के लिए एकान्त आवश्यक है । मोर्चे और संस्थायें एकान्त को खण्डित करती हैं, यही उनका अभिमत था । अपने लेखन के वारे में तो सदैव ही कहा करते कि मेरा सारा लेखन एक आर्तनाद है । आर्तनाद है हिन्दुस्तान का । भले ही यह ऊपर से ललित लगे । कोई जब इस आर्तनाद की व्याख्या पूछता था तो ये उत्तर देते कि आर्तनाद उन प्रमूल्यों कै क्षीण होने के संदर्भ में है जिनसे इस हिन्दुस्तान का मनुष्यत्व परिभाषित होता आया है । समाज व्यवस्था और कर्मकाण्ड ने इसे तेजहीन और स्थविर बना दिया, परन्तु इसे अस्वीकृत कभी नहीं किया । वह इन्हें प्राणहीन पत्थर का देवता बनाकर भी पूजित मानता रहा । आज की राजनीति इन्हें अस्वीकृत करती है । राजनीति जो जीवंत है उसे मुर्दा घोषित करके म्यूजियम पीस बनाकर रखना चाहती है । इसी विडंबना से पीड़ित होकर इन्होंने अपने ललित निबन्ध लिखे । आर्तनाद से इनका यही तात्पर्य है ।

●

कलकत्ता का जीवन एवं लेखन की पृष्ठ भूमि

— डॉ. हरिकुँवर राय 'कुँवर'
संपादक देश और समाज (कलकत्ता)

हिन्दी साहित्य को ललित निबन्धों से समृद्ध करने वाले प्रमुख लेखक के रूप में कुबेरनाथ राय का नाम लिया जाता है । वे हजारी प्रसाद द्विवेदी संस्थान के निबन्धकार रहे हैं । डा० विद्यानिवास मिश्र भी द्विवेदी संस्थान के निबंधकार हैं । फर्क यह है कि मिश्रजी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाये हैं, जबकि कुबेरनाथ राय उनके प्रभाव से मुक्त होकर नयी भंगिमा अपनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे ।

कुबेरनाथ राय इण्टरमीडिएट तक विज्ञान के छात्र थे । बी. ए. में उन्होंने गणित, दर्शन और अंग्रेजी साहित्य का अध्ययन किया । न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शन के अध्ययन-अनुशीलन, चिंतन-मंथन में उनका मन खूब रमा । पारिवारिक वातावरण भी धर्म, संस्कृति और साहित्य से सम्पन्न था, जिसका प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से उनकी मानसिक और बौद्धिक आकृति-प्रकृति पर पड़ा । उन्होनें स्वयं कहा है –"मेरी मानसिकता बुद्धि प्रधान एवं भाव प्रधान दोनों है । मैं बी. ए. में गणित, दर्शन और अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी था और जन्मतः मैं वैष्णव परिवेश से आता हूँ, तो इन बातों का प्रभाव मेरे आन्तरिक मूलाधार पर पड़ा है ।" उन्होनें सन् १९५८ में कलकत्ता विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम. ए. किया । वे पी-एच. डी. करना चाहते थे, किन्तु परिवार के आर्थिक दबाव के कारण यह उपाधि नहीं प्राप्त कर सके।

उनके पितामह (बाबाजी के मझले भ्राता) पं. बटुकदेव शर्मा अपने काल (१९००-३५) के स्वनामधन्य समाजसेवी तथा पत्रकार थे । उन्होने 'देश' 'तरुणभारत', 'लोकसंग्रह' 'प्राणवीर आदि राष्ट्रीय धारा के पत्रों का सम्पादन किया । वे कुछ वर्षो तक गणेशशंकर विद्यार्थी के 'प्रताप' में भी कार्यरत थे । 'कामधेनु' नाम का पत्र भी आपने प्रकाशित किया था । पं. बटुकदेव शर्मा द्वारा भेजी गयी पुस्तकें और सरस्वती, माधुरी तथा विशाल भारत की पुरानी फाइलें कुबेरनाथ राय की साहित्य गुरु हैं । अंग्रेजी भाषा का ज्ञान और राष्ट्रीय विचारधारा के बीज भी उन्हें इन्हीं से मिले ।

एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात् कलकत्ता में 'ट्यूशन' के दुष्परिणाम से भयभीत होकर कुबेरनाथजी ने कलकत्ता छोड़ने का निर्णय लिया और असम के नलबारी महाविद्यलय में अंग्रेजी के प्रवक्ता पद पर सन् १९५९ में कार्य प्रारम्भ किया । वहाँ के बौद्धिक वातावरण में उनका मन खूब रमा । यद्यपि वे मैट्रिक पहुँचते-पहुँचते 'माधुरी' और 'विशाल भारत' में छप चुके थे । किन्तु असम के सुरुचिपूर्ण संस्कारवान वातावरण ने उन्हें खूब प्रोत्साहन दिया । परिणामस्वरूप सन् १९६२ से उन्होंने पूरी गम्भीरता से लेखन-कार्य आरम्भ किया और तब से ५ जून, १९९६ तक अनवरत ललित निबन्ध और रिपोर्ताज आदि लिखते आ रहे थे । संस्कृत भाषा के ज्ञान की अल्पज्ञता और गुरु के समुचित संस्कार का अभाव उन्हें बराबर सालता रहा ।

कुबेरनाथ राय शान्त, गम्भीर और शिष्ट प्रकृति के व्यक्ति थे । उनमें निष्कपट आत्म-प्रकाशन के गुण विद्यमान थे । वे अपना समय मिलने-जुलने और गपसप में व्यतीत नहीं करते थे । लेखन-कार्य में व्यतीत अपने समय को ही पूर्ण सार्थक समझते थे । वे बड़े ही एकान्त प्रिय व्यक्ति थे । अपने कृतकार्यों की आलोचना-प्रत्यालोचना के प्रति वे बड़े तटस्थ तथा उदासीन रहते थे । एक अन्य स्थान पर उन्होंने लिखा है– मैं गांधी जी के सूत्र 'शान्तं सहजं सुन्दरम् ' में विश्वास करता हूँ । जो शान्त है अर्थात् उग्रबोध का वाहक नहीं, जो सहज है अर्थात् जो कृत्रिम सुख की तृषा से पीड़ित नहीं है, वही असली सुन्दर है । इसी असली सुन्दर को मैंने अपने ललित निबन्धों में व्यक्त करने की चेष्टा की है । वे साहित्य को राजनीति का अनुचर नहीं मानते थे । उनकी मान्यता है कि मनुष्य को समस्त प्रकृति और ईश्वर से जोड़कर देखे बिना मनुष्यत्व की पूरी पहचान, उसके शुभ-अशुभ, सद्-असद्, श्री-विश्री की पहचान बन ही नहीं सकती । आधुनिक राजनीति के परिवेश में यह असम्भव है ।

इस प्रकार कुबेरनाथ राय के सम्पूर्ण साहित्य में प्राचीन भारतीय संस्कृति को आधुनिक पर्यावरण में देखने और परखने का सफल प्रयास किया गया है । उनके निबन्धों में एक विशेष प्रकार की आत्मीयता, भावुकता और काव्यात्मकता है । गहन चिंतन-मनन, कला-प्रेम, विषय की विविधता, अर्थ-गाम्भीर्य और व्यंजना की दृष्टि से उनके निबन्धों की अपनी अलग पहचान है । नई पीढ़ी के ऐसे बहुत कम रचनाधर्मी हैं, जिन्होंने न केवल अपनी परम्परा को आत्मसात किया है, बल्कि आधुनिकता की आवश्यकताओं को भी स्वीकारा है । समस्त युगीन चेतना को प्राचीन सांस्कृतिक परिवेश में रखकर देखने का कुबेरनाथ राय का प्रयास श्लाघ्य है ।

●

असम के माटी-पुत्र कुबेरनाथ राय

उदय भानु पाण्डेय

हजारी प्रसाद द्विवेदी, रायकृष्ण दास एवं विद्यानिवास मिश्र जैसे अग्रगण्य ललित निबंधकारों की कोटि में गिने जाने वाले साहित्यकार प्रोफेसर कुबेरनाथ राय मूर्तिदेवी पुरस्कार पाकर चर्चा में आ गये हैं। मुझे लगता है पूर्वांचल के हिंदी साहित्यकारों के साथ हिंदी की मुख्यधारा से जुड़े लोग उचित न्याय नहीं कर पा रहे हैं।

कुबेरनाथ राय से मैं पहली बार जुलाई १९६५ में नलबाड़ी कॉलेज के छात्रावास में मिला था। मैं उत्तर प्रदेश से उसी वर्ष असम आया था। उस समय वे धर्मयुग में छाए हुए थे। उनके ललित निबंधो को पढ़कर मुझे लगता कि चार्ल्स लैंब, कामू, पेरेलमैन जैसे भारी-भरकम नाम उनके सामने फीके लगते हैं। उनके ललित निबंधों में भारतीय लोक मानस, इतिहास, दर्शन एवं वाङ्मय का जो प्रस्फुरण हुआ है वह हिंदी को विश्व की समृद्धतम भाषाओं के समकक्ष लाने में समर्थ है।

उन दिनों राय दादा ३५-४० के आस-पास के थे, अपनी तरुणायी के चरमोत्कर्ष पर। तब तक उनका दार्शनिक उनके साहित्यकार पर हावी न हुआ था और उनका प्रत्येक ललित निबंध पूर्वांचल के हिंदी प्रेमियों-पाठकों को अक्षय निधि-सा लगता था। वे छात्रावास के एक कमरे में बड़ी सादगी के साथ रहते थे— अकेले। जब मैं पहुंचा वे चौकी पर दुग्ध धवल धोती और बनियान पहने अपने किसी निबंध की प्रेस कापी बना रहे थे। पद्मासन में बैठे राय दादा को देख कर मुझे अपने सहोदर अग्रज पं. परमात्माशरण की याद हो आयी। उनसे मिलकर ऐसा लगा कि वे असम की माटी में घुल-मिल गये हैं। असमिया जीवन, संस्कृति, साहित्य से पूर्ण संपृक्त हो गये हैं। उनकी रचनाओं में असमिया जीवन संस्कृति का जो विधेयक उज्ज्वल रूप है अपनी समस्त गरिमा में प्रस्फुटित हुआ है।

२९ वर्ष पहले जब इनसे बतकही शुरू हुई तो लगा कि वैष्णव साहित्यकारों की एक आधुनिक कड़ी उत्तर प्रदेश से चल कर असम पहुंच गयी है। असमिया छात्र-छात्राओं के आचरण की गरिमा, असमिया जनमानस का बड़प्पन, संस्कृत भाषा के प्रति असमिया समाज का आदर-यही सब उस दिन की बतकही के मुख्य विषय हुए थे। फिर बार-बार उन्होंने मुझे असम की माटी में संपृक्त होने के लिए प्रेरणा

दी । एक बार जब मैं उत्तर प्रदेश वापस लौट जाना चाहता था, उन्होंने मुझे पत्र लिखकर मना किया ।

असमिया संस्कृति, साहित्य और लोकमानस की परंपरओं को अपने ललित निबंधों के माध्यम से हिंदी जगत के समक्ष लाने वाले वे पहले हिंदी साहित्यकार हैं यद्यपि पंडित कमल नारायण का नाम भी एक हिंदीसेवक के रूप में बड़े आदर के साथ लिया जाता है ।

नलबाड़ी कालेज के छात्रावास में उस दिन हमारी चर्चा असमियासंस्कृति एवं राष्ट्रवाद पर केन्द्रित हो गयी थी । पहली मुलाकात में ही वे इस तरह खुलकर बोले कि बरबस उन पर श्रद्धा उमड़ आयी :

"यहाँ मेस में शाकाहारी भोजन करता हूं । महीनों रोटी खाने के लिए तरस जाता हूं । जब बहुत मन किया तो मेस में जाकर दो-चार रोटियां खुद सेंक लेता हूँ । यह बेचारा चपरासी एक मील की दूरी से हमारे लिए चाय समोसे लाया है । खूब पढ़िये और खूब लिखिये । आप नवयुवक लोग ही हिंदी के 'ऐम्बेस्डर' हैं । नलबाड़ी भारतीय दर्शन एवं संस्कृत भाषा का गढ़ रहा है । आदिवासी पुराकथाओं का संकलन करिये, कभी काम आयेंगी ।" आदि आदि ।

उनसे मिलकर उनके वैष्णवी व्यक्तित्वके सम्मोहन से बच पाना असंभव हो गया । उनसे मेरा पत्राचार बना रहा । उनका एक पत्र ८६ में मेरे पास आया था । डिफ, कार्बी आम्लांग में आदिवासियों के बीच रच-बस जाने पर उन्होंने मुझे बधायी भी दी थी परंतु अपने बारे में उन्होंने जो कुछ लिखा वह मुझे भीतर तक उदास कर गया :

"आप अपना शोधकार्य जल्दी पूरा कर लें । मेरी तो अब याददाश्त पकने लगी है । जीवन में कभी भी व्यावहारिक नहीं रहा । एम ए. अंग्रेजी में न कर हिंदी में किया होता तो बात ही कुछ और होती ।

मैं असमिया बोल नहीं पाता हूँ और मेरे छात्र अंग्रेजी समझ नहीं पाते.... ।"

इस पत्र के बाद मैं जीवन की आपाधापी में खप गया । मैंने उनका शोषण करते हुए अपने कथा संग्रह सतवंती पर उनकी टिप्पणी छपवा ली । सोचता था कि नलबाड़ी जाकर उन्हें अपनी दोनों कृतियां दूंगा । परंतु इसी बीच पता चला कि वे २९ वर्षो बाद असम छोड़कर स्वामी सहजानंद सरस्वती विद्यापीठ डिग्री कालेज के प्राचार्य होकर गाजीपुर (उत्तर प्रदेश) चले गये हैं । उन्हें मैंने दो पत्र लिखे जिनका उत्तर न आया । वैसे वे पत्रों का उत्तर तपाक से देते हैं । मैं चिंतित और निराश था । इसी बीच मूर्तिदेवी पुरस्कार पाने के बाद वे फिर चर्चा में आ गये हैं ।

राष्ट्रीय पत्रों में इधर उनकी खूब चर्चा हो रही है । परंतु जब तक वे असम में थे हिंदीजगत ने उनकी उपेक्षा ही की । डा. धर्मवीर भारती अपने गुणग्राही स्वभाव

के कारण उनके ललित निबंधों को धर्मयुग में छापते थे । ज्ञानपीठ से प्रकाशित उनकी कृतियों की प्रशंसा रघुवीर सहाय दिनमान में मुक्तकंठ से करते थे । परंतु हिंदी वालों का उत्साह इसके आगे नहीं बढ़ सका । यदि वे उत्तर प्रदेश वापस न जाते तो उनकी अवस्था कांतार में गंध बिखेरने वाले पुष्प की होती । वे बड़बोलेपन, गुटबंदियों और साहित्यिक राजनीति से विमुख होकर नीरव साधना में लीन रहते हैं ।

परंतु उत्तर प्रदेश वापस जाने के बाद सात वर्षों नें वे केवल सात निबंध लिख पाये हैं । (नभाटा २७-११-९३) यह बात चिंताजनक है । क्या उत्तर प्रदेश की माटी अब साहित्य के लिए ऊसर, बंजर हो गयी है ? गाजीपुरिया डा. राही मासूम रज़ा ने बंबई में रहकर बहुत कुछ लिखा । कुबेरनाथ राय के लिए असम की धरती बहुत उर्वर सिद्ध हुई । २७ वर्षों के अंदर असम की धरती ने उनसे जो लिखवाया वह अपनी गुणवत्ता में संसार के श्रेष्ठतम साहित्य से टक्कर लेनेवाला सिद्ध हुआ ।

परंतु गाजीपुर जाकर लगता है उनकी सृजनशीलता प्रभावित हुई है । क्या उत्तर प्रदेश में एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गत्यवरोध आ गया है जिसकी चर्चा फिराक गोरखपुरी बार-बार करते थे ? यदि ऐसा है तो इसके कारणों की जांच होनी चाहिए ।

कुबेरनाथ राय के बारे में जो सामग्री राष्ट्रीय पत्रों में आयी है उसमें असम की माटी से उनके जुड़ने की बात सही ढंग से प्रस्तुत नहीं की गयी है । इससे भी अधिक खलने वाली बात यह है कि असम का हिंदी प्रेस उनके बारे में दो-चार पंक्तियां छाप कर चुप हो गया है ।

अपने ललित निबंधों के रूप में राय साहब ने हिंदी को जो अक्षय निधि दी है उस पर कुछ भी लिख पाना तब तक संभव नहीं होगा जब तक हिंदी के समीक्षक, शोधकर्मी असम की माटी और असमिया संस्कृति के व्यक्तित्व को भलीभांति पहचान नहीं लेते ।

●

गाज़ीपुर में प्राचार्य के रूप में

डा. मान्धाता राय

स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर के प्राचार्य पद का कार्यभार श्री कुबेरनाथ राय ने १४ जुलाई १९८६ को ग्रहण किया। वैसे आयोग से चयन और प्रबन्ध समिति द्वारा उनकी नियुक्ति का प्रस्ताव तो, जून में ही सम्पन्न हो गया था किन्तु असमकी 27 वर्षकी लंबी सेवा में रहते हुए कैसे कार्यभार ग्रहण करें इसी असमंजस में पहली जुलाई को नहीं ज्वाइन कर सके। अंततः निर्णय किया कि यहां कार्यभार ग्रहण करने के बाद दो दिन पीछे की तिथि में वहां की सेवा से त्यागपत्र दे देंगे। वे तीन वर्ष तक अवैतनिक अवकाश भी ले सकते थे किन्तु उन्होंने सीधा त्यागपत्र दे दिया ताकि यहां–वहां की दुहरी माया से मुक्त हो सकें।

उनसे परिचय तो 1974 ई. से ही था। अपने छोटे भाई श्री शंभु नारायण के सम्बन्ध में उन्होंने पत्र लिखा था, बाद में कई बार भेंट भी हुई थी किन्तु तब उन्हें भाईसाहब कहता था और अब अधिकारी थे। पहले दिन किसी प्रसंगवश उन्हें सर कहा तो उन्होंने टोक दिया– कम से कम आप तो सर नहीं ही कहें। बहुत आवश्यक होने पर प्रिंसिपल साहब कह दीजिए। स्टाफ के कई लोगों के बीच उन्होंने पहले दिन अनौपचारिक बातचीत में कहा– 'मैं तो महज समय बिताने आया हूँ, चलाना तो आप लोगों को ही है और सचमुच उन्होंने नौ वर्ष बिता लिये।

चर्चा के क्षण उन्होंने कभी बताया था कि नलबाड़ी कालेज के प्राचार्य असमिया के अच्छे साहित्यकार हैं, अतः सोचा मैं भी उसी प्रकार प्रिंसिपली कर लूंगा किन्तु यहां उस तरह की बात नहीं है। प्राचार्य पद हेतु आवेदन उन्होंने विवश होकर दिया था। असम गण परिषद के सत्ता में आने के बाद क्षेत्रीयता और जातीयता की हवा बही। स्वभाव से भीरु, कुबेर नाथ जी जैसे व्यक्ति से किसी ने कुछ कहा तो नहीं किन्तु उनकी ओर उठती निगाहों में नफ़रत के भाव थे। उनकी मजबूरी थी कि शिक्षक अंग्रेजी के थे। लेखन द्वारा ख्यांति हिन्दी में अर्जित की थी। 27 वर्ष की लम्बी सेवा के पश्चात् बुढ़ापे में किसी महाविद्यालय में नये सिरे से प्रवक्ता पद पर आना अपमान जनक था। विश्वविद्यालय के लोग उन्हें सम्मान नहीं देते अतः बीच का रास्ता निकला कि प्राचार्य पद मिलने पर सम्मान भी कायम रहेगा और अपने अंचल में आ भी जायेंगे।

प्राचार्य के रूप में यहां विरासत में उन्हें खेमों में बँटे शिक्षक/ कर्मचारी और प्रवन्ध तंत्र से ऊपर संस्था चलाने वाले प्रवन्धक मिले । उन्होंने प्रवन्धक से मिलकर चलने का सुरक्षित रास्ता अपनाया और अंत तक उसी पर चले । अकेले में कभी कभी अपनी विवशता की अभिव्यक्ति करते थे किन्तु व्यवहार में उन्होंने वही किया जो प्रबन्धक ने चाहा । दैनिक कार्यों में उन्हें निर्णय लेने की स्वतंत्रता थी । चूंकि वे आपाद मस्तक विनम्र और भीरु व्यक्ति थे तथा अपनी सम्पूर्ण क्षमता पढ़ने-लिखने में लगाते थे अतः प्रबन्धक, कार्यालय और किन्हीं विश्वसनीय शिक्षकों की बात को अपनी बात बनाकर कहना लिखना उनकी विवशता थी । मैंने जव उनसे कभी कहा कि आप तन से प्रिंसिपली करते हैं मन और हृदय लिखने के लिये चुराकर रखते हैं तो वे मुस्कुराकर मौन रह गये ।

उनके समक्ष शिक्षकों और कर्मचारियों के कई विवादास्पद प्रकरण थे । उन्होंने तटस्थ रहकर उसे यथावत् टालते रहने की नीति अपनायी । इस सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि प्रबन्धक जी से कह दिया है कि किसी शिक्षक-कर्मचारी की भलाई के लिये जहाँ कहेंगे हस्ताक्षर करूँगा किन्तु किसी के विरुद्ध कुछ करने वाले कागज पर हस्ताक्षर न कराया जाय । प्रबन्धक ने उनके साथ इसका निर्वाह अंत तक किया यद्यपि इससे संस्था की एकेडेमिक गतिशीलता प्रभावित हुई, अनुशासन बिगड़ा और उच्छृंखलता बढ़ी किन्तु किसी पर आंच नहीं आने पायी । किससे कब-कैसे काम लिया जाय यह उन्हें खूब आता था । जिस शिकक-कर्मचारी से नमस्कार के अतिरिक्त कोई बात नहीं होती थी आवश्यकता पड़ने पर स्वयं पहल करके अपनी विनम्रता, पद और आयु की ज्येष्ठता के सहारे उसकी सेवा का उपयोग कर लेते थे । अपनी नीति से उन्होंने धीरे धीरे यहां की गुटबन्दी की धार को भोंथर कर दिया । उन्होंने अंत तक यही प्रयास किया कि उनकी इमेज गुटबाज की न बने ।

उनकी इस नीति से जहां एक ओर सबकी योग्यता और क्षमता का उपयोग करने का अवसर मिला वहीं दूसरी ओर कभी कभार प्रबन्धकीय दबाव अथवा शिक्षकों-कर्मचारियों की बहुमत संख्या के दबाव पर उन्हें अपने निर्णय से पीछे हटना पड़ा तो भीतर से कसमसा कर भी उसी अनुरूप चलते रहे । उनकी इस कमजोरी का लाभ यहाँ के कुछ महाबलियों ने उठाया । जब भी कोई ऐसी बात होती भले लोग उनसे दूर हो जाते । उस समय महाबली लोग उनकी सहायता के बहाने पास रहकर साथ देने की भरपूर कीमत वसूलते थे । ऐसी घटनाएं कई बार हुईं जिनसे वे मर्माहत तो हुए किन्तु स्वयं निर्णय न लेने की मानसिकता, निर्णय पर रुकने की दृढ़ इच्छा शक्ति का अभाव, मानसिक शान्ति खोने का भय और परेशानी में पड़ने की एक काल्पनिक भीरुता ने प्रशासक के रूप में उनकी छवि को प्रभावित किया । आखिर किसी समस्या पर निर्णय लेना और उस पर रुकना ही तो प्रशासन है ?

कुशाग्र बुद्धि संपन्न होने के कारण उन्हें हर चीज की पकड़ थी किन्तु उलझन से बचने के लिये वे समस्या की गहराई तक उतरना नहीं चाहते थे । अतः स्वयं को ऐसा प्रस्तुत करते थे जैसे नियम-कानून के जानकार नहीं हैं, छोटी से छोटी समस्या पर भी अधिकांश लोगों से पूछते थे । उनका अंत तक यह प्रयास रहा कि सभी लोग उनसे सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहें । किन्तु कोई अधिकारी आज तक सबको खुश रख पाया है ? क्या सबको सन्तुष्ट करके संस्था का प्रशासन ठीक से चलाया जा सकता है ? अंतिम वर्ष में अधिकांश समय गांव पर रहते थे । वे सहमत नहीं थे कि प्रशासन की दृढ़ इच्छा शक्ति से ही संस्थाओं के अकादमिक वातावरण और अनुशासन में सुधार हो सकता है ।

नौ वर्ष के कार्यकाल में यहां की साहित्यिक और अन्य संस्थाओं में कुल मिलाकर पांच-सात बार से अधिक नहीं गये होंगे । अपने को भाषण भीरु कहकर जान छुड़ा लेते थे । नगर में लोगों के यहां मिलना-जुलना नहीं के बराबर था । दूसरी ओर परिस्थितिवश वे अपने शिक्षकों और लिपिकों के घर भी जाते थे । यह विचित्र विरोधाभास उनमें था । प्राचार्य कक्षमें छात्रों की भीड़ से घबराते थे किन्तु सीधे-सादे लड़कों को उसी खीझ में कभी-कभार डांट देते थे । वैसे विनम्रता और सादगी उनके आभूषण थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने बताया था कि पैदा होने पर जहां अन्य बच्चों की मुट्ठियां बंधी रहती है, उनके दोनों हाथ जुड़े हुए थे । इस तरह विनम्रता उन्हें जन्मजात मिली थी ।

जिम्मेदारी से बचने अथवा दूसरे के जिम्मे भार डालकर स्वयं को सुरक्षात्मक स्थिति में रखने के प्रति वेसजग थे । संस्था के संचालन और वित्तीय मामलों में उनकी नीति समय परक रही । अधिक माथा पच्ची और मीनमेख निकालने के स्थान पर समझौतावादी रास्ते पर अंत तक चले । उनके आने से संस्था को एक बड़ा नाम और व्यक्तित्व मिला । इससे उसकी पहचान देश स्तर पर हुई । उनके पूर्वाधिकारी भी कृषि विज्ञान के चर्चित व्यक्ति थे किन्तु इतनी ख्याति उन्हें नहीं मिली थी । उन्होंने अमेरिका से पी-एच-डी. किया था तो बिना पी.एच.डी. के ही देश भर के पढ़ने-लिखने वालों की जिह्वा पर इनका नाम है आगे भी रहेगा । इनकी पुस्तकों पर कई विश्वविद्यालयों में शोधकार्य हुए हैं और होते रहेंगे । उनकी सोच उच्च स्तर की थी । प्राचार्य कक्ष में जब भी कोई शिक्षक कालेज या देश की राजनीति की चर्चा उठाता वे धीरे से उसे किसी न किसी सांस्कृतिक अथवा ऐतिहासिक सन्दर्भ से जोड़कर प्रकरण को घुमा देते थे । ऐसा प्रायः होता था किन्तु कटुता पूर्ण प्रकरण पर टिप्पणी करने और सुनने से वे परहेज करते थे । 30 जून, 1995 को विदाई के समय दिये गये प्रशस्ति पत्र में कहा गया'महर्षि जमदग्नि की पावन तपो

भूमि में उत्तर वाहिनी, गंगा के तट पर 'मतसा' ग्राम के विद्या व्यसनी सुसंस्कृत परिवार से निकलकर महामना की काशी, रवीन्द्रनाथ की बंगभूमि एवं असम की भगवती भूमि में साधनारत वेद श्री से मंडित आपका ऋषितुल्य निस्संग एवं निरभिमान व्यक्तित्व, १९८६ में इस विद्या तीर्थ के प्रशासनिक पद से जुड़कर भी राजश्री के कालुष्य से सदा निर्लिप्त रहा। यदा कदा उठे दूसरों के रोष एवं आवेग के गरल को पीकर आपने सदा उनकी मंगल कामना का मधु दिया। ज्ञानदान के साथ ही विनम्रता और सादगी की निधि हे महामानव। आपके मार्गदर्शन में संस्था की आन्तरिक कटुता समाप्त हुई और समरस वातावरण बना।

इस संस्था में आने के बाद उनकी चार पुस्तकें त्रेता का बृहत्साम, कामधेनु, मराल और उत्तर कुरु प्रकाशित हुईं तथा तीन सम्मान–आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार उ. प्र. हिन्दी संस्थान, भारतीय भाषा परिषद् और मूर्तिदेवी पुरस्कार मिले। उनके सम्मान से संस्था भी गौरवान्वित हुई। संस्था को इतना यशस्वी व्यक्ति प्राचार्य रूप में कभी मिलेगा इसमें सन्देह है।

●

आचार्य पं० कुबेरनाथ रायः एक यशस्वी व्यक्तित्व

चौधरी राजनारायण शर्मा

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार पं० कुबेरनाथ राय का जन्म गाजीपुर जिले के मतसा ग्राम में संवत् १९९० के चैत अमावस्या के दिन पं. वैकुंठ नाथ राय के प्रथम पुत्र के रूप में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा-मतसा, वाराणसी और कलकत्ते में हुई थी। कलकत्ता वि. वि. से अंग्रेजी साहित्य में १९५८ में एम. ए. करने के बाद १९५९ से नलबाड़ी (असम) कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक पद पर रहे और जुलाई १९८६ से १९९५ तक गाजीपुर के स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय में प्राचार्य पद पर रहकर अवकाश ग्रहण कर चुके थे।

आप को साहित्यिक और धार्मिक परिवेश परिवार से विरासत में मिला था। आपके पिता पं.. वैकुंठनाथ राय कवि एवं 'कामधेनु' (कलकत्ता) के संपादक रह चुके थे। पितामह के लघु भ्राता पं० बटुकदेव शर्मा ने उत्तर प्रदेश की मिडूल परीक्षा में प्रथम स्थान प्राप्त किया था–कमला (भागलपुर), प्रताप (कानपुर) वेंकटेश्वर (वम्बई), देश (पटना), तरुण भारत, प्रणवीर, राष्ट्रबंधु, कामधेनु (कलकत्ता) आदि मासिक, साप्ताहिक और दैनिक पत्रों का संपादन कर चुके थे तथा बन्धन से मुक्त रहने के लिए रहीम के दोहे को सामने रख कर शादी ही नहीं की थी–

"रहिमन ब्याह बियाधि है, सकहु तो जाहु बचाइ।
पायन वेरी पड़त है, ढोल बजाइ बजाइ॥"

पं० कुबेरनाथ राय ने शिक्षा के क्षेत्र में निष्ठापूर्वक कार्य किया था और धार्मिक आचार-विचार को भी अपने जीवन में उतारा था–कामाख्या देवी का चक्र, रुद्राक्ष और चारों अंगुलियों में रत्नजड़ित अंगूठियां पहनते थे। अवकाश ग्रहण के बाद गाँव में ही निवास करते थे। ५ जून, ९६ को भी नित्य की दिन चर्या रही-दोपहर का भोजन परिवार के साथ किया। शाम को घर में बता आये कि अमुक अमुक चीजें बनेंगी। दिन में एक बार पिता, पितामह, प्रपितामह आदि की आयु पर अपने छोटे भाई श्री नागानन्द वात्स्यायन से चर्चा की थी और अपनी तीन अंगुलियों की रत्नजटित अंगूठियां तथा कामाख्या चक्र निकालकर दिन में ही रख दिया था। संध्या समय पौत्र अनन्त विजय से पंचांग मांग कर कुछ देखा। अचानक ८ बजे रात्रि में कहा कि पूजा, राग भोग किया जाय और खाया पीया जाय-प्रतिदिन इसी समय यह काम होता था–पेशाब करके आये आरती पूजा की तैयारी चल ही रही थी कि पीछे उलट गये और जीवन लीला समाप्त हो गयी। सारा साहित्यिक जगत शोकाकुल हो गया।

●

आत्मकथ्य

मेरी सृष्टि : मेरी दृष्टि

कुबेर नाथ राय

साहित्य-लेखन में मेरी विधा है निबन्ध, विशेषतः ललित निबंध । विषयवस्तु की दृष्टि से मेरे लेखन की मुख्य दिशाएं इस प्रकार हैं : (१) भारतीय साहित्य, (२) गंगातीरी लोकजीवन और आर्येतर भारत, (३) राम कथा, (४) गांधी-दर्शन और (५) आधुनिक विश्व चिंतन । परन्तु इन सारे विषय-क्षेत्रों में मेरा उद्देश्य रहा है मनुष्य को पृथ्वी और ईश्वर से जोड़कर प्रस्तुत करना । मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर एक अविभाजित 'त्रिक' बनाते हैं । मैं उन्हें एक परस्पर समायोजित सामंजस्य में देखना और प्रस्तुत करनाचाहता हूँ । आज मनुष्य के बारे में अकेले-अकेले एकांत रूप में सोचा नहीं जा सकता है । पर्यावरण और जैविक संतुलन की समस्याएं हमें सामंजस्य की शैली में सोचने को बाध्य कर रही हैं । मैं मनुष्य व पृथ्वी को ईश्वर के साथ भी युक्त करता हूँ क्योंकि बिना किसी दिव्यता बोध से जुड़े यह त्रिक, यह सामंजस्य बिखर जायेगा, और इसके बिखरने का मूल कारण होगा मनुष्य का अहंकार । ईश्वर से जुड़ कर ही मनुष्य की चेतना इस अहंकार को अपने भीतर स्थित 'अन्तर्यामी' का रूप दे सकती है और इस अन्तर्यामी को उस 'अक्षर' के साथ जोड़ सकती है जिसके प्रशासन में सारे सूर्य, चन्द्र, तारा और ग्रह चलते हैं, ऋतुयें अपना चक्र पूरा करती हैं, मिश्रण द्रव्य से जीवन अंकुरित होता है । ईश्वर से विछिन्न होने पर ही मनुष्य अहंकार की भाषा बोलता है, क्षुद्र स्वार्थ की भाषा बोलता है । फलतः उसे भय, आतंक और अनर्गल के मध्य जीना पड़ता है । बिना ईश्वर से जुड़े मनुष्य और मनुष्य के बीच पारस्परिक विनय की सम्भावना समाप्त हो जाती है । इसी से ईश्वर ने स्वयं घोषित किया है : 'मैं समासों में द्वन्द्व समास हूं'' मनुष्य और मनुष्य के बीच, मनुष्य और समस्त प्राणी जगत एवं वनस्पति जगत के बीच अर्थात् 'महापृथ्वी' के बीच संयोजक ईश्वर ही है । अतः मनुष्य, पृथ्वी और ईसस्व के 'त्रिक' का सामंजस्य बिना ईश्वर के अधूरा है, मेरा सम्पूर्ण लेखन, मेरे सारे ललित निबन्ध प्रकारांतर से मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर के इसी समायोजन, इसी सामंजस्य की ओर इंगित करते हैं । इसका रसबोध की शैली में उद्घाटन करना ही मैं अपने साहित्य का परम दातव्य मानता हूं, परम धर्म मानता हूं । हां, यह सही है कि मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर को पहचानने की और इस समायोजन की ओर इंगित करने की भाषा, मेरी शब्दावली, मेरे मुहावरे नितांत भारतीय है ।

यदि भाषिक-संस्कृति छिन्नमूल हो जाती है तो लेखन विश्वसनीय नहीं रह जाता । उसकी अपील बुद्धि का स्पर्श तो करती है, परन्तु हृदय में, मर्म में प्रवेश

नहीं कर पाती । लेखक और पाठक के बीच, वक्ता और श्रोता के बीच एक आत्मिक स्तर पर संवाद बन नहीं पाता । १५ अगस्त १९४७ को अपने संदेश में गाँधीजी ने कहा था– 'दुनिया से कह दो कि गांधी अंग्रेजी भूल गया !" तो वे अपनी सादी सरल भाषा में इसी तत्व की ओर इशारा कर रहे थे । कारण यह कि गांधी का लक्ष्य आजीवन मात्र बुद्धि को प्रभावित करना नहीं था, वे हृदय में प्रवेश करके बोलते थे ।

दूसरी बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि मैं साहित्य को राजनीति का अनुचर मानने के लिए कतई तैयार नहीं हूँ । मैं राजनीति के सर्वग्रासी वर्चस्व को मान्यता देने से इन्कार करता हूँ । आज हालत यह है कि जब कोई समाज की बात करता है या संस्कृति की बात करता है तो उसका मतलब केवल राजनीति से ही होता है । सांस्कृतिक चेतना या सामाजिक चेतना का आज एकमात्र अर्थ लगाया जाता है राजनीतिक चेतना और वह भी अपने दल की राजनीतिक चेतना, और अधिक साफ-साफ कहें तो अगले चुनाव की राजनीतिक चेतना । आज की राजनीति उत्तरकालीन पीढ़ियों के भाग्य-दुर्भाग्य के बारे में कुछ भी सोचने में अक्षम है । राग-विराग, करुणा, साहस, शौर्य, संयम, निष्ठा आदि का ही नाम मनुष्यत्व है और इनकी प्रामाणिकता की कसौटी, वर्ण, वर्ग, जाति या सम्प्रदाय नहीं होते । परन्तु प्रगतिशील हिंसा, प्रतिक्रियावादी हिंसा, जनवादी करुणा, जनविरोधी करुणा जैसी द्वन्द्वात्मक शब्दावली सुनते-सुनते कान पक गये । आज की राजनीति मनुष्यत्व के इन प्रमूल्यों का भी अपनी सुविधानुसार 'कोटा' निर्धारित करती है और इसे 'सिद्धांत-बाजी' का जामा पहनाने का काम साहित्यकार और पत्रकार करते हैं । एक जिंदा आदमी सड़क पर देखते-देखते लाश का ढेर बना दिया गया, एक अबोध बालिका दिन दहाड़े धर्षित कर दी गई, एक गरीब की झोपड़ी सर्वजन समक्ष भस्मीभूत कर दी गई और इन अभागों की प्राप्य करुणा-दया-सहानुभूति का 'कोटा' राजनीति वर्ग, वर्ण, जाति और सम्प्रदाय के आधार पर करती है । इसे युक्तिसंगत करने का व्यभिचार इसके अनुचर साहित्यकार और पत्रकार करते हैं । मैं इसे 'सिद्धांतवाद' नहीं 'सिद्धांतबाजी' कहता हूँ । यह सीधे-सीधे मनुष्य के मनुष्यत्व का सैद्धांतिक विभाजन है और इसकी निर्विशेष संवेदनशीलता को कुंठित करता है । मैं राजनीति द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित इस अपमानवीकरण और अपसंस्कृति का विरोध करता हूँ और साहित्यकार को चालू राजनीति का नाई-बारी-भांट, चारण और अनुचर मानना मुझे स्वीकार नहीं । रही सामाजिक चेतना की बात तो समाज का अर्थ मात्र 'जनसमूह' नहीं होता । समाज और 'जनसमूह' में एक भेद होता है । समाज दीर्घकाल से विद्यमान एक छंदोबद्ध संस्था है और इसका छन्द ऐतिह्य के पथ पर अर्जित किया गया है । इसका छन्द परंपरा का दान है । परंतु जनसमूह का कोई छन्द नहीं होता । जनसमूह एक व्यक्तित्व-विहीन भीड़ होता है । इसमें व्यक्तित्व

का आवेश होता भी है तो वह तात्कालिक होता है और आरोपित होता है। साहित्यकार का संबंध इस छन्दोबद्ध समाज से होता है जबकि राजनीतिज्ञ का ताल्लुक छंदहीन समूह या 'भीड़' से होता है। यही कारण है कि मैं साहित्य के सन्दर्भ में सामाजिक चेतना का अर्थ 'भीड़-चेतना' नहीं ले पाता।

केवल भारतीय बुद्धिजीवी ही नहीं, विश्व का बुद्धिजीवी भी इस २१वीं शती के द्वार पर आकर एक वैचारिक 'शून्य' में खड़ा हो गया है—अशांतचित्त अनर्गल के भय से ग्रस्त एवं किंकर्तव्यविमूढ़। १९वीं शती के बहुप्रचारित कुछ सिद्धांतों के सम्मोहन में मनुष्य ने पूरी एक शताब्दी यानी वर्तमान २०वीं शती को व्यतीत कर डाला। परंतु उससे मनुष्य का अपेक्षित कल्याण–साधन नहीं हो सका। वे वस्तुतः सत्य होते हुए भी अर्धसत्य थे। केवल विशिष्ट सन्दर्भों में ही सही थे। वे अध्ययन-कक्ष या प्रयोगशाला के लघु मंच से विराट विश्व और अगाध मनुष्य–मन के बारे में लिए गए अनुपातहीन निर्णय थे। इन निर्णयों को अनुयायियों ने अमोघ और अभ्रांत मान कर सार्वभौम और सार्वकालिक बनाने का दुराग्रह किया। परंतु सौ वर्षों के अनुभव के बाद उनकी अधूरी सत्यता उद्घाटित हो चुकी है। आज वे अभ्रांत और अमोघ नहीं माने जा रहे हैं और यह शताब्दी भी अपसरित हो रही है। प्रश्न है कि अगली शताब्दी के लिए मनुष्य का वैचारिक पाथेय क्या होगा ? अगली शताब्दी नये ढंग और नयी शब्दावली माँगती है। अतः यह निश्चय है कि यह कार्य तभी सम्भव होगा जब हम अपने मन को उन अर्धसत्यों के पूर्वाग्रह से मुक्त कर लें। ऐसी स्थिति में एक जमीन चाहिये, एक आधारभूमि चाहिये जिस पर खड़े होकर या आसीन होकर हम अगली शताब्दी के वैचारिक पथ और पाथेय के बारे में संतुलित निर्णय ले सकें। भारतीय बुद्धिजीवी और भारतीय साहित्यकार के लिए वह आधारभूमि भारतीय प्रज्ञा की देशी जमीन ही हो सकती है, अन्य और कोई नहीं। हवा में छिन्नमेघ की तरह या कटी पतंग की तरह उड़ते-भटकते हुए २१ वीं शताब्दी के लिए उपयुक्त जीवन-दृष्टि और वैचारिक पाथेय का आहरण सम्भव नहीं। ऐसा करना मूर्खता होगी, अथवा निरी आत्म-प्रवंचना होगी। इसी से मैं यहाँ पर और अपने लेखन में अन्यत्र भी, मूल की ओर लौटने की बात करता हूँ, 'मूलसंश्लिष्ट' होने की बात करता हूँ। यह न तो भावुकता है और न पुनरुत्थानवाद है, यह एक व्यावहारिक असलियत है। अपने मूल की सही प्रकृति से जुड़कर ही हम बाहर या भीतर से विश्व और देश से लब्ध अनुभवों और संस्कारों को ऐसा रूप दे सकते हैं जो हमारे इतिहास-भूगोल के परिवेश में खप सकें। राममोहन, गाँधी, रवींद्र और अरविंद में युगचेतना बड़े प्रखर रूप में वर्तमान थी। परंतु इस युगचेतना का आहरण उन्होंने देशी प्रज्ञा की जमीन पर स्थित होकर किया था। वे देशी प्रज्ञा की पहचान, अजनबीपन या विलायतीपन होने के दंभ के साथ नहीं करने चले थे। उन्होंने उसे मातृका रूप में स्वीकार किया था। फलतः उन्हें पर्याप्त सफलता मिली।

परंतु दिक्कत की बात यह है कि आज का अर्थात् २०वीं शती के अन्तिम दशकों का भारतीय बुद्धिजीवी ऐसा कर नहीं पा रहा है। विगत सौ वर्षों की शिक्षा-प्रणाली में ढल कर वह देशी संस्कृति की भाषिक प्रकृति के मूल स्रोतों से कट

गया है । वह देश की मूल सांस्कृतिक और भाषिक भावधारा के प्रति अजनवी हो चुका है । गुरुतर दुर्भाग्य यह है कि बुद्धिजीवी चाहे द क्षिणपंथी हो या वामपंथी, दोनों में इस अजनबीपन का इस बेगानेपन का, एक दंभ है और एक आत्ममुग्धता है । ऐसा छिन्नमूल बुद्धिजीवी जब अपनी विद्या के विलायती होने के दंभ को लेकर देशी संस्कृति के प्रमूल्यों को पहचानने चलता है तो उसकी कोई पहचान नहीं उपलब्ध कर पाता । उसके अवचेतन का दंभ बाधक होता है । बिना पहचाने विश्वास नहीं हो पाता है और बिना विश्वास के कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं बन पाता है । फलतः उसका निष्कर्ष होता है कि जो कुछ भारतीय या स्वदेशी है चाहे भाषा हो, धर्म हो, लोक-संस्कृति हो, फालतू और निरर्थक है । इसी से ऐसा छिन्नमूल बुद्धिजीवी व्यक्ति समाज, धर्म,राष्ट्रीयता, परिवार कुल, पुरुषार्थ और सौंदर्यबोध की मूलभूत अवधारणाओं को देशी इतिहास के पथ पर चल कर समझने में असमर्थ हो गया है । यदि वह अपनी बुद्धि और मन को 'मूल संश्लिष्ट' नहीं करेगा तो अपनी देशी संस्कृति के प्रमूल्यों के मर्म को समझ नहीं पायेगा । फलतः अपनी आत्ममुग्धता और भ्रांति के कारण इन प्रमूल्यों का चरित्र-हनन करना ही उसे अपने अर्जित बुद्धिवाद की बहादुरी लगेगा । यह 'आत्महंता' की स्थिति है और आत्महंता होने से अर्थात् अपनी सामूहिक अस्मिता का चरित्र हनन करने से बढ़कर दुष्कर्म और क्या हो सकता है ।

एक उदाहरण लें । आधुनिक बुद्धिजीवी अपनी देशी पद्धति में स्वीकृत 'रचनात्मक सामंजस्य' की बात समझ नहीं पाता और उसकी आदत हो गई है 'वाद-प्रतिवाद' की शैली में ही किसी स्थिति को समझने की । द्वन्द्वात्मक शैली के बाहर किसी भी पद्धति के प्रति उसमें निष्ठा नहीं । परन्तु भारतवर्ष की अपनी निजी पद्धति रही है-परस्पर विरोधी तत्त्वों का रचनात्मक सामंजस्य और इसके द्वारा व्यवहार में एक पूर्णांक इकाई की उपलब्धि । जीवन के दैनिक अनुभवों में यह रचनात्मक सामंजस्य एक अकाट्य सत्य है । सद् और असद्, शुभ और अशुभ, अर्थ और धर्म, काम और मोक्ष, ब्रह्मचर्य और रति-क्रिया, व्यक्ति और समाज, मनुष्य और ईश्वर के बीच एक 'रचनात्मक सामंजस्य' चलाते हुए जीवन जीना भारतीय गृहस्थ धर्म है । आधुनिक विश्वचिंतन भी अब 'वाद-प्रतिवाद' की शैली छोड़ रहा है । मिश्रित अर्थव्यवस्था जनतांत्रिक समाजवाद और वैज्ञानिक धर्मबोध जैसी विचारधाराओं का विकास इसी रचनात्मक सामंजस्य के रूप हैं । जब यह पश्चिमी समाज, पश्चिमी चिंतन और पश्चिमी साहित्य में स्वीकृत हो जायेगा तो भारतीय बुद्धिजीवी इनमें विश्वास करेगा । परन्तु भारतीय प्रज्ञा के आनुवंशिक उत्तराधिकार के रूप में उसकी बुद्धि इसे समझ पाने में असमर्थ है । वह भी औरों की तरह २१वीं शती के द्वार पर आकर वैचारिक शून्य में किंकर्तव्यविमूढ़ है और उधार ली हुई शब्दावली के जप द्वारा सारी स्थिति से उबरने का स्वप्न देख रहा है । परन्तु उसके उबरने की दो शर्तें हैं : पहली—यह कि १९वीं शती के अर्धसत्यों और मुहावरों से मानसिक मुक्ति, दूसरी—अपने अजनबीपन का दंभ त्याग कर देशी प्रज्ञा की जड़ों से अपने को जोड़ना, 'मूल-संश्लिष्ट' होना । तभी यह निजी शब्द. निजी

मुहावरे, निजी मौलिकता को अर्जित कर सकेगा । तभी वह अपने देश के उत्तरपुरुष को तथा विश्व को कुछ खांटी, कुछ विशुद्ध दे पायेगा, अन्यथा नहीं ।

मैंने अब तक आपके सामने जिन बातों की चर्चा की वे संक्षेप में इस प्रकार हैं : पहली–बात तो यह कि मैंने अपने निबंधों में मनुष्य को पृथ्वी और ईश्वर से जोड़कर एक 'त्रिक' के रूप में प्रस्तुत किया है । दूसरी–बात यह कि मैं साहित्य को राजनीति का मात्र अनुचर मानने को तैयार नहीं हूँ । तीसरी–बात यह कि २१वीं शती के द्वार पर आकर बुद्धिजीवी एक वैचारिक शून्य में अवरुद्ध हो गया है और इस स्थिति से मुक्त होने का उपाय है १९वीं शती के बहुप्रचारित अर्धसत्यों और पूर्वग्रहों से मुक्त होकर नये सिरे से सोचना और नई धारणाओं को लब्ध करना । चौथी–बात यह कि इसके लिए हमें देशी प्रज्ञा की जमीन पर खड़े होकर ही नई स्थितियों को सोचना-समझना होगा । 'छिन्नमूल, बुद्धिजीवी से यह कार्य सम्भव नहीं । अन्त में बृहदारण्यक उपनिषद् से एक संवाद का उदाहरण दे कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ ।

जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं, "याज्ञवल्क्य, पुरुष किस ज्योति के आश्रय से उबरता है, भटकता नहीं, कर्म करता है ?" याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं, "सूर्य की ज्योति से ।"

जनक आगे पूछते हैं, "यदि सूर्य अस्त हो जाये ?" तो उत्तर मिलता है "चन्द्र की ज्योति से ।" जनक पूछते हैं, "यदि सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हों तो ?" याज्ञवल्क्य का उत्तर है, "अग्नि के आश्रय से ।" जनक फिर पूछते हैं, "यदि अग्नि भी शांत हो जाये तो ?" याज्ञवल्क्य का उत्तर बड़ा ही संकेतपूर्ण है : "तब पुरुष वाक् का आश्रय लेता है, अन्धकार में एक दूसरे को पुकार कर ।" इसका अर्थ यह है कि सारी ज्योतियों के अस्त हो जाने पर वाक् अर्थात् भाषा और साहित्य ही बच निकलने का, उबरने का एकमात्र मार्ग है । भारतवर्ष के इतिहास में इस आश्रय का प्रयोग हो चुका है । परन्तु यह संवाद इसी पर समाप्त नहीं होता । जनक चरम स्थिति की कल्पना करते हैं । कोई असुर या कोई अधिनायक या कोई कुटिल तन्त्र वाणी को स्तब्ध कर सकता है, सम्मोहन द्वारा अथवा बलपूर्वक । वे अन्तिम प्रश्न पूछते हैं, "यदि वाक् भी शांत हो जाये तो ?"

याज्ञवल्क्य का उत्तर विशुद्ध भारतीय उत्तर है, पश्चिमी मनीषा वाक् के आगे सोच नहीं पाती । परन्तु भारतीय प्रज्ञा का उत्तर है : "तब पुरुष आत्मा की शरण लेगा । आत्म-ज्योति के आश्रय से बचेगा" अर्थात् वह सारे संकटों के मध्य अपने भीतर 'अन्तर्यामी' को, अपनी अस्मिता की दिव्यशक्ति को, दृढ़भाव से पकड़ेगा और गहन संकट में भी बच निकलेगा ।

(मूर्तिदेवी पुरस्कार ग्रहण के अवसर पर दिया गया वक्तव्य)

●

मेरे लेखन के केन्द्रीय तत्त्व

कुबेर नाथ राय

बहुत पहले से ही मेरा विश्वास रहा है कि बहुत बोलना नहीं चाहिये । यह गलत था या सही, इस पर विवाद हो सकता है । परन्तु इसका फल यह हुआ कि मुझे लिखने तो आया पर बोलना नहीं आया । भाषण की कौन कहे, बातचीत की कला में भी मैं अभ्यस्त नहीं हो पाया । इस दुर्धर्ष पक्षपात और कठिन पूर्वग्रह के युग में जब आसेतु हिमाचल शब्द-सगर' चालू है, मेरा ऐसा बन जाना एक कमी है, एक दोष है । तो भी इस सिद्धांत की आड़ में मुझे राहत मिली है । बहुत पहले पं. बलदेव उपाध्याय का मालवीय जी के बारे में एक संस्मरण पढ़ा था, जिसमें महामना ने योगशास्त्र के एक सूत्र का उल्लेख किया था : 'शुक्रक्षयात् वाक् क्षयो बलीयान्" अर्थात् शुक्र क्षय से जितनी मानसिक ऊर्जा का ह्रास होता है उससे बहुत ज्यादा ह्रास होता है वाक् क्षय करने से । हमारी संस्कृति में यह विधान है कि शुक्रक्षय और वाक्क्षय दोनों को 'ऋतं' की सीमा के भीतर ही करो । दोनों क्षेत्रों में 'ऋत' की मर्यादा के बाहर मत जाओ । वैष्णवों ने तो इसी से स्पष्ट घोषित कर दिया "न वादं चरेत्"–'शास्त्रार्थ मत करो ।' क्योंकि नारायणीय धर्म तो प्रवृत्ति लक्षण है और आचारप्रधान है । "आचार प्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ।" तुम्हारे शब्द नहीं तुम्हारा व्यवहार-आचार ही बोलेगा । अतः "न वादं चरेत् ।" मैं मानता हूँ कि ये सारी बातें चालू हवा के खिलाफ हैं । घर-गाँव, सड़क और विद्यालय परिसर में निरन्तर क्रोध, संत्रास और शंका के भीतर चलने के लिए अभिशप्त पुरुष के लिए इस सिद्धांत से बड़ी राहत है कि कम बोलो, भरसक कम वाक् क्षय करो । अपनी ही हानि है । इस दुर्धर्ष पक्षपात, कठिन पूर्वग्रह और घोर प्रतिबद्धता (Commitment) के युग में युक्ति-तर्क का क्या महत्व है ? अपने पल्ले अपना ही मानसिक क्षय पड़ेगा । आप कहेंगे कि यह पराजय-मनोवृत्ति है ! है तो सही । पर उपाय ही क्या है ? मैं अपनी अक्षमता-अयोग्यता को छिपाने के लिए दर्शन का सहारा ले रहा हूँ । यदि कोई ऐसा सोचे, तो उस की भी बात मन्जूर करता हूँ । परन्तु पूरा-पूरा नहीं क्योंकि मेरी व्यक्तिगत अयोग्यता से ऊपर के सिद्धांत का खण्डन नहीं हो जाता कि यथा सम्भव कम 'वाक्क्षय' करो ।

यह तो हुई मेरी निजी बात । आपने साहित्यकार के हिसाब से मुझे बुलाया है । अतः अपने साहित्य के बारे में एकाध बातें कहना भी जरूरी है । मैंने ज्यादातर ललित निबन्ध ही लिखा है । कुल १५ किताबें । इनकी पृष्ठभूमि में जो विषयवस्तु है

वह मुख्यतः ५ बिंदुओं से जुड़ी है :– (१) गंगातीरी लोक संस्कृति और आर्येतर भारत (२) भारतीय साहित्य (३) रामकथा (४) गाँधी चिंतन (५) विश्व चिंतन। क्रमबद्ध रूप में नहीं, फुटकर निबन्धों के रूप में ही मैंने इन विषयों से जुड़े रसमय सन्दर्भों को उपस्थित किया है। ऊपर से देखने पर ये पाँचों विषय अलग-अलग लगते हैं। परन्तु इन सबके भीतर मैंने 'मनुष्य' को अभिव्यक्त किया है। और इस मनुष्य को मैंने मनुष्य, धरती तथा ईश्वर इन तीनों के संयुक्त 'त्रिक' (trinity) के मध्य रखकर ही देखा है। एक ऐसा परस्पर मिश्रित 'त्रिक' जो व्यवहार में वस्तुतः एक सम्मिलित 'इकाई' की तरह सक्रिय है। जीवन की सारी ऊर्मियां इसी 'त्रिक' के भीतर ही उद्भूत और अपसरित होती हैं। इसी से मेरी मान्यता है कि मनुष्य को उसकी धरती और उसके ईश्वर से काट कर अलग से पहचानना उसे अधूरा पहचानना है। धरती से मेरा तात्पर्य पशु-पक्षी, तरु-लता, जंगल, पहाड़ एवं सम्पूर्ण पर्यावरण से है। और ईश्वर से हमारा तात्पर्य उस समस्त संस्कार-साधना से है जो व्यवहार में धर्म और संस्कृति कही जाती है। तो, मनुष्य, धरती और ईश्वर का त्रिक ही मेरे लेखन की केंद्रीय बात है। इस पर थोड़ा और कहना चाहूँगा।

बहुत पहले पण्डित जवाहर लाल नेहरू की एक किताब पढ़ी थी 'हिंदुस्तान की समस्याएँ'। यह स्वतन्त्रता पूर्व उनके लिखे गये कुछ निबन्धों का संकलन है। उसका पहला निबन्ध है : 'भारत माता की जय'। इसमें नेहरू ने बताया है कि एक दफे वे पंजाब या यू. पी. में अपने दौरे पर गये थे तो कुछ किसानों ने उनकी मोटर को रोककर "भारत माता की जय" का नारा लगाया। नेहरू ने उनसे पूछा, "भारत माता कौन है ?" किसी ने कहा–'यह धरती ही भारत माता है', तो किसी ने कुछ और ही कहा। श्री नेहने ने उन्हें समझाया कि ये बेजान चीजें 'भारत माता' नहीं हैं। 'भारत माता और कोई नहीं, वे लोग ही हैं। भारत माता की जय का अर्थ होता है भारतीय जनता की जय। भारत माता भारतीय जनगण के सिवा और कुछ नहीं। पहली बार पढ़ा तो लगा कि नेहरू जी ठीक कह रहे हैं। वे किसान 'अविद्या' में भटक रहे थे जो भारत माता का अर्थ 'धरती माता' लगाते हैं। परन्तु आज मुझे लगता है कि यदि अनपढ़ किसान 'अविद्या' में भटक रहे थे तो उच्च शिक्षित नेहरू विद्या के तीक्ष्ण प्रकाश में भटक रहे थे। उपनिषद ने तो बहुत पहले ही सावधान कर दिया था 'अन्धं तमः प्रविशन्ति......" वाले मन्त्र–"अविद्या के उपासक तो अन्धकार में भटकते ही हैं, परन्तु मात्र विद्या में प्रमत्त उनसे भी गहरे अन्धकार में भटक जाते हैं।" अन्धकार मात्र काला ही नहीं होता। उज्ज्वल अन्धकार भी होता है। चकाचौंध भी अन्धकार ही है। जो दृष्टि का हरण करे वही अन्धकार है।

आज मुझे लगता है कि 'भारत माता' को मात्र 'जनगण' मान लेने से कोई रागात्मक बोध प्राप्त नहीं होता । 'जनगण, जनता people' ये सब बौद्धिक अवधारणाएँ हैं । 'भारत माता' शब्द का अर्थ मात्र 'जनगण या जनता' पर समाप्त कर देने के कुछ दुष्परिणाम सामने आये हैं । इसके ही फलस्वरूप देश के प्रति रागात्मक बोध में गिरावट आई है । इसके ही कारण 'भारत माता की जय' को ही शंका का पात्र बनाया जा रहा है । 'भारत' को 'भारतीय मनुष्य–भारतीय धरती और भारतीय संस्कार साधना' के त्रिक (trinity) के रूप में न देखने के कारण ही 'भारत' की नई परिभाषा बन गयी है 'भारत=जनगण Voter's list'। आज 'भारत' के माने होता है मात्र Voters list (मतदाता सूची) । 'भारत माता की जय' के स्थान पर उस 'महान' की जय जो इस सूची के सर्वाधिक पन्ने फाड़कर अपनी पाकेट में रख चुका है ।

इसी से मुझे लगता है कि नेहरू की बात तुरन्त समझ में आने वाली बात तो है परन्तु है अधूरी बात । नेहरू द्वारा बतायी गयी माता की पहचान अधूरी है । भारतीय मनुष्य को भारतीय धरती और भारतीय ईश्वर (यानी संस्कार साधना) से जोड़कर ही पहचाना जा सकता है । गाँधी जी इसे खूब समझते थे । अतः उनकी भारत की पहचान पूर्णांग सिद्ध हुई है । 'भारत माता' शब्द में जो रागात्मक तत्व है, जो 'वात्सल्य रस' है और आर्य आर्येतर संस्कार साधना का जो संकेत छिपा है, उसे पहचानने में नेहरू जी अक्षम रहे । क्योंकि नेहरू बुद्धिवादी थे । विद्या की चकाचौंध ने उनकी दृष्टि को सत्य के केंद्र पर स्थापित नहीं किया । गाँधी ने रागबोध के माध्यम से विद्या-अविद्या के द्वन्द्व से ऊपर उठकर देश के मर्म को पहचान लिया ।

उदाहरण कुछ राजनैतिक हो गया । जो बात मैं कह रहा हूँ वह राजनीति से उतना सम्बन्ध नहीं रखती । मैं तो साहित्यिक-सांस्कृतिक सन्दर्भ में वात कर रहा हूँ और इस सन्दर्भ में मैं मानता हूँ कि मनुष्य की सही और जीवन्त पहचान उसकी 'धरती' और सांस्कृतिक आत्मिक उत्तराधिकार जिसे मैंने एक शब्द ईश्वर' से व्यक्त किया है, इन दोनों से जोड़कर ही सम्भव है । वैसे 'ईश्वर' तो सबका एक ही है । पर सब उसे भिन्न ढंग से अपने ऐतिहासिक-सांस्कृतिक और भाषिक उत्तराधिकार के माध्यम से पहचानते हैं । एक होते हुए भी उसकी असंख्य छावियाँ हैं । प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति अपनी समझ और उत्तराधिकार के अनुसार कुछ खास छवियों से ही जुड़ी रहती है ।

यही कारण है कि अपनी प्रत्येक पुस्तक में मैंने मनुष्य को उसकी धरती और उसके ईश्वर से जोड़कर देखा है । मेरी प्रत्येक रचना में प्रकृति और पर्यावरण के साथ मनुष्य के मन की आत्मिक ऋद्धि जुड़ी हुई है और बाह्य दृश्यमान जगत के

साथ उसका रागात्मक सम्बन्ध व्यक्त हुआ है और इस सम्बन्ध के भीतर परोक्षतः या प्रत्यक्षतः ईश्वर का प्रकाश स्थापित किया गया है । यह चाहे गंगातीरी चन्दर माँझी हों या फागुन डोम, किरात नदी के तट के कार्तिक फण्टी हों या अगिन बेताल अथवा अतीव कोई लोकचक्षु कवि हो या मक्खलिगोशालक जैसा तीर्थंकर हो, सर्वत्र ही इन तीनों का मनुष्य, धरती और ईश्वर का 'त्रिक' किसी न किसी रूप में उपस्थित है । इसी 'त्रिक' के अर्थ में ही मेरा साहित्य मनुष्य की अभिव्यक्ति है । मनुष्य को धरती और ईश्वर से अलग कर राजनैतिक इकाई या आर्थिक इकाई के रूप में मैंने नहीं देखा है । आप कहेंगे कि यह आधुनिकता नहीं । परन्तु मैंने आधुनिकता की चकाचौंध में भटकना स्वीकार नहीं किया है । जो दृष्टि का हरण कर ले वही अन्धकार है । विश्वास ही अन्धा नहीं होता, अविश्वास भी अन्धा होता है, शंका भी अन्धी होती है । साठोत्तरी के दशक में जब लिखना शुरू किया था तो यह बात समझ में नहीं आ रही थी । पर आज सभी की समझ में यह बात आ गयी है कि १९वीं शती में प्रस्तावित कुछ अर्धसत्यों के जय और पुरश्चरण से मनुष्य का उद्धार नहीं । मनुष्य को पुनः धरती माता को अर्थात् पर्यावरण संयुक्त इस 'महा पृथ्वी' को पहचानना होगा और उसे पुनः किसी न किसी किस्म की ईश्वरीयता या दिव्यता के बोध की ओर लौटना होगा । अन्यथा 'संत्रास' और 'अनर्गल' के भय से मुक्ति नहीं । आज से बीस-तीस साल पहले 'संत्रास' और 'अनर्गल' मात्र व्यक्ति की समस्याएँ थीं । परन्तु आज 'संत्रास और अनर्गल' के व्यापक जनवादी संस्करण उपस्थित हैं । यहाँ, वहां, सर्वत्र, दुनिया भर में । आज अखबार का हर एक पन्ना 'संत्रास और अनर्गल' के वृन्दगान (chorus) से भरा रहता है । मुझे तो अखबार पढ़ते समय लगता है कि किसी greek tragedy का chorus पढ़ रहा हूँ । तो बचने का एकमात्र उपाय यही है कि अपनी धरती माता को पहचानो और अपने ईश्वर को पहचानो । विहंगम दृष्टि का खेल बहुत खेले । अब मुड़-मुड़कर सिंहावलोकन करते चलने की जरूरत है । वैसे तो मेरा सन्दर्भ साहित्य है परन्तु मेरी समझ से तो साहित्य में ही नहीं, भविष्य की राजनीति, अर्थशास्त्र और समाज नीति में भी इस (trinity) को, इस 'त्रिक' को, स्वीकार करने में ही मनुष्य का कल्याण है ।

आज की राजनीति मनुष्य को एक 'मतदाता' (Voter) के रूप में देखती है । वह मनुष्य को सप्राण जीवन्त इकाई के रूप में न देखकर हद से हद 'पार्टी-सदस्य' के रूप में देखती है । आज की अर्थनीति मनुष्य को 'आत्मा' के रूप में प्रतिष्ठा न देकर संसाधन की एक इकाई के रूप में देखती है और उसका अपना निजी त्रिक है, 'पूँजी, कच्चा-माल और श्रम' इसमें मनुष्य श्रम की एक इकाई मात्र है । यह

मनुष्यत्व-विहीन' आत्मविहीन राजनीति है । यह मनुष्यत्व-विहीन, आत्मविहीन अर्थशास्त्र है । इस राजनीति का लक्ष्य है सत्ता । इस अर्थनीति का लक्ष्य है उत्पादन और लाभ । आज की राजनीति और अर्थनीति में मनुष्यत्व और मनुष्य की आत्मा को न तो साधन के रूप में कहीं स्थान है और न साध्य के रूप में । २१ वीं शती के दो-तीन दशकों के बाद मनुष्य को बाध्य होकर राजनीति और अर्थनीतिको 'मनुष्य केंद्रित' करना ही होगा । इस २० वीं शती को तब इतिहासकार 'अन्धकार युग' की संज्ञा देंगे और 'मनुष्य केन्द्रित' राजनीति और अर्थनीति का उदय ही मनुष्य जाति के इतिहास का 'दूसरा पुर्नागरण' युग कहा जायेगा । तब मनुष्य, धरती और ईश्वर' का त्रिक सर्वसम्मति से स्वीकृत होगा । आज भले ही कोई इस बात को रोमाण्टिकता, भावुकता या पुनरुत्थानवाद या और कुछ कह कर निरस्त कर दे । परन्तु गाँधी को तो राजीतिज्ञों ने १९४७ के बाद से ही येन केन प्रकारेण फालतू और निरर्थक बनाना शुरू कर दिया था ।

गाँधी जो स्वदेशी और स्वभाषा पर इतना बल देते थे वह इसीलिए कि मनुष्य को वे धरती और ईश्वर से विच्छिन्न करके देखने के लिए तैयार नहीं थे । गाँधी ने १५ अगस्त १९४७ को कुछ विदेशी पत्रकारों से कहा था "आज विश्व के लिए मेरे पास कोई सन्देश नहीं, सिवा इसके कि दुनिया से कह दो कि गाँधी आज से अंग्रेजी भूल गया ।" "अंग्रेजी भूलने" का मतलब बहुत बड़ा हैं । इसका अर्थ यह है कि अब भारत वर्ष अपनी धरती की संस्कृति, अपने मनुष्यों की भाषा और अपने देश की आत्मिक साधना के अनुरूप चलेगा । आज से धरती, मन और आत्मा तीनों की गुलामी खत्म । परन्तु १९४७ के बाद हमारे राजनीतिज्ञों और बुद्धिजीवियों के षड़यन्त्र के फलस्वरूप गाँधी दिन पर दिन झूठे पड़ते गये । अन्त में वे एक चुनावी हथियार बन कर रह गये और वह भी एक अत्यन्त दुर्बल हथियार । हालत तो यह है कि जिस गाँधी ने दलितों के उत्थान के लिए इतना संघर्ष किया, उसे अपने राजनैतिक-सामाजिक कार्यक्रम का मुद्दा बनाया, उस गाँधी के प्रति आज का राजनीतिज्ञ एक अत्यन्त श्रद्धाविहीन और अनुचित भाषा का प्रयोग करता है । ऐसी स्थिति में साहित्यकार और पत्रकार से अनुरोध करूँगा कि वह अपनी राजनैतिक पक्षधरता के लिए विवेक का त्याग न करे और भारतीय अस्मिता के चरित्र हनन को ही अपनी सबसे बड़ी बहादुरी न माने ।

●

कृतियां और पुरस्कार

(क) प्रकाशित पुस्तकें–

(1) प्रिया नीलकंठी – 1969 ई.
(2) रस आखेटक – 1971 ई.
(3) गन्धमादन – 1972 ई.
(4) निषाद बांसुरी – 1973 ई.
(5) विषाद योग – 1974 ई.
(6) पर्णमुकुट – 1978 ई.
(7) महाकवि की तर्जनी – 1979 ई.
(8) किरात नदी में चन्द्र मधु – 1979 ई.
(9) पत्र मणिपुतुल के नाम – 1980 ई.
(10) मन पवन की नौका – 1982 ई.
(11) दृष्टि अभिसार – 1985 ई.
(12) त्रेता का बृहत्साम – 1986 ई.
(13) कामधेनु – 1990 ई.
(14) मराल – 1993 ई.
(15) उत्तर कुरु – 1993 ई.
(16) चिन्मय भारत – 1996 ई...

(ख) प्रकाशनाधीन कृतियां (प्रेस में)

(1) कंथा मणि (कविता संग्रह): – विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
(2) वाणी का क्षीरसागर (निबन्ध संग्रह) – " " "
(3) रामायण महातीर्थम् (रामकथा संबंधी निबन्ध) – भारतीय ज्ञानपीठ
(4) अंधकार में अग्नि शिखा – (निबन्ध संग्रह) – प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

(ग) – अप्रकाशित कृतियां –

(1) भारतीय पुर्जाजगरण के अंतिम शलाका पुरुष: स्वामी सहजानन्द 'सहजानन्द समग्र' के प्रस्तावित पांच खण्डों की लंबी भूमिका के रूप में लिखित निबन्ध 'ब्रह्मर्षि समाजं पत्रिका' (पटना) के कई अंकों में प्रकाशित हुए हैं ।
(२) साहित्य और समाज पर दिये गये व्याख्यान
(3) अंग्रेजी साहित्य पर अंग्रेज़ी भाषा में लिखित निबन्ध

(घ)– पुरस्कार एवं सम्मान

क्र. सं.	पुरस्कार का नाम	पुरस्कार देनेवाली संस्था	वर्ष	पुरस्कृत कृति
(1)	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल पुरस्कार	हिन्दी समिति, उ. प्र.	1971 ई.	(प्रिया नीलकंठी)
(2)	राज्य साहित्य पुरस्कार	" "	1973 ई.	(रस आखेटक)
(3)	राज्य साहित्य पुरस्कार	" "	1974 ई.	(गन्धमादन)
(4)	स्तरीय पुरस्कार	" "	1980 ई.	(पर्णमुकुट)
(5)	सम्मान व ताम्रपत्र	मानस संगम, कानपुर	1980 ई.	(महाकवि की तर्जनी)
(6)	राम साहित्य पुरस्कार	साहित्य अनुसंधान समिति, कलकत्ता	1980 ई.	(")
(7)	विशिष्ट सम्मान, ताम्रपत्र, नामित पुरस्कार	उ. प्र. राज्य हिन्दी संस्थान	1981 ई.	(")
(8)	स्वामी अभयानन्द पुरस्कार	गांधी शान्ति प्रतिष्ठान,	1982 ई.	(पत्र मणिपुतुल के नाम)
(9)	आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी पुरस्कार	उ.प्र. राज्य हिन्दी संस्थान	1987 ई.	(किरात नदी में चन्द्रमधु)
(10)	रामकुमार भुवालका पुरस्कार	भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता	1989 ई.	(त्रेताका बृहत्साम)
(11)	मूर्तिदेवी पुरस्कार	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली	1993 ई.	(कामधेनु)
(12)	भोजपुरी रत्न	अखिल भारतीय भोजपुरी परिषद्	1993 ई.	
(13)	राही मासूम रजा पुरस्कार	राही मेमोरियल शोध संस्थान, गाजीपुर	1994 ई.	
(14)	साहित्य भूषण	उ. प्र. राज्य हिन्दी संस्थान	1995 ई.	

●

कृतियों का मूल्यांकन

ललित निबन्ध का प्रतिमान : 'प्रिया नीलकण्ठी'

डा. विवेकी राय

ललित निबन्ध-लेखक कुबेर नाथ राय की पहली कृति 'प्रिया नीलकण्ठी, इस विधा की मानक रचना है । भूमिका वाले आरम्भिक निबन्ध में लेखक 'जानत प्रभु सब बिनुहिं जनाये' के सुर में निरपेक्ष भावेन 'विषादयुग' के जंगल को छानने का संकल्प करता है । उसके अहं (किंचित् स्फीत) के परिवेश में भारत वसुन्धरा की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक सुगन्ध है। केन्द्रीय तत्व गांव है पर मुद्रा गम्भीर और डूबने वाली है। लपेट में साहित्य शास्त्र, कामशास्त्र, दर्शन, आगम और विविध तन्त्र चिन्तन-विस्तार करते हैं । वर्णनात्मकता आन्तरिक स्तर पर जिये हुए क्षणों के साक्ष्य में खुलती है और यही कारण है कि कामरूप और भोजपुरी प्रदेश का ललित धूपछांही तनाव उसे रम्यता प्रदान कर रहा है । ऐसी ही सघन आर्द्र अनुभूतियों के कारण 'शमी वृक्ष पर लटकते शव' सर्वोत्तम निबन्ध बन गया है जिसमें असम भूमि की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक साधनात्मक सरणियों का तन्मय आलेखन है ।

सबसे अधिक लेखक अपनी जन्मभूमि में रमता है । 'बहुरूपी' शीर्षक निबन्ध उसका निजी हृदय-मंथन है जिसमें वह लोक संस्कृति की समालोचना करता है । उसे लगता है कि 'गांव में शहरी संस्कृति प्रवेश कर रही है । गांव का मन बदल रहा है । उसके संस्कार बदल रहे हैं ।' आगे वह एक निर्णय देता है : 'जहां तक गाँवों के शहरीकरण का प्रश्न है एक हद विशेष में इसे शुभ का आरोहण मानता हूँ मगर अन्ततः लेखक को पीड़ा है कि, 'गांव कूड़े-कचरे और अज्ञान के ढेर बन गये हैं । उसके मन में मरती हुई ग्राम-संस्कृति के लिए मोह भी है और दूसरी ओर वह उसके शहरीकरण की दबे मन वकालत भी करता चलता है । वास्तव में भटकाव वाला यह दुराहा उन सभी विचारकों के आगे है जिनका लगाव गांव से है और वे सभी लगभग एक विसंगति जी रहे हैं । कुबेर बाबू तो कुछ साफ कहने की स्थिति में हैं, 'नयी पीढ़ी का ध्रुव है शहरी मन । लेकिन ऐसी स्थिति में स्त्रियों के मांगलिक लोकगीतों आदि के भूलते जाने के **'सांस्कृतिक ध्रुवण'** पर खेद और 'त्रासदी' की आशंका क्यों ? अब तो इधर या उधर की साफगोई ही अपेक्षित है । समन्वय असम्भव है । 'भारतीय जन-जीवन के परम्परागत पैटर्न में रूपान्तर.....ग्राम-संस्कृति के सूखते रसबोध.... 'सब जीवन सत्य हैं जिनके चलते 'ग्रामीण जीवन की उल्लास-साधना' वास्तव में खतरे में है ।

प्रकृति, पुराण और आधुनिकता का योग बराबर मिलता है कुबेर नाथ राय के ललित निबन्धों में । 'हेमन्त की संन्ध्या', 'मधु माधव', और 'सनातन नीम' शीर्षक निबन्ध, आम, नीम और आछी की चर्चाओं से निबन्धारम्भ, चित्रा, स्वाती और अगहन आदि की व्यंजना, इतिहास-पुराण आदि के उल्लेख, सर्वत्र उक्त त्रिगुणात्मिका साहित्यिक प्रकृति झलकतो रहती है । सर्वत्र जानी-पहचानी जमीन है मगर निबन्धकार जब मूड में बोलता है पाठक चौंक उठते हैं । जब वह इस प्रकार के सिद्धान्त वाक्य बोल जाता है कि 'हिन्दुस्तान का वसन्त बेवकूफ आशिक नहीं' तो वास्तव में वह चिन्तन की विशाल और उच्च सीमाओं का स्पर्श करता रहता है । उसके निष्कर्ष साफ और दो टूक होते हैं । मगर इसका मतलब यह नहीं कि आचार्य शुक्ल के निबन्धों का स्वाद यहां है । आचार्य शुक्ल में निबन्ध की कसावट है और यहाँ ललित निबन्ध का बिखराव है ।

ललित निबन्ध में क्रम और व्यवस्था का कोई माने नहीं होता । अव्यवस्था और उच्छृंखलता ही उसकी व्यवस्था और संयमन है । ललित-निबन्धकार भावों-विचारों की अनियन्त्रित बाढ़ लेकर बहता है । विधान के साथ, वैचारिकता के साथ उसमें काव्यात्मक व्यक्तित्व होता है । वह इसीलिए गीत-मुक्तक के निकट है । ललित निबन्ध की हिन्दी में सर्वोच्च चूड़ा 'अशोक के फूल' और 'कल्पना' के रूप में उभरी परन्तु आचार्य द्विवेदी की अध्ययन-सम्पदा, विषय-निष्ठा, भावमग्नता, रागात्मकता और सामंजस्य वृत्ति अपनी है, बेजोड़ है । कुबेर नाथ राय की परम्परा तो वही है परन्तु पाश्चात्य साहित्य और आधुनिकता का समावेश, बौद्धिक खोद-विनोद और उछालवृत्ति अधिक है । जादू है शैली में । लेखक स्वयं तो स्वच्छन्द रहता है परन्तु वह पाठकों के मन को बाँधे रखता है ।

इस बन्धान को कस करने के लिए कभी कभी वह इस प्रकार की विधायक दार्शनिक मुद्रा में बोल उठता है —'हिन्दुस्तान के कुछ फूल बड़े दबंग और अक्खड़ प्रकृति के होते हैं, जैसे धतूरा और जवाकुसुम मानों दिनकर की कविता है । चम्पा तपोरता उमा की तरह जिसके निकट भ्रमर फटकने का साहस भी नहीं कर सकता । सफेद कचनार अज्ञेय जी के बुद्धिवादी प्यार का प्रतीक है । पारिजात सुमित्रानन्दन पन्त की कविता है और रसाल-मंजरी प्रसादजी का सौन्दर्य बोध । निराला की रस-दृष्टि सरसों का मुक्त विस्तार है ।' इस उपमा-क्रम में चम्पा बेमेल है । मगर निबन्धकार को परवा नहीं है । बकौल जानसन यहां पर 'मस्तिष्क के स्वच्छन्द शिथिल प्रवाह रूप' का वैभव है । इस प्रवाह में सुन्दर सी अस्तव्यस्तता है । वह उफनता है, झिंझोड़ता है और संस्कृत, ग्रीक और अंग्रेजी आदि की मिथक-तरंगों के साथ बढ़ता जाता है । उसकी मुख्य दिशा का नाम है आधुनिकता बोध ।

मगर कुबेर नाथ राय जिस आधुनिकता बोध से प्रभावित हैं उसका स्रोत प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति है । वे आधुनिकता के स्तर पर बदलते नये स्वर में नये ग्राम बोध को प्रस्तुत करने मे दक्ष हैं बल्कि अपने धूमिल मटमैले गांवों के खिंचाव में कभी कभी वे बहुत नीचे भी उतर आते हैं । लगता है, शैली झटका दे रही है, उसमें एकरूपता नहीं, कभी बहुत ऊंचा, फिर बहुत नीचे, 'अतिमा में –ट्रान्सेण्डेन्स में– 'और फिर वहीं इस साल की अरहर सूख गई । 'कामू, सार्त्र, प्लेटो और मैथ्यू आर्नल्ड के साथ गांव की लीला में हनुमान बनने वाले महीधर काका, होली गायन के सेनापति रघुराज चौबे और 'बिरजू अर्थात् बृजराज, मेरे बाल सखा ।' यानी साहित्य, संस्कृति और पुराण का समूचा भ्रमण-सिद्ध व्यक्तित्व निबन्ध के भीतर 'मैं' और 'अपने गांव के ललित विस्तार का पर्याय हो जाता है । निबन्धाकाश में छितराये अध्ययन के शरद् मेघखंड गांव पर ही बरसते हैं और उसका मैं भी कैसा? मेरा मन बचपन से ही यायावर है । यह अतीत के कजरी वन में प्रायः भटका करता है' अथवा' मेरे बनैले और आरण्यक मन को वन-पर्व बहुत अच्छा लगता था ।' और इस विशिष्ट अहंकेन्द्रित जीवन्त-शिल्प-रुचि में 'सम्पाती के बेटे' गृध्र पक्षी के रूक्ष, खड़खड़, मांसभक्षी और असुन्दर दर्शन में भी अपना आत्मसौन्दर्य उड़ेलकर निबन्धकार ललित बना देता है । मन की निर्द्वन्द्व साहित्यिक उड़ानों का यह अन्तरिक्षयुगीन ललित निबंध संग्रह 'प्रिया नीलकण्ठी' यद्यपि कुबेर नाथ राय की पहली कृति है तथापि विधागत निखार में यह एक मानदण्ड बन गयी है ।

●

"रस आखेटक : क्रोध और आर्तनाद की रसमय परिणति की चेष्टा"

डॉ॰ महेन्द्रनाथ राय
प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

रस आखेटक स्वर्गीय कुबेरनाथ राय का उनके पूर्व के निबंध संग्रह 'प्रिया नीलकण्ठी' के पैटर्न पर लिखा ऐसा निबंध संग्रह है जिसमें निबंधकार के ही शब्दों में "भूमिका के तौर पर 'रसोपनिषद' शीर्षक से कुछ बोध कथाएँ, १६ ललित निबंध और होमर, वर्जिल और शेक्सपीयर पर तीन मोनोलॉग हैं । इन मोनोलॉगों में तीन तरह की व्यक्ति-सत्ताएँ प्रस्तुत की गई हैं । निबंधकार का अभिमत है--इस निबंध संग्रह का स्वर उसके पूर्ववर्ती निबंधो से अधिक मर्दाना, कुछ अधिक पुरुष प्रधान हो गया है।' 'रस आखेटक' के निबंधों के लेखन के मानसिक परिवेश का जिक्र करते हुए कुबेरनाथ राय ने लिखा है" ये निबंध मेरे धरती पर जन्म लेने के बाद लिखे गए हैं । इसी से इनमें धरती के क्रोध, धरती की त्राहि और धरती की करुणा का समावेश हो गया है । फलतः ये निबंध 'क्रुद्ध ललित' स्वभाव वाले बन गये हैं । सच तो यह है कि मेरा सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अंतर का हाहाकार । पर इस क्रोध और आर्तनाद को मैंने सारे हिन्दुस्तान के क्रोध और आर्तनाद के रूप में देखा है ।'

'बोधकथाओं' में पहली बोधकथा 'अमृत का जन्म' है जिसमें सागर मंथन के उपरांत निकले विभिन्न रसों की चर्चा के क्रम में निष्कर्ष निकाला गया है कि कर्म से रस मिलता है, अमृत नहीं । अमृत पाने का माध्यम आशीर्वाद है, कर्म नहीं । 'ईश्वर के बाग में' बोधकथा में निबंधकार का अभिमत है—आत्मा का मुक्त विस्तार धर्म की मुट्ठी में कैद हो जाता है । धर्म के साथ गोपनीयता, गोपनीयता के साथ लोलुपता और इसी क्रम में पाप का उदय हुआ जिसका अंत मृत्यु बोध में हुआ । जो पहले आत्मा का मुक्त विस्तार था, वही आखेट बन गया और पाप की लीला बनकर सामने आया । विद्या का ग्रहण देवत्व की ओर ले जाने वाला है । किंतु इसी के साथ यह भी सच है कि विद्या के संपूर्ण त्याग और विद्या के संपूर्ण वरण पर धरती पर 'अजनवी'; हो जाना पड़ता है । रूप, रस, गंध और जीवन का स्रोत धरती पर अविद्या और माया ही है ।

तीसरी बोधकथा 'मार्जार सुत' में व्यंग्य है कि सारी हिन्दू जाति ईश्वर की टांग काटकर श्रद्धापूर्वक उसे पूजने लगी और इस जाति के ईश्वर पंगु होकर दीन-मलीन पड़ते गए ।

चौथी बोधकथा 'यक्ष-प्रश्न' में युग-जीवन में व्याप्त विसंगतियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है, मसलन आज राष्ट्रीयता का समर्थक सबसे बड़ा पापी है, अल्पमत का सदस्य सबसे बड़ा पुण्यात्मा है, सच्चाई जो द्विजिह्व है अर्थात् दो जिह्वाओं वाली है, विश्व का सबसे बड़ा आश्चर्य वह हिन्दी प्रध्यापक है जो स्वयं भोजपुरी आंदोलन से सम्बद्ध है । उत्तर प्रदेश की राजभाषा तथा मातृभाषा उर्दू और भोजुपुरी आदि बनवाने के लिए गाली-गलौज करता है । पाँचवीं बोथकधा 'जम्बुक पंडित' में महाभारत की युद्धभूमि के परिदृश्य में दो जम्बुकों के आपसी वार्तालाप का विषय है कि साधन सम्पन्न कौरव लड़ाई जीतेंगे अथवा साधनहीन किंतु आत्मबल के धनी पांडव? निबंधकार शाश्वत सत्य की तरह अंत में इस निष्कर्ष को संपुष्ट करता है कि अर्जुन के पास साहस है जो उसका वर्तमान है, समृद्ध अतीत के रूपमें अग्नि का गाण्डीव और वरुण का त्रोण उसके पास है, कृष्ण के रुद्र में आश्वस्तकारी भविष्य है । कुल मिलाकर नैतिक लड़ाई लड़ने के लिए जिस संयम, दृढ़ता, सुमति और व्यक्तित्व सम्पन्नता की अपेक्षा होती है, वह पांडवों के पास है । छठी बोधकथा 'शापमोचन' में अहल्या और उसके सर्वथा विपरीत पति, तपस्वी गौतम, जो अपने समय के कठोर संयमी, पर तन-मन दोनों से पंगु थे–के वैषम्यपूर्ण संबंधों से जन्मी अहल्या की व्यथा-कथा कही गई है । परम सुन्दरी अहल्या को ऋषि गौतम को वरण ही नहीं करना चाहिए था और उन्होंने ऐसा किया तो उसे सर्वविध तृप्त और विरुज बनाना चाहिए था लेकिन वे ऐसा नहीं कर सके । फलतः अहल्या का मन ही कठोर संयमी पति के सान्निध्य में बुझ गया । इन्द्र चोर की तरह धीरा नदी अहल्या के तट पर अपना जाल बिछाये शतियों तक प्रतीक्षा करता रहा कि कब उसे अहल्या के दमित मन में कोई फांक दिखाई दे और उसके भीतर पैठकर उसके संवेदनों को जगाकर उसे अवश-विह्वल बनाकर मानसिक रमण करते हुए अपनी प्यास बुझा ले । अहल्या उद्धार की यह बोधकथा सर्वथा नवीन इस अर्थ में है कि उसका उद्धार मर्यादा पुरुषोत्तम राम के हाथों न होकर रसरूप कृष्ण के हाथों होता है और निबंधकार की तान टूटती है–इस निष्कर्ष वाक्य के साथ कि "पुरुषनारी प्रेम की चरममुक्ति का साधन है शिशु ।" 'माया शबरी' सातवीं बोथकथा में ज्ञानमार्गी विश्वामित्र के साधनापूर्ण दीर्घकालीन कृच्छ्र तप से भयभीत इन्द्र जरा सी फांक उनके मन में पाकर उनके वैराग्य को पराजित कर किस तरह किरात रूपसी को मेनका समझने का उनमें विभ्रम पैदा करता है । और गायत्री छंद

के रचयिता ज्योति की उपासना छोड़कर माया शबरी के वासना कमल में ही सातों वैदिक छंद के दर्शन करने लगते हैं–यह सब ललित ढंग से चित्रित है । कर्म-पारिजात आठवीं बोधकथा है जिसमें रुक्मिणी को कृष्ण द्वारा प्रदत्त पारिजात को देखकर सत्यभामा का भी उसे पाने के लिए हठ कर बैठना, इसकी प्राप्ति के लिए कृष्ण का इन्द्र से युद्ध । धरती पर अगर इसे सींचा नहीं गया तो मुरझाएगा ही–इसके मुरझाने में इन्द्र का दोष नहीं–मुरझाना तो धरती के पौधों–वनस्पतियों का प्रकृत स्वभाव है, मुरझाने से किसी को बचाने का एकमात्र उपाय है सींचना"

आठ बोधकथाओं के उपरांत रस आखेटक' का पहला निबंध इसी शीर्षक से है जिसकी शुरुआत परजीवी सन्यासी और व्यक्तित्वहीन अध्यापक की चर्चा से होती है । ये दोनों जिस सामाजिक अपकर्ष की स्थिति को प्राप्त होते गए हैं–उसका आनुभूतिक रेखांकन हुआ है । निबंधकार को धरती कभी माँ तो कभी प्रिया नजर आती है । रस खोजी अथवा रस का आखेट करने वाला निबंधकार ग्रीष्मावकाश में अपनी गांव की धरती पर इसी गरज से जाता है । वह अपने को उस बीसवीं शती का क्षणभोगी, स्थूल सौन्दर्य में आसक्त जीव मानता है जिसमें "एक प्रगाढ़ लम्बे अनुभव का आखेट करने की सामर्थ्य नहीं है, एक हल्की मादकता, चेहरे पर उदित होती चाँदनी जैसी प्रसन्नता वेणी के फूलों की गंध का एक झोंका, एक रेशमी नरम स्पर्श इससे अधिक भोगने की सामर्थ्य हममें नहीं । इससे अधिक आगे जाने पर मन को पीछे ठेलकर शरीर आ जाता है और शरीर के आ जाने पर शरीर भोगता है मन को साक्षी बनाकर । पर मन का भोगना और है । मन भोगता है तो आत्मा को साक्षी बनाकर । वहाँ शरीर नहीं रहता है । कालिदास और प्रसाद में सामर्थ्य थी कि उनका मन एक लम्बे अनुभव का आखेट कर सके ।"

'तृषा, तृषा अमृत तृषा' इस निबंध संग्रह का दूसरा निबंध है जिसमें अफीम निकालने की प्रक्रिया, उसके गुण-स्वभाव की चर्चा, लोक जीवन में प्रचलित पोस्ते, नारुन, बिम्बफल के साथ नारी मुख के स्वाद आदि प्रकरणों को उठाया गया है । बीटनिक आंदोलन के बारे में निबंधकार का अपना अभिमत है – "दादावाद, भविष्यवाद आदि कला आंदोलनों की तरह इस अल्पजीवी साहित्यिक आंदोलन का न तो कोई भविष्य है, और न अतीत । बीटनिक आंदोलन महज ऐयाशी है । प्रकृति और नारी इसके लिए आकर्षण रहित है । कवि का केन्द्र बिन्दु खाली है क्योंकि वह मानसिक रूप से बीमार है । कल्पना, सौन्दर्यबौध–सब उसके भीतर से चुक गए हैं । लोकधार्मिकता से इसका कोई रिश्ता नहीं हैं । निबंधकार का निर्देश है कि इस तरह के साहित्यिक आंदोलन से जुड़े बीटनिक पीढ़ी के लिए सहज शृंगार और सौन्दर्य बेमानी हैं, सार्थक है तो सिर्फ विषकन्या अफीम जिसके सेवन के चलते इस पीढ़ी की

संवेदनशीलता ही नष्ट हो गयी है । यहीं नहीं काफ्का, टामसमान, कामू, सार्त्र आदि के नारी पात्रों में नारी का नारीत्व, उसकी श्री गायब है, मलार्मे, वालेरी तो प्रेम की कविता को ही बेवकूफी मान बैठे हैं । बकौल निबंधकार उसे असुन्दर और कुरूप कहने वाला स्वयं अभिशाप है क्योंकि नारी के देह छंद के सुध बोध से वह हीन है । नारीत्व की श्री-सुषमा ही हमारी खोई हुई श्री-सुषमा वापस करती है । डा. लोहिया के हृदय को समुद्रोपम मानते हुए और उन्हें महामानव की संज्ञा देते हुए निबंधकार उन्हें अंत में इस लिए स्मरण करता है क्योंकि उन्हें धरती की कोई नारी असुन्दर न लगी थी ।

देह-वल्कल शीर्षक निबंध में शुरू में 'वल्कल' शब्द की व्युत्पत्ति, उसक अर्थ की विविध स्तरीयता को खोलने का प्रयत्न है । देह वल्कल के बारे में निबंधकार का अभिमत है कि यह तभी तक सुन्दर और शक्तिमान है जब तक इनमें पाँच तत्व, पाँच गुण, पाँच मकार और पंच कन्याएँ निवास करें । इन्हीं की उपस्थिति में नारी की देहछवि हिरणकन्या सी लगती है । रामानुजाचार्य के जीवन-जगत संबंधी दार्शनिक दृष्टिकोण पर विचार करते हुए निबंधकार की टिप्पणी है कि यह चिद् और अचिद् सृष्टि संयुक्त रूप से विष्णु का शरीर है, सारे वल्कल, सारे काया कंचुक ही विष्णु के साकार-सगुण रूप हैं । नए साहित्य में एक नए अध्यात्म का जन्म हुआ है । पियरे इमैनुएल के अनुसार सम्पूर्ण नग्न देह स्वयं एक आवरण, एक कवच, एक लज्जा परिधान है । वैष्णव इसी नारी देह के वल्कल के भीतर रसौ वै सः' रस रूप नारायण को पाते हैं । निबंधकार के अभिमत से निर्गुण ईश्वरानुभव की बात इसी लिए केवल तर्क जगत में है, वास्तविक अनुभव में यह कभी नहीं घटी । मन में चेतन-अचेतन के साथ ऊर्ध्व चेतन भी है और यही ऊर्ध्व चेतन आत्मिक संवेदनों को अनुभव करता है । सृष्टि की सारी माया, सारे देह वल्कल, सारे कंचुक और परिधान रूप रस-गंध-शब्द-स्पर्श-ईश्वर सगुण समीकरण है ।" इस धनमय, शिश्न-योनिमय, रिपुमय जगत के अन्दर जो कोई भाव, ध्यान या अनुभव हमें धन, शिश्न-योनि और रिपुकी क्षुद्र सीमा से ऊपर उठाकर किसी अपेक्षाकृत शुद्धतर अनुभूति की ओर ले जाए, उसे ईश्वरानुभव की ही एक कोटि माना जाना चाहिए ।"

'जन्मांतर के धूप सोपान, शीर्षक निबंध में रायसाहब ने नरेश मिस्त्री के तीन सुभाषितों को बार-बार दुहराया है—माघ की रात अफीम है अफीम, माघ की आधी रात को छाती पर जवानी ही बोरसी बनकर जलती है, माघी बेटा माघी ईंटा, दोनों लाल, लाल, दोनों पुष्ट ।" वे निबंध के आरंभ में निशीथ की अर्थ ध्वनि का रहस्य खोलते हैं जब माघ की अर्द्धरात्रि अफीम के फूल की तरह सचराचर पुरुष-नारी

अंगों में खिलती है और ऐसी ही रात्रि में कभी नरेश मिस्त्री एक सेर आंटे की एक बड़ी सी बाटी सेंकते थे और एक पाव घी तथा गुड़-नमक के साथ पाकर माघ की रात्रि में रातभर पत्थर काटते थे–उन्हीं से निबंधकार को मालूम हुआ कि पत्थर को भी कलेजा होता है। यही नहीं मिस्त्री की संगति में निंबधकार को कई मुहावरों का सगुण साक्षात्कार हुआ। निबंधकार के मतानुसार आधुनिक विज्ञान सृष्टि के गर्भाधान और प्रसव के लिए किसी पुरुष, अल्लाह या 'परसनल गॉड' की आवश्यकता नहीं मानता। ईश्वरकी सत्ता उसे स्वीकार नहीं। भौतिक पदार्थ से ही वह जीव की रचना संभव मानता है। पदार्थ के बाद चैतन्य शक्ति अपने आप विकसित हो जाती है। निबंधकार की जिज्ञासा है कि तो यह मूल किससे पैदा होता है ? कोई तो इसका कारक होगा? वैज्ञानिक इसका उत्तर देते हैं कि आदिभूत स्वयंजात है। भूत से जीवन के लक्षण अपने आप पैदा होते हैं। उच्च श्रेणी के प्राणियों में 'मन' नामक शक्ति गुणात्मक परिवर्तन के चलते जन्म लेती है। यह गुणात्मक परिवर्तन स्वयं में रहस्य है। निबंधकार के अनुसार–"विज्ञान वहीं तक सक्रिय है जहाँ तक गिना या मापा जा सकता है। ईश्वर संख्या या परिणाम से परे है। किसी चेतन के अस्तित्व के बिना चेतना या मन नहीं पैदा हो सकते। हममें जो चैतन्य आत्मा है उसका आदि स्रोत कोई महाचैतन्य अवश्य है। कोई शक्ति अवश्य है जो भौतिक जीवन लक्षणों से समृद्ध पिण्ड में चेतना की सांस भरती है।"कुल मिलाकर इस निंबध में अपनी धरती, अपने परिवेश और लोक विश्वासों के प्रति निबंधकार की सहज प्रतिबद्धता प्रकट हुई है।

रस आखेटक के 'मृगशिरा' शीर्षक निबंध में कुबेरनाथ राय ग्रीष्म ऋतु पर अपना ध्यान आकृष्ट करते हुए आरंभमें जेठ-अषाढ़ के जन-जीवन से जुड़े कार्य-व्यापारों और परिदृश्य का रेखांकन करते हैं। उन्होंने कुछ शाश्वत जीवन मूल्यों की निष्पत्ति और सरलीकरण किया है यथा–"जेठ खूब तपता है। इसकी राशि वृषभ है। वैरागी जेठ ने वसंत छवि के कच्चे कौमार्य को, उसके निर्माल्य शरीर को तपाकर पकहर कर दिया अन्यथा कच्चा सौन्दर्य यदि विष नहीं तो मदिरा तो बन ही जाता। तपने के बाद कोई भी सौन्दर्य स्वादिष्ट बन जाता है, रस एवं प्राण का स्रोत बन जाता है। जेठ में धरती अकेले अकेले तपती है, पेड़-पौधे अकेले-अकेले धूप पीते हैं, पेड़ों पर आम अकेले-अकेले पकता है। जब आकाश में रुद्र का वृषभ हंकड़ रहा है तो सृष्टि में काम का प्रवेश कैसे होगा?

निबंधकार मृगशिरा के बाद आर्द्रा की चर्चा करता है–कालिदास का मेघदूत – आर्द्रा मन का काव्य है। शारीरिक विरह के बावजूद आर्द्रा की चर्चा करता है –

कालिदास का मेघदूत – आद्रा मन का काव्य है । शीरीरिक विरह के बावजूद यक्ष का मानसिक सुरत श्लोक प्रतिश्लोक व्यक्त है । इस ऋतु में निंबधकार के अनुसार– " पकते पीले आम और हरित श्यामल जामुन कुंज इस समय मन का पुनराविष्कार करते हैं ।" जेठ-अषाढ़ी में मन निरंतर उच्चाटन की अवस्था में रहता है । सौन्दर्य और प्रणय का सम्मोहन एक ओर तथा कर्म का कर्कश कर्षण दूसरी ओर । निबंधकार इसी क्रम में लोकविश्वास के सहारे जन-सामान्य की अवधारणाओं से स्वर मिलाते हुए टिप्पणी करता है– जिस पेड़ पर फल नहीं, फूल नहीं - उस पर प्रेत बैठ जाता है, जिस खान्दान में संतान नहीं होती, उस पर दैत्य ब्रह्म का पहरा हो जाता है, खण्डहरों में डायन बसती है ।" इसके बाद निबंधकार की टिप्पणी– लगता है जहाँ-जहाँ रचना नहीं, सृष्टि नहीं, संतान नहीं, उत्पादन नहीं– वहीं प्रेत का डेरा है, क्योकि रचना, सृष्टि, संतान और उत्पादन पवित्रता और धर्म के आश्रय हैं ।"

'रोहिणी मेघ' शीर्षक निबंध में निबंधकार रोहिणी नक्षत्र की चर्चा के संदर्भ में सबेरे के आसमान को शांत-निर्मल, श्रीमद्भागवत के खुले हुए चौड़े प्रशस्त पृष्ठ की तरह पाता है और नौ बजते बजते इसके वैष्णव चेहरे को बदल कर रुद्र की तरह पाता है जब धरती पर आग बरसने लगती है, फिर प्रदोष काल में आकाश का रुद्र ध्यानस्थ हो जाता है । धरती धीरे-धीरे ठण्डी होने लगती है । सृष्टि पुनः वैष्णव भाव की ओर लौट आती है ।" इस परिवेश पर उसकी टिप्पणी है – "मुझे दुख यातना, और ताप से एतराज नहीं । वास्तव में ये दु:ख-ताप ही हैं जिनके द्वारा हम भीतर ही भीतर समृद्ध और परिपक्व होते हैं । उल्लास का सुख तो महज ऊपर से नहला भर जाता है । व्यक्तित्व के पुटपाक का पावक दुख ही है । अतः मुझे दुख-ताप से एतराज नहीं, एतराज है एकरसता से ।" लिविडो और प्रणय की तुलना करते हुए निबंधकार स्पष्ट करता है कि लिविडो में जहाँ मानसिक बलात्कार पारस्परिक संभोग का प्रभाव होता है वहाँ प्रणय में अधिक व्यापकता, एक मानसिक कोमलता, पारस्परिकता का बोध सदैव वर्तमान रहता है । कालिदास की प्रतिभा ने रमण की लालसा को मानसिक कोमलता के साथ सम्पृक्त कर दिया है । रजोगुणी रमण तृषा को प्रणय का उज्ज्वल रंग देना स्वयं में एक कठिन कार्य है ।" उसी क्रम में वैष्णवों की पदावली से ही भारतीय साहित्य की रोमांटिकता, भावगत दृष्टि और शुद्ध मानसिक प्रणय की शुरुआत होती हैं । यह वैसे ही जैसे यूरोप में रोमांटिक प्रणय और अतीन्द्रिय प्यार का प्रवेश ईसाइयत के आगमन पर होता है । सत्वोद्रेक कराने वाली शृंगार रस की कविता आधुनिक भाषाओं के वैष्णव साहित्य और रोमांटिक साहित्य हमारे क्लासिकल साहित्य की अपेक्षा ज्यादा है । नहीं तो व्यास के महाभारत से बढ़कर सत्वगुणगर्भी प्रकाशमान कविता संसार में अन्यत्र दुर्लभ है ।"

रोहिणी मेघ की चर्चा से आरंभ इस निबंध में वाल्मीकि कालिदास, और वैष्णव कवियों की साहित्यशास्त्रीय दृष्टिभंगिमा और भावबोधीय स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए निबंधकार की अंतिम तान इस निष्कर्ष पर टूटती हैं– "ढूंढ़ना स्वतः एक अमृत फल है बिना ढूंढ़ने का श्रम किए प्रिय वस्तु की अनुपमता और अमूल्यता का बोध नहीं हो सकता । रोहिणी नक्षत्र में किसी गद्ढे के जल में टपका पका लाल आम हो, अथवा कोई प्रेमिका या ईश्वर ही क्यों न हो सभी को ढूंढ़ना पड़ता है । इसी में उनकी मोहकता है ।

एक महाश्वेता रात्रि में चैत की उस चांदनी के विविध रूपों की आरंभ में चर्चा है जो कभी धेनु कन्या सी कलोर, कभी गौरी । कभी षोडशी प्रतीत होती है, और जिसमें कोई नग्न, शुभ्र देहकांति वाली सर्वशुक्ल महाश्वेता या कादम्बरी स्नान कर तृप्ति लाभ करती है । चैत्र-वैशाख की चाँदनी को पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पूर्वी उत्तर प्रदेश कैसे महसूस करते हैं, इसकी चर्चा करते हुए निबंधकार चैत की चाँदनी में स्नात पीपल वृक्ष के वासुदेव स्वरूप के दर्शन करता है । वह बोध वृक्ष की संज्ञा देता है और उसे भारतीय संस्कृति के आदिम काल से जोड़कर देखता है । भारतीय संस्कृति की भावात्मक एकताके प्रसंग में आर्य-द्रविण के विभाजन को एक षड्यंत्र मानते हुए उसके संयुक्त और अविभक्त रूप को स्वीकारने में भारत का भला देखता है । महाकरुणाभाव को लोक संग्रह का आधार सिद्ध करता है– "वैष्णवों की वत्सलता और बौद्धों की महाकरुणा एक ही हृदय-अश्वस्थ की दो डालें हैं– सबसे बड़ा पाप है अपने हृदय स्थित बुद्धत्व को न पहचानना ।" भगवान बुद्ध अपने बोध को सभी को उपलब्ध कराने के लिए अपना निर्वाण सुख छोड़कर धरती पर अवतरित होकर अपने बुद्धत्व की सार्थकता सिद्ध करते हैं । निबंधकार अंत में जीवन-जगत के प्रति अपने समन्वित दृष्टिकोण का परिचय देते हुए स्वीकार करता है– "भक्ति, स्नेह, करुणा, दया, रामानुज, चैतन्य, मीरा-रवीन्द्र चाहिए तो साथ ही कठोर संयम, ब्रह्मचर्य, वैराग्य, तप, बुद्ध-शंकराचार्य कबीर-दयानंद भी आवश्यक हैं । प्रेम के माने ही है अनुशासन । प्रवृत्ति को पूर्ण करती है निवृत्ति, रमण तृषा को पवित्र करता है संयम-व्रत । यही हिन्दुस्तानी मन का संपूर्ण और संयुक्त बोध है ।"

'दर्पण विश्वासी' शीर्षक निबंध में रायसाहब का प्रतिपाद्य रचना-प्रक्रिया, सहजानुभूति की महिमा और तर्क-बुद्धि की सीमा का प्रकाशन है । राय साहब की स्पष्ट अवधारणा है कि श्रेष्ठ कवि जो मौलिक बिम्ब या सटीक उपमा प्राप्त करता है, वह उसके परिश्रम या तर्क बुद्धि का परिणाम नहीं, बल्कि विजली की तरह

कौंधने जैसी चीज है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के वहुचर्चित निवंध 'साहित्य में मौलिकता का प्रश्न' निवंध में प्रतिपादित विचारों से राय साहव के ये विचार बहुत मिलते-जुलते हैं–"हमारे व्यक्तिगत मन का संस्कार प्रवाह हमारी व्यक्तिगत कमाई नहीं, आनुवंशिकता से प्राप्त जातीय कमाई है, समूह मन का अंग है ।" दार्शनिक, कवि और वैज्ञानिक तीनों के हाथ में यही है कि वे चिंतन, ध्यान और प्रयोग द्वारा निरंतर अपने मन की भूमि को इस योग्य बनाएँ कि इस बोध को (आशीर्वाद) पकड़ा जा सके । इसी तरह सही शब्द की मन द्वारा प्राप्ति भी अपौरुषेय हैं ।

'सारंग' शीर्षक पूरा निबंध मृग के प्रकार, स्वभाव-संस्कार के उद्घाटन से सम्बद्ध है । आरंभ में निबंधकार वाल्मीकि के मायामृग और कालिदास के चित्रमृग का फर्क करते हुए लिखता है–"मोह राघव को नहीं सीता को होता है, यह मोह स्वर्णचर्म का मोह हैं । फलतः सीता को स्वर्णपुरी में यंत्रणा भोगकर मोह से उपराम होना होता है । मोह के समानांतर यातना भी भोगनी होती है । पुनः निबंधकार मृग, मछली, चावल और नारीमन की किस्मों की चर्चा करता है । मृगों की किस्मों के प्रसंग में निबंधकार कस्तूरी मृग को स्वभावतः कवि मानता है । ऋतुकाल में इसकी मादा इसकी गंध से आकृष्ट होकर स्वयं इसके पास आती है । कस्तूरी मृग को स्वभावतः प्रेम होता है । अपनी कस्तूरी गंध से यह विकल बना रहता है तथा अक्सर प्राण त्याग देता है । कस्तूंरी की गाँठ नरमृग में होती है, मादा में नहीं । मृग की असंख्य जातियों के विवरण में निबंधकार भारत और भारत से बाहर पाए जाने वाले विभिन्न मृगों के रंग-रूप, स्वभाव-संस्कार, कामावस्था एवं समागम की मानसिकता आदि का ब्यौरेवार रेखाकंन करता है । 'वेणुकीचक' शीर्षक निबंध बांसवन की महिमा को साहित्येतिहास में निरूपित करने की चेष्टा है और उसके माध्यम से लाठी और वंशी, जो बांस की संताने हैं, के सामंजस्य को जीवन में उतारने के प्रयत्न पर बल है । निबंधकार को विश्वास है कि यंत्र और विज्ञान इस सृष्टि के प्राणतत्व का और हरीतिमा का सर्वसंहार कभी न कर पायेंगे । उटज, कुटीर, डेरा, छप्पर, खटिया, मचान के साथ सात सुरों वाली वंशी के लिए हमें सर्वदा बांस का मुँह जोहना होगा । राष्ट्रीय पशु और राष्ट्रीय पक्षी के वजन पर राष्ट्रीय घास के रूप में नन्हीं दूब और नंग-धड़ंग लम्बवत् विशाल वीरोपम बांस को स्वीकृति मिलनी ही चाहिए ।

निबंधकार के अनुसार बांस से बनी लाठी भोजपुरी संस्कृति की वैसे ही प्रतीक है जैसे बंगसंस्कृति के प्रतीक हैं– छाजा-बाजा केश, असमिया संस्कृति के प्रतीक हैं– ताम्बूल और मेखला तथा सिख संस्कृति के प्रतीक हैं दाढ़ी और कृपाण ।

'मोह-मुद्रगर' में रायसाहब ने प्रतिपादित किया है कि अवकाश और कर्म दोनों विष्णु की मायाके सार्थक मुद्गर हैं । निरंतर चल रहे माया के मोहमुद्गर से पीटे जाने में एक रस है । आस्वाद और अवकाश की मिठास की शर्त है कठोर कर्म का घेरा । कर्म की परिधि से घिरा अवकाश ही मीठा होता है । दोनों परस्पर आश्रित हैं । निबंध की शुरुआत में राय साहब बीजू और कलमी आम के स्वाद का अंतर बताते हैं । उनके अनुसार आम महादानी महावैष्णव तरु है । कलमी तो दोगला है । बीजू आम का आस्वादन वैष्णव प्रेम का आस्वादन है । निष्कर्ष निकलता है कि जीवन में कर्म की गति जितनी शांत, मंथर और न्यून होगी, जीवन उतना ही आकुलता, भय और चिंता से मुक्त होगा । दीर्घायु और स्वादिष्ट होगा । अधिक सक्रियता का अर्थ है जीवन की शक्ति और साँस की फिजूल खर्ची, कर्म का ज्वर और उन्माद । कर्म इतना शनैः शनैः हो कि ध्यान में बदल जाए । बीजू आम की गोपी को चूसते-चूसते ग्रीष्मावकाश को शुद्ध जैन शैली में काट दूँगा ।"

'हरी-हरी दूब और लाचार-क्रोध' शीर्षक निबंध में राय साहब ने उस दूर्वा का महत्व प्रकाशन किया है जो अपनी साधारणता में असाधारण है, जिसके बिना इस देश का कोई मांगलिक कार्य सम्पन्न नहीं होता, जो आराध्य के शीर्ष भाग पर अवस्थित होकर उन्हें कृतार्थ करती है, जो लक्ष्मी की छोटी बहन और विष्णु प्रिया है, जो शील-सौन्दर्य के सर्वोच्च शिखर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र की देहयष्टि की श्यामलता की समकक्षी है, जो हजारी प्रसाद द्विवेदी के कुटज की तरह अपनी जड़ों से अमृत खींचती है और विषम से विषम परिवेश में अपनी हरीतिमा की रक्षा करती है, जो रुदन मरण की पीड़ा को अतिक्रांत कर अटल सौभाग्य का प्रतीक है । लेखक कहता है कि हिन्दुस्तानी का मन भी अजीब है जो वनवासी राम को पूजता है, पत्थर को पूजता है, घासपात को पूजता है और राजसिंहासन और सोने के मुकुट को अंगूठा दिखा देता है । यह सब वह अपनी आस्तिक आस्था के बलपर करता है । नई शिक्षाने हमारी इस आस्तिकता को मार कर, संशय और आलोचनात्मक दृष्टि का विकास कर हमें भीतर से दुर्बल बना डाला है । रायसाहब का मानना है–स्वधर्मे निधनं श्रेयः । भीतरी शक्तियों के विकास और अन्तर्बल के लिए, मानसिक दृढ़ता के लिए वे आस्था और विश्वास की पुनर्वापसी की चर्चा करते नहीं थकते । वे पाते हैं कि हिंदुस्तान में भले लोकतंत्र असफल हो किंतु उसके प्रति यहाँ का औसत बुद्धिजीवी अवश्य प्रतिबद्ध है क्योंकि जहाँ भी यह लोकतंत्र आहत होता है, वहाँ हिंदुस्तानी मन निश्चित रूप से पीड़ित हो जाता है । हमारे भीतर ऐसी स्थिति में सात्विक क्रोध जन्म लेता है । आज के हिंदुस्तान में ईश्वर न सही, पर उसकी जगह भरने वाला लोकतंत्र यदि क्षमतावान होता, हमारे वरण की

स्वातंत्र्य से भरा होता तो अपने प्रति सही आस्था को जन्म दे सकने में सफल मनोरथ होता और तब भारतीय बुद्धिजीवी अपने आहत क्रोध की लाचारी को न भोगता क्योंकि उसने विषम परिस्थितियों में अपना ईमान गिरवी नहीं रखा है पर लाचारी भोगते हुए अपना आत्मक्षय अवश्य कर रहा है ।

जम्बुक के जरिए राय साहब भारतीय मानस धर्म-दर्शनमें शुभाशुभ के परम मांगलिक स्वरूप का निदर्शन कराते हैं । सामान्यतः भारतीय मानस में जम्बुक अर्थात् स्यार की छवि अशुभ और अवांछित की है, स्यार की आवाज रात की निर्जनता में तब उठती है, जब सारी ध्वनियाँ थक कर सो जाती हैं, और आवाज वातावरण को भयावनापन दे जाती है । भारतीय धर्म-दर्शन में शुभ-अशुभ के मध्य अद्वैत की स्थिति है किंतु लोक जीवन में दोनों के मध्य पूरी तरह द्वैत और अंतराल विद्यमान है । उसे बड़ा नागवार लगता है जब तिलक, गांधी, डॉ० लोहिया के अखंड भारत को विभाजित करने वाले जंबुक स्वर छोटे-छोटे टुच्चे स्वार्थों को लेकर भारत के विभिन्न प्रांतों से उठते हैं और पूरे देश को मोहरात्रि से पराजित और अवसन्न कर देते हैं . ये स्वर हैं जाति, भाषा, प्रांत, धर्म की राजनीति के और इन्होंने जागरण के स्वरों को दबाकर, अखंड भारत को खण्ड-खण्ड करने का संकल्प ले रखा है । अखिल भारतीय दृष्टि के लिए ये जंबुक स्वर निश्चय ही घातक हैं ।

'तमोगुणी' शीर्षक निबंध में राय साहब आचार्य शुक्ल के मनोविकारपरक निबंधों की अनुगूंज को समाहित करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि सत् के साथ रज और तम का भी संभोग जीवन की पूर्णता के लिए आवश्यक है । प्रकृति के भीतर रहकर दो तिहाई रज और तम को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता । मनुष्य और सृष्टि दोनों जब त्रिगुणात्मक हैं तो जीवन के किसी अंग से तम और रज का बहिष्कार संभव नहीं है । भारतीय मेधा के लिए व्यक्ति केन्द्रित सतोगुणी चिंतन एकांत रूप से शत्रुवत् सिद्ध हुआ है । तुलसीदास और समर्थगुरु रामदास को छोड़कर किसी वैष्णव के मन में यह बात नहीं आयी कि विनय, अभिमान-हीनता और समर्पण भाव के साथ-साथ वीरता भी जरूरी हैं । बिना वीरता के विनय दीनता है । वस्तुतः अविद्या और तमोगुण ही भौतिक विजय और समृद्धि के स्रोत हैं । आज साहित्यिकों और वैज्ञानिकों को इस क्षमता का विकास करना है । कल-कारखाने बढ़ें, भौतिक समृद्धि हो, शक्ति का संचयन हो, मारक और सर्जक दोनों तरह की क्षमताओं का विकास हो- यह जरूरी है । इसके लिए हम जापान से शिक्षा ले सकते हैं । हमें अपने तीनों गुणों का समुचित ढंग से विकास करना है ।

विरूपाक्ष शीर्षक निबंध में कुबेरनाथ राय प्रतिपादित करते हैं कि अब मैं ललित लोभी, ललित लोलुप और घोर ललित लम्पट बनकर जीना चाहता हूँ । आगे

वे लिखते हैं–क्रोध की कुछ वैष्णव किस्में भी होती हैं । अनुराग और क्रोध-दोनों में नारायणीय शक्ति है । दोनों का स्पर्श पाकर व्यक्ति अपनी दीनता और लघुता को भूल जाता है । हमारी मानववादी अर्थनीति में मशीन श्रमिक से महत्वपूर्ण है, श्रमिक कवि से और कवि घासपात से । निबंधकार के मतानुसार ललित की तरह क्रोध को भी साहित्य में स्थान मिलना चाहिए । आकस्मिक नहीं है कि महाभारत और इलिएड क्रोध के महाकाव्य हैं जबकि व्यास में भाव संतुलन और भाव परिष्कार पर बल है । क्रोध के समानांतर प्रतिक्रोध की क्षमता ही मानव जाति का और साहित्य का संचित पुण्य है । निबंधकार की तकलीफ यह है कि साठोत्तरी क्रुद्ध पीढ़ी की हिन्दी रचनाओं में क्रोध के तेजोमय स्वरूप के दर्शन नहीं होते जो आत्मा को प्रखर और तीक्ष्ण कर दे । उनमें किसी पॉजिटिव मूल्य बोध का अभाव है । ये लोग 'साहस' और संकल्प की जगह, विसंगति और मुक्ति हीनता को ही साहित्य का मूल मानने की गलती कर बैठते है । आचार्य शुक्ल के स्वर से स्वर मिलाते हुए राय साहब का अभिमत है "क्रोध बुरा है किंतु सकारण क्रोध का न होना उससे भी बुरा है । क्रोध साक्षात् वैकुण्ठ है अर्थात् कुंठाओं से ऊपर की दशा है ।"

'कवि तेरा भोर आ गया' में निबंधकार का प्रतिपाद्य है कि पक्षियों को भोर, रैनबसेरा, मौसम आदि का सहज ज्ञान होता है । ये अकाल-सुकाल, वृष्टि-अनावृष्टि का भी इशारा कर देते हैं । भोर में प्रार्थना के स्वर उठते हैं और निबंधकार को प्रतीत होता है" मस्जिद खुदा से की गई प्रार्थना का प्रतीक है और मंदिर से उठती ध्वनि उस सर्वव्यापी के आशीर्वाद की । दोनों एक दूसरे की पूरक हैं । प्रार्थना और आशीर्वाद को एक दूसरे का प्रतिपक्षी नहीं बनाया जाना चाहिए । जो सबेरे मुर्गे की बाग नहीं सुनते उनके लिए कोई क्षमा नहीं ।"

'रस आखेटक' के अंतमें होमर, वर्जिल और शेक्सपियर से जुड़े तीन 'मोनोलागों' का समाहार है जिनमें तीनों ने अपने साहित्य एवं उससे जुड़े परिवेश का मैं शैली में निरूपण किया है । निबंधकार के शब्दों में होमर ने 'इलिएड' की रचना कर एक तरह से अपनी अस्मिता के अन्दर रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श का पान किया । होमर स्वीकार करता है कि पराजित प्रभुओं की पूर्वज परंपरा की वीरगाथा का गान उदात्त शैली में गाते हुए उसने उनके मरते हुए अहं को संजीवन देने की चेष्टा की । 'इलिएड' में मैने मानवीय पक्ष को ही चुनने का प्रयास किया, मैं मनुष्य को अपने काव्य का नायक बनाना चाहता था । मैने मनुष्य के हृदयगत भाव, द्वेष, ईर्ष्या, लालसा, घोर पाशविक वासना, पाशविक आत्म सम्मान, साथ ही करुणा और प्रेम को अभिव्यक्त किया । यह मेरी घोर यथार्थवादी दृष्टि का ही शुभाशुभ परिणाम है कि मेरी छाया में पलने वाला पश्चिमी साहित्य यथार्थ को सम्पूर्णतः त्याग

कर शत प्रतिशत आदर्श की साधना न कर सका । मै जब महाकाव्य लिख रहा था तो उक्त मिसीनियन सभ्यता ध्वंस की अवस्था में थी । यूरोपीय साहित्य का आदि छोर मैं ही हूँ । आज यदि पेगन धर्म रहता तो 'इलिएड' को वही सम्मान प्राप्त होता जो भारत में ऋग्वेद को है । प्लेटों तक आते-आते ५०० वर्षों में यह 'धर्मग्रंथ' जैसा बन गया । मेरा काव्य पढ़कर ग्रीक योद्धाओं को वीरता और शौर्य की शिक्षा मिली । हीरों का आदर्श ही ग्रीकों के लिए था, यह आदर्श मेरी ही रचना है । 'इलिएड' युद्ध काव्य मात्र न होकर मूलतः एक 'ट्रेजेडी' है । इसका मूलरस वीररस है, कही-कहीं हास और सार्वभौम मानवीय करुणा का इसमें पुट है । मानवीय व्यापारों की मानवीयता में देवताओं का हस्तक्षेप मुझे स्वीकार नहीं, मेरा कर्त्ता मनुष्य ही है । पश्चिमी साहित्य शत-प्रतिशत आदर्शवादी कभी नहीं रहा क्योंकि भावुकता का जीवन में सीमित स्थान है । भावुकता की कमजोर भाषा आदिम काव्य में नहीं मिल सकती, भावुकता का विकास ईसाई धर्म के बाद योरोप में हुआ, इसलिए मन के विकास की आरंभिक अवस्था में मैं दांते या ग्येटे की अनुभूति को पा सकने में असमर्थ था । जिस युग में मैं सृजनशील था, उसमें किसी प्रेयसी के प्यार से अधिक साथी सैनिक की मैत्री का अधिक महत्व था । मार्मिकता मध्ययुग में एशिया से योरोप गई है । फिर भी अतिक्रूरता का मैंने निषेध किया है । मेरे साहित्य के विषय उदात्त हैं, कथावस्तु के आयाम विराट हैं, मेरा महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' की तरह विकासशील महाकाव्यों की श्रेणी में आता है । मेरी शैली क्लासिकल है ।

'सिंहद्वार का कवि प्रेत' में लातीनी कवि **बर्जिल** की जीवनी, रचनाओं और रचनाओं की विषय वस्तु और अन्तर्दृष्टि का सांगोपांग विवेचन आत्मकथात्मक शैली में है । वर्जिल बताता है कि मेरा जीवन कोई घटना बहुल नहीं रहा, पर मेरा युग घटनाओं का वात्याचक्र था । मेरे महाकाव्य 'इन्नीड' में रोम की राष्ट्रीय नियति की व्याख्या है । मेरे स्फुट काव्यों बनानी और ग्राम जीवन में रोमन जातीयता को ऊर्जा और रागात्मक जीवन प्राप्त होता है । मैं जीवन भर निसर्ग प्रेम में आबद्ध रहा । नगरवासी शान-शौकत और संस्कृति की तुलना में गांव-देहात की जिन्दगी पसन्द थी । रोमका कल्याण ही मेरा लक्ष्य था चाहे जिसके हाथों हो । होरेस से मेरी खूब पटरी बैठती थी । सीजर से समझौता मेरी नैतिक ट्रेजेडी थी । लैटिन साहित्य और संस्कृति के लिए मैंने अपने को समर्पित कर दिया । मूलतः मैं एक उदास व्यक्ति था और मेरे चारों ओर उदासी के बादल छाए थे । 'इन्नीड' के महाकवि के रूप में मुझे पहचाना गया और होमर के समकक्ष रखा गया । क्लासिकल साहित्य का स्वर्णचंचु, राजपक्षी होते हुए भी मेरे साहित्य का स्वभाव रूमानी है । मेरी रचनाओं में स्थानीयता का रंग है । मैंने अपने साहित्य द्वारा इतालवी चेहरा प्रकाशित किया है ।

मैं धरती का कवि हूँ, यूरोप के क्लासिकल साहित्य समुद्र का कवि तो होमर है, आकाश का कवि है दांते-हम तीनों मिलकर यूरोपीय साहित्य के क्लासिकल विश्व की रचना करते हैं। मेरा काव्य प्रतिपाद्य व्यक्तिनद्ध न होकर जातिनद्ध है। वह समस्त रोमन जाति की नियति का काव्य है।

'शेक्सपियर' के मोनोलॉग में निबंधकार रेखांकित करता है–"**शेक्सपियर** के नाटकों में आए भूत-प्रेत उसके युग के यथार्थवाद के वैसे ही अंग थे जैसे आज स्पुतनिक। **शेक्सपियर** ने मनुष्य की समस्त उदात्तता और समस्त विकृति को बिना कोई आमानवीय स्पर्श दिए, अपना लिया। मानवीय सृष्टि, उसके विवेक, उसकी मानसिक शक्ति, कर्मशीलता की उसने प्रशंसा की, उसकी सूझ-बूझ की तारीफ की, उसे चराचर का मुकुट माना। आज समाजवाद, फ्रायडवाद, अस्तित्ववाद के बावजूद रचनाकार शेक्सपियर से अधिक कुछ नहीं कह सका है। शेक्सपियर ने मनुष्य के देव और दानव को विविध स्थितियों-परिस्थितियों में रखकर उभारा। उसकी रचनाओं में कहीं एकांत समर्पण, वासंती विदग्धता, अबोध सुकुमारता, तीव्र वासना, वाग्‌विदग्धता, अबोध करुणा, हेमंतीवासना तो कहीं रिक्त प्रवंचना और हताशा के भावों की अभिव्यक्ति है। उसके अनुसार यह प्यार ही है जो मनुष्य को अंतर्दृष्टि देता है। वह अपने युग की अनुभूतियों का दर्पण है। विकृतियों के मध्य उसने मनुष्य की महिमा का उद्‌घाटन किया। उसका युग मुक्त मदिरापान एवं मुक्त वासना का युग था, शराब और मखमल उसके प्रतीक थे। उसने **कैथेलिको** पर अमानुषिक अत्याचार का चित्रण किया। रानी एलिजाबेथ उसके लिए क्षुधातुर बिड़ाल थी। **शेक्सपियर** के युग में सुन्दरियों की सर्वोत्तम प्रशंसा थी; किंतु उद्दाम लालसा, हत्या, क्रूरता **शेक्सपियर** की कृतियों में साधनमात्र थे। इनके जरिए उसने गहरे मानवीय सत्यों का उद्‌घाटन किया। उसका दर्पण ईमानदार है अपने विकृत युग के प्रति। उसने अपने प्रत्येक पृष्ठ हृदय के रक्त से लिखे। ओथेलो उसके यहाँ एक गुमराह आत्मा है, शंका, ईर्ष्या एवं संदेह से आवृत्त। उसने कभी कमजोर पंक्तियां नहीं लिखीं। उसके यहाँ अमूर्त भी अनुभूति की प्रगाढ़ता में ठोस बन गया है। **शेक्सपियर** का मानना था कि छली व्यक्ति किसी को प्यार नहीं कर सकता।"

इस तरह 'रस आखेटक' कुबेरनाथ राय जी का ऐसा सशक्त ललित एवं वैचारिक निबंधों का संग्रह है जिससे गुजरते हुए हम न केवल उनके निष्णात पांडित्य, मूल्यबोध, अन्तर्दृष्टि सम्पन्न सांस्कृतिक चिंतन का साक्षात्कार करते हैं बल्कि हमारे भीतर से विलुप्त हो गई ग्राम्य संस्कृति, स्मृति, संस्कार एवं आस्था विश्वास आदि की पुनर्वापसी भी संभव बनती है। अपने देश, धरती, आबोहवा आदि से उन्हें गजब का लगाव है और इसी लगाव से जुड़ी है उनकी भाषा शैली।

●

सांस्कृतिक सरोवर की सैरः गंधमादन

डॉ० सत्यकाम,
हिन्दी विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त
विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

कुबेरनाथ राय एक "समृद्ध" निबन्धकार हैं । वे ज्ञान के कुबेर हैं । उनके ज्ञान की समृद्धि निबंधों में विविध रंग, रूप, रस और आस्वाद लेकर उपस्थित हुई है । वे अपने ज्ञान की गगरी सीधे पाठक के सिर पर नहीं दे मारते बल्कि उसकी एक-एक छटा को धीरे-धीरे अमृत सर में डुबोकर पाठकों के सामने इस प्रकार पेश करते हैं कि पाठक भौंरे के समान उसके इर्द गिर्द मंड़राता रहता है और कभी कभी इसमें कैद भी हो जाता है । ऊपर से देखने पर तो यह लगता है कि यह "अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं" परंतु यह मार्ग उतना आसान नहीं । "यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं/सीस उतारे भुइं धरे सो पैठे एहि माहिं ." कुबेर जी के निबंधों से गुजरना सुखद तो है परंतु हर कोई इस सुख का आनंद नहीं ले सकता । इसके लिए उसे वह मनोभूमि प्राप्त करनी होगी जिस पर ये निबंध आधारित हैं ।

ये निबंध साधारण पाठकों के लिए नहीं । साहित्य, संस्कृति और ज्ञान के विविध क्षेत्रों की जानकारी रखने वाले ही इन निबंधों का स्वाद ग्रहण कर सकते हैं । मैं साहित्य का साधारण पाठक हूँ । मुझे इन निबंधों में आनंद भी आया, सरों से आप्लावित भी हुआ, कहीं-कहीं मथवुच्चन भी करना पड़ा, कहीं-कहीं खूब हाथ-पाँव मारने के बावजूद प्रसंग न समझ पाने के कारण कुछ भी पल्ले न पड़ा । यह खासकर भारतीय आख्यानों से जुड़े उन प्रसंगों के उल्लेख के क्रम में हुआ जिन्हें कुबेर जी ने सूड रुप में लिख भर दिया है । अगर वे इनका खुलासा कर देते तो मुझ जैसे "अल्प ज्ञानियों" के लिए ज्ञान के उस मार्ग पर चलने में सुविधा होती ।

कुबेरनाथ राय के निबंधों खासकर "गंधमादन" में संकलित निबंधों को पढ़ते समय मैने एक बात साफ तौर पर पकड़ी कि कुबेर जी के ज्ञान के तीन स्रोत हैं– (1) प्राचीन भारतीय साहित्य (2) ग्रामीण परिवेश (3) पाश्चात्य साहित्य । निबंधकार बराबर अपने ज्ञान के इन तीनों स्रोतों का मन मुताबिक खूब होशियारी से उपयोग करता चलता है । इनके अधिकांश निबंधों के शीर्षक संस्कृत से प्रभावित

हैं, मसलन अन्नपूर्णा, बाण भूमि, शरद बाँसुरी और विपन्न मराल, किरण सप्त पक्षी, राघव : करुणो रसः । परंतु जब ये संस्कृत में देहाती मुहावरों और शब्दावलियों का प्रयोग करते हैं तो मन पुलक-पुलक उठता है, जैसे "गौरी मार्ग और कामुक मेघ" । कहीं- कहीं अंग्रेजी भी आधुनिकता भावबोध के माध्यम से प्रवेश पाती है – "उज्जड वसंत और हिप्पी जलचर । अपने निबंधों को प्रस्तुत करने में भी कुबेर जी ने इसी प्रकार अपने ज्ञान के विभिन्न स्रोतों का सर्जनात्मक प्रयोग किया है ।

कुबेरनाथ राय एक उच्च सांस्कृतिक भूमि पर अवस्थित होकर अपने विचार प्रकट करते हैं । संस्कृति के विविध पक्षों पर विचार करते-करते अचानक एक प्रश्न उनके मन में कांपता है कि क्या हिन्दू होकर भी आधुनिक हुआ जा सकता है ? कुबेर जी ने तो " हाँ" कहकर मुक्ति पा ली है, परंतु यह ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर स्पष्टतः हाँ या नहीं में देना कठिन है । सवाल यह है कि हिंदू होने का मतलव क्या है ? इस सवाल का उत्तर आसान होकर भी मुश्किल है । आज के परिप्रेक्ष्य में "हिंदू" शब्द साम्प्रदायकिता का प्रतीक बन गया है । इसमें कोई संदेह नहीं कि अपने मूल रूप में "हिंदू" शब्द साम्प्रदायकि नहीं है बल्कि यह एक भौगोलिक क्षेत्र में रहने वाले और एक खास धर्म मानने वाले समूह के लिए प्रयुक्त किया जाता है । विडंबना यह भी है कि हिंदू नाम का कोई धर्म न कभी था न आज है । हिंदू धर्म अपनी उदारता, वैज्ञानिकता, प्रेम, वात्सल्य और वसुधैव कुटुंवकम् के कारण किसी से घृणा करने की प्रेरणा नहीं देता । अतः हिंदू होकर भी आधुनिक हुआ जा सकता है बशर्ते कि उसके हिंदुत्व पर राजनीति का रंग न चढ़ा हो ।

"गंधमादन" संस्कृति की विराट भूमि है । यह देश की साहित्यिक, सांस्कृतिक, कलात्मक, सौंदर्यात्मक भावभूमि के विभिन्न रंगों से संपृक्त फुलवारी है । इसमें कहीं भाषा के विभिन्न पक्षों को सरस ढंग से परोसा गया है तो कहीं स्नान की महिमा का बखान किया गया है । यह लेखक के ज्ञान के विस्तार और आयाम का प्रमाण है । लेखक के कहने का ढंग बड़ा रोचक है । किसी कथावाचक की भांति वे विषय में पाठक को प्रवेश कराते हैं और उस विषय के प्रति उत्सुकता पैदा करते हैं और फिर धीरे-धीरे उस विषय की गहराई में प्रवेश करते हैं । भाषा और व्याकरण पर अपना मंतव्य देते हुए वे कहते हैं "कभी पढ़ा था कि व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है । जब कोई शब्द वाक्य के भीतर कुमार्गगामी होता है तो उसकी आवारागर्दी को ठीक करने के लिए व्याकरण उस पर लाठी-चार्ज करता है, आँसू-गैस छोड़ता है और गिरफ्तार करता है, जिससे वाक्य-संहिता का ठीक-ठीक पालन होता रहे । तब भी कुछ कालिदासों और **शेक्सपियरों** की शह पाकर कुछ शब्द नक्सलपंथी रास्ता अख्तियार कर ही लेते हैं और बाद में अपनी क्रान्ति की संवैधानिक स्वीकृति भी पा जाते हैं तब बेचारा व्याकरण अपना सा मुँह लेकर रह जाता है ।" अब देखिए यहाँ

लेखक ने कितने सरस और रोचक ढंग से भाषा के संपूर्ण विकास को हमारे सामने रख दिया है । ललित निबंधों की यही खासियत है । यहाँ हजारी प्रसाद द्विवेदी को स्मरण करना अनिवार्य है क्योंकि उन्होंने ही इस निबंध शैली को एक मानक रूप प्रदान किया था । कुबेर जी भी हजारी प्रसाद द्विवेदी की ही परम्परा में पड़ते हैं ।

भाषा के माध्यम से कुबेर नाथ राय समाज और राष्ट्र के विकास का विश्लेषण करते हैं । "नदी, तुम बीजहरा" नामक अपने निबंध में उन्होनें भाषा का विश्लेषण करने के क्रम में इतिहास की नब्ज भी टटोली है । लेखक भाषा का पंडित है और वह शब्दों को छानबीन कर उसके स्रोत तक पहुँचना चाहता है । "अन्नपूर्णा बाणभूमि" में "बाण" का बड़ा ही युक्तियुक्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । लेखक ने संस्कृत साहित्य का भी गूढ़ अध्ययन किया है और सबसे बड़ी बात यह है कि उसने अपनी इस कृति में कई नई व्याख्याएँ भी प्रस्तुत की हैं ।

निबंधकार की सफलता उसकी व्याख्या की वैज्ञानिकता में निहित होती है । इसमें दो राय नहीं कि "राय-व्याख्या" के पीछे तर्कों की एक विशाल और मजबूत आधारभूमि है । इन तर्कों का निर्माण लेखक के विशद अध्ययन और ज्ञान से ही संभव हो सकता है । निबंधकार चाहे किसी भी विषय पर लिख रहा हो उसकी दृष्टि सांस्कृतिक विकास पर टिकी होती है –अर्जुन के लक्ष्य की तरह । उसके सामने पक्षी की आँख होती है और कुछ नहीं । चाहे वह भाषा का विश्लेषण कर रहा हो या मेघदूत का प्रसंग रख रहा हो, चाहे प्रकृति का चित्रण कर रहा हो, चाहे स्नान की विधियाँ बता रहा हो, उसका उद्देश्य भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से पाठक को परिचित कराना है । लेखक की मुख्य चिंता यह है कि आज की युवा पीढ़ी अपनी सांस्कृतिक धरोहर को भूलती जा रही है । "गंधमादन" उसी सांस्कृतिक विशालता से परिचय करने का एक साहसिक प्रयास है । इस पुस्तक को पढ़ कर पाठक को भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से परिचित होने का दुर्लभ अवसर प्राप्त होता है ।

भाषा पर बात किए बिना कुबेरनाथ राय के निबंधों की चर्चा अधूरी रह जाएगी । कुबेरनाथ राय के निबंधों में व्यक्त भाषा एक ऐसा संगम है जहाँ संस्कृत, हिंदी और भोजपुरी की धाराएं एक साथ मिल जाती हैं । भाषा जीवंत हो जाती है, बिल्कुल फड़कती हुई, टनटनाती हुई, सनसनाती हुई, गुनगुनाती हुई । भाषा का एक उदाहरण मैं पेश कर रहा हूँ जिसके बाद कुछ भी कहने की जरूरत नहीं है :

चारों ओर दरख्तों की पंचायत लगी है । बरगद बैठकर सुरती मल रहा है । आम पुत्रवान् वैष्णव गृहस्थ है । कटहल लँगोटा बाँधकर बैठे हैं । पीपल मिरजई-साफा में वृद्ध ब्राह्मण की तरह खड़ा है ।

●

महाकवि की तर्जनी

श्री रामजी राय
प्रधानाचार्य
इण्टर कालेज, करीमुद्दीनपुर (गाजीपुर)

1. कवि निकषः—

कुबेर नाथ राय के साहित्य के अवगाहन से लगता है कि उनकी भावधारा एक तत्त्व पंडित निबंधकार की सीमाबद्ध भावधारा न होकर निर्बाध-अखण्ड वेगवती सलिला की तरह रसाकर्षक महासमुद्रकी ओर बहने वाला महाकवि की भावधारा है। महाबोधिकी तरह मण्डलाकार पसरी हुई लालित्यबोध की हरित धरती की सृष्टि कुबेर रसीखे बाणभट्ट की वाग्विदग्धता का परिणाम हो सकती है, कोई निबंधकार की नहीं।

'महाकवि की तर्जनी' में कुल बीस निबंध संकलित हैं जिसमें पांच वाल्मीकि संदर्भ के, नौ रामायण, रघुवंशम् और उत्तर रामचरितम् के एक असमिया भाषा के रामायण कवि माधव कंदली तथा पांच रामचरित मानस संदर्भ के हैं।

प्रथम पांच निबंधों में अपनी वैदिक और पौराणिक संस्कृति या साहित्य की अतल गहराइयों से कथा सूत्र के मुक्ता चुनते, अपनी कल्पना की ललित सरिता में उसे बार-बार मार्जित करते, अपनी चमत्कारिक लेखनी से उसे ललित निबंधकी सरणि में खड़ा करते श्री राय वाल्मीकि परंपरा या कि सप्त वाल्मीकियों की एक शोध झांकी प्रस्तुत करते हैं। प्रजापति या कवि, शुक्र या उशना, च्यवन, प्राचेतस, वाल्मीकि, वेदव्यास और रत्नाकर इन सात वाल्मीकियों के होने का उल्लेख उन्होंने किया है।

'बाल्मीकिधूह में कवि चक्षु' में वेद छंदों का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए लेखक ने राम कथा की वैदिक रूढ़ियों का संकेत किया है और उन रूढ़ियों का पौराणिक मिथकों में रूपान्तरण घटित होने की काल्पनिक प्रस्तुति भी किया है। उन्होंने वैदिक देवताओंका रामायण के पात्रों पर आरोपण भी किया है और उसकी तात्विक व्याख्या भी की है—'मेरी धारणा है कि रामायण मूलतः एक सूर्य मिथक है। इसमें मैं सीता, इन्द्र और वृत्र की कथाओं ने देखकर सीता, सूर्य और हिम की कथा को देखता हूँ।' उनकी दृष्टिमें रामायण राम कथा सूर्य के राम का 'अयण' अर्थात्

भ्रमण वृत्त है, वे इसे ऋतुतात्त्विकता और कृषि तात्त्विकता प्रदान करते हैं । आर्यों की कृषि संस्कृति से उसे जोड़ते हैं । वैदिक वाङ्मय में राम कथा का कोई सूत्र नहीं है, महर्षि च्यवन रचित रामकथा क़ा कोई सूत्र नहीं है किन्तु कुबेर नाथ की उर्वर कल्पना उस कथा को गढ़ती है– उन्होंने रामकथा के मूल सूत्रों को, उन सूत्रों में भाव को, रस को, शील और आनन्द को खोजा है ।

2. रूपक-प्रतिरूपक–

कुबेर नाथ राय की ऋतंभरा प्रज्ञा उनके निबंधों में पात्र बनकर बोलती है । वे एक कवि हैं, एक नट हैं और साहित्य सृष्टि के बहुरूपिया हैं । महाकवि की तर्जनी का प्रारम्भ होता है–'तब ब्रह्माका दिन चल रहा था, पर जीवों की रात्रि थी । और वह थी त्रेता युग की एक जीव रात्रि । वस्तुतः वह थी एक भगवती जीव रात्रि, जिसमें यह आश्चर्य जनक वार्तालाप घटित हुआ वे निबंध को संवाद से प्रारम्भ करते और संवाद से अंत करते हैं । वस्तुतः यह आत्म संवाद है । यह प्रजापति और परा शक्ति का संवाद है । यह आत्म संवाद या आत्मालाप उनके इन पांचों निबंधों में है ।

संवादों से वे रूपक रचते हैं, प्रतीक कथा रचते हैं और उस रूपक या प्रतीक कथा से ऐसे तत्वों का विवेचन करते हैं जो उनका मूल कथ्य होता है । रूपक-प्रतिरूपक के माध्यमसे वे अपने ललित का प्रसार इस प्रकार करते हैं जैसे किसी कथा का चरम मर्म उद्घाटित हो रहा हो । मैं तो उनके ललित निबन्धों में अधिकांश कथा रस, संवाद रस और रूपक की रसज्ञता-रम्यता के दर्शन कर इसी निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि ललित निबन्धों की परम्परा की यह नूतन, और चरम काव्य परिणति है ।

प्रथम निबन्ध का प्रतीक कुछ ऐसा लगता है–क्रौञ्च या कि नील मराल आत्मा की शक्ति है जिसे इतिहास अपनी मदान्धता से विद्ध करता है । ब्राह्मण उस कवि का प्रतीक है जिसकी अंतः चारिणी सरस्वती अपने स्पर्श से उसे पुनर्जीवित करती है । वह जीवित हो जाता है सरस्वती का हंस बन कर या कि महाकवि की वाणी, छंद या क्रुद्ध श्लोक बन कर । इतिहास और साहित्यके संवादमें प्रतीक जीवंत है, व्यंग धारदार है और लालित्य शाश्वत स्वाद लेकर उपस्थित हुआ है ।

दूसरे निबन्धमें च्यवन और सुकन्या की प्रणयकथा, रामायण की कल्पित कथा, 'एक पंडित', एक डोम और एक मरी चिड़ियोंमें लोक प्रतीक, लोक काव्य और लोक संवाद से एक लोक पुराण की रचना लेखक करता है । रतन पंडित, कीचक डोम, लोना जेमिन, बँसवारी की धामिन और चांदनी रात्रिका भालू ये सभी

प्रतीक हैं लोक रस के, रामायण की लोक कविता के, गंवई वाल्मीकि और निषाद के। इस निबन्ध को पढ़ने से ऐसा लगता है कि हिन्दी साहित्य की ललित परंपरा की कोई नयी पर्व ग्रन्थि या नये चक्र के दल खुल गये हों और नया रस केसर झर रहा हो।

ये निबन्ध काव्य हैं, रूपक हैं या कि लोक या पौराणिक संस्कृति के मिलनपर्व के प्रवेश द्वार हैं। सचमुच श्री राय ने वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, पुराण और संस्कृत साहित्य के गूढ़ स्रोतों की खोज कर उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्यका अलंकरण बना दिया है।

3. मैं ललित निबंध हूँ–

मैं सृष्टि में प्रजापति हूँ, वेदों में ऋत और मधु हूँ, कवियों में आयुकातर वाल्मीकि हूँ, रामायण में राम हूँ, साहित्यमें सरस्वती हूँ और हिन्दी में ललित निबन्ध हूँ–मैं हूँ–में हूँ, मैं हूँ। ये कुबेर नाथ ही हैं जो अपने 'स्व' का, अपनी आत्मानुभूति का और अपनी वैयक्तिक रुचि का प्रसार अपने ललित निबंधों में सर्वत्र करते हैं। ललित निबंध उनकी भावप्रवणता का, उनकी आध्यात्मिक रुचि का, शील के प्रति निष्ठा का अभिव्यक्ति संसार का, नीति एवं आदर्श के प्रति दृष्टि का, एक उन्मुक्त खेल है। खेल में वे खिलाड़ी भी हैं और दर्शक भी। सौन्दर्य सृजन और शिल्प में वे रीतिको, बन्धनको तोड़ते हैं और विचार के अभिमत के हर कोण पर वे उपस्थित रहते हैं–

"मैंने देखा कि इतिहास अपने संपूर्ण अर्थशास्त्र-राजनीति-कूटनीति के बावजूद मारे शरम के पुनः सिमट कर छोटा हो गया, पुनः उसके चेहरे का रंग मुझे लगा कि मैं बीसवीं सदी का एक मामूली सा मृदंग वादक अपनी नीरस गद्य मृदगं को लेकर कालनदी में कई हजार वर्ष पुराने घाटपर पहुँच गया हूँ..............।"

× × × × ×

"तो भी हिन्दी साहित्य का यह नाचीज अर्थात् कुबेरनाथ एक चेष्टा करे तो क्या हर्ज ?"

वाल्मीकि सन्दर्भ के सभी पाँच निबन्धों में उनकी अस्ति सर्वत्र ध्वनित होती है। आगे के निबन्धों में भी कहीं विश्वास में, कहीं रुचि में, कहीं भंगिमा में, कहीं साहित्य अवगाहन शीलता में, कहीं अभिमत-प्रतिपादन और कहीं राम और रामायणकी श्रद्धामें सर्वत्र दिखायी देते हैं।

4.–उद्धत तर्जनी और व्यंग्य बाण–

कुबेरनाथ की लेखनी में, उनकी वाणी में, उनकी ललित वाक्य गति में, उनकी अभिव्यक्ति भाव भंगी में तीक्ष्ण तीर की तरह एक सम्मोहन है। इस लालित्य लहरी

में किस कोण से वह अपना व्यंग्य बाण छोड़ रहा है, कहाँ अपनी तरुण तर्जनी उठा रहा है और कहाँ असावधान आचरण भी नकेल लेकर निर्भय खड़ा हो रहा है यह सावधान पाठक की समझ में ही आ पाता "आधुनिक समाजवादी के लिए धर्म-दीन-ईमान की कोई जरूरत नहीं और इस प्रकार नये किस्मके चरित्र निरपेक्ष, शील निरपेक्ष समाजवादियों के मिथ्याभाषण और अनाचार से भारत की धरती कांप उठी है।"

अपने हर निबंध संकलन में लेखक आधुनिक साहित्य के संदर्भों में स्खलित लेखक चरित्र की खूब खिंचाई करता है। अपने अंतिम निबन्ध में तो लेखक अतिरेक में आ गया है। मैं सोचता हूँ लालित्य कहीं इतना उद्धत नहीं होता, रस कहीं चट्टानी चोट नहीं करता किन्तु लेखक राष्ट्रीय आदर्श की आपतकालीन असफलता के विरुद्ध इस तरह खड्ग हस्त हो गया है कि वह कृष्ण और राम की समन्वित संस्कृति की एक दीर्घकालीन मंत्र संस्कृति के दो खण्ड निर्ममता से कर देता है। निर्ममता इसलिए कि एक खण्ड की स्थापना ही उसकी विवशता है या कि वह उस खण्ड को आदर्श के सम्मोहन में देखता है। निश्चय ही इस खण्डन का सारा दोष लेखक मध्यकालीन रीतिविद्ध कृष्ण साहित्य को देता है किन्तु अतिरेक में वह कृष्णावतार और कृष्णोपासना को भी नहीं छोड़ता है। लेखक यहाँ दर्शन और साहित्यकी सीमाओं को आमने-सामने कर देने का जोखिम भी उठाता है। इस सारे दोष या पाप के लिए क्षमा प्रार्थना भी करता है किन्तु वह प्रार्थना मात्र औपचारिकता होने के कारण संस्कृति के एक खण्ड के प्रति आस्थाहीनता को जन्म देती है। निश्चय ही राम कथा के प्रति, रामायण संस्कृति और साहित्य के प्रति लेखक की श्रद्धेय आस्था की अभिव्यक्ति यहाँ होती है किन्तु उससे भी अधिक कृष्णकी ऐतिहासिकता, अवतार धर्मिता, उपदेशामृत-गीतातत्व, कृष्णसाधना और भक्तिमार्ग के प्रति वितृष्णा जगा देती है।

5.—महाकाव्यों में कवि चक्षु—

रामायण के मार्मिक स्थलों की नव्य समीक्षा के साथ महाकवि कालिदास के रघुवंशम् और भवभूति के उत्तर रामचरितम् की विशद और हृदय ग्राही समीक्षा करके रामकथा और रामचरित के अमृत पक्ष (शीलपक्ष) को और उज्ज्वल किया गया है। उनमें कथा और भावपक्षों की परस्पर तुलना भी की गयी है। लेखक की समीक्षाओं को निबंधरूप में पढ़ते हुए लगता है कि यह समीक्षा नहीं सहभोग है-सहभोग है महाकाव्यों में उन अगणित भावावतरणों की स्वयंवर सभाका, अभिव्यक्ति संभार की आनन्द जनित रसधारामें स्नानकर, इतिहास नदियों से संवाद स्थापना का,

विचारों के महाकान्तारों के मर्म में प्रवेश का और ध्यान जनित आत्मा या शून्य में आत्म रति का ।

रामायण की वैदिक भूमिका की चर्चा 'ऋत और मधुका महा काव्य, में की गयी है । 'ऋत' शब्द के समस्त आयामों को लेखक ने व्याख्यायित किया है । वरुण को ऋतस्य गोपा--ऋत का संरक्षक कहा गया है, "तथ्य तो यह है कि वरुण के सारे गुणों को कालान्तरमें आदित्य (विष्णु) और रुद्र में अंतर्भुक्त कर दिया गया है ।....... पुराणों में सांस्कृतिक कारण से मुख्य देवता विष्णु और रुद्र हो गये वरुण केवल जल देवता रह गये ।...... पुराणों की संस्कृति का ऋत मंत्र न होकर आख्यान बना ।.... रामायण ऋत का महाकाव्य है और महाभारत धर्म का । पुराणों का जलशायी नारायण निषाद संस्कृति की देन है अतः रामायण का देव मण्डल वैदिक और लोकायत दोनों से संयुक्त है और पौर्राणक देव मंडलसे भिन्न है । इसीलिए रामायण धर्म सूत्रों और गृह्यसूत्रों का पूर्ववर्ती है । यद्यपि हिन्दी साहित्य की भूमिका में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने महाभारतको रामायण से भाषा और संस्कृति के आधारपर प्राचीन सिद्ध किया है किन्तु श्री राय द्विवेदीजीके विपरीत मत देवमंडल की व्याख्या के आधार पर प्रस्तुत करते हैं ।

रामायणकी काव्यशोभा पर आधारित निबंध हैं--'सुन्दर काण्ड नाम और वोध', 'अशोक के फूल, अब और कितनी रात है', 'समुद्र संतरण' और 'फटिक शिला' । हनुमानके समुद्र संतरणकी अपूर्व काव्याभिव्यक्ति वाल्मीकि ने की है । 'अशोक के फूल' अब और कितनी रात है' में हनुमान के दृढ़ भक्त-संकल्प, करुण और शोक की मूर्ति सीता और रावणकी राजसी और राक्षसी तथा अशोक वाटिका की शोभा के मनोवैज्ञानिक और हृदयहारी चित्र उपस्थित किये गये हैं । किष्किंधा और सुन्दर काण्डों के रस पूर्ण मार्मिक स्थलों की अधुनातन और नव्य समीक्षा श्री राय ने ऋत, मास और तिथि वार घटना क्रम के अनुसंधान सहित प्रस्तुत की है । 'फटिक शिला' में रघुवंशम् और मेघदूतम् का रामायण के साथ तुलनात्मक अध्ययन में, अभिव्यक्ति संचार की दृष्टि से मेघदूतम् को श्रेष्ठतर काव्य की संज्ञा दी गयी है । रामायणके प्रक्षिप्त अंशों में ही अभिव्यक्ति संचार दिखायी देता है । यहाँ लेखक ने आगाह किया है कि रोमांस संपूर्ण जीवन नहीं है--इसको क्लासिकल कवि नहीं भूलता किन्तु रोमांटिक कवि भूल जाता है । सुन्दर काण्ड नाम और बोध में सुन्दर नाम रखने के कारण भी चर्चा में रूप और शील सौन्दर्य का अंतर्निहित होना बताया गया है । यहाँ सीता का शोक और करुण स्थिति से उद्धार में वीर रस का प्रभावी हो जाना और हनुमान द्वारा राम की विजय और सीता की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने के कारण काण्ड का नाम सुन्दर काण्ड रखना सिद्ध किया गया है ।

रघुवंशम् और उत्तर रामचरितम् पर आधारित निबंध हैं—उत्तरार्द्ध चरित और उत्तर राग । इनमें रामके बृहत्तर शील का उद्घाटन किया गया है तथा राम की करुणा और विरह का मनोवैज्ञानिक और सूक्ष्म चित्रणकर विशद् व्याख्या प्रस्तुत की गयी है । इस संदर्भ में शम्बूक प्रसंग को प्रक्षिप्त बताया गया है । यहाँ राम के निर्णायक संकल्प की धूम्र रेखा के अंकन में लेखक को श्रीकृष्णके धक्कामार और शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्वकी याद अनायास आ जाती है । लेखक ने यहाँ आधुनिक लेखकों को निगेटिव हीरो—मेघनाद, कर्ण, दुर्योधन आदि के विशेष आकर्षण में पड़ जाने के लिए कोसा है । यहाँ लेखक के खण्ड और समग्र दृष्टि की तुलना करते वे कहते हैं आधुनिक साहित्यकार 'लिविडो' दमित वासना का शिकार हो गया है । 'रामोपि भजतो ममोपिकलुषोभावो न संज्ञायते' । रावण की इस असफलता इस क्षोम कातरता का शिकार हो गया है आधुनिक साहित्यकार ।

मानस संदर्भ के निबन्धों के पूर्व एक बीचकी कड़ी है मध्यकालीन असमिया रामायण के महाकवि माधव कंदली के रामायण की समीक्षा । वह समीक्षा वाल्मीकि की छाया में रचित होने, वैष्णवों द्वारा लुप्त अंशों को पूर्ण किये जाने और आधुनिक आर्य भाषाओं की प्रथम रामायण होने के सन्दर्भ में है । कृत्तिवास और तुलसी आदि मध्यकालीन रचनाकारों के पूर्ववर्ती होने के कारण वे बीचकी एक अनिवार्य कड़ी के रूपमें उल्लिखित हैं ।

इसके पश्चात् लेखक उतरते हैं अपने मानस संदर्भ के गंभीर प्रकृति के निबन्धों पर । इन निबंधों में ललित चंचल चक्षु की क्रीड़ा आकर ठहर गयी है और लेखक इन निबन्धों में एक धीर गम्भीर तात्विक पटल पर उतर आया है । यहाँ कथात्मक ललित कल्पनाओं में नहीं बल्कि वर्ण और अर्थ संघों के बृहत्तर और गहन अर्थों की तत्व चिन्ता की शाश्वत धारा में संतुलित होकर गोता लगाने लगा है व्यष्टि और समष्टि की चिन्ताओं का समाधन प्रस्तुत करते हुए । वन्दे वाणी विनायकौ में लेखक की प्रज्ञा भास्वरता और ज्ञान तथा चिन्तनकी व्यापकता दीखती है । मानसका महावैभव और वाणी तथा विनायक (वाङ्मय) की तत्व चर्चा यहाँ दीखती है । 'भवानी शंकरौ वन्दे' में आजके व्यक्ति और समूह के, भारतीय संस्कृति के मानस दर्पण के भंग हो जाने का एक सुन्दर रूपक फलक श्री राय तैयार करते हैं । यहाँ बीसवीं शताब्दी के भारतीय के आंतरिक व्यक्तित्व के विखण्डन और आत्मिक मानसिक निर्वासन का सुन्दर विवेचन है । उनका कहना है कि गोस्वामीजी ने नाम के माध्यम से ज्ञान-इच्छा और कर्म शक्ति के जागरण द्वारा इस विखण्डन और निर्वासन से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया है । 'कवीश्वर कपीश्वरौ' में रामचरित मानस के मंगला चरण के माध्यमसे लेखक ने अध्यात्म विज्ञान, योग मार्ग, सविकल्प और निर्विकल्प समाधियों की चर्चा की है । 'वन्दे बोधमयं नित्यं' में गुरु वन्दनाकी व्याख्या लेखक ने बहु आयामी दृष्टिसे की है । यह अंतः शायी गुरु को जगाने की वन्दना है । 'युग संदर्भ में मानस' में मार्क्सवादी मन की व्याख्या, आइडिया या भाव

प्रत्यय से उसकी अरुचि है इसलिए मानस की मूल थीसिस 'राम विन्दु का नाद' को समझने की क्षमता और आग्रह का उनमें अभाव है । मार्क्सवादी मानसके लोकमंगल पक्ष को देखें उसकी सामाजिक शैक्षिक भूमिकाको देखें तो उनकी आँखें खुल जायेंगी । समाजमन के उपचार एवं संस्कार की क्षमता मानस में है । प्रभु का अवतार, उनका आदर्श उनके ग्रंथावतार से अधिक व्यापक और सुरक्षित हो जाता है और उससे समूह का त्राण होता है । 'मानस' है प्रभु का ग्रन्थावतार ।

6. धर्ममित्रम्–

महाकवि की तर्जनी के लेखक को धर्म मित्रम् की संज्ञा से विभूषित करना समीचीन लगता है । उन्होंने नीतिको, शीलको, आध्यात्म को और धर्म को इन निबन्धों में प्रतिष्ठा दी है । उस प्रतिष्ठामें जड़वादी दर्शन, जड़वादी चिन्तन और आधुनिक जड़वादी ऊलजलूल सक्रियतापर करारी चोट की है । चाहे साम्यवादियों के पुराण पुरुष देवी प्रसाद चटोपाध्याय हों चाहे आधुनिक हिन्दी के जड़वादी रुचि के समीक्षक नामवर सिंह हों किसी को भी श्री रायने बच निकलने की छूट नहीं दी हैं; बल्कि अपनी प्रखर धारदार और तात्विक चर्चाओं से उनकी यथास्थान खूब खिंचायी की है । साहित्यकार की वह सजग आंख केवल इसी संग्रह में नहीं उनके पूरे साहित्यमें दीखती है । sprituality as essence और sprituality as mission (आध्यात्म तत्वके रूपमें और आध्यात्म संघोद्देश्य के रूप में) वहाँ प्रतिष्ठापित है । उनकी है नव्य मानवतावादी दृष्टि ।

7. भाषा भाव के पीछे–

इन निबन्धों को पढ़ने से लगता है कि संस्कृत की तत्सम सामाजिक शब्दावली का नये और व्यापक अर्थ बोध के साथ हिन्दी साहित्य में महाप्लावन हो रहा है । यथा, फुल्लकुसुमित-ध्वनि, गुप्त गामिनी-शब्दनदी, शृंगधनुष, पर्व-ग्रन्थि, छिन्न मिथुन मराली, प्रसन्न अपांग, अरुण पीत सुरंगमा, रोहिणी वयस, प्रातराश, महिन्द्रलग्न, अव्यथ, अकाल कूष्मांड, काव्य ब्रह्मांड, मर्दित वृषभांड, शालातुरीय आदि केवल एक निबन्ध के शब्द संभार उदाहरण स्वरूप हैं । उनके पूरे साहित्य की शोध पर उनकी भाषा समृद्धिका आकलन एक नये भंडार को जन्म देगा ।

श्री रायकी भाषा कहीं भी सायास नहीं जन्मती, देशज, ग्रामीण और भोजपुरी शब्द उनकी व्यंग्य वार्ताओं में अपने धारदार और प्रकृत रूपमें अनायास अपने अस्तित्व की समा बांधते हैं । शब्दों के ध्वनि सौन्दर्य और ध्वन्यर्थ व्यंजकता अपने पूरे नाद सौन्दर्य के साथ उनके निबन्धों में विचार के साथ प्रवाहित होते हैं । आनेवाली पीढ़ियां साहित्यके इस मनीषी की भावमयी भाषा का ऋण लेने में उन्मुक्त हृदय का परिचय देंगी ।

•

कुबेर नाथ राय की सर्वश्रेष्ठ ललित निबन्ध कृति "निषाद बांसुरी"

डॉ. विवेकी राय

कुवेर नाथ राय निवन्ध साहित्य, विशेषकर ललित निवन्ध के कीर्तिमान हैं। उन्होंने इस विधा की आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा को अपनी गौरवशाली सृजन-श्रृंखला से प्रतिष्ठित किया है। इनके निवन्धों में गम्भीर पांडित्य, चिन्तन, अन्वेषण और विश्लेषण के साथ भावावेश की अजस्र ऊर्जा लक्षित होती है। इनकी ऊँचाइयों को छानते हुए भी वे गांव की जमीन से निरन्तर जुड़े होते हैं, यह उनकी अन्यतम विशेषता है। ग्राम-संस्कृति के माध्यम से वृहत्तर भारतीय संस्कृति की खोज वाली जैसी विचार प्रवण दृष्टि कुवेर नाथ राय में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। खेत-खलिहान की आत्मीयता, ग्राम संस्कृति के सूक्ष्म रस-गन्धों की पहचान, वर्तमान विकृति के भीतर से आदिम सांस्कृतिक स्रोतों का अन्वेषण और सवको वैदिक जीवन से जोड़ते हुए अप्रतिहत जीवन को प्रवाह रूप में उपस्थित करना, लेखक की अद्‌भुत प्रतिभा का प्रमाण है। उनकी सर्वश्रेष्ठ कही जाने वाली चौथी ललित निवन्ध कृति 'निषाद बांसुरी' के अध्ययन से उक्त वातें स्पष्ट हो जाती हैं। इसमें लोक जीवन के सौन्दर्य का अपूर्व उद्‌घाटन हुआ है। लेखक की उत्तरकालीन रचनाओं जैसे 'महाकवि की तर्जनी' और 'त्रेता का वृहत्साम' आदि में ललित निवंध की यह लोकजीवन केन्द्रीयता नहीं रह गयी तथापि इस सशक्त केन्द्र को प्रतिष्ठित करती प्रस्तुत कृति की मूल्यवत्ता अक्षुण्ण है।

भूख-रोग और निराशा-दुर्दशा से आक्रान्त आज के विद्रूप गांवों के मनोह्रास और वर्धमान हीनत्व भाव के धुन्ध को छांट कर 'निषाद बांसुरी' की रचनायें उन्हें आन्तरिक नवोल्लास प्रदान करने में सक्षम हैं। सत्यानाशी राजनीति, चुनाव और औद्योगीकरण से आहत म्रियमाण स्वातन्त्र्योत्तर ग्राम मन को छूने और नये सिरे से उसमें प्राण संचार करने वाले कालजयी स्वस्थ साहित्य का निर्माण हिन्दी में पहली वार लक्षित हुआ है और वह ललित [illegible]न्ध की विधा में सामने आया है। स्वतन्त्रता पूर्व काल में कभी यही कार्य कथा साहित्य के माध्यम से प्रेमचन्द ने किया था। कुवेर नाथ राय ने ग्राम जीवन की सांस्कृतिक इकाई से आरम्भ कर विशाल भारतीय जीवन और लोक मानस के सौन्दर्य बोध का अन्वेषण किया है।

आलोच्य कृति के आरम्भ में भूमिका की जगह दो बोध कथाएं हैं। पहली बोध आत्मकथा 'चन्दन घाट की वृद्धा' में बहुत कौशल से लेखक ने ललित निबन्ध के

दर्शन और उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया को संकेतित किया है । इन निबन्धों का लेखक धरती से जुड़ा है, उसमें कृषि जीवन का सांस्कृतिक स्पर्श है, तर्कप्रवण वैज्ञानिक विचार प्रज्ञा से हटी अन्तर सांकेतिक आत्मान्वेषण की प्रक्रिया है, कल्पना के कमल से अधिक यथार्थ के कीचड़ में प्रसार सम्भवी जीवनोल्लास की स्थापना का शिल्प है, ये सब तथ्य इस कोमल कथा से झलक जाते हैं । दूसरी बोध कथा 'षड्ऋतुओं का जन्म' भी ललित निबन्ध के धरासम्पृक्त सौन्दर्य बोध का उद्घाटन करती है । नव नव परिवर्तित ऋतुओं के रूप में झरते षड्रस परिवेशन के मधु-दूध में दैवी सहजात प्रक्रिया हैं । अवचेतन के पाताल को छानने वाले आधुनिक मनोविश्लेषणवादी कथा साहित्य के प्रति लेखक ने मीठी चुटकी ली है ।

इस प्रकार इन बोधकाओं से और रचनाओं के स्वरूप से लेखक के प्रस्तुत निबन्धों की जिस सौन्दर्य चेतना का आभास मिलता है वह निस्सन्देह छायावादी सौन्दर्य चेतना है । उसमें आस्थावादी और परम्परानुमोदित तत्वों को पुरस्कृत किया गया है । जिस तरल भावाच्छन्न और रसाविष्ट मुद्रा में लेखक ने आंचलिक इकाइयों के अन्तर्बाह्य सौन्दर्य की अर्चना की है वह आधुनिकता बोध का विरोधी है । जिस बीज रूप रस अथवा आनन्द की चर्चा कथाकार करता है उसे आधुनिकतावादियों ने पूर्ण रूपेण अतीत कर दिया है । किन्तु यह बात आधुनिक कथा और काव्य-साहित्य के सन्दर्भ में ही अधिकांश कही जाती है ।

सर्जनात्मक साहित्य का यह ललित निबन्ध संज्ञक क्षेत्र अभी तक पूर्ण रूपेण परम्परित आनन्दवादी मूल्यों कों अपने शिल्प से झाड़ पोंछ कर पृथक् नहीं कर सका है । इसी झोंक में कुबेर नाथ राय जी अपने निबन्ध 'मानसकूप और कोटरपिशाच' में लिख जाते हैं, 'आखिर सारा साहित्य लेखक के द्वारा प्राप्त आनन्द की जुगाली ही तो है ।' वे भूल जाते हैं कि आधुनिकता-बोध से प्रभावित आधुनिक लेखकों ने अपनी सृजन-प्रक्रिया से इस 'आनन्द' को बहिष्कृत कर देने का दावा किया है । वे आनन्द की नहीं, क्षोभ और कड़वाहट की, कुंठा और सन्त्रास की जुगाली करते हैं । रस को अपदस्थ कर उसकी जगह अनास्था केन्द्रित आधुनिकता बोध को प्रतिष्ठित कर दिया है । इधर कुबेर नाथ राय जी 'अपनी बात अन्त में....' लिखते हुए कहते हैं कि उनके शुद्ध ललित निबन्धों में मूल उद्देश्य 'रस' है तथा आलम्बन-उद्दीपन' 'लोक संस्कृति' है । वे यह भी कहते हैं कि रस पाठकों के लिए 'स्वान्तः सुखाय' के रूप में है और लेखक के लिए वह 'स्वान्तस्तमः शान्तये' रूप में है । रचनाओं के स्थायी सांस्कृतिक मूल्य परक गाम्भीर्य को देखते हुए लेखक की इस रचना प्रक्रिया को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

एक खटक अवश्य रह जाती है । लेखक लिखता है कि 'साहित्य में मैं' सदैव समूहवाचक संज्ञा का अभिनय करता है । अवश्य ही ऐसा लिख कर अपने

व्यक्तिनिष्ठ निबन्धों में प्रयुक्त 'मैं' का उसने स्वरूप-विश्लेषण किया है । किन्तु लेखक जब लिखता है, 'मैं विश्वेश्वर का सांड़ हूं' अथवा 'मैं' का प्रयोग लोक सरस्वती की पालकी के पीछे चलते कुत्ते से जुड़ता है, (कहार नहीं तो क्या नाई-वारी भी नहीं ?) अथवा कैक्टस वन में दौड़ते घोड़े से जुड़ता है तो इसे समूह लोकमन के रूप में आत्मसात करना कठिन होता है । वास्तव में इसका निर्विशेष नहीं, विशेष होना ही ललित अथवा व्यक्तिनिष्ठ निबन्ध के शिल्प का प्राणतत्व है । समूह कहां मतसा के गंगातट का सौंदर्य देख रहा है ? उसके कान कहाँ निसर्ग-स्वरित निषाद बांसुरी सुन रहे हैं ? यह तो एक असाधारण सजग सचेत विशिष्ट स्रष्टा की चेतना है जिसका अनन्त ऊर्जास्फीत 'मैं' अपना सौन्दर्यवादी प्रसार कर रहा है और अनुरंजनकारी शिल्प का प्रस्तुतीकरण हो जाता है ।

'निषाद बांसुरी' के ललित शिल्प में आंचलिकता की प्रवृत्ति विशेष ध्यानाकर्षक है । अपने गंगातटवर्ती मतसा (गाजीपुर) गांव और उसके आसपास की ग्राम छवियों, उसके भीतर से फूटती सांस्कृतिक प्रक्रिया को लेखक ने निकट से 'देखा' है । कुल अठारह निबन्धों में से चार को छोड़ कर शेष सब में सघन आंचलिक विशेषतायें हैं । भारतीय जीवन में गंगा नदी का जो मातृतुल्य स्थान है उसे देखते तटवर्ती जीवन का संस्कारित रूप बहुत मोहक हो जाता है । इस मोहकता के प्रज्ञावान वैतालिक के रूप में कुबेर नाथ राय जी ने गं गं गच्छति गंगा', 'निषाद बांसुरी', 'विरजा नदी और मधुमय सूर्य', 'पाहन नौका' और 'सैकत अभिसार' इन पाँच निबन्धों में गंगा नदी और उसके तटवर्ती जीवन के माध्यम से भारत के सांस्कृतिक जीवन-सौन्दर्य को मूर्तिमान करने का प्रयास किया है ।

गावं के निषाद समूची प्रेरणा के केन्द्र बने हुए हैं । कहीं रंगी माझी अतीत के मनोरम नौकायन में उसे रससिक्त करता है, कहीं उसका बाल सखा चन्दर माझी उसके आदिम निषाद मन में पूर्वी उत्तर प्रदेश के गंगातीरी निषादों के सात कुलों की रोमानी गाथा जगाता है, तो कहीं चन्दर के निषाद गुरु रामदेवा जी अपने समस्त निषाद शास्त्र का कौतूहलवर्धक रमणीय आयाम लिए खड़े हैं । कृषि कर्म के प्रथम नायक इन गंगातीरी आस्ट्रिक नस्ल के निषादों और उनकी आनन्दी जीवन-भंगिमा को वर्तमान और अतीत के अद्भुत तालमेल में लेखक पाठकीय चित्त में बैठाता चलता है । 'महीमाता' शीर्षक निबन्ध में इस जाति के व्यापक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है । वह नृतत्वशास्त्र पर आधारित होने के कारण बहुत गम्भीर है, परन्तु गंगा नदी से संदर्भित शेष निबन्धों में प्रस्तुतीकरण आंचलिकता की लपेट इस ढब से लिपटा है कि मोहकता छूटती नहीं है । 'मधुविद्या' सिखाती जैसी अपने सीवान की गंगा को प्रभात, मध्याह्न और सायं की समय सापेक्ष और नव-नव परिवर्तित सुन्दरताओं के बीच देखने की लेखक के पास एक विशेष कलात्मक दृष्टि है ।

एक निस्तब्ध रात में नाव पर अपने माझी मित्र से गंगामाई के पांच गीत सुन कर लेखक निषाद-संस्कृति के विश्लेषण में डूब जाता है । यही लेखक की विस्तार कला है । आंचलिक खंडों से शुरू कर और उसके लालित्य के सहारे खींच कर अखण्ड संस्कृति-चिन्तन में झटके के साथ वह पाठकों को फेंक देता है । शिशिर-वसन्त के तुषार–परिमलमंडित गंगा तट से चल कर जब लेखक "सैकत अभिसार" में पहुँचता है तो आंचलिक रंग कितना बदल चुका होता है । गंगा के दियारे में उगने वाले फल-फूल तृणलता और पशुपक्षी का ग्रीष्मकालीन जीवन सौन्दर्य पहली बार चिन्तनात्मक पकड़ से कुछ ढीला पड़ा शुद्ध मुग्ध दर्शन से जुड़ा होता है । आंचलिक रंगों में सार्वदेशिक भाव-तरंगों को उठा कर उसे विस्तृत विचार सागर के ओरछोर तक पहुंचाने में लेखक को बहुत कुशलता मिली है । अपने गांव के गंगातट से उस पार कुरथा गांव के पवहारी बाबा के आश्रम के बारे में सोचते सोचते लेखक ऋग्वेद और छान्दोग्य उपनिषद् के मधुमान मंत्रों में डूब जाता है और नदी दर्शन विभिन्न रूपों में मधुविद्या का साक्षात् हो जाता है । "फागुन डोम" में अपने गांव के डोम और उसकी कन्या महुआ के सन्दर्भ से जो लोकशिल्प का विश्लेषण हुआ है, वह चटक आंचलिक रंगों से परिपूर्ण है । वास्तव में यह एक बहुत प्रौढ़ रचना है ।

मतसा गांव के समीपवर्ती दूसरे गांव ढढ़नी की चर्चा से दो रचनाएं उठी हैं, "रक्षादीप" और 'पुनः चंडीथान' । जिन दूहों और टीलों को देखकर भी आदमी नहीं देखता है उनके भीतर से जीवन्त सांस्कृतिक इतिहास और जीवन बोध को खोज निकालना एक अद्‌भुत चमत्कार है । गहरी आस्था, तल्लीनता, भावुकता, निश्छलता और आधुनिक लेखक की तीक्ष्ण तर्कशीलता से भरे ये निबन्ध अन्धभक्ति नहीं, नयी दृष्टि के प्रवर्तक हैं । विभिन्न गांवों के नामों का भाषिक, भाषा वैज्ञानिक और सांस्कृतिक अध्ययन एक विशेष अन्वेषण-स्तर पर हुआ है । गाँव गाँव की मातृकाओं के एक महाशक्ति में अन्तर्भूत होने की प्रक्रिया, आर्य अनार्य समन्वय, वीरपूजा, यक्षपूजा और बावन गाँवों की चर्चा में छिपे बावन वीरों की पूजा के मिथक की शास्त्रीय व्याख्या लेखक ने बहुत प्रामाणिक ढंग से की है । 'चंडीथान' शीर्षक एक निबन्ध में बावन गाँवों की महायोगिनी के जाग्रत शक्तिपीठ की कुछ और अतिरिक्त व्याख्या हुई है । वास्तव में ऐसा लगता है कि इस विषय पर लेखक को बहुत कुछ कहना है और इसी से इस चंडीथान वाले विषय को एक नये निबन्ध 'रक्षादीप' में भी नये कोण से उठाया है । गांव की डीहपूजा, काली पूजा, और लोकायत देवगणों के सम्बन्ध में बहुत परिश्रम से इस निबन्ध में मौलिक सामग्री जुटायी गयी है । विशेषता यह है कि यह सब कुछ बहुत उच्च स्तर पर विश्लेषित हुआ है । आसपास के डीहों के नामों की चर्चा से कुछ विशेष चमत्कारपूर्ण निष्कर्ष निकलते देखे जाते हैं ।

पुस्तक का प्रथम निबन्ध, 'लोकरसस्वती' एक सामान्य सूचना से आरम्भ होता है । तालपार (प्रसिद्ध पौराणिक गोहदताल जिसे अब गोंहदाताल कहते हैं) की सरस्वती मूर्ति किसी ने चुरा ली । लेखक इसी सन्दर्भ में लोकसरस्वती की खोज में बढ़ता है । बिरहा, लोरकी, लोकगीत, घांटो, बुझौवल, जोगीड़ा और स्वांग आदि में जो कृषि संस्कृति की लोकसरस्वती का रूप सुरक्षित रहा है उसका विश्लेषण होता है । लेखक उसके समवेत रूप को 'लोकविद्या' कहना अधिक उपयुक्त मानता है और आधुनिक सन्दर्भ में लोकसरस्वती की चोरी एक मार्मिक संकेत हो उठती है । लेखक वर्तमान स्थिति में लोकगीत और लोक-कथाओं के साथ विविध लोकचर्याओं का ह्रास देखकर व्यथित है, किन्तु उसे इसके लिए सिने संगीत और आधुनिक शिक्षा-दीक्षा की परिपाटी की ओर ध्यान देना चाहिए जिसकी यान्त्रिकता ने उसे तोड़ कर रख दिया है । पुनः सब को लोक विद्या में अन्तर्भूत करना भी कठिन प्रतीत होता है । विद्या तो मोटे रूप में सीखी जाने वाली वस्तु है और ये लोक से जुड़े गीत और कथा आदि, जो लोकजीवन को अनुप्राणित करते आये हैं, विना सीखे ही सहज अंग होते हैं ।

लोक सरस्वती की अभिव्यक्ति वाले संगीत-वाद्य, गीत-गाथा, नृत्य-चातुर्य और अन्य कुशलताएं वास्तव में लोककला की किरणों का सहज प्रस्फुटन हैं । इसी लोक कला को कुबेरनाथ राय ने 'कबूतर पुराण', 'रात्रिचर' और 'मानसकूप' , आदि निबन्धों में देखा है । गांव के कबूतरबाज रूपक राय जव कवूतरों की किस्में, उन की मुद्राओं की संज्ञाएं, उड़ान की विशेष शव्दावलियों, उनके रख-रखाव की शब्दावलियों और नाना प्रकार के सन्दर्भों वाले नये नये शव्दों को उड़ाते वात करते चलते हैं तो उन की उस लोककला के आगे पाठकों की सीखी विद्या हवा होने लगती है । गांव के रात्रिचर सबरी चौबे के माध्यम से सेंध-साहित्य और सेंध-कटों की भाषा का जब उद्‌घाटन होता है तथा चौर्य-कला-कुशलता के मिथ जब उभरते हैं तो 'मृच्छकटिक' और वेद-पुराण के प्रसंग उसके समानान्तर कुछ दूर चल कर उस पर नाहक छाने लगते हैं । 'मानस कूप और कोटर पिशाच' में गांव के भंडुल पंडित जव भूतप्रेत और टोना टोटका की अन्धविश्वासाश्रित अपनी पाखंड कला का विस्तार करते हैं तो उसकी चोट खाकर लेखक 'शिव का सांढ़' बना राहुल-साहित्य और ढाका -विक्रमशिला के स्मारकों को छानने में जुट जाता है । गांव में भंडुल पंडित के सन्दर्भ में प्रेतपीठों और झाड़फूंक केन्द्रों की चर्चा कर लेखक एक लम्बी छलांग लेता है । व्यक्तिमन के रोगों के अतिरिक्त बड़े बड़े प्रबुद्ध मंडुल समूहमन के रोगों के राजनीतिक कीटाणु जन-मानस में बो रहे हैं । लेखक आधुनिक धर्मोन्माद और फासिज्म, कम्यूनिज्म आदि को उसी रूप में ले रहा है । वह सामान्य लोकचर्चा से बराबर विशेष तत्व-चिन्तन की ओर उन्मुख हो जाता है ।

एक दर्जन निबन्धों में अपने गंगातीरी गांव और अंचल के माध्यम से अपना चिन्तन-विस्तार करने के बाद लेखक अन्तिम दो निबन्धों में अपनी सेवाभूमि नलबारी अंचल और असम की ब्रह्मपुत्र घाटी को उजागर करता है । वास्तव में ये दोनों निबन्ध अत्यन्त ओजस्वी और प्राणवान हैं । 'यह लो अंजुरी भर काम रूप' में जापारकूची गांव के बहाने असम की सूंस्कृति में प्रवेश की मुद्रा है । इस संस्कृति के इतिहास-भूगोल और स्वरूप विकास का यह रिपोर्ताज अध्ययन -चिन्तन की गंगा-जमुनी धारा है । इसी प्रकार 'कथा एक नदी की ' में महाबाहु ब्रह्मपुत्र का तीन खंडों में जो विवेचन है वह भारतीय भूगोल की एक नयी गम्भीर खोज है । निषाद-नदी गंगा की भांति ही इस किरात-नदी के माध्यम से संस्कृति-चिन्तन में लेखक डूबता है । सटीक बैठने वाले पौराणिक मिथों को वह खोजता है । नदी जीवन की विराट परिकल्पना के भीतर से किरात संस्कृति के स्वरूप का ज्ञान बहुत समाधानक सिद्ध होता है ।

निषाद संस्कृति और किरात संस्कृति का ' निषाद बांसुरी' में जिस मनोरंजकता के साथ विश्लेषण हुआ है उसे एक उपलब्धि के रूप में आख्यायित किया जा सकता है । आर्य और द्रविड़ संस्कृति पर भी लेखक अपनी एक ललित शैली में प्रकाश डाले तो इससे बड़ी सुविधा होगी । नृतत्वशास्त्र को छानने के लिए जिस गम्भीर और एकाग्र मानसिकता की आवश्यकता है वह इस बिखराव और टूटन के युग में दुर्लभ है । इन गम्भीर विषयों को पहले काव्य के माध्यम से जिस प्रकार सहज रूप में प्रस्तुत किया जाता था, आज ललित निबन्ध के रूप में इसका सुन्दर विन्यास अत्यन्त समीचीन और उपयोगी है । यह कार्य शुद्ध राष्ट्रीय हित में होगा । डोम, चमार, दुसाध तथा अन्त्यज कही जाने वाली शूद्र जातियों के प्रति दुराव की भावना छँटेगी । 'फागुन डोम' जैसी रचनाएं इसका प्रमाण हैं । देवी-देवताओं की पूजा के सन्दर्भ में लेखक ने छोटी कही जाने वाली जातियों कें विषय में जो खोजपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये हैं उससे जातियों की कट्टरता और उच्चाभिमान टूट जाता है ।

मानवीय एकता की महती भावना से गुंजित कुबेर नाथ राय की ये उच्च सांस्कृतिक भूमियों पर आरोहण की प्रेरणा से परिपूर्ण रचनाएं राष्ट्रीय साहित्य की कोटि में आएंगी । इसमें भोजपुरी के सैकड़ों शब्दों का पुनरुद्धार हो गया है । रूपवादी अलंकृत शैली से लेकर ललित निबन्ध की वर्णन, रेखा-चित्रात्मक, संस्मरण, फैन्टेसी और रिपोर्ताज आदि समस्त शैलियों का आश्रय लेकर लेखक ने जिस मूल्यवान सांस्कृतिक साहित्य की रचना की है उसमें भारत राष्ट्र की भांति एक ओर विषय की विविधता है और दूसरी ओर उन समस्त विषयों के भीतर केन्द्रित आस्था भित्तिक परम्परा में है – वेद की परम्परा, उपनिषद् की परम्परा, शास्त्र और महाकाव्य की परम्परा तथा लोक-परम्परा । फिर यह सब जुड़ जाती हैं भारत की आत्मा से, गांव से । गांव से उठ उठकर सम्बन्ध सूत्र वर्तमान अतीत सबको बांध

लेते हैं, मन्त्र, गीत, मुहावरे और मिथक सबको बांध लेते हैं और कुल मिलाकर राष्ट्रीय दृष्टि से 'निषाद बांसुरी' आत्मान्वेषण की महती उपलब्धि बन जाती है।

पुस्तक की कतिपय अनांचलिकतापरक मुक्तस्पर्शशील रचनाओं पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। गांव, गंगातट, देवस्थान लोकायत, देवपूजा, डीहडाबर, डोम, निषाद, बतक्कड़, पाखंडी, चोर और कबूतरबाज जनों को आलंबन बनाने के बाद लेखक के मन की कमी छू गयी एक चीज 'दक्षिणी मलया' शीर्षक निबन्ध में उतर जाती है। यह चीज हवा है, नितान्त और अन्वर्थ वायवीय। मानवीकरण की मुद्रा में लेखक उसकी बहुविध छुवन संवेदनाओं को मौज में चित्रित करने के साथ उसे सर्वथा नये चिन्तनशील स्तर पर प्रस्तुत करता है और इसीलिए इसके आस्वाद में नवीनता मिलती है। इसी प्रकार लेखक की एक सुन्दर बहक 'पान ताम्बूल' शीर्षक रचना में दृष्टिगोचर होती है। पान की जो ऐतिहासिक सांस्कृतिक व्याख्या होती है उसकी उठान जमानियां से तारीघाट के भीतर प्रख्यात गणेश तमोली के सहारे होती है, परन्तु इस आंचलिक आरम्भ के अतिरिक्त शेष सामग्री की प्रकृति कुछ और भांति की है। इसमें लेखक के अध्ययन की धाक जमती प्रतीत होती है। इस प्रकार के निबन्धों को विषयनिष्ठ निबन्ध की कोटि में रखा जाना ही शायद उचित होगा। निषाद जाति के गहन इतिहास में डूबा 'महीमाता' शीर्षक निबन्ध भी ऐसा ही है। इसमें खंडित लालित्य का दर्शन होता है। 'नवरात्र की शस्यपार्वती' में विषयनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ रचना का अद्भुत सामंजस्य है। इसमें चैत्र मास को, चैत्रनवरात्र को मूल मधुमास घोषित करते हुए उसका पौराणिक और जैविक स्तवन भावुक ढंग से किया गया है। देवी की अन्नपूर्णा रूप में व्याख्या भारतीय कृषि जीवन के सामंजस्य में बहुत उत्साहवर्धक लगती है।

लैटिन, रोमन, जर्मन, डैनमार्क, आयरलैंड और फारस आदि की संस्कृतियों के परिप्रेक्ष्य में मधुमास की यह भारी उछाल-पछालपूर्ण छानबीन एक ओर अनुरंजनकारी लगी तो दूसरी ओर अध्ययन की 'धाक' सी जमती अनुभव होती है। गाम्भीर्य को हलका करने के लिए लेखक कल्पित पात्रों के इतिवृत्त के सहारे बात आरम्भ करता है। इन पात्रों के नाम विचित्र होते हैं। चौर्यकला की बात सबरी चौबे, प्रेतलीला के पाखंड भंडुल पंडित, कबूतर-पुराण की चर्चा रूपक राय जैसे लोगों द्वारा करायी जाती है। पाठक से यह बात छिपी नहीं रहती है कि ये नाम कल्पित हैं। लेखक व्यर्थ ही अन्त की अपनी बात में इस छद्मनामता की चर्चा करता है। यह सत्य है कि सारे खग-मृग, तृण-तरु-वीरुध जिनका पुस्तक में उल्लेख हुआ है अपने स्थानीय रंग के बावजूद एक बृहत्तर भूमिका को रचते हैं, वह भूमिका है मृण्मय हिन्दुस्तान का कौशल-मागधी चेहरा। निबन्धकार इन चेहरों का कुशल पारखी और चितेरा है। उसमें उनके जातीय स्वरों की सहज पहचान हैं। 'निषाद बांसुरी ' के ललित शिल्प में उतर कर ये स्वर कितने अनुरंजनकारी हो गये हैं, इनका सही सही अनुमान उसे हो सकता है जिसने इस कृति में मुक्त मन से प्रवेश किया है।

निषाद-मन का लोक-चिन्तन

डॉ० माता प्रसाद त्रिपाठी
प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

निषाद बाँसुरी ललित निबन्धकार श्री कुबेर नाथ राय के आरंभिक अन्य संग्रहों (प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक, गन्धमादन एवं विषाद योग) की अपेक्षा भिन्न है। इस संग्रह में व्यक्त विचारों की विग्रहवत्ता एक विशिष्ट रूपाकृति का बोध कराती है। सामान्य स्तर पर जिसे या तो हम विस्मृत कर चुके हैं या जिसके प्रति हमारी जिज्ञासा मर चुकी है।

भारतीय अस्मिता की पहचान जब भी की गई, यह विभ्रम सदैव बना रहा कि हमारी आर्ष परम्परा किसकी देन है? किसी एक संस्कृति की या फिर विभिन्न धाराओं के समूह की ? हम यह भूल जाते रहे हैं कि सम्पूर्ण 'भारतीय परम्परा' कही जाने वाली 'संस्कृति-समृद्धि' का 'सृजन-संरक्षण' और विन्यास' मात्र आर्यों द्वारा ही नहीं हुआ अपितु तमाम अनार्य समझी जाने वाली जातियों की, चतुर्दिक् बिखरी शक्तियों ने भी इस उर्वरा भूमि को प्रेरित किया तब कहीं हमें 'बहुधा समिद्धः' के बीच "एकोऽग्निः" की परिकल्पना हुई होगी। यह कहना असंगत नहीं कि श्री कुबेर नाथ राय ने लोक-संस्कृति के उन तमाम अनचीन्हे रंगों की तूलिका द्वारा विकृत अथवा कृत्रिम रूपों में अलंकृत इस रत्नगर्भा धरती की रूपाकृति को यथेष्ट रूपता प्रदान की जिसके अन्यान्य अवयव हमें 'आत्माभिमान' और 'आत्म साक्षात्कार' की कसौटी पर सोचने के लिये मजबूर कर देते हैं। अपने इसी शिल्पगत वैशिष्ट्य के लिए निषाद बाँसुरी के स्वर ' प्रिया-रस-गंध-विषाद-स्वरों से सर्वथा भिन्न हैं।

'निषाद बाँसुरी' ऐसे कई तरह के तान छेड़ने की सामर्थ्य रखती है जिसकी अनुगूँज 'समष्टिगत अभिव्यक्ति' करती है। जिसे लख पाना या इस भाव भूमि में खो जाना अवश्य कठिन है। सच्चाई यह है कि इस बाँसुरी के रंध्र-रंध्र में गंगा की त्वं त्वं (NN) करती आवाज लोक सरस्वती की मृदुल वीणा झंकृति, पयस्विनी महीमाता (मैग्ना मैटर) का सुगन्धपूरित प्रकृति-राग, सिकता कणों में कोई 'सहस्राक्षरा' वाणी की निस्पन्द तरंग.........सब कुछ एक हृदयस्पन्दित संचेतना व्युत्पन्न करती है। एक अभिषिक्त दृष्टि ने 'कीचकवाद्य' को इस (ललित) ढंग से बाँधा है कि इसके बेसुरे होने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। सारस्वतभूमि से लेकर ब्रह्मपुत्र के सिवान तक की 'महाकाव्य-भूमि' का रस-दोहन एक निषाद-मन की अभिसार यात्रा का सदपरिणाम है। यह रस, मधु, माधव और माधुर्य का

साक्षात्कार तो कराता ही है इसमें भारत-भूमि की सोंधी माटी के पराग भी छलकते प्रतीत होते हैं तभी तो यह वार्त्तावाही हवा पैर में घुँघरू बाँध कर सभी को निमंत्रण बाँटती छमाछम विचरण करती है। (देखें 'विषाद' योग, पृ. ५")

आज जब हम इस कृति पर विचार कर रहे हैं तो हमें इसके 'प्रतिपाद्य' की पहचान अवश्य कर लेनी चाहिए।

'निषाद' एक आदिम जाति समूह का नाम है। इसे ही आधुनिक भाषा वैज्ञानिक 'ऑस्ट्रिक' या प्रोटो ऑस्ट्रलॉयड' संज्ञा देते हैं। परम्परानुसार ये अरण्यजन आरंभ में संपूर्ण उत्तर एवं मध्य भारत में फैले हुए थे। हरिवंश (५/३०६-१०) में उन्हें 'निषाद' संज्ञा दी गयी है। प्राचीन संदर्भों से ऐसा लगता है कि आरंभ में ही निषादों ने सकल उत्तर भारत के जंगलों पर अपना अधिकार जमा लिया था। राम के युग में वे प्रयाग के चतुर्दिक बल्कि और भी दक्षिण की ओर फैले हुए थे [जर्नल ऑफ रॉयल एसियाटिक सोसाइटी लंदन, १८९५ पृ. २३७ द्रष्टव्य] पांडवों के काल में इस जनजाति ने मालवा के ऊँचे भू-भागों और मध्य भारत की पहाड़ियों और जंगलों में अपने को बसा लिया और निम्नजातीय जनों में मिलते गये (महाभारत, सभापर्व २९/१०८५; ३०/११०९ एवं ११७०, अश्वमेध पर्व ८३/२४७२-५) इतना ही नहीं उन्होंने एक राजवंश भी कायम किया (उद्योग पर्व ३/८४; ४७/१८८४) ऐसा प्रतीत होता है कि जिस-जिस तरह आर्यों ने अपना विजय-अभियान बढ़ाया, निषादों ने अपने को समूहों में बाँटकर मध्य भारत की पहाड़ियों और जङ्गलों में बसा लिया और वे निम्न जातियों में मिलते गए। रामायण और महाभारत (रामायण, आदिकांड २/१२ और महाभारत के आदिपर्व तथा वनपर्व में अनेकत्र)- दोनों ही काव्यों में निषादों की स्थिति और इनसे सम्बद्ध गाथाओं के वर्णन मिलते हैं।

भाषा वैज्ञानिक स्तर पर डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी आदि ने ऑस्ट्रिक प्रोटो ऑस्ट्रलॉयड जातियों को बृहत्तर भारतीय क्षेत्र में फैली हुई प्रमाणित किया है। सिंधु-गंगा उपत्यकाओं के वीच जब आर्यों का इनसे प्रथम साक्षात्कार हुआ तो ये निषाद कहलाने लगे-अपनी गहरी काली चमड़ी चिपटी नाक, रक्तिम नेत्र, ताम्र वर्णीय केश....आदि के कारण लगभग १५००ई. पू. से लेकर ६००ई. पू. के मध्य (आर्य-विस्तार से लेकर बुद्धकाल तक) कृषिकर्मी निषाद जनों का विस्तार उत्तर भारतीय भूभाग (अफगानिस्तान से लेकर पूर्वी बिहार तक) में हुआ और वे आर्य भाषा भाषी हो गए। पर बुद्ध के समय निषादों और द्रविणों के स्वतंत्र समूह भी अनार्य भाषी रूप में, अस्तित्व में बने रहे। बौद्ध जातकों में चाण्डालवाणी और चाण्डाल ग्राम की इन्हीं अनार्य जातियों के संकेत हैं।

डॉ. चटर्जी के निष्कर्षों के अनुसार, "अधुनालुप्त नेग्रिटो जाति को छोड़कर कम से कम तीन अनार्य भाषी जातियाँ भारतवर्ष में थीं। जिनका नवागत आर्यों से अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह द्वारा सम्मिश्रण हुआ और इस सम्मिश्रण का फल है

आधुनिक भारतीय साधारण मानव । ये तीन जातियाँ थीं । (1) निषाद या आस्ट्रिक (२) द्रविड़ (दास-दस्यु-शूद्र) और (3) किरात या मोंगोलोकार जो चीन भोट गोष्ठी की भाषा या बोली बोल लेते थे ।" (विस्तार के लिये देखें चटर्जी, अनार्य भाषा और हिन्दी तथा वैदिक एज' पृ. १४१-६८ में प्रकाशित एक लम्बा शोध लेख) ।

कहना न होगा कि आदिम प्रजातियों की भाषा और संस्कृति सम्वन्धी कितनी ही बातें आज लुप्तप्राय हैं । श्री कुबेर नाथ राय ने विस्मृति अथवा आत्म विस्मृति के इसी आवरण को ललित भाषा में उकेरने का प्रयास किया है । उनका गंगा-स्तवन' भगीरथ की गंगा-स्तुति से सर्वथा भिन्न है । जिस धरती को गंगा की लहरों ने अपनी क्रीड़ा भूमि बनाया था उसी पर निवास करने वाले मूल जनों ने इसकी ध्वनि को गंगं ग्वंग्वं रूप में आत्मसात किया । आदिम निषाद जनों ने इसे 'नदी' कहने के बजाय गंगा ही कहा क्योंकि इस स्रोतस्विनी में उन्हें 'सरस्वती' जैसी प्रवहमान शब्दार्थ-व्यंजना हुई । यहाँ इसी 'पहचान' को इसी अभिव्यंजना को, प्रकाश में लाने का स्तुत्य प्रयास किया गया है । वे कहते हैं–मैं कभी-कभी अनुभव करता हूँ कि संपूर्ण भारतीय संस्कृति या भारतीयता की रचनात्मक एवं समन्वित व्याख्या (कन्सट्रक्टिव एण्ड सिंथेटिक इण्टरप्रेटेशन) की आवश्यकता है । यह वही व्यक्ति कर सकता है जो इस संस्कृति के प्रति स्नेहशील हो पर साथ ही खुले दिमाग और मुक्त दृष्टि वाला हो । इधर नये ढंग से भारतीय संस्कृति की व्याख्या करने की चेष्टा (वामपंथी) विचारकों ने की है पर उनकी दृष्टि प्रारंभ में ही पूर्वाग्रह को लेकर चलती है और वह न तो रचनात्मक हो पाई है और न समन्वित । उनमें शुद्ध मूर्ति-भंजन और ध्वंस-रस (सैडिज़्म) के अतिरिक्त कुछ नहीं । यह भी एक तरह का प्रतिक्रियावाद है । ......चाहे व्यक्ति हो या समाज बिना उसके मर्म में पैठे उसके अन्तः सत्य को हम उद्घाटित नहीं कर सकते । और घृणा के या उपेक्षा के माध्यम से हम उसके मर्म में प्रवेश नहीं कर सकते ।" (निषाद पृ, १३३) ।

इस खुले वक्तव्य को ध्यान में रखते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का पारंपरिक इतिहास (जो मनु की संतानों के अलावा जनजातियों की सूची प्रस्तुत करता है । इनमें राक्षस, वानर, दैत्य, दानव, नाग, निषाद, दस्यु, पुलिन्द, शक, यवन, कम्बोज, पारद, पहलक प्रभृति अनार्य जातियों की गणना की जाती है । प्राय सभी जातियाँ (कुछ एक को छोड़कर) ब्राह्मण-परम्परा विरोधी रही हैं । इनमें निषाद दास, दस्यु, पुलिन्द और किरात आदि अत्यधिक बर्बर और यायावर जातियों के रूप में (सभ्यता के आरंभिक कालमें) हैं । मनु-मानवों की बात आने पर मनुस्मृति (१०/८) में ब्राह्मण कुमार और शूद्र कन्या द्वारा उत्पन्न 'निषाद' अथवा 'म्लेच्छ' की बात भी तो स्मरणीय है जिन्हें विन्ध्य अटवी और मध्य भारत की पहाड़ियों तथा वत्स-भूमि से सम्बद्ध बताया गया है . यह था लोक-संस्कृति के संवाहक निषादजनों

का ऐतिहासिक रूप जिनके सात कुलों (निषाद. पृ. ३९) की बात श्री राय करते हैं। उनकी दृष्टि में उत्तराधिकार की नींव इन्हीं निषादों ने रखी है।"

बात चाहे गंगातीरी (मतसा) साधारण केवट की हो या चंदर माझी अथवा रंगा मल्लाह की या किरातारण्य घिरे आर्यों के बीच लौहित्य-तट पर बसे किसी भी नाविक की-सभी की एक सी धुन पार होने की या पार करने की। चंदर माझी के गुरु रामदेवा जी का अनन्त निषाद-माहात्म्य और शबरी चौवे की विलुप्तप्राय गुन क्या किसी इनसाइक्लोपीडिया में मिल सकते हैं? इन सभी भूली-विसरी लोकनिधियों का सहज भाव से संग्रह कम से कम लोक-संस्कृति के नाम पर म्यूजिया इण्टरेस्ट (जिसे श्री राय शहरी रुचि और रईस रुचिबोध भी कहते हैं) को झकझोर कर रख देते हैं। उनका कटाक्ष देखते ही बनता है। जब वे इस 'प्रवृत्ति' को विलास की दृष्टि भंगी रुचि, कृत्रिम या आरोपित रुचि, देशी निरपेक्ष रुचि आदि संज्ञा देते हैं। यह शहरी प्रवृत्ति तवायफ से तारिका तक परम्परागत रुचिबोध की केन्द्रविन्दु है। इन्हीं शब्दों के ब्याज से कह सकता हूँ कि उन रचनाकारों को आम्रराजी और वेणुवन से घिरी बस्ती (गँवई की जिन्दगी) के श्रृंगार वैभव का महत्त्व क्या मालूम जो कहाँ ऽऽऽ कहाँ ऽऽऽ करते सीधे नगर (नागर-संस्कृति) में पैदा हुए हैं? गँवारों की जिन्दगी पहचानने के लिए, साथ ही आम आदमी की समस्याएँ समझाने के लिए चंदर माझी, रंगा मल्लाह, फागुन डोम और शबरी चौवे से भी दोस्ती करनी होगी। निरक्षर अंगूठा छाप लोक-शिल्पियों को आत्मसाक्षात्कार कराने का अवसर देना होगा जिसे देखकर आधुनिक कला की आकृति-विश्लेषण-प्रधान शैली के शिक्षित कलाकार दंग रह जायें। ऐसे निबंध व्यक्ति-निष्ठ होकर भी उस विशाल वर्ग की जिंदगी को सही ढंग से प्रस्तुत करते हैं जिन्हें हम सामान्य जन या आम आदमी की संज्ञा देते हैं।

इसी टोन में ललित विचारक ने कृतज्ञता उन्हें ज्ञापित की है जिन्हें सहस्राब्दियों से हम 'अनार्य' कहकर घृणास्पद समझते रहे हैं। इसी 'आदिम-बाँसुरी' ने राजतंत्रात्मिका मद से बुझी पलकों, अपने सप्त (षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद) स्वरों में खोल दिया है। फिर तो 'सत्ताप्रिय' पलकों में समाई तृषा, लोभ, प्रवंचकता....आदि को ठेस लगेगी ही। ऐसे ही तत्त्व धरती के जोंक हैं जिनमें प्रमुख हैं—नेता, अफसर और पण्य दलाल। कृषि-जीवन की विडम्बना या कृषकों का दुर्भाग्य?—"उगाते हैं हम और खाती है सर्व भक्षी दिल्ली। तरकारी तो तरकारी है हमारे जाँगर का सारा फल हमारे पाँजरतोड़ परिश्रम की सारी उपलब्धि भोगती है दिल्ली और उसके पंडे। इसका पेट सुरसा का पेट है। (निषाद. पृ. ६९)। इसी दुर्भिक्ष-परिवेश में "आज हमारे अन्दर न मालूम क्यों जिजीविषा के स्थानपर मृत्यु-प्रीति विकसित हो रही है" (निषाद. पृ. ७२)।

श्री कुबेर नाथ राय न केवल अपने समाज के पददलित वर्ग के सम्यक अभ्युत्थान की दुहाई देते हैं बल्कि उनकी लोक-संस्कृति को परिष्कृत करके जीवित रखने की कामना करते हैं । वे विश्वस्त हैं कि, "हिन्दू संस्कारों में कल्पों (रिचुअल्स) का रूप ऐसा है कि उनमें प्रत्येक वर्ग की अपनी अनिवार्य भूमिका है ।" (नि. पृ. ९२) ।

श्री राय की लोक निष्ठा या लोक शिल्प के प्रति गहरी अनुभूति स्व. डी. डी. कोसम्बी और वासुदेव शरण अग्रवाल की लोकरुचि और अनुसन्धेय दृष्टि की याद दिलाती है । निषाद बाँसुरी में लोक तत्त्वों के रेखाचित्र देखते डॉ. कोसम्बी के "एट दी क्रास रोड्स" का स्मरण हो आता है जहाँ कितने ही थान्ह, चौरा, पीठ, डीह-डीहवार-----और कितने देवताओं-अपदेवताओं की झाँकी साथ ही सम्बद्ध संस्कृतियों की पुनराविष्कृति हो जाती है ।

निबंधकार की 'रस-दृष्टि' तो 'विष्णु' की तरह कुचरः है, वह कहीं भी दृष्टिपात कर सकती है । 'कबूतर पुराण' हो या 'दक्षिणी मलया' सर्वत्र वह 'अनिमेष-लोचन साधना' करता नजर आता है । अपने इस चंक्रमण में कबूतर बाजों की भाषा (पृ. ११०-११४) की पहचान करता है । सत्तापक्ष की घृणित विलासलीला पर इससे सीधा कटाक्ष और क्या होगा? इसी तरह मलय समीरण की 'मधु-वार्त्ता' में 'स्तब्ध वायु' से लेकर 'झंझावात' तक सहज यात्रा करता वह आदि मानस का मरुत् प्रवाह आंकता है गोया कि स्वतः दक्षिणी मलया के संग-संग विचरण कर रहे हों ।

लोक-रस और उसके काव्यात्मक दृष्टि बोध के ही प्रसंग में ध्यातव्य है निषादमन की नदी का वक्तव्य–."ओ निषाद । तेरी संस्कृति, तेरे संस्कार, तेरा मन, सब कुछ इस जल की तरह है जो टूटता नहीं, कटता नहीं भले ही दब जाता है और आकृति बदल लेता है पर अस्तित्वहीन नहीं होता–यहाँ तक कि सूख जाने पर भी या तो अन्तःसलिला का अंग बन जाता है या उड़कर मेघ बन कर पुनः लौटता है ।" (नि. पृ. ३५) । नदी के इस संवाद में एक नैसर्गिक दिक्बोध है जो काल-प्रवाह के साथ निरवच्छन्न आदेशित है । निषाद मन के इस चिंतन में सहस्राक्षरा नदी के शाश्वत संवाद दिख जाते हैं "हरमन हेसे" के "सिद्धार्थ" की पात्रता चरितार्थ करते हैं । सिद्धार्थ किसी भी ऋषिमुनि-यति-ब्राह्मण-श्रमण' के ज्ञातृत्व का कायल नहीं । बुद्ध का भी नहीं । क्योंकि उसकी जिज्ञासाओं का अन्त नहीं । वे अभेद्य हैं । उसे आत्मतोष मिलता है तो उसी चिरन्तन प्रवाहमयी नदी और उसके सहचर नाविक द्वारा ही । 'सिद्धार्थ' से नाविक वासुदेव कहता है–"....नदी सब कुछ जानती है । मनुष्य इससे सब कुछ सीख सकता है । तुम नदी से यह सीख ही चुके हो कि नीचे तल से ही प्रयास करना चाहिए, डूबकर गहराई प्राप्त करनी चाहिये ।" (सिद्धार्थ, हिन्दी-संस्करण, पृ. ७५) निषाद मन भी झिझरी करता वहीं

पहुंचता है । गंगा हो या ब्रह्मपुत्र या कि कोई उन्मुक्त सलिल-निर्झर अथवा उसकी मानसी-गंगा ही क्यों न हो? सर्वत्र वह दुग्धपूरित ऋतामृत घट पाता है जिसका निस्संकोच छककर पान करना वह अपना धर्म समझता है । उसका यह लोक-दर्शन संभव है कि कैक्टस पसन्द चिंतकों को महज परम्परान्वयन लगे पर वह कहता है -मेरा तो विश्वास है कि अपने हिन्दुस्तान में मामूली और अपावन कुछ भी नहीं। चक्षु-शक्ति को विकसित करो तो देखोगे कि क्षुद्र के मध्य आदिगन्त व्यापी रुद्र उपस्थित है, पत्ती-पत्ती हृदयकोष में 'विराट' समाधिस्थ होकर बैठा है । बूंद-बूंद में समुद्र का सहस्रशीर्षा प्रतिबिम्ब वर्तमान है (नि. पृ. १९५) ।

अपनी अन्य कृतियों में जहाँ निबंधकार 'रस-आखेटक' बनकर दूर देश की दृश्यावलियों और उनकी कला वीथियों का दृष्टि-अभिषेक करता है वहीं उसका अलमस्त मौजी निषाद मन मतसा के केवटों (आधुनिक निषादों) और मतसा के गंगातीरी-झाऊ बाग में टिका हुआ जान पड़ता है । वह चन्दर माझी के अनध्याय कोश से निकली निषादगाथा अथवा चन्दर गुरु रामदेवा जी की बेतरतीब आख्या को 'गुहा-हट्टन-चटर्जी' जैसे समाजशास्त्रियों भाषाविदों के गहन शोध-परिणामों से कत्तई कम नहीं मानता । इन दोनों की परख करके गंगा के दो पाटों की दूरी देखते हुए भी, बीच में उमड़ती जलधार से दोनों को बाँध देना चाहता है फिर तो व्रीहि, साद, राका, कुहू जैसे शब्दों के मूल विवादास्पद होते हुए भी इसी आरण्यक संस्कृति से जुड़ जाते हैं ।

इसी प्रवाह में रंगा की पाहन नौका पाकर निषाद-मन जमकर नौकायन तो करता ही है रंगा की रंग-बिरंगी और अध-सची बातों में खोकर "सारे हिन्दुस्तान को नदी-नदी की धार पर चलता हुआ" देखने की कामना भी करता है । इन्हीं बातों को माध्यम बनाकर गलई, डहरा, गोछा, पटेला, गुदारा, डोंगी, बरधी (सार्थ), मेल्हना, भोट, पैरेबोला, उलाँकी, बुलाकी, बालागढ़ी पानसी, चण्डी, पदवा, ओदम, रामपानी– जैसी कितनी ही नावों में कितनी बार झिझिरी करता है पर उसका मन थकता नहीं । आदिम है न ! डूबने से बचने के सभी उपाय भी वता जाता है । यहाँ एक बात ख्याल रखने की है कि दूसरों की भाँति मानसी-गंगा में 'नाव उड़ाना' नहीं सीखा है इस निषाद मन ने बल्कि यथार्थ के धरातल पर कभी चंदर माँझी तो कभी रंगा मल्लाह से दोस्ती करके (भले ही वे निपट गँवार क्यों न हों) कभी रक्ताभ अन्धकार में तो कभी निरभ्र चाँदनी में, हर मौसम में, चिर प्रवाहिनी-कर्मकाण्ड को ताख पर रखकर, क्षुद्र अथवा नीच समझी जाने वाली जातियों में हिलकर जहाँ मेल भाव बढ़ाता है, उनका स्नेह भाजन बनना चाहता है वहीं सदियों से छाये ब्रह्मराक्षसों की जमकर खबर लेता है । यही कारण है कि उसके चिन्तनपथ पर तरह-तरह के

रोड़े अटकाये जाते हैं । पर वह इन दुष्टत्त्वों की कब परवाह करता है? उनकी 'कथनी-करनी' का पर्दाफाश करने के लिए उनके सामने 'दर्पण' रख देता है ।

एक ललित कृति पर व्यक्त मेरी इतनी बातों पर दृष्टिपात कर लेने के उपरान्त कोई इसमें अतिशयोक्ति बोध करे तो यह उसकी अपनी दृष्टि होगी, हाँ एक वार उसे इसका पारायण अवश्य करना चाहिये । जहाँ एक साथ नृतत्त्वविज्ञान, समाज शास्त्र, भाषा विज्ञान, अर्थ विज्ञान, भूगोल, इतिहास, पुरातत्त्व का जीवन्त विश्वकोष दिखाई देगा जिसमें दर्शन, मनोविज्ञान और आधुनिक चिंतन के पुट मिलेंगे । सव कुछ एक कथावृत्ति में लिपटा हुआ 'कथासार' प्रतीत होता है । उक्त विषयों के गंभीर शोधकर्मियों को इससे जलन हो सकती है, चिंतन और ज्ञान-विज्ञान के 'धुरीणों' को यह सत्साहित्य रूमानियत की चीज लग सकती है पर इसके लिए

चाहिए एक संदृष्टि गंभीर साहित्य के अध्ययन की अपेक्षा करती है । लेकिन अध्ययन करना तो आज अभिशाप बनता जा रहा है । विशेषतः मार्क्सवादी चिन्ताधारा की कृपा से । मेरी बात शायद प्रतिक्रियावादी लगे आपको, इसलिये श्री राय के एक पत्र का उद्धरण दूँ (जो उन्होंने मुझे ५ फरवरी ७५ को लिखा है)– "हमारा देश एक महाप्राण देश है । 'बट इवरीथिंग रिक्वायर्स कान्स्ट्रक्टिव इण्टरप्रेटेशन' । दुःख है कि हिन्दी वालों में इन विषयों पर पढ़ने की रुचि नहीं । इसी से प्रकाशक भी हिचकिचाते हैं । विशेषतः ये मार्क्सिस्ट तो अपनी कुरान (मार्क्स) से बाहर कुछ भी सहन करने को तैयार नहीं । मार्क्सवादी चिंता का हिन्दी जगत पर एक ही प्रभाव पड़ा है कि न पढ़ने, न जानने को अपनी अविद्या एवं छल छद्म को महनीय करके उच्च कण्ठ से व्यक्त करना, घघोटना । ए रिवाइवल ऑफ बार्बरिज़्म । राहुल जी या आचार्य नरेन्द्रदेव भी तो मार्क्सवादी थे पर उन्होंने इस कुरूपता को नहीं वरण किया था ।" इस स्पष्टोक्ति या कटु सत्य को ध्यान में रखते हुए जब हम निषाद-बाँसुरी के तमाम संदर्भों पर पुनः ध्यान देते हैं तो श्री राय का सम्पूर्ण लेखन और भी स्पष्ट हो जाता है । प्रतिबद्ध विचारकों-लेखकों को उनकी बातें विवादादस्पद लगें तो और बात है पर वे कहते हैं– "इसी से तो मैं बार-बार कहता हूँ भारतीय इतिहास और लोक-संस्कृति, लोक-धर्म और लोकभाषा का महत्तम समापवर्त्तक (हायस्ट कॉमन फैक्टर) 'निषाद' अर्थात् कोल या ऑस्ट्रिक है, आर्य नहीं (नि. पृ. ६७) । इस वक्तव्य के संदर्भ में मुझे वैदिक वाणी के त्रिविध रूपों का स्मरण आता है, 'दैवी-मानुषी-आसुरी । कहीं ऐसा तो नहीं कि 'दैवी' आर्यों, 'मानुषी'-लोकजनों (निषाद आदि) और 'आसुरी' म्लेच्छ, यवन अथवा विदेशी जनों की वाणी थी ? जो भी हो, हमें 'मानुषी-' वाणी' की तो पहचान हो । मानुषी-वाणी पहचानने का मतलब है आत्म-साक्षात्कार करना, अपने महत्त्व की

परख करना । आत्म-परख का अभिप्राय कभी भी आत्म प्रदर्शन नहीं होता । इसी तरह अपने आस-पास की भूमि और संस्कार को भी परखना यथेष्ट होता है । आज का आदमी जहां रहता है वहाँ के महत्त्व को समझने की चेष्टा ही उसमें नहीं रहती । आसाम हो या पूर्वाञ्चल का कोई ठिकाना – हर क्षेत्र का नवजवान सीधे 'बम्बइया' 'कलकतिहा' बनना अधिक पसंद करता है । यह कुंठा - तृषा और उन्माद पढ़े लिखे लोगों में कम नहीं है क्योंकि वे तो सीधे रूस-अमेरिका-जर्मनी-जापान-चीन आदि की बातें करते हैं–अपने को 'डार्क' में पाने की उनकी आदत सी हो जाती है । ऐसा क्यों? "असमिया युवक ही नहीं, अखिल भारतीय स्तर पर युवा मन की यही ट्रैजेडी है, उसकी ज़बान हैं रूसी या चीनी पर उसका हृदय-मन शुद्धतः भोगवादी अमेरिकन है । उसके चरित्र के भीतर परस्पर विरोधी युग्म स्थित हैं, इसी से वह निरंतर विकल है ।" (निषाद पृ. १९९) अपनी विचार यात्रा और सम्पूर्ण भारतीय अस्मिता की पहचान के लिये निषाद मात्र निषाद-नदी-गंगा-में ही झिझिरी नहीं करता बल्कि ब्रह्मपुत्र पहुंचकर किरात मन की जाँच पड़ताल करता है । इतना तो क्या दूरवर्ती एवं लुप्त 'सरस्वती' के सदानीरा तत्त्व को टच करता है ताकि आर्यों का मूलोद्गम समझ सके । इसी तरह कावेरी से द्राविड़ों की गाथा को पहचानना अपना धर्म समझता है वह । नदियों के इस चतुष्ट्व के भीतर चतुरानन ब्रह्मा के चार मुखों–आर्य-द्रविड़-किरात-निषाद-की परख करते अपने दृष्टिफलक का फोकस निषाद भूमि (उत्तर भारत) पर लगा देता है ।'निषाद बाँसुरी' उसी का परिणाम और भारततीयता की समझ के लिये एक सत्प्रयास है ।

यह कृति एक उपेक्षित विषय की सारगर्भित भूमिका होते हुये भी अपने आप में संपूर्ण है । विषय-प्रवेश के तौर पर बहस जारी है । अभी तो कितने ही अनार्य समझे (?) जाने वाले प्रसंग आर्य कहे जाने वाले जनों द्वारा कपट, द्वेष या स्वकीय महत्वाकांक्षा-वृत्ति के कारण दबा दिये गये हैं जिनसे आज भी भारतंवासी विभेदपूर्ण मनःस्थिति में सँजोता आया है । कितने ही सांस्कृतिक विवाद आंज भी हमारी शांति, सहनशीलता, सहजता और ज्ञानोत्कंठा को जीर्ण-शीर्ण कर देते हैं, फलस्वरूप हमारा यह व्यामोह कि हमीं आर्य हैं, भारत के निर्माता हैं, सहस्रशीर्षा विराट् पुरुष की अभिव्यक्ति हैं– हमसे विलग नहीं हो पाता । अपने इस व्यामोह या भुलावे को चाहे कितने ही दुर्धर्ष घोष में प्रसारित करते फिरें, सच्चाई का निदर्शन होकर ही रहता है ।

●

कुबेर नाथ राय और उनका 'विषाद योग'

डॉ. विवेकी राय

कुबेर नाथ राय हिन्दी साहित्यक्षेत्र के प्रज्ञा पुरुष हैं। ललित निबन्ध को उन्होंने ध्यानाकर्षक समृद्धि दी है। पूर्ण परिपक्व आयु के परिपक्व चिन्तन, अध्ययन और भाव-संवेदनाओं आदि की प्रातिभ सम्पदा लेकर सातवें दशक में अपनी रचनात्मक भूमिका में उतरे और इसका गौरवशाली सातत्य जीवन के अन्तिम क्षणों तक बनाये रखा। जैसे एकनिष्ठ वे शिल्प क्षेत्र में रहे वैसे ही एकनिष्ठ वे वस्तु क्षेत्र में भी रहे और सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को अपने निबन्धो में प्रस्तुत करने में ऊर्जा झोंकते गये।

निबन्धकार कुबेर नाथ राय की कृतियों के ललित गंभीर नाम बहुत आकर्षित करते हैं। इनमें प्राचीन साहित्य, नृतत्त्व, भाषा विज्ञान, इतिहास, पुराण, काव्य और विविध शास्त्रों को छानकर जिस भारतीय संस्कृति और चिन्तन परम्परा के सौन्दर्य बोध का उद्घाटन किया गया है वह अपूर्व है। निबन्धकार की अन्तर्दृष्टि से यह तथ्य छिपा नहीं है कि भारत की आत्मा गांव में है अतः ग्राम भारती का सौन्दर्य ही राष्ट्रीय मानस का सौन्दर्य है। इसीलिए निबन्धकार गांव की अपनी जमीन को कहीं भी, कमी भी नहीं छोड़ता है। उसकी रचनाओं में उत्तर भारत के लोक जीवन का ललित सांस्कृतिक कोश समाया हुआ प्रतीत होता है। इसी व्याज से भूलती-बिसरती अनेक मूल्यवान वस्तुओं को कलात्मक सुरक्षा मिल जाती है।

काशी के आसपास का अंचल प्रागैतिहासिक काल से न केवल ऋषिभूमि अथवा तपोभूमि रहा है अपितु इसने मध्य काल में भी भारत के सांस्कृतिक इतिहास को बनाया है। कुबेर नाथ राय की रचनाओं का यही क्षेत्र उपजीव्य तत्त्व है। अपने गांव (मतसा) के माध्यम से लेखक ने अत्यन्त भावुक मन और प्रखर दृष्टि से उक्त क्षेत्र को आत्मसात् किया है और अध्ययन के विराट जागतिक क्षेत्र के साथ सम्पृक्त कर उद्घाटित किया है। इसके साथ ही नृतत्वशास्त्र के आधार पर कुछ ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत किये गये हैं जो भारतीय मनीषा के लिए खुले मन से विचार करने के लिए विचार क्रांति की चुनौतियाँ हैं। ऐसे ही विचारों में से लेखक का एक विचार है कि 'गांव-गांव में भारतवर्ष मूर्तिमान है और इसे स्वीकारना होगा कि यह कोरी कल्पनाश्रित भावुक स्थापना नहीं है। ऊंचे गम्भीर ज्ञान-विज्ञान, कला-साहित्य तथा आधुनिक नागर चिन्तन को ललित निबन्ध में ढालने के लिए, अपने गंगातीरी

सांस्कृतिक किसान व्यक्तित्व की छाप से उसे अनुप्राणित करने के लिए लेखक जो इस प्रकार गांव को ऊंचा आसन देता है, उससे उसकी गरिमा बढ़ जाती है । अपनी भूमि से जुड़े होने के कारण कुबेर नाथ राय का निबंध-साहित्य अनन्त काल तक प्राणवान रहेगा और उसके भीतर का युवाचिन्तन कभी वृद्ध चिन्तन के रूप में परिणत होकर वासी नहीं होगा । यह हिन्दी-साहित्य का सौभाग्य है कि उसने एक लेखक के निबन्धों के उत्तरोत्तर निखार और उत्कर्ष को ही देखा है । सम्भव था कि आयु और स्थितियों के उतार के साथ उनके निबंधों में उतार या थकावट आ जाय परन्तु ऐसा हो, इसके पूर्व ही महाप्राण मनीषी साहित्य स्रष्टा ने अपने अवसानमय राहित्य से महाकाल के संकल्प को पूर्ण कर अमरत्व प्राप्त कर लिया । आजीवन भाव विचार विह्वल सृजनात्मक उल्लास बाँटने वाला स्रष्टा अपने शरीर से विषाद का विषय बन गया । उनके जीवन के अध्ययन के लिए 'विषादयोग' के भीतर प्रवेश करना बहुत सार्थक होगा । वास्तव में इस कृतित्व में उनका व्यक्तित्व बहुत मुखर रूप में उभरा है ।

'विषाद योग' में क्रम से आधे दर्जन निबन्ध ऐसे हैं जिन्हें शुद्ध ललित निबंध को कोटि में रखा जा सकेगा । आदि-अन्त की एकान्विति रहित विच्छिन्न-चिन्तनपूर्ण ये निबन्ध व्यक्ति अर्थात् 'मैं' की सरसता में सने हुए हैं । एक खास अन्दाज में उठकर लेखक कहां-कहां नहीं सैर कर लेता है? प्रारम्भिक 'मुकुलोद्गम' में ज्योतिष-शास्त्र, वनस्पति, पुष्पज्ञान आदि में डुबकी लगाता वह योरोप और भारत के संवत्सरारंभ की धारणाओं को छान डालता है । वास्तव में निबन्ध को व्यक्तिनिष्ठ बनाना सरल नहीं है । अहंकार अथवा आत्म-प्रचार से बचाकर साहित्यिक रसात्मक स्वरूप को अनाहत भाव से गतिशील होने देना महती साधना का फल है । कुबेर नाथ राय 'उत्तरा-फाल्गुनी के आस-पास' में एकदम निजी बात उठाते हैं । वे अपने आयु-चिन्तन में डूबते हैं । यथास्थिति काल वाला चालीसा लग गया है । अब यह यथास्थिति काल साठ तक कैसे एक रस बना रहे ? वे सवाल उठाते हैं, है कोई उपाय ? और फिर उत्तर विश्लेषण में समूचे नये युग बोध, नयी पीढ़ी के नये दर्शन की कितनी सटीक समीक्षा हो जाती है? रुचि-परिवर्तन के लिए लेखक के पास एक कारगर अस्त्र है आंचलिक रेखाचित्र का, जिसका हर श्रीगणेश उसके अपने गांव से होता हैं । 'मैं अपने गांव के धोबी ताल की बात कर रहा हूँ' से आरंभ 'परास्त नरक' शीर्षक रचना पढ़ते जाइए । बराबर लगेगा, लेखक का समूचा दृष्टिकोण सांस्कृतिक है । वह स्पष्ट कहता है 'संस्कृति की आधार भूमि हैं गांव । 'इस पुस्तक के अनुचिन्तन' वाले भाग में सबसे अधिक विचार अस्तित्त्व वाद पर है, भूमिका में भी, अन्त में फिर इसी को लेखक उठाता है । उसके ललित निबंधों पर भी इसकी

छाप है, परन्तु उसने इस अस्तित्ववादी प्रभाव को फैशन के रूप में नहीं ग्रहण किया है। आधुनिक बनने के अतिरिक्त वह कहीं भारतीयता से केन्द्रच्युत नहीं होता है। उसने भारत के सन्दर्भ में कोई चिन्तन गांव को परे करके नहीं किया है। गांव को उठाकर वह कृषक को याद करता है। उसने स्पष्ट कहा है, 'लोक-संस्कृति का नाम ही कृषक संस्कृति है।' (पृ. २००), लोक संस्कृति का उत्स लोक पुराण' है। लेखक 'कैक्टस वन की नायिका', शीर्षक में इसी लोक पुराण में प्रवेश करता है। उसने आर्यो की सत्यवान-सावित्री कथा की सहोदरा अनार्य पुराण की विहुला-गाथा की मार्मिकता को उद्घाटित किया है। निबन्ध की उठान कहानी से होती है। कैक्टस जाति का वर्णन-चित्रण, बिहुला-कथा, उसका सारांश, उसपर टिप्पणी और फिर टी. एस. इलिएट के विचारों से जुड़ा सशक्त आत्म-संकेत, सब कुछ बहुत आकर्षक होता है।

कुछ चीजें विवादास्पद भी कम नहीं हैं। 'यक्ष-रात्रि' में दीपावली को यक्षों का त्यौहार निर्धारित करते हुए लेखक पूर्वी उत्तर प्रदेश के प्रख्यात प्रेतपीठ हरसू ब्रह्म को काशी के हरिकेश यदा के नाम का अपभ्रंश कहता है। कुछ में खींचतान भी हुई है। 'एक महाकाव्य का जन्म' में 'मा निषाद' वाले श्लोक को रामायण का संकेत-बीज सिद्ध किया गया है। लेखक कहता है, 'रामायण की जड़ें शोक और करुणा में हैं। फिर वह उक्त श्लोक को लक्ष्य कर कहता है, 'श्लोक में शोक कहां है ? जो है वह खांटी 'रोष, शुद्ध क्रोध।' इस तरह के विरोधाभास से पाठकीय चित्त उलझ जाता है। फिर भी यह तो स्मरण रहता ही है कि 'मैं व्यक्तिनिष्ठ यानी पर्सनल एस्से पढ़ रहा हूँ। जहाँ लेखक यदि उच्छृंखल हुआ नहीं तो सारा आस्वाद जाता रहा'। जहाँ अभिव्यक्ति क्रम में व्यवस्था नहीं अव्यवस्था का साम्राज्य होता है। एक प्राणवान 'मै' यत्र-तत्र धमाचौकड़ी करता रहता है। कुबेर नाथ राय का 'मैं' कभी विश्वेश्वर का सांड़ है तो कभी 'दुनियां के आश्चर्य' नामक किताब में पढ़ा नागफनियों के जंगल में भागता जाता घोड़ा, कभी गांगेय आर्य।

ललित निबंध वाले भाग के अन्तिम छह निबन्ध रामायण के विशिष्ट संदर्भों के व्याख्या-विश्लेषण हैं। सुन्दरकाण्ड ने उसे विशेष प्रभावित किया है। इन निबन्धों में अध्ययन-मनन की प्रौढ़ता स्पष्ट है। इन निबन्धों में ललित निबन्धों से कुछ भिन्न व्यास शिल्प का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। लेखक की भाषा अत्याधुनिक और जीवन्त है। लेखक अपना पांडित्य प्रदर्शन करने से अधिक विषय को सही और साधार विवेचन करने के लिए यत्नवान दृष्टिगोचर होता है। यह तथ्य अनुचिन्तन वाले भाग को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है। इस भाग के कुल नौ निबन्धों में विचार

विवेचन राजनीतिक सूत्रों से अधिक साहित्यिक माध्यमों के सहारे किया गया है। अन्तिम निबन्ध में समाजवाद और अमलातंत्र पर विचार शुरू होता है। महाकवि दान्ते से, और एक अन्य निबन्ध में श्रमिक संस्कृति के आधुनिक रूप की समीक्षा-संदर्भ में 'हर्षचरित' के रिपोर्ताज को पेश किया जाता है। लेखक के वस्तु-तत्व में विद्रोह और शिल्प में परम्परा पुरस्कृत होती दीखती है। प्रथम अनुचिन्तन में अस्तित्ववाद पर नये कोण से फ्लैश देकर भूमिका में जो पुनः इसे उठाता है तो एक मजेदार बात कहता है, 'यह एक अकर्मक और स्थितिशील दर्शन है। इसमें कर्मयोग की कोई फिलासफी नहीं। 'विसंगत मनो-भूमि का दर्शन' प्रस्तुत करने वाले इस अस्तित्ववाद के विषय में लेखक का विचार है कि 'इस युग-संध्या की युगान्त भूमि पर मन को स्थापित करके चिन्तन करना एक तरह का मानसिक योग है जिसे मैं विषाद योग की संज्ञा देता हूँ। इसमें कर्म का पथ स्पष्ट नहीं। यह शुद्ध अस्तित्ववादी मूड है जिसमें अत्यन्त तीक्ष्ण ग्लानियों का यंत्रणामय अनुभव है। 'इस घोषणा से पुस्तक के नामकरण और उसकी विषय-स्थापना के विषय में वहुत-कुछ समाधान मिल जाता है।

प्रश्न यह है कि कुबेर नाथ राय का इस पुस्तक के संदर्भ में वास्तविक स्वरूप ललित लेखक के रूप में या चिन्तक के रूपमें उभरा ? ध्यान से देखने पर एक चीज साफ नजर आती है। चिन्तन वाले निबन्धों में लालित्यतत्व एकदम नहीं है, जबकि ललित निबन्धों में चिन्तनतत्व पचहत्तर प्रतिशत है। कुबेर नाथ राय वास्तव में चिन्तक ही हैं। चिन्तन एक गरिष्ठ वस्तु है जिसे आत्मसात कराने के लिए वे 'मैं' सम्पृक्त ललित शिल्प का सहारा लेते हैं। आरम्भिक ललित निबन्धों में युवा आक्रोश, हिप्पी दर्शन और चीनी सांस्कृतिक क्रांति आदि के संदर्भ में जिस दृढ़ता और स्पष्टता के साथ लेखक अपना विचार रखता चलता है उससे स्पष्ट है कि वह पाठकों का केवल अनुरंजन करना नहीं चाहता है। इससे बड़े उद्देश्य के लिए वह छटपटा रहा है। उसके पास कोई प्रबल संदेश है जिसे वह उपस्थित करना चाहता है। उसमें परम्परा और प्रगति का अद्‌भुत समन्वय है। सुन्दरकाण्ड की मानसिकता में डूबा लेखक एक जगह कहता है, "भारत का इतिहास चक्र किसी न किसी रूप में समाजवाद की ओर मोड़ ले रहा है। ......लेकिन वह मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट नहीं है।" पश्चिम के नये से नये कान्सेप्ट लेखक को स्वीकृत हैं, मगर उन्हें वह भारतीय परिवेश और संस्कृति के संदर्भ में उपस्थित करता है। इससे रचनाओं में कहीं कहीं अतिरिक्त गम्भीरता के साथ पूर्वाग्रह वृत्ति का आभास भी मिलने लगता है, किन्तु नयी पीढ़ी के निबन्धकारों में कुबेर नाथ राय अपने रोमेण्टिक-यथार्थ के कारण पृथकं से पहचान लिये जाते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

●

विषादयोग

प्रो. विश्वनाथ त्रिपाठी

[1955–56 में कुबेरनाथ राय, शुकदेव सिंह आदि विद्या भवन (सुन्दरपुर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्राचीर के बाहर एक पुराने मकान में रहते थे । पं हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उस मकान का नामकरण किया विद्याभवन । मैं भी वहीं रहता था । कामन-मेस चलता था । वे विद्यार्थी जो छात्रावासों में जगह नहीं पा सके थे , या आर्थिक कारण से नहीं रह सकते थे, विद्या:भवन में रहते थे ।

कुबेरनाथ राय बी.ए. अंग्रेजी (आनर्स) के विद्यार्थी थे। हम एम. ए. (हिन्दी) कर रहे थे । वे भारी देह के , गम्भीर, एकांत-प्रिय किंतु विनोद-प्रिय छात्र थे । उनके निबन्ध उस समय भी अच्छी पत्रिकाओं में छपते थे ।

कालान्तर में वे उत्तम निबन्धकार के रूप में प्रसिद्ध हुए । मैं भी उनके निबन्धों को रस लेकर रुचिपूर्वक पढ़ता था । मुझे एक बात खटकती थी कि कुबेरनाथ राय मध्य या शायद निम्नमध्यवर्गीय किसान परिवार के हैं, किन्तु समाजवादी व्यवस्था के प्रति उनके मन मे विरोध भाव है । यही नहीं, उनके लेखन में गरीबी, बेरोजगारी आदि की कोई चिन्ता नहीं दिखलाई पड़ती । मैं इससे अपने पूर्व-परिचित मित्र के प्रति क्षुब्ध हुआ । यह समीक्षा उसी क्षुब्ध मन:स्थिति में लिखी गयी है । अतः संतुलित नहीं है ।]

श्री कुबेरनाथ राय ने अपने ललित निबन्धों और चिन्तनपरक निबन्धों के संग्रह का नामकरण 'विषाद्र-योग' बहुत समझ-बूझकर किया है । उनके शब्दों में "गीता के प्रथम अध्याय की विषयवस्तु का नाम है' विषाद-योग' । मुझे कुछ लगता है कि हम यानी बीसवीं शती उत्तरार्ध की 'जीवात्माएँ' सभ्यता, संस्कृति और मानवीय इतिहास के 'द्वापर' में जी रहे हैं और हमें कुरुक्षेत्र एवं उससे भी गर्हित प्रभास-क्षेत्र की यन्त्रणाएँ भोगनी हैं । "कुबेरनाथजी को ईमानदारी से कह देना चाहिए था कि उनका यह चिन्तन 'अन्धायुगीन' है । लेकिन जब वे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी कहीं आभार-उल्लेख नहीं करते, जिनसे उन्होंने सारी मुद्रा, शैली और उक्ति-भंगिमाएँ ले ली हैं, तब उनसे इस बात की आशा करना व्यर्थ है कि वे धर्मवीर भारती का ऋण स्वीकार करेंगे ।

हम जानते हैं कि शंकराचार्य के बाद गीता के सबसे अधिक समर्थ व्याख्याकार बाल गंगाधर तिलक ने गीता को 'कर्मयोग' कहा है । क्या कारण है कि कुबेरनाथ

राय को 'कर्म' से अधिक विषाद से अनुराग है ? यह 'विषाद' यों ही नहीं है, इसकी बड़ी महिमा है !

भौतिक ताप और आध्यात्मिक ताप में काफ़ी अन्तर होता है । भौतिक दुःख आदमी को बेसब्र बना देता है, उसे भूखा-प्यासा बना देता है । आध्यात्मिक दुःख आदमी को तोंद सहलाने की धीरता प्रदान करता है । भौतिक दुःख रोटी, कपड़ा, मकान, इलाज, बच्चों की शिक्षा, पेंशन चाहता है । आध्यात्मिक दुःख बदहज़्मी दूर करने के लिए चूरन फाँकते हुए, सभ्यता और संस्कृति पर लच्छेदार बातें करते हुए शब्दाडम्बर बघारता है । वह परम्परा और सौन्दर्य के नाम पर मुकुलोद्गम, फाल्गुनी, यक्षरात्रि, प्रिया नीलकंठी, कैक्टस ही देख पाता है । वह इतिहास के रथ-चक्र में पिसते हुए शोषित को नहीं देखता; वह नहीं देख सकता कि आदमी के इस्तेमाल में आने वाली कोई चीज ऐसी नहीं है जिसे तैयार करने में उसका खून या पसीना न बहा हो । कुबेरनाथ राय प्रकृति-सौन्दर्य के परम प्रेमी हैं, भावुक हैं, 'ललित लवंग लता-परिशीलन' शैली के गद्यकार हैं । वे सब-कुछ देखते हैं, इतिहास, वर्तमान, रामायण, महाभारत, कैक्टस, मेघ, मण्डूक । नहीं देखते तो केवल भूख-प्यास से आकुल पसीना बहाते हुये उस मनुष्य को, जो भारतीय समाज और संस्कृति का सबसे अधिक निर्णायक घटक है, जिसके लिए गांधी, नेहरू और देश की सभी जनवादी पार्टियाँ काम करती रही हैं । वे गाँव के धोबी की भी बात करते हैं तो उसके गीतों की बात करते हैं, उसके गधों की बात करते हैं, लेकिन इस पर उनका ध्यान नहीं जाता कि धोबी के बच्चे क्या पहनते-खाते हैं, वे पढ़ते हैं या नहीं, उनकी फ़ीस कैसे जुटायी जाती है । कुबेरनाथ राय की सांस्कृतिक चेतना वह चेतना है जो मनुष्य के बच्चों को गधे से भी उपेक्षणीय मानती है । यह वह सांस्कृतिक चेतना है जो मनुष्य की आत्मा और उसकी भौतिकता को अलग-अलग बाँटकर एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर देती है । जो संस्कृति को टाटा बिड़ला के ड्राइंग-रूमों में कैद करना चाहती हैं, जो सामाजिक परिवर्तन की घोर विरोधी है । यह परम्परा की रुग्ण व्याख्या करके हमारी परम्परा को भी विकृत करती है । कुबेरनाथ राय के निबन्ध पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों से बहुत पीछे की चेतना-करीब-करीब भारतेन्दु-पूर्व रीतिकालीन दृष्टि से लिखे गये निबन्ध हैं । द्विवेदी जी केवल अशोक के फूल, आम्र-मञ्जरी, यक्ष, मदनोत्सव आदि की ही बातें अपने निबन्धों में नहीं करते । वे 'निरन्न', 'वस्त्र-हीन' जनता की भी बातें करते हैं । इसीलिए उनके अशोक, आम्र, कुटज, यक्ष भी जीवन्त और सन्दर्भवान् हो जाते हैं । कुबेरनाथ राय के निबन्धों की प्रकृति, संस्कृति जन-निरपेक्ष ही नहीं, जन-विरोधी भी है, इसीलिए अन्तः संस्कृतिविरोधी भी है । इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वे अमूर्त भविष्य

के प्रति चिन्ता प्रदर्शित करने के बावजूद नयी पीढ़ी के प्रति वेहद अनुदार हैं। 'अनुदार' हल्का शब्द है। कुबेरनाथ राय के व्यक्तित्व में नयी पीढ़ी को लेकर विद्वेष की ग्रन्थि है :

"विविध प्रकार के नारों से आक्रांत ये नये 'पुरुखा''

पृ. १७

नयी पीढ़ी के लिए कुबेरनाथ जी का प्रिय विशेषण 'दुग्ध-दन्त कुमार' और 'बालखिल्य पीढ़ी' है।

चूँकि कुबेरनाथ जी किसी कालेज में अध्यापक हैं, इसलिए हाई स्कूल के अध्यापक भी ज्ञान की निम्न श्रेणी के प्रतिमान हैं –

"प्रायः लोग कहते हैं कि– इन कहने वालों में हाई स्कूल के अध्यापकों से लेकर महाकवि कालिदास तक आते हैं कि शोक ही श्लोक बन गया "

पृ. ७७

इस जन-निरपेक्षता, शुद्ध आध्यात्मिकता और नयी पीढ़ी की आशा-आकांक्षा को न समझ पाने की स्थिति में बच रहता है केवल कुबेरनाथ राया का 'मैं' , जो इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर अनेक बार अपने विकारी रूपों में दर्शन देता रहता है।

वस्तुतः यह 'मैं' नदी के द्वीप का वासी है और सामन्ती रीतिकालीन दरबारों का नहीं, पूँजीवादी रीति कालीन दरबारों का प्राणी है। इसे सड़क, चौराहे , बच्चे, आन्दोलन, किसान, मजदूर नहीं प्रिय हैं। इसे निर्जन, उपवन, सरिता-तट, चाँदनी, मधु-रात्रि, पूर्वा-फाल्गुनी का पान-पात्र पसन्द हैं। वह व्यक्तित्व कितना सुसंस्कृत होगा जिसकी कल्पना में भी गरीब किसान-मजदूर, भूखे-अधनंगे बच्चे, आवारा छोकरे, असहाय जन नहीं आते। कल्पना में आने का मार्ग प्रशस्त है। किसके लिए ?

"मेरी कल्पना में इस रूपसी कन्या की एक अपूर्व मूर्ति उद्भासित होती है। वह एक मानुषी कन्या-मूर्ति है जो अखण्ड सौभाग्य के सामुद्रिक लक्षणों से युक्त हैः पद्म-पत्र जैसी आँखें, चन्द्रोपम उज्ज्वल ललाट, आरक्त पद्मवर्ण हथेलियाँ और तलवे, वर्तुल स्तन-द्वय. और अन्तर्मुखी चूचुक, दक्षिणावर्त्त नाभि और स्पष्ट त्रिवली, गम्भीर नाभि, रोमहीन जघन, अश्वत्थ-प्रमोपम योनिदेश, चम्पक वर्ण और. मध्यम कद"

(पृ. ३८)

'रोमहीन जघन' के आगे बढ़ते-बढ़ते कुबेरनाथ राय बेसुध हो गये हैं, इसकी व्यंजना कुशल प्रूफरीडर ने 'अश्वत्थपत्रोपम' को 'प्रमोपम' छापकर की है।

ऐसा सुसंस्कृत व्यक्तित्व समाजवाद, साम्यवाद, वामपंथी राजनीति का अन्ध और विवेकहीन विरोध न करता, तो आश्चर्य होता; व्यक्तित्व अधूरा रह जाता, वह अपनी तार्किक परिणति पर न पहुँच पाता।

"क्रोध मेरी खुराक है, लोभ मेरा नयन-अजंन है, काम भुजंग मेरा क्रीड़ा-सहचर है । इनको ही मैं क्रमशः विद्रोह, प्रगति और नवलेखन कहकर पुकारता हूँ"

(पृ. १५)

"मार्क्सवादी क्रान्ति के वरदान हैं : नर-हत्या तथा नये मैनेजरों की सृष्टि"

(पृ. १२५)

"व्यावहारिक स्तर पर मार्क्सवाद सक्रिय पाखण्ड है"

(पृ. १५०)

"क्रान्ति के महानायकों ने इस विशाल यूटोपिया -वट को भी फाँसी का दरख्त बना दिया और मार्क्सवाद, नाजीवाद, लेनिनवाद, स्टालिनवाद का चूना थोपना प्रारम्भ किया"

(पृ. १५१)

"दूसरे शब्दों में समाजवाद जिस रूप में अपने व्यासमुख– मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट प्रणाली के द्वारा प्रदर्शित है वह मानववाद का निषेधमात्र है"

(पृ. १८१)

कुबेरनाथ राय वनस्पतियों , चाँदनी, मधु-वर्षण , पूर्वाफाल्गुनी, कैक्टस-वन इत्यादि पर लिखते समय निहायत मधुर-मदिर-मुग्ध शब्दों का प्रयोग करते हैं, लेकिन वामपंथी विचारधारा और पार्टियों पर लिखते समय वे सारी शर्म-हया ताक पर रख देते हैं।

"भौतिक सुख के मल-द्वार में व्यक्ति को क़ैद करने के लिए पार्टी और टेक्नोक्रेसी व्यक्ति को टेस्ट-ट्यूब से ज़्यादा नहीं मानती"

(पृ. ७३)

कुबेरनाथ राय के 'विषाद' का सीधा सम्बन्ध इसी 'मलद्वार' से है । यह आध्यात्मिक विषाद उसी का प्रतिफलन है । वे अपने चिन्तन को जन-सामान्य की आशा आकांक्षाओं से जोड़ पाते तो तैलंगाना, नक्सलवाड़ी, वियतनाम, कम्बोडिया, फिलिस्तीन के मुक्ति-प्रदाता जनान्दोलनों को देख पाते और समझ पाते कि मार्क्सवाद कितना जीवन्त और सक्रिय है । वे गोर्की, ब्रेख्त, पाल राब्सन, नेरुदा, शोलोखोव, श्री प्रेमचन्द, निराला, मख्दूम, फैज, फिराक, रामविलास शर्मा की कृतियों की रचनात्मक जीवन्तता भी देख पाते और समझते कि इस शताब्दी में जो कुछ सांस्कृतिक योगदान हुआ है, वह अधिकांशतः और प्राधानतः जनवादी एवं वामपंथी

चेतना द्वारा सम्भव हुआ है । यही नहीं, अतीत में भी वही रचनाकार सफल एवं महान् हुआ है जिसने अपने-आपको केवल सुविधा की सड़ी-गली जिन्दगी से नहीं जोड़ा है बल्कि अपनी रचनात्मक चेतना को जन-सामान्य से जोड़कर व्यवस्था से टकराया है । सोवियत यूनियन और चीन में जो कुछ हुआ या हो रहा है, उस सबका समर्थन, अनुमोदन कोई नहीं कर सकता । किन्तु वहाँ की भौतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों को भूलकर मानवता की बात करना मानवता के साथ विश्वासघात करना है ।

सोवियत यूनियन और चीन की व्यवस्था को गाली देने वाले कुबेरनाथ राय अपने देश की प्राचीन परम्परा के प्रति कितने आस्थावान् हैं ! हमारे देश में बुद्ध, महावीर, लोकायत, आजीवक, नाथ-सिद्ध,कबीर की विद्रोही परम्परा भी रही है । इस परम्परा के प्रति उनका कोई अनुराग इन निबन्धों में नही झलकता । यही नही, वे संस्कृत के महान् आचार्यों के विचारों को भी हलके-फुलके और गैर-जिम्मेदाराना ढंग से काटते हैं, जो निहायत चिन्त्य है । महाभारत को आनन्दवर्धन ने शान्त रस का काव्य माना है । रस-आखेटक कुबेरनाथ राय उन्हें सुधारते हुए कहते हैं – "आनन्दवर्धन ने महाभारत को शान्त रस का महाकाव्य कहा भी है । यद्यपि यह कहा जाय तो अधिक ठीक होगा कि यह रौद्र-वीर रस का महाकाव्य है, जिसकी अन्तिम परिणति शान्तरस में होती है"

(पृ. ६८)

रस-आखेटक को रस-चिन्तन की फुर्सत नहीं थी वरना समझ लेते कि शान्त महाभारत का अंगी रस है; रौद्र, वीर, भयानक, शृंगार आदि उस अंगी रस के सहायक रस हैं । महाकाव्य में होते प्रायः सभी रस हैं किन्तु अंगी रस केवल तीन में से एक ही होता है वीर, शृंगार या शान्त । 'रौद्र' रस को प्रधानता देकर कोई महाकाव्य नहीं रचा जा सकता ।

जब पूँजी कम हो, अपनी शैली अर्जित न की गयी हो और हौसला हजारीप्रसाद द्विवेदी बनने का हो, तब यही होता है ।

श्री कुबेरनाथ राय मोहक गद्य लिखते हैं । उनके पास सौन्दर्य-दृष्टि भी है । यह गद्य-शैली और सौन्दर्य-दृष्टि उन्हें हिन्दी के पूर्व गद्यकारों से मिली है । उनकी प्रारम्भिक रचनाओं को पढ़कर आशा बँधती थी । विशेषतः इसलिए भी कि वे पूर्वी उत्तर प्रदेश जैसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े किन्तु सांस्कृतिक दृष्टि से उन्नत प्रदेश के हैं । उन्हे सिद्ध साहित्यकारों की मुद्रा अपनाने की जल्दी नहीं होनी चाहिए थी । जिस नयी पीढ़ी को वे 'दुग्ध-दन्त सुकुमार' और 'बालखिल्य ' कहते हैं. उससे वे जुड़ पाते तो उनमें रचनात्मक निखार और ईमानदारी आती ।

(आलोचना अक्टूबर - विशिष्ट १९७४)

●

कुबेरनाथ राय और उनका विषादयोग

डा. जटाशंकर द्विवेदी
रीडर - हिन्दी
डी. सी. एस. के. पीजी कालेज, मऊ

कुबेरनाथ राय साधना की दृष्टि से पूर्व मध्यकाल में जीते रहे । कुंभन दास का "संतन को कहा सीकरी सों काम" वाला निस्पृह भाव उनमें इस जमाने में भी विद्यमान था । इसलिए हिन्दी की प्रथम पंक्ति के साहित्यकार होकर भी वे उपेक्षित रहे । यद्यपि लोगों की उपेक्षा और अपेक्षा से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था, तथापि उस एकांत साधक के ललित एवं चिन्तनपूर्ण निबंधों में प्रवाहमान अध्ययन, अनुभव और ज्ञान की त्रिवेणी का अवगाहन समालोचकों और साहित्य प्रेमियों का दायित्व है । दुर्भाग्य है कि गम्भीर साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति प्रायः विलुप्त होती जा रही है ।

विषादयोग दो खण्डों में विभक्त है । प्रथम खण्ड ललित निबन्धों का है । जिसके अन्तर्गत "मुकुलोद्‌गम" से "अशोक फूल" अब और कितनी रात है? तक कुल तेरह निबन्ध हैं । द्वितीय खण्ड-अनुचिन्तन के अन्तर्गत "अस्तित्ववादपथ का नया दावेदार" से "समाजवाद, अमलातंत्र और साहित्यकार", पर्यन्त कुल नौ निबन्ध हैं । अन्त में अपनी बात है । लेखक ने अपनी ओर से इन सभी निबन्धों का परिचय इस प्रकार दिया है – इस संग्रह में आधे ललित निबन्ध हैं और आधे सादे निबन्ध । ये निबन्ध विगत सात-आठ वर्षों में समय-समय पर लिखे गये हैं, परन्तु इनमें से अधिकांश का रचना काल १९७०-७१ ही है । इस निबन्ध संग्रह की मुद्रा और संवाद मेरे पूर्ववर्ती तीनों संकलनों- "प्रिया नीलकंठी, रस आखेटक' एवं 'गंधमादन' से कुछ-कुछ भिन्न हैं । यह अपेक्षाकृत अधिक चिन्तनप्रधान है और युगबोध की दृष्टि से इसमें अधिक प्रामाणिकता है । ' विषादयोग नामकरण को हेतु बताते हुए लेखक ने अन्त में अपनी बाते शीर्षक के अन्तर्गत स्पष्ट किया है - गीता के प्रथम अध्यय की विषयवस्तु का नाम है- विषाद योग मुझे लगता है कि हम यानी बीसवीं सदी उत्तरार्द्ध की जीवात्माएं सभ्यता, संस्कृति और मानवीय इतिहास के द्वार में जी रहे हैं और हमें कुरुक्षेत्र एवं उससे भी गर्हित प्रभास क्षेत्र की यंत्रणाएं भोगनी हैं । इस युगसंध्या की युगांतभूमि पर मन को स्थापित करके चिन्तन करना एक तरह का मानसिक योग है जिसे मैं विषाद योग की संज्ञा देता हूँ । इसमें कर्म का पथ स्पष्ट नहीं । ज्यां पाले सार्त्र के सामने कर्म तथा विभ्रम की यही अस्पष्टता थी क्योंकि उसके पूर्व की बहुप्रचारित दोनों ही मुख्य दार्शनिक विचारधाराएं यथार्थवाद (रियंलिज्म) और प्रत्ययवाद (आइडियलिज्म) अतिवादी चौखटों में जकड़ी हुई थीं । इन्हीं के समाधान में सार्त्र ने अस्तित्ववादी दर्शन का विकास किया था ।

विषादयोग के ललित निबन्धों में गहन जीवनानुभव, प्रखर चिन्तन और प्रकाण्ड पाण्डित्य का सफल कलात्मक संगुम्फन है । लालित्य अपने अगाध गांभीर्य में विशाल

मधुनद की भांति सान्द्र गाढ़ होकर मंद-मंथर गति से बहता है। उसमें न कहीं उथलापन होता है, न ही तटबन्ध को तोड़ कर बाहर निकल जाने का उन्माद। शब्द सजग शिल्पी के रंगों की बिन्दी की भांति एकदम सधी उंगलियों के अन्दाज में टपकाये से जाते हैं। परिणामतः शैली में एक परिमापित प्रवाह दीखता है जिसमें सब कुछ हासिए के भीतर होता है, उससे बाहर कुछ नहीं। भाव और भाषा का गांभीर्य, शैली का सर्वथा मर्यादित पदन्यास और साहित्य तथा दर्शन के अगाध अध्ययन के विकिरण का नैरन्तर्य किसी ओछर अध्येता को क्लिष्टता का कष्ट दे सकता है। वह तो ऐसा ही है जैसा कि गुलशन नन्दा के उपन्यासों के पाठक को "अनामदास का पोथा" पढ़ने पर हो सकता है। गद्य कवियों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी यदि यह सच है तो निबन्ध के वास्तविक अध्येता कम अवश्य होगें, पर जिनमें निबन्ध-बोध होगा, उनके लिए कुबेरनाथ राय में न क्लिष्टता होगी, न ही रस और माधुर्य की रंचक न्यूनता।

भावमयता और भाषा की रसरस सुस्थिर प्रवाहमयता में अध्ययन का विस्तार और वैज्ञानिक विश्लेषण परक दृष्टि से उभरे चिन्तन मनन की रुचिर प्रवृत्ति ने विषादयोग के निबन्धों को अत्यन्त प्राणवान बना दिया है। भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य एवं साहित्यशास्त्र की बारीकियों के साथ दोनों तरह की दार्शनिक विचारधाराओं का प्रचुर ज्ञान लेखन के पंथ पर प्रकाश सा बिखेरता चलता है। शब्दों की भाषा और वैज्ञानिक पकड़ से आलोक तहीभूत होता प्रतीत होता है। बीच-बीच में लेखक लोकानुभवों की निश्छल अभिव्यक्तियों में अन्तर्निहित जीवन सत्यों के साक्षात्कार द्वारा शास्त्रज्ञान और ठेठ देहाती अनुभवों की संगति सी बैठाता हैं, जिससे पाण्डित्य को लालित्यपूर्ण बनाने में सुविधा हो जाती है।

विषादयोग' के अनुचिन्तन खण्ड के सभी निबंध आधुनिक दार्शनिक गतिविधियों की पूरी ईमानदारी से विवेचना करते हैं। इन निबंधों में लेखक का कहीं कोई पूर्वग्रह या उसकी किसी प्रकार की प्रतिबद्धता लक्षित नहीं होती। अत्यन्त तटस्थता पूर्वक निबन्धकार विषय को बिना उलझाये हुए प्रायः सादे ढंग से व्याख्यायित करता है। यहां भाषा खरी और चुस्त है। उसमें अनावश्यक भावुकता या शब्दाडम्बर का लेश नहीं है। मेरी समझ में ये निबन्ध आधुनिक साहित्य और समीक्षा के मूलाधारों को समझाने के उद्देश्य से लिखे गये हैं। इसमें संदेह नहीं कि नव्ययुग के दार्शनिक अनुचिन्तन को इन निबन्धों ने औसत बुद्धिजीवी की समझ में आने लायक बनाने का सराहनीय कार्य किया है। इन निबंधों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इन में लेखक की आँखें महत्तर सांस्कृतिक उपलब्धियों पर लगी हैं। जहाँ उसे सांस्कृतिक परिसीमन की आशंका होती है वहाँ वह बेबाक चुटकी लेता सा कमेण्ट कर बैठता है। उदाहरण के लिए - श्रमिक संस्कृति और सिसृक्षा-तोषनिबन्ध में संस्कृति के समर्थकों पर लेखक का कटाक्ष देखिए -

"अतः समाजवादी संस्कृति में अर्थव्यवस्था और समाज व्यवस्था पर श्रमिक का दखल हो जाने पर भी कला, साहित्य, दर्शन, चिन्तन के क्षेत्र में इस "वर्ग संस्कृति" से काम नहीं चलेगा। कालिदास, रवीन्द्रनाथ, निराला को तब भी स्वीकार करना होगा, मानसिक दरिद्रता और अशुभ वन्ध्यापन से त्राण पाने के लिए।"

●

किरात नदी में चन्द्र मधु

प्रो. काशीनाथ द्विवेदी
पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग
स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

मैं काव्य का श्रोता या पाठक हूँ । मैंने संस्कृत, हिन्दी , अंग्रेजी की इसी विधा का अधिक अनुशीलन किया है । ललित निबन्ध में मेरा अध्ययन हिन्दी एवं अंग्रेजी के कुछ क्लैसिक ललित निबन्धकारों तक सीमित है । ललित निबन्ध हिन्दी में नयी विधा है । हिन्दी में यह विद्या अंग्रेजी की देखा देखी ही आयी है। हिन्दी का गद्य मुश्किल से सौ वर्ष पुराना है अतः हिन्दी निबन्धों की भाषा उतनी स्थिर तथा बहुआयामी नहीं बन पायी है जितनी अंग्रेजी की है । ललित निवन्धों का प्रयोजन पाठक का मनोरंजन है किन्तु ललित कलाओं के उसी मनोरंजन को स्वीकृति प्राप्त है, जो रुचि के परिष्कार को निवेदित हैं ।

श्री राय प्रायः यह कहते रहे हैं कि उनका लक्ष्य पाठक के ज्ञान के क्षितिज को उदार करना है । निबन्धों को देखने से पाठक को तत्काल यह बोध हो जाता है कि लेखक का प्रयोजन उल्लिखित दो प्रयोजनों में किस पलड़े में भारी पड़ता है । यदि हम श्री राय के निबन्धों को शुद्ध ललित निबन्धों की कसौटी पर कसेंगें तथा अज्ञेय एवं हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों से उनकी तुलना में कुछ कहेंगें तो श्री राय के निबन्धों के साथ हम पूर्ण न्याय नहीं कर पायेंगें ।

श्री कुबेरनाथ राय ने अपने निबन्धों के माध्यम से पाठकों के वोध को बढ़ाने की चर्चा बारबार की है । अतः मैं इस दृष्टि से श्री राय के वैचारिक क्षितिज की ओर इशारा करूँगा । श्री राय का अध्ययन फलक विशाल है । वे मानविकी के विभिन्न स्त्रोतों से परिचित हैं । वे आधुनिक भाषा वैज्ञानिक अनुसन्धानों से परिचित हैं । पश्चिमी साहित्य विषयक उनका ज्ञान अज्ञेय को छोड़कर हिन्दी लेखकों की तुलना में अधिक है । प्राचीन साहित्य के विषय में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को छोड़कर उनका अध्ययन व्यापक एवं गम्भीर है । यूथिका संवाद, लौट जा उत्तरा फाल्गुनी, नीलकण्ठ उदास, जीवगृध्नका मेघदूत, नौ अक्षरों की विद्या, षोडशी के चरण कमल, क्षुरस्य धारा इत्यादि निबन्ध उनके गम्भीर अनुशीलन एवं चिन्तन के गभक हैं । बीच बीच में भाषावैज्ञानिक टिप्पणी कहीं समीचीन है तो कहीं विषयान्तर की ओर ले जाती है । भारत की सामाजिक संस्कृति एवं भारतीय प्रजातियों का उन्हें

विशद ज्ञान है । समाज विज्ञान की अवधारणाओं तथा उसकी खोजों से वे पूर्ण परिचित हैं ।

श्री राय ने अपने निबन्धों के माध्यम से यह बार बार वताया है कि आर्य, मंगोल, किरात, निषाद आदि प्रजातियों का किस प्रकार मिश्रण हुआ है तथा किस प्रकार उनकी शब्दावली अर्वाचीन आर्यों की भाषा में घुलती मिलती रही है । डा. राय नें तन्त्रागम का अच्छा अध्ययन किया है । शाक्त परम्परा में हिन्दू तथा वौद्ध आगमों के मिश्रण का संकेत उनके 'षोडशी के चरणकमल' तथा 'क्षुरस्य धारा' आदि निबन्धों में मिलता है । किरात-निषाद संस्कृति एवं उसके अवदान के साथ श्री राय वैदिक परम्परा एवं साधना से जुड़े हुए हैं । वे वेदों तथा अपने कथन की पुष्टि में उनके प्रामाण्य की चर्चा करते हैं । कवियों में विशेष रूप से उन्होंने कालिदास को गम्भीरता से पढ़ा है तथा उनके प्रकृति चित्रण सम्बन्धी पद्यों को सहृदय की भाँति आत्मसात् किया है । इस दृष्टि से उनका 'जीवगृध्र का मेघदूत' शीर्षक निबन्ध पठनीय है । प्रकृति निरीक्षण तथा ललित निबन्धों की ललित परम्परा के निर्वाह की दृष्टि से मैं इसे इस संग्रह का सर्वोत्तम निवन्ध मानता हूँ । यह निबन्ध इस दृष्टि से भी अद्वितीय है कि इसमें लेखक ने अन्वित को भंग नहीं किया है । यहां यह कहना असमीचीन नहीं होगा कि 'गैंडा और चन्द्रमधु' नीलकण्ठ दास 'नौ अक्षरों की विद्या' षोडशी के चरण कमल, कुछ ऐसे ही निबन्ध हैं जिनमें यह स्पष्ट झलकता है कि ये निबन्ध एक अन्विति नहीं बनाते । ये भिन्न बैठकों में लिखे गये हैं । ये पूर्ववर्ती बिन्दुओं को समेटते हुये भी एक अन्विति का बोध देने में चूक जाते हैं ।

श्री राय ने अपने निबन्धों में विषयवस्तु से सम्बद्ध उद्धरण भी दिये हैं । कभी कभी मेरी जैसी रुचि के पाठकों के लिए ये उल्लेख स्वतः स्फूर्त न होने से आरोपित जैसे लगते हैं । यहाँ डा. परमानन्द द्वारा समकालीन सोच के सम्पादकीय में जड़ी टिप्पणी समीचीन प्रतीत होती है । "डा. राय. ने विद्वत्ता को आत्मसात् नहीं किया है ।"श्री राय ने टी. एस. इलियट का विशेष अध्ययन किया है । अंग्रेजी साहित्य में मैं भी इलियट की गम्भीरता एवं क्लैसिक रुझान का कायल हूँ । मेरी समझ में परम्परा को व्यक्तित्व में समाहित करके अभिव्यक्त करने में वे अनूठे हैं । पाण्डित्य को आत्मसात् करने में श्री राय अपने अध्ययन के विशेष बिन्दु टी. एस. इलियट से बहुत पीछे हैं । श्री राय वैदिक विधिविधान तथा कर्मकाण्ड को बड़ी गम्भीरता से लेते हैं। अपने पिता की अन्त्येष्टि के सम्बन्ध में दो निबन्ध देते हैं जिन्हें मैं वैयक्तिक होते हुए भी पूर्ण रुप से निर्वैयक्तिक रंग में रंगा पाता हूँ । श्री राय के निधन के पश्चात् ये निबन्ध मुझे बार बार याद आते हैं । दोनों ही कसे हुए ललित निवन्ध हैं । इनमें विषयान्तर बिल्कुल नहीं है ।

श्री राय के जगद्विचार की दो फाँकें हैं । एक है आधुनिक शिक्षा में दीक्षित मन जो अवैज्ञानिक धार्मिक निष्पत्तियों में संगति बिठाना चाहता है तथा दूसरा तन्त्रों के रहस्य प्रतीकों से खेलने वाला एवं उन्हें स्वीकार करने वाला अतार्किक मन है। अतः मेरे जैसे पाठकों के लिये यह जानना कठिन हो जाता है कि श्री राय कहाँ स्थिर हैं । अपनी उपासना पद्धति का कहीं वे सहज तथा कहीं विनोद में उल्लेख करते हैं । उनके मित्रों नें उनके सम्मान में जुड़ी गोष्ठियों में इस की चर्चा भी की है किन्तु ऐसी स्फुट चार्चाओं ने मुझे किसी निश्चित निष्कर्ष पर नहीं पहुँचाया । वे वैष्णवागम के प्रति आग्रहशील थे । श्रीमद्भागवत उनके पाठक्रम में था । उनका मानना था कि भारत को एक सूत्र में पिरोने का काम मध्य युग में वैष्णव सन्तों ने किया । दक्षिणीपूर्व एशिया भी वैष्णवागम से उसी प्रकार जुड़ा जैसे वह बौद्धागम से जुड़ा । निबन्धगत संकेतो के आधार पर उनका उपासनापरक अभिनिवेश कर्मकाण्ड प्रधान है । मीमांसा को छोडकर सभी पद्धतियाँ आचारपरक हैं । बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, वेदान्त आदि कर्मकाण्डपरक नहीं हैं । श्री कुबेर नाथ राय के निवन्धों की पृष्ठभूमि वैचारिक, शिक्षणमूलक अथवा शिवेतरक्षतिमूलक है । इसलिये मैने विचार सम्पदा की दृष्टि से उनके निवन्धों के अनुशीलन की ओर इशारा किया है ।

विचार, भाषा कल्पना, निर्वैयक्तिता किसी भी साहित्य रचना के लिये आवश्यक घटक हैं, अन्तिम के विषय में कुछ निश्चित रुप से नहीं कहा जा सकता । निराला, भवभूति, मिल्टन, अज्ञेय आदि अपने व्यक्तिगत आग्रह एवं अभिनिवेश के लिये चर्चित हैं । यह बात ललित निबन्धकार कुबेरनाथ राय पर भी पूर्णरूप से लागू होती है । ललित निबन्ध तो अपेक्षाकृत नया नाम है । यदि इसमें पुराने नाम व्यक्ति व्यञ्जक निबन्ध को लें तो अत्यन्त स्पष्ट है कि इसमें व्यक्तित्व का उन्मीलित होते रहना दुर्गुण नहीं गुण की कोटि में है । श्री राय की कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिनसे पाठक उनके निबन्धों को अलग से पहचान लेता है । श्री कुवेरनाथ राय के निवन्ध समग्र भारतीय पहचान बनाते हैं । उनके निबन्ध उन्हे भारतीय समाज के व्याख्याता एवं पुरोधा के रूप में प्रस्तुत करते हैं । भारतीय जीवन पद्धति उनकी रचनाओं में रची बसी है । उनके निबन्ध उन्हें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, रवीन्द्रनाथ, सुब्रह्मण्यम् भारती की रचनाओं में निरूपित भारतीय संस्कृति का उद्‌गाता बनाते हैं।

साहित्य को रस की अलौकिक भूमिका में न रखकर उसकी मनोवैज्ञानिक भूमिका में देखा जा रहा है । वह अनजाने में छद्म रूप से साहित्य की सारी विधाओं में मिलता है । डा. राय के निबन्धों में भी विशेषकर ललित निबन्धों में वह मिलता है विशेषकर तब जब निबन्धकार अपनी रुचि के परिष्कृत एवं निसर्गोज्ज्वलभूमि में रहता है । किरात नदी में चन्द्रमधु संग्रह में दो तिहाई निबन्ध रसपेशल शय्या से

समलंकृत हैं । कामधेनु के विषय में भी यही तथ्य है । ऐसे रसार्द्रनिवन्धों में भी विचारों की भंगिमा यथावत है । 'तुम लालित्य के प्रति शत्रुता पालने के लिए कसम खा चुके हो तो मैं भी ××× संत्रास और तनाव से मुक्ति पाता हूँ । (जीवगृध्र का मेघदूत)'

श्री राय सूक्ष्म प्रकृतिनिरीक्षण वाले लेखक हैं । ऐसा केवल आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में ही मिलता है । प्रकृति प्रेम श्री राय में उसी श्रेणी का है जिस श्रेणी का हम छायावादी कवियों तथा उस युग के कुछ वरिष्ठ आलोचकों में पाते हैं । सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण को कहाँ स्थापित किया जाय, इस विषय में कोई विशद विवेचन नहीं है । संस्कारवश अथवा शास्त्रीय अभिनिवेश के कारण मैं इसे भाव की श्रेणी में पाता हूँ ।

श्री राय के जिन गुणों को मैं भूल नही पाता उनमें उनका प्रकृति प्रेम भी है । इस निबन्ध में कविता का दामन पकड़कर फिलोसोफाइजिंग भी चल रही है । प्रतिष्ठित कवियों एवं लेखकों की विशेषता है कि एक पृथक इकाई के रूप में सुन्दर न लगने वाला वाक्य भी महावाक्य की तरफ दौड़ता दिखाई पड़ता है । वह बेगढ़ पत्थर भी प्रसाद का अविभाज्य अङ्ग है । इसके अभाव में अवयवी का छिद्र साफ दिखाई पड़ता है । श्री राय के निवन्धों में ललित स्थलों की भरमार है किन्तु वे सुन्दर होते हुये भी अप्रतिम अवयवी का गठन नहीं करते । उनके निवन्धों में एक वाक्यता का वह आकर्षण नहीं जो हर अवयव को अपने साथ जोड़े हुये रहता है । मुझे वे सूत्र भी दिखायी देते हैं जो एक हारलता का निर्माण करते हैं । अज्ञेय तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्धों में हमें ऐसा दर्शन नहीं होता, विच्छिन्न होते हुये भी किसी अंतः सूत्र में पिरोये हुए हैं । डा. राय में कल्पना का वैभव है किन्तु वह कल्पना नहीं है जिसकी चर्चा कालरिज जर्मन शब्दावली का अनुवाद करते हुए एकान्वयी कल्पना अथवा यूनीफाइंग इमैजिनेशन के रूपमे करता है । शेक्सपियर, बर्नाडशा, कालिदास, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अनेक आधुनिक प्राचीन कवियों एवं लेखकों को वही शीर्ष पर प्रतिष्ठित करता है । श्री राय के उत्कृष्ट निबन्ध ऐसा रूप नहीं ले पाते जिसमें अवयवों पर ध्यान अवयवी के निष्पादन के वाद जाता है । वे अपने वास्तविक सौन्दर्य से हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं, कभी कभी विमोहित भी कर देते हैं किन्तु वे अपने को अवयवी के सौन्दर्य में समर्पित नहीं कर पाते । सरोजस्मृति, बादल राग प्रलय की छाया में, रचना की एक तानता नही टूटती है । वह अशोक के फूल एवं कुटज में नहीं टूटती, वह संस्कृति के शेषनाग में नहीं टूटी है, वह यस्यच्छाया अमृत यस्य मृत्युः में भी नहीं टूटी है तो वह गैंड़ा और चन्द्रमधु, षोडशी के चरण कमल यूथिका संवाद आदि में क्यों टूटे ? उदाहरण के तौर पर लें

। छाया एवं व्रात्य शब्दों की व्याख्या हमें पाथेय के रूप मे मिल जाती है । इसका अभाव हमें खटक सकता है किन्तु यूथिका की झोली में तो ये शव्द चुभे काँटे की तरह ही लगते हैं । विजनवन वल्लरी की व्याख्या यूथिका संवाद से जुड़ती अवश्य है किन्तु अन्तरङ्गिनी सखी की तरह नहीं प्रगल्भा की तरह जो अपनी तरफ खींचती रहती है । वह अलग से अपने अस्तित्व को जताने का हठ लिये है । एकान्वयी कल्पना की तलाश मैं गैंडा और चन्द्रमधु में बिलकुल नहीं करता किन्तु यूथिका संवाद, लौट जा उत्तरा फाल्गुनी, कार्तिककण्टी के गान जैसे, सुश्लिष्ट निबन्धों में करता हूँ जो अन्विति की दृष्टि से पूर्ण होते होते अपूर्ण बन जाते हैं । यदि ऐसा होता तो डा. कुबेरनाथ राय हिन्दी भाषा के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार वन जाते । श्री राय का अध्ययन यद्यपि अपने विशिष्ट विषयों में अज्ञेय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. विद्यानिवास मिश्र जैसा गहन नही है किन्तु विस्तार में उनसे बड़ा है ।

कल्पना की अभिव्यक्ति विम्बों से होती है । ये बिम्ब समान रूप से गद्य तथा पद्य दोनैं की सम्पदा हैं। लेखक जितना ही समर्थ होगा उसके बिम्व उतने ही उज्ज्वल एवं पारदर्शी होंगें । यह बात जितनी गद्य के लिये सटीक है उतनी ही पद्य के लिये भी । श्री राय के निबन्धों में मनोरम बिम्ब हैं । "सम्पूर्ण अन्तरिक्ष का ग्रास करते अञ्जनवर्णी तहीभूत मेध मध्यप्रदेश के व्योम में विहार करने वाले कामलोलुप मेघ गण, रामगिरि से अलका और गन्धमादन तक व्योम-वृन्दावन रचते चलते हैं । "(जीवे गृध्र का मेघदूत) "जैसे महाकाल के कण्ठ से लग्न ××× वैसे ही अपने को क्षयी काम और भय से मुक्त रख पाना ही मृत्यु को जीतना है " (जीर्ण वस्त्र और पापहरा नदी) "अखण्ड अविद्ध आन्तरिक निर्मलता और प्रसन्नता ही सदेह मोक्ष सुख है ।" (जीर्ण वस्त्र.) तो भी आम बौराते हैं, सरसोई टिकोरे बनते हैं, मछुआ भनभनाते हैं, कोयल तप्त दोपहरी में भी कूकती है और पलाशवन अरुण शिखा धारण कर लेता है ।" इत्यादि उज्जवल बिम्बों के बहुत से नमूने हैं । प्रायः लेखक जब अपने सर्जना के उत्कृष्ट क्षणों में होता है तब अनायास ऐसे बिम्बों के स्रोत फूटते रहते हैं । ये बिम्ब ललित निबन्ध को ललित बनाते हैं तथा बीच की बाँस की काँस को लाँघने में मददगार साबित होते हैं । ललित निबन्धों में ये बिम्ब यह सूचित करते हैं कि कुबेरनाथ राय को कविहृदय मिला है । कवित्व के अतिरिक्त रञ्जकता के दूसरे आयाम हैं जिनका दर्शन हिन्दी के कम निबन्धकारों में होता है । यद्यपि हिन्दी का गद्य मंजता जा रहा है किन्तु, चुस्त, मनोरम, सजग, सहज गद्य की विविधता एवं बहुलता लम्बे काल की देन होती है ।

किसी विधा में भाषा का अपना निजी स्थान है । सभी विधाओं में भाषा सम्बन्धी प्रयोग हुए हैं । काव्य की भाषा के मानकों का प्रभाव गद्य की भाषा पर भी

पड़ता रहा है । ऐसा हम संस्कृत एवं अंग्रेजी के गद्य एवं पद्य की भाषा के विषय में कह सकते हैं । वासवदत्ता तथा हरिषेण की प्रशस्ति संस्कृत भाषा के कृत्रिम गद्य के नमूने हैं जिनका प्रभाव नलचम्पू तक साफ दिखायी देता है । अलंकृत गद्य लिखकर भी संवेदना की ऊँचाई बनाये रखना बाण जैसे प्रतिभाशाली का ही कार्य था । वैसे प्रशस्ति की भाषा शैली में भी पद्यवाला भाग अधिक सुश्लिष्ट तथा सारगर्भित है । कृत्रिमता से सरलता की ओर तथा सरलता से परिष्कार की ओर भाषा का आते जाते रहना आवश्यकता एवं स्वभाव है । भाषा का उद्देश्य विचारों एवं भावों का सम्प्रेषण है । पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही विचारक यह स्वीकारते हैं कि किसी विचार या भाव के सम्प्रेषण की वही भाषा मानक है जिसमें किसी शव्द के परिवर्तन से कथ्य अन्यथा हो जाता है । श्रीराय के ललित निबन्धों पर विचार करने की दृष्टि से ही मैंने ऊपर का सन्दर्भ दिया है । श्री राय सहृदय हैं । सुमुख के खोजी है । उन्होंने रमणी के रमणीय सात पद्यों के दर्शन की बात गैंड़ा और चन्द्रमधु में लिखकर अपनी रसिकता पर मुहर लगाई है । वे विचारों की दुनियाँ में टहलते रहते हैं । किन्तु प्रायः उनका रसिक मन ही निबन्धों को रञ्जकता प्रदान करता है तथा उन्हें आस्वाद के योग्य बनाता है ।" यमुना पुलिन मल्लिका मनहर, शरदसुहाई यामिनी" प्रथम निबन्ध में श्री राय ने मोटिफ के रूप में प्रयोग किया है । इसकी आवृत्ति लोकगाथाओं में किसी खास गेय पद की आवृत्ति की तरह निरूपण को चमकदार बनाती है । श्री राय ने देशज शब्दों का अन्दाज से प्रयोग किया है । कुछ पूर्ववर्तियों ने प्रयुक्त कियें हैं तथा कुछ उनके नूतन प्रयोग हैं । आलिङ्गन में चाँप लेना, लेंहड़े, पचरा, तीरधनुक, फुटफाट, ऊधो-माधो, चुप्पा, नीलकण्ठ चुप्पा है, नीलकंठ मुँहचोर है, चुम्मा चाटी, भूर फूट गयी, ऐसे बहुत से आंचलिक शब्दों का प्रयोग भाषा को नवीनता प्रदान करता है । तत्सम शब्दों के बीच वे कहीं कहीं अपने विशेष मीनाकारी से भाषा को सजीव बनाते हैं । कहीं कहीं देशज शव्द शव्दावली के साथ सहज नहीं भी हैं किन्तु ऐसे शब्दों की संख्या उपेक्षणीय है ।

चन्द्रधर शर्मा के निबन्धों की भाषा भाष्यकार का अनुवर्तन करती है तो पं. राम चन्द्र शुक्ल की भाषा ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य का शैली के नमूने पर ढली कथ्य की अनुगामी है । सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के सर्वथा उपयुक्त है । अज्ञेय के ललित निबन्धों, यात्रा विवरणों की भाषा काव्यात्मक, सहज एवं चित्रमयी है । अज्ञेय की कविताओं से उनके संस्मरणों की भाषा मधुर मोहक लगती है । अज्ञेय ने अपनी रचनाओं के शीर्षक भी सांकेतिक एवं काव्यात्मक दिये हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की भाषा ललित निबन्धों, अनाम दास का पोथा, वाणभट्ट की आत्मकथा,

हिन्दी साहित्य की भूमिका आदि ग्रन्थों में साधु तत्सम पदावली युक्त एवं टकसाली है। आचार्य द्विवेदी गम्भीर विषय को हृदयङ्गम बनाने में सिद्धहस्त हैं। आधुनिकों में डा. शिव प्रसाद सिंह के पास सहज गम्भीर मौलिक चिन्तन परक भाषा है। डा. नामवर सिंह भाषा शिल्प की दृष्टि से हिन्दी भाषा का मानक बनाते हैं। श्री राय के निबन्धों की भाषा पर विचार करते हुए हिन्दी अंग्रेजी संस्कृत के अनेक गद्य लेखक मेरे दृष्टि पथ में रहे हैं। आचार्य द्विवेदी की तरह श्री कुबेरनाथ राय भी तत्त्वाभि निवेशी लेखक हैं। इस अभिनिवेश के कारण भाषा में गम्भीरता तथा साधुता का सरलता से समावेश हो गया है। ऐसे स्थलों पर भाषा सहजता से विषय का अनुवर्तन करती है, तथा पाठक को अपनी भंगिमा से आकृष्ट करती है। यहाँ चन्द्रमधु से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं। कामधेनु में भी ऐसे प्रचुर उदाहरण हैं।

उत्तर भारत XX XX खेलने लगता है। (यूथिका संवाद) पर यह ऐसी वेदना नहीं है जो पशु से भिन्न मनुष्यता की शिनाख्त कही जा सके। (नीलकंठ उदास) हमारे युग की वोध शक्ति XXX हीन हो चुकी है। (नीलकंठ दास) नीलकंठ दास में नीलकंठ, गंगातीर का पक्षी है, वह चुप्पा है वह मुँहचोर है, यह सब तो संकेतित अर्थ हैं। यह शीर्षक व्यञ्जना से यह भी कहता है कि नीलकंठ विषपायी भी है। संवेदनशील मन की सामयिक पीड़ा को युग की क्षुद्रता के सन्दर्भ में रेखांकित किया गया है। भाषा सहज, साधु एवं बिना किसी कृत्रिम विन्यास के है। ये कुछ उदाहरण मैंने भाषा एवं विचारों को सहज समायोजन की युक्तता को प्रस्तुत करने के सन्दर्भ में दिये हैं। विचारों की गरिमा, सामयिक चिन्तन तथा स्वानुभव युक्त कथन श्री राय की भाषा को उच्चतर आयाम देते हैं। ऐसा लेखक में बिना वाङ्मय तप के नहीं होता। श्री राय की भाषा स्वानुभाव या चिन्तन के क्षणों में, प्राकृतिक निरीक्षण के समय में कांव्यात्मक बिम्बों को उकेरने में साधुता, सहजता तथा मौलिकता लिये है किन्तु ज्यों ही इन सीढ़ियों से यह उतरती है उतनी सहज साधु संगत नहीं रह जाती। किसी भी लेखक के लिए एक ही स्तर पर बने रहना संभव नहीं है। किन्तु हर स्तर पर उसका शिल्प उसकी भाषा सम्पत्ति चुकनी नहीं चाहिए। उसे रञ्जकता तथा परिष्कार का बोध देते रहना चाहिए। वह बातचीत नहीं कर रहा है वह गद्य लिख रहा है। ललित निबन्धों के विषय में मैन्टेन के इस कथन को सहजता के सन्दर्भ में लेना चाहिए जिसमें उसने कहा है कि मैं अपने लेख में उसी प्रकार बोल रहा हूँ जैसे मैं गली में किसी आदमी से बातचीत कर रहा हूँ। यह कथन मात्र यह सूचित करने के लिए है कि वह अपने पाठक से सहज सम्बन्ध बनाना चाहता है। जैसे ही वह लिपिसंकेतों से अपनी बात सम्प्रेषित करने के दायरे में आता है, वह कला के क्षेत्र में आ जाता है। वह कला उसे जाने अनजाने अनेक

मांगें उसके सिर मढ़ेगी । उससे बचना उसके वश की बात नहीं है । विषयान्तर तथा एक सी ऊँचाई का न होना साहित्य के किसी भी विधा के लिये दोष है । ये दोष भी रचना में छिप जाते हैं, यदि ये प्रतिभाशाली लेखक के दोष होते हैं । यह दोष अनौचित्य की श्रेणी में आते हैं । काव्य, कथा, लघुकथा, निबन्ध, ललित निवन्ध क्या सभी विधायें वस्तु तथा निरूपण स्तर से बँधी हैं । सभी प्रतिभाशाली लेखक इस विषय में सजग होते हैं । विषयान्तर कालिदास में कम हैं, शेक्सपियर में अधिक हैं । शेक्सपियर का विषयान्तर भी दिखाई नहीं पड़ता क्योंकि वह उसकी प्र्ति‌भा से आच्छादित है । डा. नामवर सिंह, अज्ञेय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेखक विषयान्तर से मुक्त है । लेखक जिसमें समास नहीं होता उसमें इस दोष की संभ ना कम होती है। श्री राय के निबन्धों में विषयान्तर एवं समाप्तपुनरात्तता का दोप है । जीर्णवस्त्र और पापहरा नदी सदृश निबन्धों को छोडकर यह दोष श्री कुबेरनाथ राय के बड़े निबन्धों में है । गैडा और चन्द्रमधु, यूथिका संवाद, षोडशी के चरण कमल, नौ अक्षरों की विद्या इत्यादि निबन्धों को ध्यान से पढने पर यह परिलक्षित होता है । क्रोसे का कहना है कि सर्जना के क्षणों में सर्जक का अन्तर्दर्शन उतार पर होता है । रचनाकारों का अनुभव इसके विपरीत भी है । रचना के क्षणों में अन्तर्दर्शन होता चलता है तथा निरूप्य स्वयं निरूपण को रूपाकार देने लगता है । कुछ प्रतिभाशाली विचारक बोलते समय कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं जिन्हें उन्होनें कभी सोचा भी नहीं है । इस प्रकार लेखक एवं कवि भी निरूपण काल में कुछ बड़ी ऊँचाइयाँ चढ़ते चले जाते हैं । ऐसा सर्वदा नहीं होता तथा ऐसा हर लेखक के साथ नहीं होता । मेरा लक्ष्य यह दिखाने का है कि जहाँ अन्तर्दर्शन उतार पर हो वहाँ सर्जनात्मक कला की मनोरमता खर्णित नहीं होनी चाहिए । एक सी ऊँचाई बड़ी रचनाओं में सम्भव नहीं है, किन्तु कलात्मक परिणति तो सर्वत्र अपेक्षित है । गैड़ा और चन्द्र मधु, यूथिका संवाद, जीवगृध्र का मेघदूत, नौ अक्षरों की विद्या आदि निबन्धों में कलात्मक स्खलन देखा जाता है । अधिकांश बड़े निबन्धों में एक बिन्दु ऐसा आता है जिससे लगता है कि अन्विति की दृष्टि से निबन्ध समाप्ति की ओर है किन्तु लेखक सूत्र को आगे बढ़ा देता है । यूथिका संवाद में निराला की जुही की कली कविता की व्याख्या में मुझे समाप्त पुनरात्तता ही प्रतीत होती है । इतना अवश्य है कि यह भाग भी कलात्मक बन गया है । यहाँ उर्वशी तथा जुही की कली की तुलना तथा निर्णय दोनों उचित प्रतीत नहीं होते । उर्वशी तथा जुही की कली में द्वितीय का ही विषय से सम्बन्ध है । यह स्थान तुलना अनुचित भी है, जिसकी दुहाई श्री राय ने स्वयं दी है । इनके विपरीत मेरा ऐसा मानना है कि उर्वशी से उर्वशी (रवीन्दर नाथ ठाकुर तथा जुही की कली की तुलना में निष्पादन की दृष्टि से उत्कृष्ट रचनायें हैं । यह

निष्पादन सौन्दर्य दिनकर की उर्वशी में नहीं है । कुछ उत्कृष्ट पंक्तियाँ किसी काव्य को ऊँचा नहीं बनातीं अपितु गृहीत विद्या का पूर्ण निष्पादन उसे उत्कृष्ट कृति का स्वरूप प्रदान करता है । आलोचना में नम्बर देते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दोनों आलोच्य विषय तुल्यबल हैं या नहीं । यहां दोनों तुलति कवितायें चींटी एवं गयन्द तुला पर चढ़ी हैं । कभी कभी कुछ शाब्दिक सूचना देने के लिए श्री राय विषय को छोड़ देते हैं । शब्दों की निरुक्ति यदि वह प्रसंगात् है तो क्षम्य है किन्तु वह परम्परा सम्बन्ध से अनेक शब्दों तक फैल जाती है तो वह एकता का विघात करती है । ऐसे उदाहरण किरात नदी में चन्द्रमधु तथा कामधेनु इन दोनों निबन्ध संग्रहों में हैं ।

श्री राय अपने कथ्य के प्रति जितने सजग एवं गम्भीर हैं अपनी भाषा के प्रति उतने सचेत एवं गम्भीर नहीं हैं । जहाँ सहज निर्मल अभिव्यक्ति होती है तथा लेखक आविष्ट होता है वहाँ शब्द अपना अन्दाज स्वयं रखते हैं किन्तु जहाँ वह कुछ सायास लिखता है वहाँ सजगता अपेक्षित है विशेषतः जब वह कृत्रिमता का शिकार हो । श्री राय ने तत्सम शब्दों का प्रयोग कहीं कहीं असावधानी से किया है । उन्होंने यूथिका संवाद में गोपन शब्द का विशेषण की तरह कई बार प्रयोग किया है, मुझे यह प्रयोग अरुचिकर लगता है । यह प्रयोग सिद्ध लेखकोंमें मेरी समझ से अभी चला नहीं है । अभिसारलीला के लिए गोपन विशेषण लगाना असमीचीन है । यहाँ विशेषण अयुक्त है । विशेषण की सार्थकता मानें तो अभिसार शब्द अर्थहीन हो जाता है । अभिसार पारिभाषिक शब्द है, श्री राय काव्यरसिक हैं, इससे अपरिचित नहीं हैं । नीलकंठ दास में पाखी शब्द बहुत अच्छा नहीं लगता । भोजपुर अवध या व्रज में पंछी ही कवियों के बीच चलता है । 'जड़िमाअवश' का प्रयोग जडिमा विवश के लिए हुआ है । प्रयोग अर्थ को विलम्बित करता है । श्री राय ने लब्ध शब्द का प्रयोग बहुत अधिक किया है वह प्रसंगानुगण नहीं है । "शान्तविन्दुलब्ध कर लेती है !" "पशुपतिभाव को लब्ध नहीं कर सके । "पितरगण अपनी स्वधा को लब्धकर ।" इन स्थलों पर उपलब्ध का प्रयोग करने से प्रतीति कुछ सहज अवश्य हो जाती किन्तु प्राप्नोति तथा लभते इन दोनों क्रियाओं में कुछ अन्तर है भले ही वह अन्तर पर्यन्त में न हो । ऐसे एक नहीं अनेक लब्ध के प्रयोग हैं जो मेरी समझ में शिष्टजुष्ट नहीं हैं । पूरबी बयार का वजन पछुआ से बैठता था पश्चिमा से नहीं । अन्धारी वारी की जगह देशज प्रयोग अन्हारी वारी है, वही क्यों न हो ? श्रवण कुण्डल का प्रयोग एवं समाधान संस्कृतज्ञो नें किया है किन्तु ऐसे प्रयोग चिन्त्य हैं । श्री राय ने हाथ ताली शब्द का प्रयोग किया है । केवल ताली से भी काम चल सकता था । करतल तो ठीक है किन्तु ताली हाथ से ही बजती है अन्यथा ताल

ठोंकना पड़ेगा । "बृहत्तर अफसोस" "महान अफसोस" मुझे अरहर की टाटी गुजराती ताला जैसे लगते हैं । विशेष्य विशेषण दोनों ही दो छोर पर हैं । श्री राय लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं । सिद्ध लेखक हैं । कहीं उनका अनुकरण कर युवकों को लँगड़ाने की आदत न बन जाय इसलिये मैंने इधर पाठकों का ध्यान खींचा है । वाल बाँका करते हैं तथा रोआँ टेढ़ा करते हैं । श्री राय ने रोआँ बाँका कर दिया है । किसी हिन्दुस्तानी के प्रेमी को बहुत नागवार गुजरेगा । यूथिका संवाद में तेइसवीं पंक्तिसे प्रारम्भ होने वाला वाक्य इस बात का उदाहरण है कि श्री राय अपने निबन्धों को उस तरह नहीं मांजते जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल माँजा करते थे । "सौ खून माफ इनके लिए " ऐसे वाक्य संस्कृत की देखा देखी आये हैं किन्तु संस्कृत में भले चलते हों हिन्दी में उनके क्रम का अलग अलग अर्थ होता है । अन्तिम वाक्य संस्कृत की प्रकृति में अनुकूल है किन्तु जहाँ नाटकीयता का अभिनिवेश हो वहीं सौ खून माफ उनके लिये होगा "उनके लिये सौ खून माफ" । "उनके लिए खून माफ सौ। " "सौ खून माफ उनके लिए" शब्दों की अनुपूर्वी से अर्थ बदल जाता है । निबन्ध की भाषा में काव्य के लिये स्थान नहीं है अतः ऐसे प्रयोगों का परिहार होना चाहिए । जनवरी १९९७ में अमेरिका में ब्लैक इंग्लिश को अलग विषय बनाने के विरोध में आन्दोलन की चर्चा है । अमेरिका के लोग भी अंग्रेजी भाषा की साधुता के प्रति सावधान होते जा रहे हैं । हम हिन्दी को क्यों असावधानी से लिखें ? यहां मैनें स्थालीपुलाक न्याय से शब्द रचना की दृष्टि से श्री राय निबन्धों की ओर इशारा किया है । वे हिन्दी के सिद्ध लेखक हैं । वे हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ लेखक हैं । वे हिन्दी के बहुश्रुत लेखक हैं । हिन्दी भाषा को उनकी कृतियों पर गर्व है । जब मैनें कुछ गजनिमीलिकाओं की ओर इशारा किया है तब मेरा ध्यान उनकी आराध्य भाषा की ओर रहा है तथा उन सिद्ध भाषाशिल्पियों की ओर रहा है, हिन्दी जिनकी फलश्रुति है । मेरा मित्र अब अधिक कुछ लिखने के लिए नहीं हैं, किन्तु जितना लिखा है उतना हिन्दी साहित्य में जीते रहने के लिए पर्याप्त है ।

●

किरात नदी में चन्द्रमधु

डॉ० मान्धाता राय

'किरातनदी में चन्द्रमधु' प्रख्यात निबन्धकार श्री कुबेरनाथ राय के चौदह ललित निबन्धों का संग्रह है । दो खंडों में प्रस्तुत निबन्धों में खण्ड क में हैं-गैंडा और चन्द्रमधु, यूथिका संवाद, लौट जा उत्तरा फाल्गुनी, यस्यच्छाया अमृतं यस्य मृत्युः, जीर्णवस्त्र और पाप हरा नदी, जीव गृध्र का मेघदूत । खण्ड ख के निबन्धों में नौ अक्षरों की विद्या, षोडशी के चरणकमल, क्षुरस्य धारा दुर्गं पथः, विमत्त गयंद, कार्तिक फंटी के गान, केसर गाथा, भारतीय किरात शीर्षक निबन्ध हैं । श्री कुबेर नाथ राय की निबन्ध यात्रा का प्रारंभ १९६८ ई० में प्रकाशित प्रिया नीलकण्ठी से हुआ । वे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा के निबन्धकार माने जाते हैं। अपनी पांचवीं पुस्तक 'निषाद बांसुरी' में उन्होंने ललित निबन्ध की चिरपरिचित धारा को एक नया मोड़ दिया । उस पुस्तक में उन्होंने भारतीय संस्कृति में आर्येतर तत्वों के महत्व की ओर लेखनी घुमायी। उसी परंपरा में इस संग्रह के भी निबन्ध हैं। इन निबन्धों में किरात संस्कृति के रूपरंग के बिम्ब बुने गये हैं किन्तु लेखक का उद्देश्य किरात संस्कृति का क्रमबद्ध ब्यौरा प्रस्तुत करना न होकर उसकी नदी में झलकते हुए भाव और इसके चन्द्र बिम्बों की फुटकर झांकियां दिखाना है ।

लेखक ने इन निबन्धों में भारतीय संस्कृति के निर्माण में आर्येतर तत्वों के योगदान का उल्लेख किया है । अनेक शब्द और रीति-रिवाज जिन्हें हम आर्यों की देन मानते हैं वस्तुतः इन्हीं आर्येतर किरातों और निषादों से आये हैं । पुस्तक का दूसरा उद्देश्य किरात संस्कृति से पाठकों को परिचित कराना है । अपने उद्देश्य में लेखक सफल है । इस दृष्टि से प्रस्तुत कृति उनकी एक महत्त्वपूर्ण रचना है ।

श्री कुबेरनाथ राय ने इन निबन्धों में इतिहासबोध की नवीनतम दिशा नृतत्व शास्त्र को स्थापित किया है । लेखक के अनुसार ललित निबन्ध का मौलिक उद्देश्य पाठकों की मानसिक ऋद्धि अर्थात् उनके बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना है। मानसिक ऋद्धि के साथ ही निबन्ध की चरितार्थता है लेखक और पाठकों के बीच एक सहज आत्मीयता की स्थापना । इन दोनों का निर्वाह इस पुस्तक में हुआ है ।

लेखक की स्थापना है कि भारतीय संस्कृति में आर्य और आर्येतर ने एक दूसरे को रूपान्तरित करके भारतीयता की एक नयी सत्ता उत्पन्न की जो न विशुद्ध आर्य है न विशुद्ध आर्येतर । इसे ही इतिहासकारों ने महासमन्वय कहा है । भारतीय आर्य खूंखार साम्राज्यवादी आर्य से भिन्न और सौम्यतर है । यही बात भारतीय किरात के लिये भी है । भारतीय संस्कृति बाहर से आये आर्यों और यहाँ के निषाद, भील एवं किरातों का समन्वित रूप है ।

लोक संस्कृति पर आधारित इन निबन्धों के माध्यम से लेखक ने भारतवर्ष को नये सिरे से पहचानने की चेष्टा की है और उस चेष्टा का ललित रूपान्तर इन निबन्धों में हुआ है। निषाद बांसुरी और 'मनपवन की नौका' मूलतः भारतवर्ष की संस्कृति, भाषा और लोकजीवन में विद्यमान आस्ट्रिक यानी निषाद या मालय तत्त्वों से जुड़ी कृतियां हैं जबकि 'किरात नदी में चन्द्र मधु' पूर्वी भारत में जीवन्त रूप से वर्तमान किरात परंपराओं से जुड़ी है। असम में कामाख्या पूजा किरात परंपरा से उपजी है जिसका भारतीय आगम के माध्यम से आर्यीकरण किया गया है।

संस्कृति की इस रचनात्मक व्याख्या के सिलसिले में श्री राय ने 'निषाद बांसुरी' से जिस भावधारा का प्रवर्तन किया है उसकी एक महत्वपूर्ण कड़ी है 'किरात नदी में चन्द्र मधु'। इन निबन्धों के माध्यम से आर्येतर भारत का छिपा हुआ चेहरा उद्घाटित हुआ है। श्री राय ने असम प्रदेश की भगवती भूमि में रहकर किरात भारत को निकट से देखा है किन्तु उसके स्वतन्त्र रूप के स्थान पर उन्होंने इस पुस्तक में उसे भारतीय संस्कृति की महासमन्वय की परंपरा के सम्पर्क में रखकर ही उसकी अनेक छवियों का उद्घाटन किया है। 'गैंडा और चन्द्र मधु' शीर्षक निबन्ध से पुस्तक की विषयवस्तु का जो मूलस्वर प्रतिध्वनित होता है वह अंत तक गुम्फ प्रतिगुम्फ विकास करते हुए उस आदिम भारत की यात्रा को स्पष्टतः प्रतिष्ठित कर देता है जिसके पौराणिक प्रारूप गंधर्व, किन्नर और अप्सरा कथाओं में विद्यमान हैं और जो हमारे जनजीवन में लोकाचार और लोकधर्म में अनेक विश्वासों, व्रतों और रिचुअल्स में आज भी सजीव रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसकी विशेष झलक शाक्ताचार और देवीपूजा में मिलती है। इस दृष्टि से 'नौ अक्षरों की विद्या' और 'षोडशी के चरण कमल' निबन्ध महत्त्वपूर्ण हैं। इन निबन्धों को पढ़ते हुए लगता है कि लेखक की कलम पर देवी का आवेश उतर आया है।

पुस्तक की एक महत्वपूर्ण रचना है 'केसर गाथा'। विश्व के समस्त किरात जगत में यह एक मात्र वीरगाथा है। यह केवल तिब्बत के पास है। चीन जापान किसी के पास नहीं। वीरगाथा की यह परंपरा भारतीय किरातों द्वारा तिब्बत में विकसित की गयी है। इसका उल्लेख हिन्दी में पहली बार इस निबन्ध में हुआ है। यह वीरगाथा मूलतः लद्दाख (भारत) में जन्मी है। परन्तु अपने परिवर्तित रूप में मध्य एशिया से होती हुई पूर्वी योरोप हंगरी तक प्रतिष्ठित होती है। अरबों के पास प्रेमगाथा है वीरकाव्य नहीं। यूनानी, रोमन और भारतीय आर्य इन्हीं के पास वीरगाथा है। किरातों का संबंध आर्यों से होने पर उनमें यह वीरगाथा लिखी गयी। अंतिम निबन्ध 'भारतीय किरात' भी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें लेखक का प्रतिपादन है कि जिस प्रकार भारत में आकर आर्य ही नव्य आर्य हो गये और विश्व के अन्य आर्यों से भिन्न हो गये उसी प्रकार भारतीय किरात भी चीनी किरात से अपनी नव्य पर भिन्नतर भूमिका में स्थित है। और यह है भारतवर्ष की महा-समन्वय कारिणी प्रक्रिया का सुफल जिसका संकेत आधुनिक गांधीवादी नृतत्वशास्त्र में है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति हर दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

(आकाशवाणी वाराणसी से ८-४-१९८९ को प्रसारित)

●

भारतीय अस्मिता का मूल स्पर्श करती 'किरात नदी में चन्द्र-मधु'

सुरेन्द्र नाथ राय

आज की प्रासंगिकता

आज, विशिष्टताओं के अनुरक्षण के सन्दर्भ में, अस्मिता अथवा 'स्वदेशी' की अवधारणा एक बार पुनः उद्दीप्त हुई है । देश, धर्म, जाति, या किसी विशिष्टता को लेकर किसी न किसी स्तर पर आइडेन्टिटी को महत्व दिया जाने लगा है । परन्तु, अस्मिता-आइडेन्टिटी के नारों अथवा उसको लेकर जागृति का होना एक बात है और अपनी अस्मिता को समझने व उसे बचा पाने एवं विकसित करने की क्षमता दूसरी बात । अपनी अस्मिता की पहिचान कोई आसान बात नहीं, और अनर्गल गतिविधियों से उसकी अन्यथा समझ विकसित हो सकती है । 'स्वदेशी' के सम्बन्ध में गांधीजी का मन्तव्य था कि देश के वास्तविक विकास के साथ-साथ इस धारणा में व्यापकता आती जायेगी । संकुचित अर्थ में 'स्वदेशी' की धारणा से बचाने के लिए उनका तर्क था, कि क्या देशभक्त अपना ऐनक (चश्मा) उतार देंगे ? बात, केवल भारत की ही नहीं न्यूनाधिक समग्र मानव जाति की है : "मनुष्य अपनी असली अस्मिता से अजनबी बन चुका है" (पृ. 29) और "सभी अपनी-अपनी अस्मिता या आइडेन्टिटी को लेकर जरूरत से ज्यादा सावधान हैं ।" (पृ. 152) सांस्कृतिक क्षेत्र में जो 'अस्मिता' है, राजनीति एवं अर्थनीति में वह 'स्वदेशी' है ।

संस्कृति का ग्राफ और अस्मिताबोध की वास्तविकता

दरिद्र, कुंठित एवं अवदमित व्यक्ति या समाज का अस्मिता-बोध इतना गलत होता है कि वह बोध उसे कभी नहीं बचा सकता । इसलिए उसे सही करने की आवश्यकता पड़ती है । योगदर्शन में अस्मिता को क्लेश में परिगणित किया गया है । जीवनशैली के ह्रास के साथ-साथ समझ का ह्रास एवं समझ की गिरावट से अस्मिता का बोध क्रमशः अवास्तविक होता जाता है । अवसाद और खंडमनस्कता (स्किजोफ्रेनिया) मानस क्षेत्र में फैलने लगते हैं ।

संस्कृतियों के टकराव, टकराहट और टक्कर से पराजित अथवा कुंठित पक्ष अपने आपको पतन अथवा हीन मान्यता से बहुत तपस्या एवं त्याग के बाद ही उबार पाता है । भारत का मध्यकाल ऐसा ही रहा । "प्रक्रिया (समंजन) तो शुरू हो गयी थी, परन्तु हजार वर्ष का मध्यकाल बीच में व्यवधान डाल गया । वह 1947 ई. से पुनः चालू हो गयी है । यद्यपि इस बार इसका उद्देश्य आत्मसात्करण नहीं,

सर्वोदय है ।" (पृ. 134-5) किन्तु पथ दुर्गम है, क्योंकि "प्रत्येक निषेध एक अवदमन को जन्म देता है और प्रत्येक अवदमन या तो किसी विशिष्ट पंगुता की रचना करता है अथवा किसी विशेष प्रकार के उन्माद की ।" (पृ. 9)

रचनाधर्मिता : कोई खेल नहीं, महत्वाकांक्षा भी नहीं

आकर्षक हो, स्पर्धा झेल सके परन्तु सिखा सके और बना सके एक साथ कई रंग, और वह भी विरूप, ली हुई होती है रचना धर्मिता । अब इसमें वे कहाँ फिट हो सकते हैं जो कहीं से निगली और बिना जुगाली किये उगली सामग्री को परोसना जानते हैं ? कल्पनाप्रवण रचना के सम्बन्ध में मैं नहीं कह रहा, समालोचना पर कह रहा हूँ । मुझे तो राष्ट्रभाषा के क्षेत्र में इसकी स्थिति बड़ी दयनीय दिखती है । पश्चिम अथवा उत्तर की ओर देखने वाले, पता नहीं क्यों, यह नहीं देख पाते कि वहाँ वे जो कुछ कर रहे हैं अपनी ही मूलभित्ति-बुनियाद पर कर रहे हैं । यहाँ वे नहीं समझ पाते कि अपने हजारों वर्षों की परम्परा में खोजने पर भी कोई मानक, प्रविधि अथवा प्रारूप मिलेगा जिसका आधुनिक दृष्टि से, आज के संदर्भों में विकसित, परिवर्धित एवं समेकित रूप प्रस्तुत किया जा सके । यह है अपनी अस्मिता का अपरूपण जिसे उत्तर आधुनिकता, प्रगतिशीलता और एकेडेमिक स्कालरशिप जैसे शब्दों से मंडित किया जाता है । पश्चिम या उत्तर को कुछ देकर वहाँ से आयात की बात तो अच्छी होती ! वहाँ जिसने दिया, उसे आयात करना ही न पड़ा !!

रचनाधर्मिता का एक शील होता है । समालोचना का उद्देश्य प्रासंगिक दृष्टि से उस शील की, विश्लेषण के उपरान्त, सीमाएँ निरूपित करना होता है । रचनाकार उन्हें देखकर अपनी रचना नहीं करेगा । वे रचना की ग्राह्यता की दिशा और दशा प्रदर्शित करेंगी । रचनाकार उद्धत होना नहीं चाहता । कोई उत्प्रेरक वैसा करा देता है । आकर्षक बनने के लिए । "ओ मेरी उत्तराफाल्गुनी, मेरी सिसृक्षा, अब तुम शील के मध्य सुन्दर बनो" (पृ. 26)

रचना, शील एवं लालित्य का त्रिक

शील त्रिविभीय होता है । शील का शास्त्रीय बोध वह नहीं जो सामान्यतया समझा जाता है : 'मर्यादा' 'लज्जा' अथवा 'चरित्र' में से कोई भी शील का सटीक संज्ञान नहीं कराता । यह शब्द अत्यन्त प्राचीन, भारोपीय परिवार का है; जिसका सम्बन्ध उस मानसिक शक्ति से है जो पार्श्विक (लैटरल) अतिवादिताओं की माध्यिका होती है । मतलब, पैनापन-नुकीलापन उसमें भी होता है; बल्कि उनसे बढ़कर, परन्तु उसमें अद्वितीय मनोगतिकीय (सायकोडायनामिक) परिचालन या नियंत्रण की क्षमता होती है । शील एक घोर अनुभवगम्य तथ्य है । शीलवती रचना को 'घटिया' कहकर उड़ाया नहीं जा सकता एवं वास्तविक शील से वंचित रचना को कुछ भी कहकर जमाया नहीं जा सकता । परन्तु यह सत्य वचन नहीं है, सत्य को जानेवाली गुहा का परिचायक है । महत्ता ही करुणा से जुड़ सकती है और सभी

महान् नहीं हो जाते, तब तक तो यह सत्यवचन रहेगा ही । "मनुष्य दैनन्दिन समृद्धता के साथ-साथ कुटिलतर और जटिलतर होता ज़ा रहा है, उसकी अन्तर्निहित निष्कलंक निर्मलता का लोप होता जा रहा है; फलतः किसी गंभीरतर-बृहत्तर दुःखबोध की भावना आधुनिक साहित्य में नहीं ।" (पृ. 36) साहित्य से गंभीर बृहत्तर दुःखबोध का भाग जाना माने मनुष्य का, उसके स्वयं के प्रति निर्वासन का अन्तिम सम्पुट रखना । इसलिए इसे "दूर करने के लिए" सौन्दर्य-बोध और लालित्य के साथ-साथ शीलबोध और आचार की भी जरूरत है ।" (पृ. 29) और इसीलिए, आज ललित शैली लोकप्रिय होती जा रही है । यहाँ तक कि नेतृत्व के भाषण, पत्रकारिता एवं विज्ञापन तक में, अब यही खोजी जा रही है।

ललित-शैली शाब्दिक होती हुई भी शाब्दिकता से हटकर होती है । शाब्दिकता शब्दकोष एवं पारंपरिक प्रयोग तक सीमित रहती है जबकि ललित शैली वाङ्मय आवश्यकता के अनुरूप (नृतत्व, जैविकी आदि) शास्त्रीय अनुगूंज के साथ होती है। इस अनुगूंज के, विद्वत्ता के अतिरिक्त, तीन कारक होते हैं जो विद्वान को लालित्यकार बना सकते हैं :

(1) शक्ति-संतुलन (= सांस्कृतिक स्तर की वास्तविक ग्रहणक्षमता एवं दिशा के अनुरूप यथार्थ का समावेश

(2) परिणाम (= प्रायोजित एवं अभीष्ट परिणति)

(3) प्रतिकार (= सोद्देश्य प्रतिक्रिया हेतु प्रबन्धन)

उक्त तथ्य किसी विवेचक द्वारा प्रस्तुत नहीं, बल्कि भारत के हजारों, पश्चिम और उत्तर के सैकड़ों वर्षों के साहित्य के ऊपर बहस और निष्कर्षों पर मनन करके युगबोध की प्रतिनिधि शैली के सन्दर्भ में, संकेत रूप में प्रस्तुत किये गये हैं । उद्देश्य, अभिज्ञता-प्रदर्शन नहीं, 'सौन्दर्य बोध और लालित्य के साथ-साथ शीलबोध और आचार' का वस्तुपरक मापदण्ड प्रस्तुत करना है ।

पर्यटन एवं गर्भनालता-बोध

शिक्षा और संस्कृति के विकास में पर्यटन के महत्व से सभी अभिज्ञ हैं । सांस्कृतिक कारणों से यदि राजनीति और अर्थनीति में बाधा सृष्ट हुई है, तो वहाँ भी प्रायोजना या योजना बनाने से पूर्व पर्यटन-परिभ्रमण आवश्यक हो जाता है । भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन प्रारंभ करने से पूर्व गाँधी जी ने पूरे भारत का भ्रमण किया और अपना आंदोलन प्रारंभ करने और उसे सफलता तक पहुँचाने हेतु कारक तथ्यों का संज्ञान लिया । उन्हें केवल राजनीतिक उथल-पुथल या उलटफेर को नहीं, सांस्कृतिक आधारभूमि पर वास्तविक राजनीति को आगे बढ़ाना था । आदिमकाल से ही पर्यटन का महत्व किसी-न-किसी रूप में रहा है, पर गतिशीलता की त्वरा का संकल्प उसे और ठोस रूप देने को बाध्य कर देता है । अभी वही चल रहा है। आज कुल या व्यक्ति संभ्रान्त नहीं, सभ्यता संभ्रान्त है । संभ्रान्त का अर्थ 'श्रेष्ठ'

प्रचलित है; परन्तु यह लाक्षणिक अर्थ है, मूल नहीं। वह कुल या व्यक्ति जिसके लिए लोग जल्दीबाजी करें और जो लोगों के लिए जल्दीबाजी करे वह संभ्रांत कहलाता है। मूल अर्थ 'जल्दीबाजी' से संबन्धित है। आज बहुमंजिली इमारत का परिवार अपने पड़ोसी के लिए अज्ञात रहता है, यदि वह नव धनाढ्य है। पुराने धनाढ्यों के लिए 'संभ्रांत' शब्द उचित था क्योंकि एक परिधि तक उसके लिए लोग तत्पर रहते थे और वह उनके लिए तत्पर रहता था। व्यक्तिवादिता को दोष दिया जाता है पर यह कोई वाद-जैसी नहीं है। वर्धित त्वरा व्यक्ति को अदृश्य बनाने लगती है और उस समय अपनी दृश्यता प्रमाणित करने हेतु व्यक्ति के प्रयास व्यक्तिवाद के रूप में दिखते हैं। इसका कोई विकल्प नहीं, अतः वाद, यह, नहीं जिसे दोष दिया जाय।

त्वरा जड़ता के विरुद्ध तत्व होती है और सम्बन्ध को व्यापक बनाने या कम-से-कम उसे समझने के लिए आवश्यक है। यदि नृतत्वशास्त्रीय दृष्टिकोण साथ दे तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्बन्ध की व्यापकता की समझ ही वास्तविकता होती है, व्यापक बनाने की बात तो 'आदमी बनाने', मुहावरे, जैसी है। यह समझ जितने अंश में अनुसंधानों पर आधारित होती है, पक्की होती है और सांस्कृतिक विकास में अभेद्य कवच सिद्ध होती है। विडम्बना यह, कि राजनीति दुष्टग्रह की तरह व्यापकता और केन्द्रिकता दोनों ओर चलती है, यह उसका आवश्यक स्वभाव है, परन्तु शेष सभी क्षेत्रों के तत्व व्यापकता को प्रतिबद्ध होते हैं, क्षणिक रूप से उन्हें भले ही कहीं ठहर जाना पड़े। इसलिए शिक्षा, संस्कृति और अर्थनीति के लिए गर्भनालता-बोध, यह समझ कि मूलतः हम कहाँ से सम्बन्धित हैं, आवश्यक होता है। प्रथम दो का बोध प्रारंभिक स्तर (Prime प्राइम) पर और अर्थनीति का, अन्तिम (अल्टिमेट) स्तर पर अनिवार्य होता है। प्रासंगिक रचनात्मकता इधर मुँह करेगी ही। और, इस दिशा में विवेच्य ग्रन्थ बहुत-कुछ स्पष्ट करने हेतु पर्याप्त नहीं, तो कम भी नहीं कि खनिराशि को कोषराशि में परिवर्तित करने के लिए बहुत कुछ करने होते हैं और यहाँ जो कुछ है वह वहीं से या वैसे-ही-कहीं से प्राप्त है। साहित्यकार व्यापकता की प्रतिबद्धता से अलग नहीं रह सकता।

इत्यादि

श्री कुबेरनाथ राय के निबन्ध-संग्रह 'किरात नदी में चन्द्र-मधु' पर मैंने वैसा कुछ नहीं किया है, जैसा विवेचना में किया जाता है। मैंने **विवेच्य की वस्तु** की व्याख्या नहीं कर, **उसके प्रकल्प** को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है; क्योंकि ऐसा किया जाना शैक्षिक महत्व का है। मैंने चाहा है कि यों लगे, जैसे स्वयं निबन्धकार अपने मन्तव्य को स्पष्ट कर रहा है। मेरा यह कार्य ठीक चरित्र अभिनेता-अभिनेयता-सम्बन्ध जैसा है। यह तो ध्रुव सत्य है कि अभिनेता चरित्र हो नहीं सकता, पर वह वैसा लगे ही यह प्रयास उसका रहता ही है। उद्धृत एवं पृष्ठांकित अंश निबन्धकार के हैं।

●

पर्णमुकुट
ऋतुचक्र के मोहपाश से विजड़ित रचना

डा. माताप्रसाद त्रिपाठी
प्रोफेसर, प्राचीन इतिहास विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय

नए साहित्यकी सर्जनात्मक विधाओं में लोकप्रियता की कसौटी पर उपेक्षित किन्तु वर्चस्व के स्तर पर निरंतर जीवन्त विधा है निबन्धों की–जिसके इने गिने हस्ताक्षरों में श्री कुबेरनाथ राय प्रमुख हैं । श्री रायका नवीनतम निबन्ध संग्रह 'पर्ण मुकुट' सामने है और जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि यह उनकी प्रतिभा के दूसरे पर्व का मंगलाचरण है ।

'प्रिया नीलकंठी' कुबेरनाथ राय की ललित्य यात्रा की पहली महत्त्वपूर्ण कड़ी थी तो झरते पत्तों के पर्णमुकुट के रूप में नई कृति पूर्व परिणीता वधू सी नए आभरण सज्जा-नए अंदाज में बिल्कुल नव राग-पराग के साथ प्रस्तुत हुई है । अस्तु इसके तेवर रससिद्ध और विचार परिपक्वं तो होंगे ही । स्पष्ट है कि निबंधकार की विचारयात्रा का यह दूसरा पर्व पहले पर्व से विलग नहीं है बल्कि सच्चे अर्थों में पूरक हैं । प्रस्तुत संग्रह में कुल अठारह निबन्ध संकलित हैं जिनमें दो निबन्ध (मधु माधव पुनः पुनः तथा 'पुनः हेमंत की संध्या') स्पष्टतः 'प्रिया नीलकंठी' के दो निबंधों की याद दिलाते हैं । यह दीगर बात है कि हेमंत की करुणामयी उदास संध्या ने जिस अनुत्तरित प्रश्न को उठाया था उसका अर्थविस्तार अब इस नये संकलन में देखा जा सकता है । निबंधकार के वे क्षण जो मधु माधव के मधुक्षण थे मधु माधव पुनः पुनः की कसौटी पर वसन्त के बदलते नित नए प्रतिमान देखकर (वर्त्तमान) शताब्दी की हवा पीने पर अवश लगते हैं । यहाँ लोकसंपृक्त संवेदना लोक मर्यादा और उसकी परंपरा के भीतर मुखर हो उठी है जो ग्राम्यबोध की कसौटी पर अभिशाप ग्रस्त आम आदमी के बिखरे वसन्त को रेखांकित करती है । इसी तरह दो दशक पूर्व की हेमंत संध्या नए कलेवर में सीधी 'जीवन' से साक्षात्कार कराती है और आत्मविस्मृति की विकलता और निरंतर शुष्क होते रसबोध की बानगी दे जाती है । स्पष्ट है कि गँवारू जिन्दगी का दर्द और विस्मृतप्राय पारंपरिक छवि की विकलता के सही तर्क गाँवों में ही गूँजते हैं बस,भर आँख-कान बूझने की चेष्टा चाहिए । बल्कि बातें जो लोकतंत्र की कुंडली में लिपटे गाँववासियों की होती हैं वे ही वस्तुतः स्थित्याभास कराने में सक्षम हैं ।

ऋतुचक्र के उस मोह में (भी) आत्मसाक्षात्कार की चेतना है जो एक भिन्न (रसात्मक) शैली के भाषा-शिल्प के बूते पर निम्न मध्यम वर्ग की जिन्दगी का निबन्ध बन जाता है । इसकी मनोभूमि भले ही आंचलिक समझी जाय पर यही है समग्र भारतीयता की अस्मिता । श्री राय का लोकमानस उनके गाँव मतसा, उनके क्षेत्र गाजीपुर और उनकी कर्मभूमि असम तक की चारिका करते हुए सर्वथा वैयक्तिक शैली में प्रस्तुत करता है– जीवन बोध । साथ ही अधुनातन प्रवृत्तियों पर तर्कसम्मत आक्रोश व्यक्त करता हुआ; प्रगतिवाद, उद्योगपरस्ती एवं रईसरुचिबोध के खोखलेपन पर भरपूर और सार्थक व्यंग्य करता है ।

'निषाद-बाँसुरी' की धुन तो एक अरसे से गूँज ही रही थी कि अव पर्णमुकट के गायक और नायक सूर्य के प्रकाश (ब्याज) में निषादों की पुनः खबर ली गई है । इस संकलन के कई निबन्ध वैष्णवता की खोल के भीतर निषाद बाँसुरी की गाथा प्रत्यक्ष करते हैं, मसलन् 'आभीरिका' और ' सत्तूखोर आर्य' जैसे निबंध पूर्व प्रकाशित कृति (निषाद बाँसुरी) के परिशिष्ट जैसे या फिर रह गए अंश जैसे अव सामने आए हैं और इन सभी निबंधों में भारतीय अस्मिता के पुनराविष्कार की बात ललित शैली में बार-बार की गई है । श्री राय की प्रत्येक कृति इस बात की साक्षी है । उनका अन्तर्मन पौराणिक बनकर गुरु गंभीर प्रसंगों को पुनर्मूल्यांकित ही नहीं उसे आधुनिक लेखन चिन्तन में बड़ी ही बारीकी से शामिल भी करता है ।

लोक से सम्पृक्त किन्तु लोक में विस्मृतप्राय कितने ही 'मोटिफ' उसके भावप्रवण चिन्तन को ऊर्जा देते हैं । कहना न होगा कि पर्णमुकुट के निबन्धकार ने शुद्ध लोकायत परम्परा की सत्यान्वेषी भूमिका का निर्वाह करना चाहा है परन्तु अत्याधुनिकता की प्रतिबद्धता की कैद और कोरी भावुकता के दलदल–दोनों से वह मुक्त भी रहना चाहता है । वह वस्तुतः दोनों ही अतियों के बीच की भूमिका मनुष्य (सहज मानव) बनकर निभाना अधिक सार्थक समझता है और यहीं पर उसकी विचार दृष्टि स्पष्ट हो जाती है :–

"न तो मैं पुराणपंथी हूँ कि रूप रस की जात-पाँत पूछता चलूँ और कोई घी दे तो घोड़े की तरह नड़ जाऊँ, और न मैं आधुनिकता पंथी ही हूँ कि मीठी को हठपूर्वक कड़वी कहूँ तथा भावुकता और सौंदर्यबोध को गालियाँ देता फिरूँ । मैं तो सहज मनुष्य हूँ । अतः क्यों न इस दाता सूर्य के द्वारा वितरित रूप, रस और गंध का भोग करूँगा ।

अतिवाद पर प्रहार करते वे आगे कहते हैं :– "एक आधुनिक कलाकार का कथन है कि मानव मन को कुत्तों के मन जैसा उन्नत करना है । पर मैं वैसी मानसिक उन्नति नहीं चाहता क्योंकि कुत्ता मधु नहीं चाटता और मधुमास में उसे

बड़ी तकलीफ होती है । विविध सुगन्धों में इस आमिष-लुब्ध के शिकार की मांसगंध भटक जाती है या दब जाती है ।"

इन वक्तव्यों में 'रस आखेटक' उनका साथ नहीं छोड़ता–सही अर्थों में किसी भी संवेदनशील कवि (क्रान्तदर्शी) का भी । अब आप कहें कि किसी का भी क्यों ? तो इसका उत्तर हमारा ध्यान उस विडम्बना की ओर आकर्षित करता है जो नवलेखन से किसी न किसी प्रकार जुड़ गई है (विशेषकर उस तरुण वर्ग से जो क्रोध और जिद के कारण रचना को रचना कत्तई नहीं रहने देता !)– एक तरफ रूप, भाव, कला यानी रसपक्ष को निरन्तर कोसना और अन्दर ही अन्दर जीवन में रूप-रस-स्पर्श तो क्या भाव-सागर में निमग्न होने की आकांक्षा के लिए कुंठित होना तो दूसरी तरफ मिट्टी से जुड़ने की गर्जना करके या करते हुए हर किसी को घघोटना । इसे श्री राय "ए रिवाइवल ऑफ बार्बरिज्म" कहते हैं । क्या यह सच नहीं कि अक्सर घघोटते हुए ही लोग अपने अज्ञान या अल्पज्ञान को छिपाते हैं ? हालँकि घघोटने की प्रवृत्ति कभी कवच नहीं बन सकी ।

सचाई यह है कि मनुष्य (जिसे जन कहना अब फैशन-सा हो गया है) के दु:खदर्द को व्यक्त करने के निमित्त मनुष्यता का मखौल उड़ाना गैर-इंसानी हरकत है जिसका मुँहतोड़ जवाब श्री राय देते अवश्य हैं पर चूँकि वे एक निबन्धकार हैं–कवि कथाकार नहीं– अतः उनकी बात सम्प्रेषित नहीं हो पाती । दूसरा कारण, आलोचकों की नजर में, उनकी बाणभट्टीय भाषा शैली और उनके कथ्य का विषय भी हो सकता है । वे जब भी किसी नदी, पर्वत, निर्झर, पुष्कर, पंख-पखेरू, पेड़-पालौ, लतागुल्म, गिरि-गह्वर, धूप-ताप, आतप-हिमपात, पर्ण-पत्र, दिन-रात, प्रहर-क्षण, याकि लोक-वेद, जड़चेतन, यक्षकिन्नर-गंधर्व अर्थात् ऋतुचक्र और उसके अरों (स्पोक्स) का दृष्टि अभिषेक करने लगते हैं तो या तो वे समग्र के अस्तित्व का पुनराविष्कार करने को उद्यत हो जाते हैं अथवा अपनी ऋतुप्रिया के अंक का अंकगणित पढ़ने लगते हैं ।

जाहिर है कि उनका कैनवस विशाल है जो पुनः पुनः पुनर्रचना की माँग करता है । फिर तो इस अकल्पित कोलाज़ में किस विधि समेट लें वे पुरखों से लेकर विडम्ब मन के स्वच्छन्दजीवी हिप्पियों तक की गठरी ? उनकी गाँठ में कितनी ही 'साध' है जो उन्हें साध्य लगती ही है, गद्य के निकष पर वह असाध्य बन भी कैसे सकती है ।

'अपनी बात' की कसौटी पर उपर्युक्त संदर्भ एक संवाद की स्थिति उत्पन्न करते हैं और सिर्फ पर्णमुकुट ही नहीं उनकी अन्यकृतियाँ–प्रिया नीलकंठी, रसआखेटक, गंधमादन, विषादयोग, निषादं बाँसुरी–एक 'प्रबंध' का परिचय दे

जाती हैं । इनमें विषादयोग को अलग कर दें तो सभी संकलन ऋतुचक्र के मोहपाश से विजड़ित प्रतीत होते हैं । एक पाठक की हैसियत से कह सकता हूँ कि ऐसे गद्यकवि का मोहग्रस्त होना उन्हें उनके निश्छल बेबाक वक्तव्य से विरत करते हुए बाध्य करता है कि वे प्रासंगिकता पर वक्तव्य दें ।

श्री कुबेरनाथ राय के लेखन की 'अपनी बात' वस्तुतः ललित निवन्ध लेखन की प्रसंगिकता को ही लक्षित करती है–उन्होंने सार्वकालिक प्रासंगिकता के यथार्थ को वरेण्य माना है और सिर्फ कालबोध नहीं अपितु मूल्यवोध की कसौटी पर अपने निबंध लेखन को खरा पाया है । इस प्रसंग में उनके इस संग्रह के निबन्ध विशेषकर 'आभीरिका' और 'सत्तूखोर आर्य' उल्लेखनीय हैं । पुरातन दृष्टिवोध के साथ अधुनातन दृष्टिबोध के सामंजस्य की बानगी तथा मूल्यवत्ता के परिप्रेक्ष्य को रूपायित करता है उनका निबन्ध–'उतरो जय बन, उतरो रथ बन' । यहाँ भी वे दोनोंही स्थितियों की जड़ता तोड़ने का संकल्प दुहराने से नहीं चूकते । वर्ट्रेण्ड रसेल की उक्ति कि विश्व आज दो प्रकार के मनोभावों से पीड़ित है–क्रोध और जड़िमा–श्री राय एक तीसरा मनोभाव 'पाप-तृषा' (अमेरिकी कनफेशनल लिटरेचर की ओर इशारा करते हुए) बताते हैं और रसेल की उक्ति यूरोप के वामपंथी जगत् तथा दरिद्र एशिया के संदर्भ में ठीक मानते हुए क्रोध एवं जड़िमा की व्याख्या करते हैं– "यह जड़िमा मरण की इच्छा का ही रूपांतर है । यह अवस्था है उस जन-साधारण की जो समाजवादी देश में अमलातंत्र के अन्दर जाने के लिए वाध्य है । विश्व के वामपंथी इलाकों में या तो विक्षिप्त क्रोध है, नहीं तो मरणोपम सामूहिक जड़िमा । दूसरी ओर दक्षिणपंथी विश्व में व्यक्तिवादी संस्कृति अपने रुग्णतम रूप'पाप-तृषा' में प्रवेश कर चुकी है । दोनों स्थितियाँ साहस और जिजीविषा (जीने की उत्कट इच्छा) के विपरीत पड़ती हैं । वामपंथी मनुष्य को अस्वीकार करता है, उसे जड़ मशीन से ज्यादा नहीं मानता तो दक्षिणपंथ मनुष्यता को अस्वीकार करता है या उसको सड़क का भिखारी मानकर एक कौड़ी फेंक देता है ।'

वर्ट्रेण्ड रसेल द्वारा स्थापित दोनों मनोभावों के साथतीसरे मनोभाव (पाप-तृषा) की बात वस्तुतः कालबोध की बात है और इसी परिप्रेक्ष्य में वाम और दक्षिण पंथ की आधुनिक प्रवृत्ति को निरावृत करके एक विशेष प्रश्न विशेषतः बुद्धिजीवियों के सामने–आ खड़ा होता है । ऐसा नहीं है कि प्रासंगिक टिप्पणियाँ देखते ही हम यक-ब-यक कह उठें–'सचमुच! स्थिति तो ऐसी ही है ।' वस्तुतः बहुत स्पष्ट निर्भीक और प्रतिबद्ध होने के बावजूद हिंदी रचनाकार कहीं न कहीं द्विविधाग्रस्त स्थिति में दिखाई देता है और उसके 'स्वीकार' की नीयत साफ नहीं लगती । प्रतिबद्धता का प्रश्न जितने ही जोरों से उठाया जा रहा है यह द्विविधाग्रस्तता और भी बलवती

होती जाती है, ऐसे बहुतेरे कवि, कथाकार, लेखक, आलोचक हैं जो वामपंथी बल्कि मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का नारा लगाने से तो नहीं चूकते पर उनके अन्तर्मन में 'रचनाकार' का वह प्रश्न टिका ही रहता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि हम (रचनाकार भी) 'सांवादिकता का कैप्स्यूल' तो नहीं निगल रहे ? और तब रचना निश्चय ही क्षीण होने लगती है । दूसरी तरफ, राजनीतिक प्रतिबद्धता (न कि सही लेखन की प्रतिबद्धता) के नारे की अनुगूँज बढ़ने लगती है ।

किसी भी संवेदनशील रचनाधर्मी को यदि यह बात सत्य प्रतीत होती है तो दोनों ही प्रवृत्तियों के छद्म को तोड़कर एक तीसरे दृष्टिबोध का सहारा लेना क्या जरूरी नहीं ? साहित्य रचने वाली लेखकीय दृष्टि यानी रचनात्मक प्रतिबद्धता से जुड़ी यह तीसरी वस्तुतः छद्महीन वामदृष्टि है जो सही लेखन के बतौर कमोवेश प्रारंभ से रही है । अब कोई पर्णमुकुट के निबन्धकार के वक्तव्य यानी दक्षिण-वाम के बीच का मार्ग समझने की भूल कर बैठे तो गलत है ।

'पर्णमुकुट' के अनेक निबन्ध (लोकदर्शी बुद्धिजीवी और जिज्ञासु अध्येता–दोनों ही के लिए) प्रबन्ध सरीखे हैं । राय साहब के सभी संकलनों में ऐसे लघुप्रबन्ध जुड़े हैं । प्रस्तुत संकलन में घोड़े, घोड़े, अरुणवर्ण घोड़े, आभीरिका, मैं तालपत्र मैं भोजपत्र, दिवस सप्तक, सत्तूखोर आर्य, एक प्रति तीर्थङ्कर की कथा तथा 'सूर्य' पर दो निबन्ध (सूर्य और अति सूर्य तथा सूर्य कवि है : : सूर्य नायक है) – यानी अधिकांश निबन्ध कम प्रवन्ध लगते हैं । ऐसे प्रबन्ध मूलक विषयों का कैनवस बड़ा होता है, कालबोध की विस्तीर्ण परिधि के भीतर इस कैनवस को रँगने के लिए भला रंगों की क्या कमी ? दिक्कत सिर्फ इतनी अवश्य है कि निबन्ध के स्तर पर रंगों का चित्रमय कोलाज तो तैयार हो जाता है पर वैचारिक मूल्यवत्ता इसके भीतर छिप जाती है क्योंकि तब निबन्धकार बना जाता है शोधार्थी और इस तरह स्थान-स्थान पर कुछ शोधमूलक स्थापनाएँ जड़ देता है । परिणाम यह होता है कि निबन्धकार कभी अश्व जैसे पशु प्रतीक के सहारे साहस, संकल्प, वेग, कामना-प्राण-शक्ति और जिजीविषा के बदलते प्रतिमानों के अर्थ की तलाश करता है तो कभी तालपत्र भोजपत्र के व्याज से कलम-कागज की दास्तान का बयान करता है–यद्यपि, संदर्भों के कानन में बिखरे उसके विचारसूत्र उसकी वैचारिक इयत्ता का उद्‌बोधन भी करते हैं किन्तु अतीत के विवादग्रस्त विषयों के पुनर्विवेचन में स्थापना के स्तर पर स्खलन की आशंका बरकरार रहती ही है; उदाहरण के लिए यह मान लेना कि भाषावैज्ञानिक आधार पर 'गो' सुमेरियायी उत्पत्ति का शब्द है । यह बात 'आर्य' शब्द की 'एटीमोलॉजी' की तरह शंकास्पद है जो कि 'अर्' धातु से निष्पन्न होकर निश्चय ही उस आदिम गंध से सम्पृक्त है जो धरती यानी 'कृष्टि' यानी 'कल्चर' से

जुड़ा हुआ एक रचनात्मक शब्द है (और व्यवहार में एक अतिशय विवाद का शब्द है)। 'आर्य' की तरह ऋग्वेद में ऐसे तमाम शब्द मिल जायेंगे जो ' सृ', 'गम्' अथवा इण्'–धातुओं से निष्पन्न हैं और वे सरकने, चलने या आगे बढ़ने की अर्थवत्ता लिए उस आदिम संदेश का वहन करते हैं जिसने कर्ममूलक प्रवृत्ति–चरैवेति चरैवेतिका उद्घोष किया था। इसी परिप्रेक्ष्य में घोड़े (पशुप्रतीक) की तेजस्विता आधुनिक 'हॉर्स पावर' के भौतिक वैज्ञानिक मुहावरे तक पहुँचकर समाप्त नहीं हो जाती (बल्कि हो जाती है स्थिर)। पहले तो वह (अश्व) समझा जाता था वेग का प्रतीक,वेग जो निश्चय ही दुर्लक्ष्य होता है–रचनात्मक भाषा में वह था बाज। 'वाज' शक्ति स्फुरण के निमित्त महज घोड़े का ही अभिधान न था अपितु प्राणशक्ति के हेतु के रूप में था अन्न (प्राण) भी। (वाजिनीवती=अन्नवती के संदर्भ बहुतेरे हैं)। कहना न होगा कि वाज, वृष, सोम– जैसे वैदिक शब्द एक व्यापक अर्थगरिमा के शब्द हैं। श्री राय का निबंधकार ऐसे शब्दों की तलाश निरंतर करता रहा है।

किन्तु प्रतीकों-मिथकों के प्रयोग चूँकि नवलेखन की प्रत्येक विधा में सार्थक अभिव्यक्ति पाते रहे हैं अस्तु निबन्धों में विशेषकर वैकल्पिक मूल्यबोधी दिशा में वे झलकेंगे ही। यद्यपि वे स्वीकार करते हैं–"किसी प्रतीक का अर्थ आज इतना बलवान और स्थायी नहीं रहा कि उसे पकड़कर हम अपने को डूबने से बचाने का भरोसा पायें।" अश्व (जैसा) प्रतीक तब भी उन्हें वैदिक कविता में शक्ति और प्राण का प्रतीक लगता है और आज भी अपने अर्थ को कसकर पकड़े हुए है। किंतु यह अनुभूति निबन्धकार को उस शब्द (अश्व) की चिरन्तन प्रतीकात्मकता से न होकर मार्क्सवादी कवि पाब्लोनेरुदा की एक कविता पढ़कर हुई।

परन्तु शाश्वत चिन्तन के स्तर पर प्रत्येक क्षण को पूँजी मानने वाले रचनाकार का पर्णमुकुट कलकलनिनादिनी कालनदीके धीर नाविक का आत्मविश्वास है जो 'सहस्राक्षरा भारती' की अस्मिता का पारखी बन उतर पड़ा है लेकर अपना डोंगी उस महासागर में जहाँ की नियति ही है थपेड़े खाना, भयंकर फूत्कार करती लहरों से भिड़ना–औ.र लड़ते-लड़ते जमीन पर पाँव रखना। इस आतंक–इस जोखिम के बीच ही कह उठता है वह :–

"एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब मैं अकेलेपन का, ध्यान का, एकान्त का स्वाद ही भूल जाऊँगा, सूनी रातों में अकेले-अकेले आकाश को पढ़ने का स्वाद भूल जाऊँगा, प्रेमिका अथवा पुस्तक के साथ एकान्त रात काट देने का स्वाद भूल जाऊँगा, बच्चों और नारियों से बात करने का स्वाद भूल जाऊँगा, प्रेम-पत्र लिखने का स्वाद भूल जाऊंगा और रतिक्रिया का स्वाद भूल जाऊँगा। एक दिन ऐसा भी आ सकता है जब तप्त क्षमाहीन दिवस के हिंसा-द्वेष-भरे चक्षुओं से घायल मन पर

कहीं किसी छाया में बैठकर मरहम-पट्टी करने का, अथवा अन्धकार के एकांत में परस्पर गुत्थमगुत्थी करती अतृप्त लालसाओं को समवद्ध करके एक पैटर्न में व्यवस्थित करने का समय नहीं मिल पायेगा और सारा का सारा जीवन बवण्डर में चक्कर काटती सूखी दीन पत्ती की तरह यान्त्रिक सभ्यता के भयानक दक्षयज्ञ में, राजनीति के निरन्तर भूँकते कुत्तों के बीच ही काट देना पड़ेगा ।"

जाहिर है कि 'पर्णमुकुट' का 'रस-आखेटक', अब 'प्रिया नीलकंठी' की बाँह छोड़, 'गंधमादन' के दृष्टि अभिषेक की लालसा छोड़ , 'विषाद योग' और 'निषाद बाँसुरी' की करुणा से बाहर निकलकर, दिखाई देता है अतिशय क्षुब्ध-क्रुद्ध वर्तमान के यथास्थितिवाद से । तोड़ना चाहता है (शायद) इस दीवार को । पर, करे क्या, वह असि-पत्र-वन का निवासी जो है, उसका क्षत-विक्षत मन किस विधि पहचाने नरकवन की पश्चात्ताप-भाषा ?

प्रस्तुत विवेचन में निबंधकार के समग्र लेखन को शामिल करके कहा जा सकता है कि अनादि काल से चली आ रही कथा रूढ़ियों (मोटिफ) का अपना एक अलग संसार है जिसमें अन्तर्निहित विचार-स्रोत ढूँढ़ निकालना रहस्यलोक की यात्रा जैसा है । उसकी गाँठें तोड़कर खोलकर उसे प्रासंगिक अर्थ देना एक बहुज्ञ निबन्धकारके ही वश का है । यह एक प्रकार से रक्त की भाषा प्रकृति की खोज है जो नदी कछार-पहाड़ी जंगल ही नहीं, मैदानी क्षेत्रों के उन तमाम गाँवों-परिवारों, जनजातीय कबीलों के बीच बिखरी है (बहुत कुछ हमारे आपके बीच भी) जिनकी खोज खबर रचनात्मक स्तर पर की भी जाती है तो सुदूर नगरों में बैठकर–भाषायी मुहावरों के जाल में । कुबेरनाथ राय की भाषा भी यद्यपि उन (सही अर्थों में) आम आदमियों तक नहीं संप्रेषित हो सकती पर इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने अपने गाँव घरके इलाके में या जिज्ञासानुरूप अन्य अंचलों में जा जाकर (डोम तक की) स्थिति का आकलन किया है और अपनी सायास जानकारी से उनके इतिवृत्त की झलक निष्ठापूर्वक संकलित की है । क्या चमार, क्या तेली तमोली–और क्या लुहार, सुनार, धरिकार, केवट, बुनकर, अहीर, माली, धोबी···इत्यादि से लेकर रात्रिचर (चोरों) तक की स्थिति का जायजा ईमानदारी से किया है । अन्य निबन्धकार अक्सर इतने प्रैक्टिकल नहीं हो पाते । वे अपने धुँधले बचपन (जो गाँव में बीता हो) और अपने ज्ञानकोश का सहारा लेकर ही चीजों की पहचान करते हैं । आम आदमी की जिन्दगी को लेकर मुहावरों की भाषा में बातें तो सचमुच बड़ी-बड़ी हो रही हैं पर तमाम रचनाकारों के अन्तर्मन में व्यावहारिक स्तर पर उस विशाल जन समुदाय के प्रति कहीं न कहीं वितृष्णा है । इस पर ऐसा काफी कुछ लिखा जा सकता है जो कम से कम महानगरों के कथित क्रान्तिकारी किन्तु अरिस्टोक्रैट

रचनाकारों की पोल खोल दे । यह किसी के सम्मुख दर्पण रख देने जैसी बात होगी । 'पर्णमुकुट' धारण करने की बात इस परिप्रेक्ष्य में अधिक सही और सार्थक है ।

अन्त में यह कहना भी प्रासंगिक लगता है कि अपनी सारी वैचारिक स्पष्टता के बावजूद श्री राय शब्दों के 'मणि माणिक्य हीरे जवाहरात' का लोभ संवरण नहीं कर पाते । भले ही वे अपनी रचनाओं को घासपात, फूल, पत्तों का मुकुट कहें । यह पर्ण-मुकुट वस्तुतः तब जनग्राह्य हो सकेगा जब वे इन्हें हृदयंगम करें । आश्चर्य इस बात का है कि श्री राय के पास बोलियों का अक्षयकोष है पर उन्हें उनके अनुरूप वे भाषा क्यों नहीं देते—बस यहीं पं० विद्यानिवास मिश्र बाजी मार ले जाते हैं और आचार्य द्विवेदी निबंध-निरपेक्षों को भी आनंदित कर जाते हैं । श्री राय के सभी संकलनों की भाषा एक प्रकार की है जो सुविज्ञ पाठकों (काफी पढ़े लिखे) पाठकों को ही रास आती है । वैसे भाषायी जटिलता के बावजूद मैं उसे कृत्रिम न कहकर रसात्मक भाषा कहना अधिक पसन्द करूँगा हालांकि नवलेखन में यह कहना भी खतरे से खाली नहीं है क्योंकि तब हम फिर आ जायेंगे उसी आलोक में जहाँ श्री राय की शब्दावली में 'नव विद्रोह तरुण' रचनाकार प्रतिबद्धता के खास दबाव के कारण इसे कत्तई नहीं पसंद करेंगे ।

"जिस 'प्रासंगिकता' की चर्चा आरंभ में की गई है वह सांवादिकता और साहित्य के बीच की विभाजक रेखा को समाप्त करती है ।" श्री राय यह मानते हुए ही रचनाधर्म से जुड़े हैं, अस्तु स्वाभाविक है कि उन्हें ऐसी खास प्रतिबद्ध प्रासंगिकता में यथार्थाभास नहीं होता । मेरा ख्याल है कि पर्णमुकुट के निबन्ध, इस वैचारिक पृष्ठभूमि में, अधिक जानदार होते यदि उनकी भाषा सहज ग्राह्य होती—तब वे संदर्भ जो अतीत में हमसे छूट गए हैं, हमें अधिक जोड़ सकते ।

(दस्तावेज-गोरखपुर अंक २ जनवरी-१९७९ से)

●

त्रेताका बृहत्साम

डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित

'महाकविकी तर्जनी' के वाद और भविष्य में प्रकाश्य 'रामकथा : बीज और विस्तार' के पूर्व रामकथाकी व्याख्या-विवेचना करनेवाली श्री कुबेरनाथ रायकी यह दूसरी पुस्तक है। 'व्याख्या-विवेचना' से पाठक को यह भ्रम नहीं होना चाहिये कि इस पुस्तक में वाल्मीकिकृत अथवा किसी अन्य रामकथा-काव्यका अर्थनिरूपक तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसके सर्वथा विपरीत और श्री रायकी साहित्याभिरुचिके अनुकूल यह पुस्तक भारतीय हिन्दू संस्कृतिके आलोकमें रामकथा का गहन तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत करती और उसे नया अर्थ, नयी गरिमा प्रदान करती है। स्वाभाविक है कि रामकथा का यह अनुशीलन श्री राय जैसे सजग रचनाकार की लेखनी का स्पर्श पाकर अतीत का कीर्तन मात्र नहीं रह जाता, बल्कि समकालीन परिदृश्यमें अपनी उपयोगिता, संदर्भमयता अथवा प्रासंगिकता को सिद्ध करता हुआ आगे बढ़ता और पूर्णता प्राप्त करता है। श्री राय प्रसंगतः आधुनिक चिन्तनकी पश्चिमी अवधारणाओं, उनके भारतीय मानस और साहित्य पर पड़े प्रभाव तथा समकालीन राजनीतिक चिन्तन और व्यवहारकी सीमाओं का उद्घाटन करते हुए रामकथा के संदर्भित अंशोंसे ऐसे बिंदुओं को रेखांकित करते हैं कि पुरातन कथा आधुनिक संदर्भमें सार्थवती और महिमावती बनकर उपस्थित होती है। गहनता, गंभीरता और ललित्य का स्वभावसिद्ध मेल श्री राय के अन्य ग्रंथों की तरह ही इस ग्रंथ को भी उदात्तता प्रदान करता है। साथ ही यह अपने पाठक से पूर्ण अवधानता की मांग करता है। बल्कि कहना ठीक होगा कि चिन्तनशील पाठक, संपूर्ण अवधानता के बावजूद, इस ग्रंथ को एकाधिक बार पढ़ना चाहेगा।

'त्रेता युगमें सौर देवता विष्णुके अवतार राम की कविता-कथा' अथवा 'त्रेता युगकी प्राण-सत्ता (अस्तित्वसत्ता) की सीमांत रेखा या चरमबिंदु रूप दिव्य रामकथा' के अर्थ में पुस्तकका नामकरण अजीब-सा भले ही लगे, अर्थगर्भ अवश्य है।

स्वयं लेखक के शब्दों में "रामकथा में जिन गुणों को प्राधान्य दिया गया है, वे 'सौर' प्रकृतिवाले हैं, इसी सूक्ष्म अर्थ में रामायण एक सूर्यगाथा है, एक सौर महाकाव्य है और इसकी अंतर्भूमियोंमें सूर्य या सविताकी उपासनाके तत्त्व प्रतिष्ठित

हैं । वर्तमान पुस्तक इन्हीं रहस्यों का उद्‌घाटन करती है ।" सूर्य-प्रतीकों और सूर्योपासना के तत्त्वों का विवेचन करने का "एकमात्र उद्देश्य है रामत्व के उस सौंदर्य का उद्‌घाटन जो तप, संकल्प, पुरुषार्थ, त्याग, ज्ञान और तेजसे जुड़ा है । पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर राम के इस तेजस्वी शील और सौंदर्य का उद्‌घाटन करनेकी चेष्टा है ।" लालित्यकी भूमिपर रची गयी इस पुस्तक की यही विशेषता है कि अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हुए यद्यपि कहीं इसका कोई निबंध प्रबंधकी सीमा में अतिक्रमण कर गया है और कोई शोधपरक बन गया है या दार्शनिक हो गया है, तथापि संस्कारशील पाठक की सुरुचि बनाये रखता है, इतनी कि पुस्तक को छोड़ने का मन नहीं होता । लेकिन ऐसा नहीं है कि लेखक निबंधों की इस सीमा से अपरिचित हो । वस्तुतः यह तो उसका अपना ही कथन है कि अन्तिम निबन्ध 'काव्यबीजं सनातनम्' ललित निबंध नहीं, प्रबन्ध है और 'लोकदेवता हनुमान' की प्रकृति शोधपरक हो गयी है । सामान्यतः भी पुस्तकका स्वर और उसकी प्रकृति इतनी 'गुरुगंभीर' है कि यदि स्वयं श्री राय इस बात से आशंकित हैं कि 'साधारण पाठक इसमें कितनी रुचि लेगा, यह कहना कठिन है' तो कुछ आश्चर्यजनक नहीं हैं । हमारी समझ से सामान्य पाठकों की पहुँच तो श्री राय के पूर्व लेखन तक भी कभी नहीं रही; गंभीरता उनके निबंधोंका स्वभाव ही है । अतएव इस पुस्तक में साधारण पाठक यदि रुचि नहीं ले पाता है तो इससे विचलित होनेका कोई कारण हम नहीं समझते, न इससे पुस्तक की गरिमा पर आंच आती हुई मानते हैं । उल्टे हमारा विश्वास है कि प्रबुद्ध पाठकोंमें रुचि जगाने, उन्हें प्रभावित करने और उनकी संख्या में वृद्धि करने में इस पुस्तक की महत्त्वपूर्ण भूमिका सिद्ध होगी, और यह किसी भी प्रकार कम गौरव की बात नहीं है । हिंदी में रामकथापर लिखित पुस्तकों में इसकी निजी महिमा है । रामकथा की नवीन व्याख्या, संस्कृति के अपरिचित अथवा अल्प-परिचित सन्दर्भों का समाकलन और ललित शैली–तीनों दृष्टियों से पुस्तक बौद्धिक और संवेदनात्मक स्तरपर सहज सन्तोष देती है ।

निराशा के क्षणों में 'जिजीविषा, करुणा और अभय' प्रदान करनेवाली साहस और उत्कट आशामयी इस रामकथा को श्री राय यद्यपि 'भगवान् का आदेश' मानकर इसके लेखन में प्रवृत्त हुए हैं, तथापि परलोकवाद या मोक्ष-चिंतन उनका लक्ष्य नहीं है ।

श्री राय ने रामायण को सूर्यकाव्य मानकर जिस सूक्ष्मता और गहनता से इसकी अन्तर्भूमि में प्रतिष्ठित सूर्य या सविता की शक्ति 'सावित्री' के चारों रूपोंको अहिल्या, सीता, अनसूया तथा त्रिजटा के माध्यम से स्पष्ट किया और देखा है तथा उपनिषदों और महाकाव्यों के साक्ष्य पर महासवितृ 'नारायण' की अन्तर्निहित सत्ता

को व्याख्यायित किया है, वह अब तक की व्याख्याओं में बेजोड़ है और पाठकसे अतिरिक्त ध्यानपूर्वक अध्ययन की माँग करती है । श्री राय की ललित भाषा इस विषय में पाठक की सहायता करती है और संस्कारशील पाठक की रुचि को अखण्ड ही नहीं बनाये रहती, उसे संवर्द्धित भी करती है ।

राम-कथा के प्रतीकार्थों को खोलने और इसके अन्तर्निहित रहस्य का दर्शन कराने के साथ-साथ लेखक अनेक ऐसे प्रश्नों का भी निपटारा करता चलता है जो साहित्यिक कृति के रूप में रामायण के रचना-शिल्प और उसकी वस्तु-संगठना से जुड़े हैं । रामायण का काव्यरूप, उसका रस, जीवन-दृष्टि और शील-स्तर, दार्शनिक पीठिका और ट्रेजडी से उसकी भिन्नता आदि ऐसे अनेक प्रश्न हैं जो पूर्व और पश्चिम की दृष्टि से विवाद का विषय बन जाते या बनाये जा सकते हैं । श्री राय इन प्रश्नों का समाधान खोजते हैं; सप्रमाण विचार करते हैं और तब अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं, परन्तु प्राध्यापकीय शैली में नहीं; अपनी मूल भूमिका का कहीं भी त्याग न करते हुए, ललित-गंभीर शैली में और चिन्तन की मौलिकता तथा रचनात्मक स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए । इस सबके बीच वे दर्शन, तंत्र, मनोविज्ञान, धर्म, शील, आस्तिकता-नास्तिकता, धर्म-निरपेक्षता, राजनीति और सैद्धान्तिक पक्षधरता आदि अनेक विषयों और क्षेत्रों से टकराते-गुजरते हुए आगे बढ़ते हैं और सम-सामयिक परिवेश में रामकथा की सार्थकता को सिद्ध करते हैं । वाम हो या दक्षिण, आत्मिक महिमासे हीन यह वैज्ञानिक-औद्योगिक संस्कृति के प्रति गहरा असन्तोष व्यक्त करते हुए श्री राय उसे एक साथ ईश्वर और मनुष्यत्व से विरहित महामूढ़ कर्मयोग की संस्कृति मानते हैं और महाकाव्य के अवतरण में सर्वथा अक्षम मानते हैं । वे यत्र-तत्र आज की पद-लोलुप, स्वार्थपरक राजनीति, आस्थाहीन बुद्धिवाद और मनुष्य के प्रति सीमित दृष्टि पर प्रहार करते चलते हैं । लेकिन उनकी मुद्रा चिन्तनपरक और तार्किक है, नकारात्मक आक्रोशकी नहीं ।

वस्तुतः जिस मनोयोग और तल्लीनता से पुस्तक लिखी गयी है और ज्ञान की जिस व्यापक भूमि को घेरती है, उसके पाठक के लिए वह एक चुनौती भी है और गहरे डूबने का सुख और परितोषदायिनी भी है, समानधर्माओं के लिए आह्लादक भी है और अपनी अमूल्यता में संग्राह्य भी; ताकि बार-बार पढ़ी और अधिकाधिक गुनी जा सके ।

•

त्रेता का बृहत्साम

डा. गोविन्द रजनीश

कुबेरनाथ राय मूलतः ललित निबंधकार हैं, किन्तु उनका चिंतक व्यक्तित्व उनके ललित निबंधों, 'विषाद योग' और 'महाकवि की तर्जनी' जैसी रचनाओं और विशेषकर इस रचना में व्यक्त हुआ है।

दृष्टि-क्रम में यह रचना ललित है किन्तु चिंतन-प्रधान होने से ललित-चिन्तन-गाथा है। रचना में लेखक का उद्देश्य राम के उस सौंदर्य का उद्घाटन रहा है जो तप, संकल्प, पुरुषार्थ, त्याग, ज्ञान और तेज से जुड़ा है।

मिथकों में छिपी सच्चाई का उद्घाटन आज की अपरिहार्य आवश्यकता है। इसी आवश्यकता का अनुभव कर कुबेरनाथ राय ने रामकथा में अन्तर्निहित सत्यों की तह में जाने का प्रयास किया है। इस सत्य की खोज में उन्हें नये सूत्र मिले हैं, जिनसे 'रामायण' की नयी अर्थ छवियों का अनूठा संसार खुलने लगता है। संकलित ललित निबंधों में लेखक की प्रमुख मान्यताएं हैं–

1. 'रामायण' सूर्यगाथा है। सौर-महाकाव्य है। इसके केन्द्र में वैदिक कविता तत्त्व है। इस दृष्टि से रामकथा आदित्य अर्थात् विष्णु अर्थात् राम की महागाथा या बृहत्साम का त्रेतायुगीन बिम्ब है।

लेखक ने अपनी मान्यता के लिए तर्क और साक्ष्य जुटाये हैं। वह यह भी मानता है–" 'रामायण' और 'महाभारत' विकसनशील महाकाव्य रहे हैं", जिनमें बहुत कुछ जुड़ता और घटता रहा है।

वाल्मीकि से पूर्व रामकथा का अपना लोक-विश्रुत मौखिक रूप रहा था। वेदों में विष्णु को बारह आदित्यों में से एक माना गया है। राम उस विष्णु के अवतार या देहधारी हैं। इस दृष्टि से राम के मिथ में पूरा वैदिक काल के आदित्य का रूप आरोपित हुआ हो, इसकी पूरी सम्भावना है क्योंकि मेलिनोव्स्की तथा अन्य विद्वानों ने ग्रीक एवं मिश्र की पुराकथाओं की जांच-पड़ाल करने पर पाया कि उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध सौर परिवार से रहा है।

राम भी सूर्यवंशी हैं। उनके कुलदेवता भी सूर्य हैं।

वस्तुतः मिथक में व्याख्यात्मकता और धार्मिकता जुड़ी हुई होती है। प्राकृतिक घटनाक्रम पर आधारित मिथक विशिष्ट उपासना-संस्कारों और अनुष्ठानों से जुड़े

होते हैं । रामकथा में अनुष्ठान-पक्ष के साथ-साथ बहुत-सी प्रजातीय स्मृतियां भी कम होती गईं अथवा वे रूपान्तरित होती गई हैं ।

'रामायण' न तो सूर्य-गाथा का पूरी तरह रूपक है और न प्रतीक-कथा । लौकिक परम्परा में मौखिक रामकथा का रूप भले ही दूसरा रहा हो लेकिन ईसापूर्व 200 से लेकर ईसा की दूसरी शती तक नूतन वाल्मीकि ने जब रामकथा को अनुष्टुप् छन्द में बांधा, तो कथा मिथ और लीजेंड का मिला-जुला रूप बन गई । उन्होंने इतिहास को काव्यदृष्टि से देखा । यों लेखक ने अपनी इस रचना में स्वीकार भी किया है–"रामायण में वैदिक ब्राह्मण अनुश्रुतियों और लोक-परम्पराओं का मेल कुछ इस प्रकार घटित हुआ है कि कथा में लोक रस दृष्टि प्रमुख हो उठी और मूल वैदिक रूप और इसके अर्थ-प्रतीक लुप्त हो गये ।"

2. लेखक इस बात पर विश्वास करता है कि वाल्मीकि नामक कवियों की एक परम्परा रही है । उसके शब्दों में–"वाल्मीकि बड़े जागरूक कवि थे । विशेषतः वह अंतिम वाल्मीकि जिसका कथा-सम्पादन हमारे सामने वर्तमान रामायण के रूप में है ।" (पृ. 110) आश्चर्य तब होता है 'जब कठिन भूमि कोमल पग' निबंध में लेखक राम और भार्गव प्राचेतस वाल्मीकि की भेंट चित्रकूट में कराता है ।

3. लेखक के अनुसार रामकथा का स्थायी भाव जिजीविषा, करुणा और अभय का त्रिकोण है । पक्षी-वियोग से प्रारम्भ होकर करुणा पिता-पुत्र, माता-पुत्र, प्रजा-राजा, भाई-भाई, सगे-सम्बन्धी और पति-पत्नी वियोग तक चली है ।

दूसरी ओर लेखक ने इस कथा पर प्रमुख वैदिक गाथा–देवासुर संग्राम, उपगाथाओं–विष्णु का त्रिविक्रम अभियान और सुपर्ण द्वारा अमृत आहरण की प्रतिच्छाया देखते हुए इसे वीरगाथा कहा है । सिंह-शूकर में सिंह के माध्यम से अपने दृष्टिकोण को भी किया है ।

यही देवासुर संग्राम कालान्तर में न्याय-अन्याय और सत्य-अस्य के संघर्ष का प्रतीक बना था ।

लेखक की मान्यता है कि वैदिक देवता इन्द्र है जो असुरों द्वारा अपहृत अमृत के उद्धार के लिए संघर्ष करता है । इससे वीरगाथा के अतिरिक्त–"रामायण मूल रूप में 'अपहरण उद्धार' की कथा-रूढ़ि पर आधारित ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक चरित काव्य है । इसकी ऐतिहासिकता का मूल रूप है लोकानुश्रुति ।" (पृ. 113)

त्रेता में और वाल्मीकि के युग में वैदिक देवता 'इन्द्र' का इतना अवमूल्यन हुआ कि उसे नाच-गान में मस्त रहने वाला, ऋषि-मुनियों की तपस्याओं को अप्सराओं द्वारा भ्रष्ट करने वाला, शृंगारी, कामुक, लोभी के रूप में लोक में

पहचाना जाने लगा । पुराणों में वह इसी रूप में चित्रित हुआ । द्वापर में कृष्ण ने उसकी पूजा तक रुकवा दी । अहिल्या के साथ उसकी कथा जार-कथा बन गई । ऐसी स्थिति में वैदिक-धर्म और यज्ञ-संस्कृति के समर्थक वाल्मीकि राम के व्यक्तित्व का प्रक्षेपण सम्भवतया उचित न समझते ।

लेखक ने अनेक विचारोत्तेजक मान्यताएँ दी हैं । ये मान्यताएँ गहरे चिंतन, मंथन और व्यापक पठन-पाठन के आधार पर निर्मित हुई हैं । फलतः वे विवादास्पद हो सकती हैं किन्तु उनके पीछे लेखक के अपने तर्क और निष्कर्ष हैं । विस्तार में जाये बिना एक-दो मान्यताओं का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है–

4. रवीन्द्रनाथ टैगोर ने "रामायण' को गृहस्थ जीवन का महाकाव्य कहा था । कुबेरनाथ राय ने उसी मान्यता को पुष्ट करते हुए अपनी नवीन उपपत्तियां जोड़ी हैं । ऐतिहासिक रामावतार और रामकथा के ग्रंथावतार का उद्देश्य है : धर्मसंस्थापन । गृहस्थ धर्म की संस्थापना के लिए उनका अवतार हुआ था और इस दृष्टि से सही धर्म है–'पुरुषार्थ योग' । अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष–चारों के संतुलन द्वारा उपस्थित धर्म ही सही है ।" (पृ. 110)

यह भी सत्य है कि 'रामायण' की सम्पूर्ण दृष्टि शीलप्रधान है जो गार्हस्थ्य धर्म का विवेचन करती है । समग्रतः वह उस काल की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना को व्यक्त करती है । तुलसीदास ने इसी दृष्टि को पकड़ा है ।

श्री राय अपनी उपपत्तियों की तलाश में वाल्मीकिकालीन समाज की छानबीन करते हैं । उस काल के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अन्य प्रमाणों के अभाव में कुछ परिकल्पनाओं का सहारा लेते हैं । परिकल्पनाओं से निर्मित निष्कर्षों से अपनी मान्यताओं को सम्पुष्ट करते हैं ।

इस प्रकार लेखक ने 'पुरा नवं इति पुराणं' के आधार पर 'रामायण' को नया आधार दिया है । इस आधार को तर्क-सम्मत और विवेक-सम्मत बनाने का यत्न भी किया है । यह अपने में कम गुरुतर कार्य नहीं है ।

इस कार्य में उनके चिंतन, मनन, दार्शनिक और तांत्रिक उपपत्तियों से गद्य का लालित्य दब सा गया है । तथ्यअनुशीलन, मीमांसा, शोधक-दृष्टि ('अनासक्त पुरुषार्थ योग' तथा ' लोक देवता श्री हनुमान') और दार्शनिक रहस्य परकता (काव्यबीजं सनातनम्) अधिक प्रबल हो गई है । यह सीमा भी है कि रचना का दृष्टि-क्रम ललित होते हुए भी लालित्य से परे हो गया है ।

(समीक्षा-जुलाई-सितंबर 1991)

●

कामधेनु

डॉ० रामदरश मिश्र

श्री कुबेर नाथ राय हिन्दी के ललित निबंध लिखने वालों में अपना विशेष स्थान रखते हैं । हिन्दी में ललित निबंधों की दो धारायें हैं । पहली धारा उन निबंधों की है जिनमें अपनी प्राचीन संस्कृति और दर्शन की परंपरा की यात्रा दिखाई पड़ती है । लेखक उसी में से समकालीन जीवन-चेतना की आंच उभारता है । दूसरी धारा उन निबंधों की है जिनमें समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति होती है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय के निबंध पहली धारा में आते हैं तथा भारतेन्दु काल से लेकर स्वातंत्र्योत्तर काल तक के अनेक निबंधकारों के निबंध दूसरी धारा में आते हैं । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थिति सबसे अलग और विशिष्ट है । उनकी दृष्टि अपने समय के प्रश्नों पर टिकी होती है । वे अपने समय की चिंता की अभिव्यक्ति अपनी संस्कृति और दर्शन की परंपरा में व्याप्त सत्यों के सहारे करते हैं । लोक जीवन के अनेक तत्त्वों का उपयोग वे हर स्थिति में करते हैं । अतः उनके यहाँ शास्त्र-ज्ञान, या तत्त्व-चिंतन, या संस्कृति-विवेचन पांडित्य का बोझ बन कर नहीं आता बल्कि वह उनकी सृजनात्मकता का आलोक पाकर तथा समकालीन जीवन-चिन्ता से जुड़ कर अत्यंत जीवंत एवं प्रासंगिक हो उठता है । श्री कुबेरनाथ राय के निबंध इसी परंपरा के हैं। किन्तु उनकी दृष्टि वर्तमान पर उस तरह नहीं टिकी होती जिस तरह द्विवेदी जी की। कुबेरनाथ राय के निबंधों की पृष्ठभूमि और विषय प्रायः सांस्कृतिक होते हैं जिनमें हमारे प्राचीन दर्शन, धर्म और साहित्य समाये होते हैं । कुबेरनाथ जी उनके चिंतन और विवेचन से गुजरते हुए उन्हें एक मानवीय धरातल पर सृजित करते हैं । उनके चिंतन के साथ उनका सौंदर्यबोध और कल्पना यात्रा करती रहती है । भाषा में चिन्तन-सुलभ गंभीरता और दुरूहता के साथ साथ रमणीयता और गतिशीलता उभरती रहती है ।

कुबेरनाथ जी मूलतः एक पंडित निबंधकार हैं । उनके ललित निबंधों में भी उनके पांडित्य की गंभीरता छायी रहती है । उन्होंने खूब पढ़ा है – नया भी, पुराना भी । आधुनिक साहित्य की मर्मज्ञता के भी उन्होंने प्रमाण दिये हैं प्राचीन साहित्य और संस्कृति के गंभीर अध्येता हैं ही । उनकी यह प्रवृत्ति उन्हें निबंध से प्रबंध की ओर ले जाती है.। 'कामधेनु' में संगृहीत निबंध (जिन्हें लेखक ने प्रबंध कहा है) शुद्ध

विचारप्रधान निबंध हैं । इन निबंधों के द्वारा कुबेरनाथ जी की पंडिताई और जीवन-दृष्टि की सीधी पहचान हो सकती है । लोकायतमत और आदिम श्रद्धा निबंध में श्री राय ने लोकायत की पूर्व व्याख्याओं और परिभाषाओं से गुजरते हुए अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है । लोकायत मार्क्सवादियों की दृष्टि में आदिम साम्यवाद है और एक विशेष प्रकार के अध्यात्मवादी पंडितों की दृष्टि में अनास्थावादी इहलोकवादी दर्शन है । कुबेरनाथ जी दोनों मतों का निषेध करते हैं और अपना मत देते हैं– "लोकायत का तात्पर्य लोकेषु आयत है । अर्थात् लोक प्रचलित एवं लोक से गृहीत । जो लोक में प्रचलित हो अथवा लोक से गृहीत होकर कला-संस्कृति-अर्थ में अवतरित हो वह सब कुछ लोकायत है । यहाँ लोक एक तटस्थ शब्द है और इसे इहलोक या जन जैसे धार्मिक या राजनीतिक वर्णवाले पर्यायों से भिन्न एक वर्णहीन, रंगहीन तटस्थ अर्थ में ग्रहण करना चाहिए अन्यथा शब्द का सहज अर्थ और प्रकृत मर्म पकड़ में नहीं आ सकेगा और तब लोकायत शब्द धार्मिक या राजनीतिक विरूपता का शिकार होगा ।

लोकायत के प्रति इतनी गहरी चिंता लोक के साथ कुबेरनाथ जी के गहरे लगाव को व्यक्त करती है । इससे प्रमाणित होता है कि कुबेरनाथजी के लेखन में लोक की गहरी भूमिका रही है । इसलिए उनके निबंधों में तत्व चिंतन तथा शास्त्रीय व्याख्या के साथ लोक का गहरा रंग भी दिखाई पड़ता है । जहाँ उनका चिंतन शास्त्र से बनता है कहीं सौन्दर्यबोध लोक से । उनकी सोच में एक संतुलन है । न वे रूढ़िवादी शास्त्रचिंतन के जाल में फँसते है न मार्क्सवाद के दबाव में आते हैं । वे प्राचीन और नवीन सार तत्व को लेकर बीच का रास्ता निकालते हैं । उनका यह निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है–"इतिहास के विद्यार्थी और मानव-शास्त्र के अध्येता के लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य है संस्कृति की आदिमतम शुरुआत और जब से यह शुरुआत चलती है तभी से हम पाते हैं भौतिक जीवन के साथ साथ आत्मिक जीवन भी (चाहे वह कितना ही अनगढ़ कच्चा और स्थूल क्यों न हो) समानान्तर चलता है ।"

चाहे यह निबंध हो चाहे दूसरे निबंध हों उनमें व्यक्त भारतीय दर्शन, साहित्य, संस्कृति, धर्म से संबंधित इनके ज्ञान से प्रभावित होना पड़ता है किन्तु मुझे लगता है कि वे अपने गहरे ज्ञान को किसी समकालीन प्रश्न से जोड़ कर प्रासंगिक बनाने की इच्छा नहीं रखते । वे राजनीति और भौतिकवाद से परहेज करते लगते हैं । 'लोकायत' की इतनी लंबी और प्रभावशाली यात्रा करने के बावजूद उसे वे समकालीन दृष्टि से जोड़ नहीं सके ।

इसे 'इहलोकवादी' और 'आदिम भौतिकवाद' मानने वाली दोनों विचारधाराएं यह संकेत तो करती हैं कि यह अध्यात्मोन्मुख दर्शनों के बीच एक लोकोन्मुख दर्शन देना चाहता है । यानी यह भी एक दर्शन है और यह लोक जीवन (संसार और जन सामान्य दोनों के जीवन) के महत्त्व को रेखांकित करता है । यह अपने आप में महत्त्वपूर्ण बात है और इस बिन्दु पर इसे समकालीनता से जोड़ कर अधिक प्रासंगिक बनाया जा सकता था । कुबेरनाथ जी जैसे चिंतक लोकायत को दो अतिवादी आग्रहों से मुक्त करके देखना चाहते हैं तब क्या उसके लोकोन्मुख दर्शन को बलपूर्वक रेखांकित करके उसके भीतर के आलोक को और अधिक निखारा नहीं जा सकता था । कामधेनु में संगृहीत उनके अन्य निबंधों में भी पांडित्य का प्रकाश अधिक है समकालीन दृष्टि से उत्पन्न सर्जनात्मकता की छवि कम । जो समकालीनता है वह काफी अरूप है और शास्त्रीयता के गांभीर्य में खोयी हुई सी । परंतु अपनी इन अपेक्षाओं के कारण कुबेर नाथ राय के अवदान को मैं कम करके नहीं आंक रहा हूँ । उनके निबंध जिस रूप में हैं, हमारी निधि हैं ।

●

नटराजः एक मिथकीय चरित्र का रेखांकन

डॉ. ललित शुक्ल

बहुत आसान नहीं होता किसी मिथकीय चरित्र का आकलन और रेखांकन। साहित्य की अन्यान्य विधाओं में यह आकलन अपने विविध रूपों में रेखांकित होता है, क्योंकि जनमान्यताओं और धार्मिक स्रोतों में इस विषय पर प्रभूत सामग्री पायी जाती है इसीलिए यहाँ कल्पना की गुंजायश कम है। कल्पना प्रसूत प्रस्तुति वहुत विश्वसनीय होगी भी नहीं। उपन्यास और कहानी में कल्पना की भागेदारी थोड़ा-बहुत हो भी सकती है परन्तु निबंध में कल्पना का आधिक्य विषय को हलका बना सकता है। कुबेरनाथ राय का नाम समकालीन हिन्दी निवंधकारों में अग्रगण्य है। उन्होंने मिथकीय विषयों पर निबंध को माध्यम बनाकर विस्तार से विचार किया है। उनका 'नटराज' निबंध इसी प्रकार का है। माया वीज कामधेनु और देवी निबंध भी इसी कोटि में आते हैं।

'नटराज' (कामधेनु) निबन्ध में लेखक ने व्योम काल एवं सृष्टि के माध्यम से नटराज की आदि कल्पना पर बहुत ही सारभर्मित शैली में विचार किया है। अन्धकार, महान्धकार की कल्पना अत्यन्त भयावह है पर इसी अंधकार से सृष्टि बीज की उत्पत्ति संभव है। डमरू नाद का अचानक सुनायी पड़ना अपने में एक मनोरम कल्पना है। महाचैतन्य का व्योम में विस्फारण एक आशावादी प्रयोग है। आदि सृष्टि का नृत्य कौतुक एक कल्पना प्रवण मन में औत्सुक्य जगाता है। प्रसंगतः नटराज की कल्पना आह्लाद का कारण बनती है। आज संचार मीडिया के युग में मिथकों की छानबीन करना और उन्हें पढ़ना बड़ा ही श्रमसाध्य काम है। यद्यपि यथार्थ की जमीन पर मिथकों को परखना दृष्टिनिक्षेप के नये आयाम प्रस्तुत करता है। लेखक कहता है–'मुझे कभी-कभी लगता है कि सीमामुक्त, अनन्त, महाप्रशान्त, सनातन काल के मध्य कहीं पर भूत वर्तमान भविष्य वाले खण्ड काल का अग्निवृत्त है जिसके केन्द्र में सृष्टि, स्थिति, प्रलय, तिरोभाव और अनुग्रह की पंच प्रक्रिया को महाचैतन्य तालछन्द में प्रस्तुत कर रहा है'। नटराज की कल्पना प्रलय के समय नृत्य के सन्दर्भ में है। सृष्टि नृत्य से प्रलय नृत्य को लेखक श्रेष्ठ मानता है। क्रिएटिव लेखन के क्षेत्र में मतान्तर के लिए बड़ा अवकाश है। प्रलय नृत्य के लिए अपने तर्क हैं और उसकी मान्यता भी तर्काश्रित है। सब प्रकार से रचना या सृष्टि संहार, नाश और प्रलय से श्रेष्ठ होती है। निश्चित रूप से एक रचनाकार के लिए रचना की

श्रेष्ठ होगी । यद्यपि नटराज की परिकल्पना प्रलय के सन्दर्भ में है तथापि उसकी कलात्मकता वरेण्य है । नृत्य में ताल और छन्द की उपस्थिति उसे सनातन रूप दे देती है । रिद्‌म की योजना से एक ओर तो नटराज कला का आसमान छूता है दूसरी ओर भारतीय मनीषा का प्रारूप प्रस्तुत करता है । नटराज के देवता स्वयं शिव हैं जो 'कामारि' रूप में ख्यात है' । वास्तव में 'कामारि' में जो काम है वही रति और शृंगार का कारण है । रस की उत्पत्ति और निष्पत्ति इसी बिन्दु पर होती है । और भावक के लिए रस का महत्त्व कम नहीं है । कामारि की स्थिति में लावण्य युक्त नटराज की कल्पना से आत्मिक समृध्दि का संकेत मिलता है । लेखक की मान्यता है कि नटराज की कल्पना अतुलनीय है ।

कला और शिल्प पर विचार करते हुए लेखक ने माना है कि ये दोनों शब्द द्रविड़ भाषा के हैं । संस्कृत में तो ये शब्द बाद में आये । वस्तुतः द्रविड़, किरात आदि के जन नृत्यों से नटराज की उत्पत्ति हुई है । यद्यपि यह बात बहुत स्पष्ट रूप से लेखक ने नहीं कही है पर एक मान्यता यह भी है कि शिव प्रथमतः अनार्यों का देवता था । शिव का एक पर्याय रुद्र भी है । मान्यता है कि वैदिक काल में रुद्र की स्थिति साधारण देवता की थी । कुल तीन सूक्तों में रुद्र की स्तुति पायी जाती है। रुद्र का अर्थ लाल होना अथवा चमकना भी होता है । रुद्र के भंयकर और झंझावाती रूप के साथ उनके प्रशांत और सौम्य रूप का भी वर्णन प्राप्त है । रुद्र केवल ध्वंस और प्रलय ही नहीं करते उनमें जनकल्याण और स्वास्थ्य लाभ की शक्ति भी पायी जाती है । निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रुद्र की कल्पना में शिव का भाव पाया जाता है । शिव भाव आने के कारण ही त्रिदेवों में शिव अथवा महेश की गणना कालान्तर में होने लगी ।

रुद्र की ख्याति रुद्रियों और मरुतों के पिता रूप में है । रुद्र और मरुतों में कुछ समानताएँ पायी जाती हैं । दोनोंस्वर्णाभूषण धारण करते हैं । दोनों धनुर्बाण धारण करते हैं । दोनों रोग निवारण की शक्ति रखते हैं । कभी-कभी रुद्र का वर्णन इन्द्र के साथ भी किया गया है । इन दोनों में पर्याप्त अंतर भी पाया जाता है । वेद में रुद्र को एक बार वज्र की संज्ञा दी गयी है। इन्द्र को प्रायः वज्रबाहु की संज्ञा दी गयी है । बिजली चमकना, बादल का गरजना और जलवर्षा इन्द्र के क्रियाकलाप हैं परन्तु वज्रपात से मनुष्य और पशु का प्राणान्त रुद्र का कार्य है । इन्द्र के वज्र को उपकारी माना गया है जबकि रुद्र का वज्र विध्वंसक है, प्राणघातक है । रुद्र की भयंकरता के वाद शान्ति आ जाती है । यही कारण है कि मनुष्य शिव के कल्याणकारी रूप की उपासना करता है । इतना ही नहीं उनमें ऐसी क्षमता है कि वे अन्य देवों के अपकार भी दूर कर सकते हैं । पुराण साहित्य मे रुद्रं रूप शिवरूप में व्याप्त हो जाता है । यही कारण है कि शिव को समाज में अधिक रुद्र रूप मान्यता मिल गई।

'नटराज' निबन्ध में कुरबेरनाथजी की प्रस्तुति कथा रस की तृप्ति नहीं देती वरन् ज्ञानका आनन्द देती है । वे वैदिक युग से लेकर हड़प्पा और मोहनजोदड़ो तक की यात्रा कर लेते हैं । इतना ही नहीं वे केवल हिन्दी और संस्कृत तक सीमित नहीं रहते बल्कि द्रविड़ भाषाओं का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत करते हैं । इससे पाठक को यह पता चल जाता है कि लेखक ने ज्ञान और कल्पना क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है । यह अच्छी बात है कि लेखक ने अपने ज्ञान का उपयोग साहित्य-रचना के क्षेत्र में किया है । यह निष्कर्ष कि नटराज प्रथमतः द्रविड़ संस्कृति में ही आया, तर्काश्रित है । और साथ में यह भी कि लोकनृत्यों की विकसनशील परम्परा ही नटराज की क्ल्पना को मूर्त रूप दे रही है । लोकनृत्यों की विविधता से एक लावण्यमय रूप स्थिर करके 'नटराज' को रूप दिया गया है ।

नटराज के सन्दर्भ में लेखक ने ताण्डव नृत्य को याद किया है । ताण्डव नृत्य के सम्बन्ध में अपने निबन्ध में लेखक ने एक कल्पित कथा दी है जो शिव द्वारा एक अग्निवृत्त के अन्दर 'आनंद ताण्डव' की प्राचीनता पर प्रकाश डालती है । कथा का मूल स्रोत दक्षिण में प्रसिद्ध एक जनश्रुति है । एक बार शिव अपने तमिल शिष्य अतिशेष के साथ विष्णु सहित दक्षिणारण्य के तारग्राम में गये । वहां कर्मकांडी मीमांसावादी ऋषियों ने उनसे शास्त्रार्थ किया । शिव और विष्णु द्वारा ज्ञानकांड का समर्थन किया गया । ऋषि नहीं जान सके कि साक्षात् शिव ज्ञान के रूप में उपस्थित हैं । अपनी पराजय से परेशान होकर ऋषियों ने माया का सिंह रच दिया । शिव ने अपनी अंगुली से उस सिंह का चर्म उतार कर स्वयं धारण कर लिया । ऋषियों ने शिव पर कालभुजंग प्रेरित किया । उसे शिव ने कण्ठ का आभूषण बना लिया । अंत में उन ऋषियों ने खून पीने वाले वामन राक्षस को अभिप्रेरित किया । इसका नाम तमिल भाषा में 'मूलायकन्' था । वह वामन राक्षस शिव के ताण्डव नृत्य की पादपीठ बन गया । शिव उन्मत्त होकर ताण्डव नृत्य करने लगे । मान्यता है कि यह प्रथम ताण्डवनृत्य है । समय बीतने पर तण्डु नामक मुनि ने इस नृत्य को शिव से प्राप्त किया । तभी से संसार में यह ताण्डव नृत्य के नाम से विश्रुत हुआ । ताण्डव नृत्य के साथ नटराज का नाम भी जुड़ गया । ताण्डव का जो रूप शिव द्वारा प्रथमतः दर्शाया गया था या तण्डु द्वारा जो सीखा गया था वह मूल ताण्डव नहीं है । ये रूप तो प्रकीकात्मक है । लेखक के शब्दों में 'असल ताण्डव तो सृष्टि में लगातार चल रहा है । सारी सृष्टि क्रिया, सारा भवति भवतः भवन्ति जिसकी पांच विधाएं हैं, सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तिरोभाव और अनुग्रह, यह आनंद ताण्डव है और इसके कर्ता हैं नटराज रूप परम संवित् शिव स्वयं । यही सृष्टि छन्दमुद्रा प्रतीक रूप में शिव से तण्डु मुनि ने प्राप्त किया था । शिव ने पांचों स्थितियों के आधार पर पांच प्रकार के

नृत्यों की व्यवस्था की थी । कोविलपुराण के शिव सन्दर्भ के अतिरिक्त भारतीय काव्य संध्या या प्रदोष तांडव का भी उल्लेख करता है । इच्छा, क्रिया और ज्ञान तीनों एक में अन्तर्ग्रथित हैं । देवी भुवनेश्वरी संध्या समय सोलह शृंगारों से विभूषित होती हैं इसलिए उस समय उल्लसित होकर शिव का आनंद नृत्य करना सार्थक है। श्मशान तांडव प्रलय का सूचक है ।

मृत्यु के माध्यम से मनुष्य को शिवत्व का बोध होता है । यह श्मशान ताण्डव क्या है? श्मशान में शिव अपनी परमा शक्ति के साथ क्रीड़ारत हैं । यह क्रीड़ा आनंददायिनी है । काशी को महाश्मशान और आनंदकानन की संज्ञा एक साथ दी जाती है । यह नृत्य अक्षरतत्त्व के बोध और निर्भयता को एक साथ ही परिकल्पित करता है । शिव तांडव स्तोत्र में रावण ने शिव के क्रिया कलाप का विस्तृत खाका खींचा है । संस्कृत काव्यों में शिव ताण्डव का वर्णन प्रायः हुआ है । नटराज की विकसनशील परम्परा की संस्कृति की यात्रा दिलचस्प है । नटराज. उसकी पादपीठ, ओठों की भंगिमा, दक्षिण और वाम पग, डमरू आदि पर लेखक के विचार स्पष्ट और सारगर्भित हैं । लेखक अपनी बात को अंतिम रूप देता है । 'मुझे तो कभी-कभी लगता है कि यह नटराज स्वयं साक्षात् हिन्दुस्तान है । जिसका प्राचीन नाम था अजनाभवर्ष और जम्बूद्वीप तथा नया संवैधानिक नाम है भारत । लेखक सचमुच अपने मिशन में सफल हुआ है ।

●

मराल

डॉ. सरजू तिवारी
पूर्व प्राचार्य
स्नातकोत्तर महाविद्यालय गाजीपुर

कहा जाता है कि चेतना और अनुभूति के टकराव से साहित्य की सृष्टि होती है । 'मराल' की पंचपदी के माध्यम से पाण्डुरंग राव ने सूचित किया है, "श्री कुबेरनाथ को लगता था........कि उनका सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है या अन्तर का हाहाकार" । ये दोनों मनोदशायें उनकी चेतना और अनुभूति के टकराव की पुष्टि करती है । इनके सतत टकराव से उनकी **चिति** में लगातार परिवर्तन दिखाई पड़ता हैं । 'मराल' में वे लिखते हैं, "अब मैं ललित की जवाकुसुम जैसी चक लाल, उग्र और उत्तेजक भंगिमा पर मुग्ध नहीं होता । सरल ओजस्वी और निष्पाप अब मुझे ज्यादा आकर्षित करते हैं ।" इस परिवर्तन की जड़ें तलाशने के लिए हमें उनकी अनुभूति यात्रा को दुहराना पड़ेगा । बचपन में गाजीपुर की तिरवाह के सहज ग्रामीण जीवन की अनुभूति । नव-यौवन में काशी की वैष्णव संस्कृति का घना प्रभाव । यौवन में कलकत्ते की महानगरीय आधुनिक संस्कृति और बंगाली (भारतीय)संस्कृति में टकराव की पीड़ा । भरी जवानी में आसाम की सौंदर्यानुभूति से सटाव, जुड़ाव और आदान-प्रदान । अंग्रेजी, बँगला, असमिया और हिन्दी साहित्यों का गहन अध्ययन । मणि-मुक्ताओं से भरे रवीन्द्र साहित्य सागर में सतत अवगाहन । शुरू-शुरू में उन्होंने अंग्रेजी-निबन्ध और हिन्दी कविता की ओर मनोनिवेश भी किया था । अन्ततः उनकी चेतना और अनुभूति के टकराव का स्वर्ण कमल हिन्दी के ललित निबन्धों में खिल उठा । और, "ललित निबन्ध के गन्धमादन श्री कुबेर नाथ राय की स्वरलहरी में प्रारम्भ में जो कुछ क्रुद्ध-ललित दिखाई देता था, वह 'मराल' में आकर 'मुग्ध-ललित बन गया है" 'मराल' के आवरण पर उल्लिखित इस मूल्यांकन से असहमत होने का कोई कारण नहीं है ।

'मराल' लेखक का पन्द्रहवाँ निबन्ध संग्रह है । इसका शाब्दिक अर्थ है हंस । 'शरद व्योम में हंसपदी ऋचा' के माध्यम से वह इसे परिभाषित करता है: " सत्य की एक संज्ञा है 'ऋत'... इसके अनेक चेहरे हैं । एक से एक मधुमय और एक से एक सुन्दर । परन्तु ये सारे बहुरंगी रूप, दरअसल, एक ही रंग के विकिरण और विस्तार हैं । वह है सारे रंगों का महारंग श्वेत । इसी से सत्य का वर्ण भी श्वेत है और सत्य का स्वभाव है--शुचिता । प्रतीक भाषा में हंस इसी सत्य का प्रतीक है, क्योंकि वह श्वेतवर्णी होता है, वह 'शुचिपद' होता है । अर्थात् जल के पगों से जल

में तिरता चलता है । चरम सत्य के विभु और अणु दोनों रूपों, परमात्मा और जीव, की उपमा हंस से दी जाती है । जीव-मुक्त आत्मायें हंस कहलाती हैं । नीर क्षीर-विवेकी सन्त भी हंस कहलाता है । सृष्टि के कर्ता ब्रह्मा और वाङ्मयी सरस्वती के वाहन का नाम भी हंस ही है ।....श्रीमद् भागवतको 'पारमहंसी' संहिता कह दिया परन्तु देखो, चंचु और पंजे लाल-मजीठी वर्ण हैं, अनुराग रंजित हैं । इसी अनुराग वर्णी चंचु से वह क्षीर विवेक करता है । नीर क्षीर विवेक की प्रथम शर्त है अनुराग या भक्ति । अतः यह हंस तो पूरा का पूरा वैष्णव है । लौकिक प्रेम हैं–रंग बिरंगे शुक-पिक और मयूर ।" स्व. कुबेरजी भी व्यक्तिगत जीवन में वैष्णव ही थे। पुस्तक का नामकरण भी किया 'मराल' । इसीलिए, शायद अहंकार के कलंक से बचने के लिए किसी दूसरे प्रसंग में उन्होंने लिखा, "मैं जानता हूँ, हंस बनना सबके वश की बात नहीं है । अतः न सही हंस, कम से कम मयूर तो बनो । कुटिल काक बनने से तो यह लाख दर्जे अच्छा होगा ।"

'मराल' में लेखक ने अपने अनुभव सागर के नीरक्षीरविवेक का प्रयास किया है । बहुत से अनुभवों ने उसकी चेतना को सहलाया हैं, कुछ ने झकझोरा है, अन्यों ने पीड़ित किया है । चेतना और अनुभूति की इस अन्तः क्रिया ने उसके अन्तस् में उचित और अनुचित का एक विशेष बोध विकसित कर दिया है । उचित की जोरदार वकालत और अनुचित की तीखी भर्त्सना से सभी निबन्ध भरे पड़े हैं । ग्रन्थ की भाषा सरल और शैली रोचक है । बाद के निबन्ध गाजीपुर में लिखे गए हैं। शिक्षाजगत् में बढ़ रही अराजकता की प्राचार्य द्वारा अनुभूत पीड़ा, ग्रामीण जीवन में आ रही नई-नई विसंगतियों की अन्तहीन उलझन, समकालीन राजनीतिक उठा पटक से उपजी निराशा, और जड़ें जमा रही भोगवादी संस्कृति से एक वैष्णव की स्वाभाविक घृणा, आदि की कलात्मक अभिव्यक्ति मनोग्राही तो है ही, इस अर्थ में शिक्षाप्रद भी है कि पाठक को नये सिरे से सोचने के लिए मजबूर करती है ।

संकलन के प्रथम छः निबन्ध आसाम के नलबारी में लिखे गए थे । उस समय लेखक को 'धरतीपुत्र' न होकर 'आउट साइडर' होने की पीड़ा बहुत सताती थी। इसकी अनदेखी अथवा अतिक्रान्त करने के प्रयास में उसने सात वर्षों में सात निबन्ध उपहार दिए । इतनी कम प्रगति की मुख्य वजह थी प्रकाशकों की सैद्धान्तिक खेमेबन्दी । स्व. राय के शब्दों में, "इस घोर और मूढ़ सैद्धान्तिक पक्षधरता ने साहित्य से यथार्थवाद के नाम पर 'सत्य' और यथार्थ दोनों को विदा कर दिया है ।" ऐसी कटु भाषा अतीव पीड़ा का संकेत वहन करती है ।

पुस्तक का पहला निबन्ध है 'उत्तराफ़ाल्गुनी के नाम' । इसमें प्रेमप्रसंगों के माध्यम से गाँवों के राग, द्वेष, पीड़ा, प्रपंच, आशा, निराशा अन्तर्कलह, अवसाद, बड़बोलेपन और सांस्कृतिक पिछड़ेपन, इत्यादि का अत्यन्त रोचक और मनोहारी चित्रण किया गया है । कथ्य को अमूर्त और अभिव्यक्ति के मुहावरों को मूर्त रखने

का यह प्रयोग पाठक के मन को गुदगुदाता है । प्रसंग के विस्तार का शब्दांकन इतना आंतरिक और मर्म-स्पर्शी है कि इसके पीछे व्यक्तिगत अनुभव भी देखा जा सकता है । शायद इसीलिए लेखक ने इससे इन्कार करने की जरूरत महसूस की है । निबन्ध के केन्द्र में ग्रामीण जीवन की पीड़ा और आशा की किरण, दोनों देखे जा सकते हैं ।

'देहवृन्दावन में वंशीधुन' की स्वर लहरी की गूँज क्लाइव बारकर की रंगक्रीड़ा में शरीर की अवचेतन क्रियाओं के छन्दों में सुनी जा सकती है । फर्क केवल यह है कि निबन्धकार उसे भाव विभोर होकर सुन रहा है । नाट्यकार उसे मूर्त रूप देकर दर्शक के सामाने प्रस्तुत करता है ।

'कीचड़ से कमल' में देह की अनिवार्यता और उसकी सीमाओं का विचारोत्तेजक रेखांकन है । देह वह कीचड़ है जिससे चेतना का कमल फूटता है । लेकिन न तो देह, चेतना का पर्याय बन सकती है, न कीचड़, कमल का । "पंक से यह रूप और गुण दोनों में विलक्षण है यह रूप विलक्षणता और गुणविलक्षणता कहाँ से आई? पंक में तो यह नहीं थी! .....वस्तुतः (कमल/देह) इस प्राण-बीज या चैतन्य-बीज का दान है जिसकी यह अभिव्यक्ति है । इसकी त्वचा, खून और रेशों के बनने में पंक का ही रस लगता है । परन्तु पंक इसका पूरा-पूरा उपादान कारण भी नहीं, आंशिक उपादान मात्र है । निमित्त है पंक के भीतर बैठा हुआ वह अजड़, दिव्य, अरूप प्राण-बिन्दु या चैतन्य-कण" । लेखक के विचार में सारे मानवीय रिश्ते, सारे भाव, सारी करुणा-दया सहानुभूति के कारोबार, चेतना से जुड़ी भावसत्तायें हैं । ये सब अमाप और अगाध हैं । इसीलिए विज्ञान की परिधि के बाहर हैं । सम्पत्ति के कारण टूटते पारिवरिक रिश्तों का उदाहरण देकर कोई भी वैज्ञानिक इस विश्लेषण को सरलीकरण की संज्ञा दे सकता है । फिर भी चेतना (मन/प्राण) के आंशिक परावैज्ञानिक स्वरूप को अभी भी नकारा नहीं जा सका है । दरअसल ईश्वर निर्भर धार्मिक सोच और ईश्वर निरपेक्ष वैज्ञानिक सोच के आयाम परस्पर स्वतन्त्र है । इनमें न तो पूर्ण मेल सम्भव है न पूर्ण बिलगाव । दोनों मनुष्य के मस्तिष्क की ही देन हैं । 'नमामि त्वां हृदयशेषे, का लेखक विज्ञानकी सीमाबद्धता को रेखांकित करने के लिए मन का सहारा लेता है, "यह मन ही असली कर्ता है ।...मनुष्य इस मन की पुष्टि और तुष्टि के लिए संसार रचता है, माया का कोमल कठोर बन्धन स्वीकार करता है । केवल देह की ही पुष्टि-तुष्टि का सवाल रहता तो इस सबकी जरूरत ही क्या थी! तब तो जैसे पशु, जैसे पक्षी और जैसे पेड़-पौधे, वैसे हम । जन्म लेते, बढ़ते, जो मिलता भक्षण कर लेते और एक दिन मर जाते । तब जीवन में न तो किसी गीत-काव्य का जन्म होता, न महाकाव्य । ...इस मन या हृदय का कोई 'विज्ञान' नहीं हो सकता, इसका काव्य ही हो सकता है । मन या हृदय के सारे मूल्य यथा सौंदर्य बोध, करुणा, प्रेम, दया, भय, जुगुप्सा, और सच्चाई,

ईमानदारी, अच्छाई जैसे आदर्श विज्ञान की यान्त्रिक भूमि से परे हैं । ये सारे भाव और आदर्श मानवीय मूल्य हैं । ये ही मनुष्यत्व की विशिष्टता रचते हैं । परन्तु इनके माप की इकाई नहीं हैं ।" लेखक अपनी इस वैष्णव सोच के पक्ष में बुद्ध को भी उद्धृत करता है । प्रख्यात नाट्यकार क्लाइव बारकर देह और मन को अलग-अलग करके देखने के पक्ष में नहीं हैं । उनके विचार में देह और मन के संयोजन से ही मनुष्य की सारी क्रियायें होती हैं । यह संयोजन दो तरह से होता है। चेतन और अवचेतन । अवचेतन संयोजन में देह की प्रधान भूमिका होती है । देह भी सोचती है और मनको निर्देश देती है । चेतन मन इसे जान नहीं पाता । शायद इसी कारण वैष्णव मन अपनी वैज्ञानिकता को नहीं समझ पाता ।

'पश्य देवस्य काव्यम्' 'अमावस्या के हृदय में लक्ष्मी', और 'रोशनी की प्रजाएँ' में भारतीय संस्कृति की जड़े तलाशने की कोशिश की गई है । काशी की दिव्यता और कालीपूजा, लक्ष्मीपूजा तथा दीपावली के माहात्म्य और विसंगतियों का हृदय-स्पर्शी शब्दांकन किया गया है । बहुत से शब्दों के भाषातात्विक विश्लेषण इन निबन्धों में ज्ञान-वर्धक आयाम जोड़ते हैं । 'श्रुतं मे गोपाय' की शुरुआत सरस्वती पूजा से होती है । किन्तु लेखक बहुत जल्दी ही समकालीन परिवर्तनों की विसंगतियों के चित्रण पर उतर आता है । नई खेती के तौर तरीकों और उपज के स्वाद, रस, रूप, रंगकी विसंगतियों, कला-साहित्य तथा शब्दों और अर्थों की विसंगतियों, शिक्षा और राजनीति तथा पूजा और हुड़दंग की विसंगतियों एवं बौद्धिकता और बौद्धिक प्रदूषण की विसंगतियों पर बेबाक टिप्पणी करता चला जाता है । लेकिन न तो इनके कारणों की तलाश का कोई प्रयास करता है न कोई विकल्प ही सुझाता है । वैसे रोचकताकी कोई कमी नहीं है ।

'मधुर-मधुर रसराज' का लेखक उन्मुक्त हैं । वह वसन्त की वासन्ती पर फिदा है । उसने कभी विष्णु बन कर तो कभी रावण बनकर, जीवन-शास्त्री की बहुत सी बातों को अंगूठा दिखाने की छूट ले ली है । वसन्त की चाँदनी रातों का सहस्र-बाहु मन्थन करते करते वह अपने साहित्यिक यथार्थ पर पहुँच जाता हैं, "मै" 'यथार्थ' को मंजूर करते हुए भी 'यथार्थवाद' को नामंजूर करता हूँ । यथार्थ सत्य है पर यथार्थवाद सत्यके नाम पर 'सिद्धान्तबाजी है । . . . 'नयी आलोचना' की इस सिद्धान्तबाजी ने साहित्य की हत्या की है और इस 'नयी आलोचना' के दबाव से हिन्दी में साहित्य ने सत्य की हत्या की है ।" इस टिप्पणी को 'मधुर-मधुर' तो नहीं ही कहा जा सकता । वैसे, ऐसी ही पीड़ा रवीन्द्रनाथ की भी थी । 'मेघदूत' की समालोचना में उन्होनें कालिदास को लिखा, "तुम बड़े भाग्यवान हो कवि, तुम्हारे जमाने में समालोचक नहीं पैदा हुए थे । लोग बाग ध्यान लगाकर कविता सुनते थे। अब कविता सुनी नहीं जाती, पढ़ी जाती है ।"

'महाश्रमण, इतना विराग असह्य है' और 'तिष्य नक्षत्र, कवि भिक्षु और महापृथिवी' का लेखक बुद्ध-पूर्वयुग के राग, तृष्णा, दुःख और यातना का कथानक अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उठाता है । घोर कामुकता, क्रूरता, भोगलिप्सा और राजलिप्सा पर बुद्ध के मध्यम मार्गकी विजय को रेखांकित करता है । उसके विचार में बाद के बौद्ध धर्मावलम्बियों ने रागके प्रतिकार और निर्ममता के प्रतिपादनको इस सीमा तक खींच दिया कि वह आम आदमी की सहनसीमा के बाहर हो गया । "नैतिक दृष्टि का केन्द्र है मनुष्य का मंगल, और ऐसी निर्ममता, जीवन का ऐसा तिरस्कार, मगंल का विरोधी ही नहीं, अशुभ है । .... बुद्धकी सहज, स्वाभाविक जीवन की शिक्षा बादके स्थविरवादियों के शुद्धतावादी दुराग्रह के कारण पृष्ठभूमि में चली गई । रह गये शुद्धतावादके विधिनिषेध स्वर । .... बुद्धधर्म एक दमित वासना से पीड़ित हो उठा और यह दमितवासना वज्रयान की कामलीला में 'फूट पड़ी' बुद्धधर्म की महायान दृष्टि के विकास और बुद्ध को वैष्णव अवतार बनाने की कालयात्रा के बाद, लेखक आजके युग के लिए एक वैकल्पिक धर्म का सुझाव देता है । इसे 'सेक्यूलर' शब्द के नजदीक पाता है । "इस महाधर्म के भीतर मुख्यतः चार प्रमूल्य स्वीकृत रहेंगे—अहिंसा, करुणा, मैत्री और ईश्वर ।" इसे गान्धीवादी विचार कहा जा सकता है । राजनीतिक संदर्भ में वह इसकी पुष्टि भी करता है, "आवश्यकता है ऐसी एक राजनीतिक प्रणाली की जो अवदमन के साथ-साथ सामंजस्य पर भी बल दे जो प्रतिशोध जगाकर परिवर्तन का पथ तैयार करे, जो 'बदला' नहीं 'बदलाव' की भाषा बोले ।" अतएव इस लेख को को बुद्ध से गान्धी तक की कालयात्रा कहा जा सकता है ।

'संस्कृति का शेषनाग' आदि काल से भारतीय संस्कृति का बोझ ढोते-ढोते अब टूटने लगा है "असल भारत है 'किसान भारत' । असली संस्कृति है किसान संस्कृति । किसान दाता है । बाकी सब या तो उसके 'पवनी' हैं, नहीं तो चोर हैं । किसान से बड़ा कौन है ? वही तो धरती का शेषनाग है । ..... किसान भारतीय समाज की नाभि या केन्द्र की नाभि या केन्द्र रचता है । परन्तु आज राजनीति के तुमुल द्वन्द्व में उसका कोई मुख पात्र नहीं । विगत राष्ट्रीय आन्दोलन में 'किसान' के नाम पर उसका मंच दखल किये हुए था जमींदार, तो आजकी वामपन्थी राजनीति भी किसान के साथ कोई न्याय नहीं कर पा रही है और वह भी किसान की शपथ लेती हुई बड़ी धूर्त्तता से उसे मंच से धकेल कर उस पर 'मजदूर' का वर्चस्व स्थापित कर रही है । किसान का भविष्य कभी भी इतना अन्धकारमय नहीं था जितना आज हो गया है । ..... किसान से मेरा तात्पर्य हरितक्रान्ति के मालिकों से नहीं, बल्कि छोटे-छोटे किसानों से है । ये छोटे-छोटे किसान गृहस्थ ही संस्कृति के शेषनाग हैं और सबका भार वहन करने के लिए अभिशप्त हैं ।"

'आधुनिक सन्दर्भ में साहित्यकार की भूमिका' का लेखक राजनीति में बढ़ रहे कोलाहल और शब्द-व्यभिचार से बहुत परेशान है । साहित्यकारों में राजनीतिज्ञों के पिछलग्गू बनने की बढ़ रही प्रवृत्ति से उद्विग्न है: "आज तो सिर्फ दो ही दल हैं इस देश में । एक दल है ठेकेदार, व्यवसायी, अफसर, राजनीतिज्ञ तथा पत्रकार आदि बुद्धिजीवी । दूसरा दल है 'भकुआ' बनकर खड़ा समूचा देश । ऐसी स्थिति में साहित्यकार की भूमिका यही हो सकती है कि किसी राजनीतिक पार्टी या संगठन की जमीन पर खड़ा होने का लालच छोड़े, राजनीतिज्ञ के 'नाई बारी भाँट' या 'पवनी' बनकर खड़ा होने की आदत छोड़े और अपने ईमान और अपनी मेधा की स्वतन्त्र जमीन पर खड़ा होकर इस देश की इच्छाशक्ति को निर्बीज, क्षत-विक्षत और विभ्रान्त तथा भ्रष्ट होने से बचावे । .... साहित्य मनोमय पुरुष का अखाड़ा है । साहित्यकार की भूमिका भी 'मन' या 'इच्छा-शक्ति' के सन्दर्भ में ही है । ... मैं यह नहीं कहता कि राजनीति साहित्य के लिए अछूत विषय है या साहित्य राजनीति का अनुगमन न करे परन्तु राजनीतिक मूल्यों के समर्थन के नाम पर साहित्य में कट्टरपन्थी सम्प्रदायवाद और **'क्लूक्लस-क्लान' का रूप** न ले । .... साहित्यकार की भूमिका जीवन और अमृत से जुड़ी है, संहार और गरल से नहीं । संहार और गरल तो राजनीति के जिम्मे हैं । .... आप गरल में ही रुचि रखते हैं तो आपका तरीका उससे भिन्न है । आप गरल का रसायन के रूप में व्यवहार करें, उसे 'रस' में दें तो हमें कोई एतराज नहीं । 'रस' रूप में गरल औषधि बन जाता है ।"

'धर्म निरपेक्षता: प्रकृति और विकृति' का मनोमय साहित्यकार धर्म के पूर्वाग्रहों के ऊपर नहीं उठ पाया है । 'सेक्यूलर' शब्द की कालयात्रा में वह राष्ट्र की उपेक्षा करके केवल धार्मिक सन्दर्भों और राजनीतिक विकृतियों के माध्यम से उसे देखता है । इस प्रकार इस शब्द के उद्भव का एक केन्द्रीय तत्व ही अछूता रह गया है । यूरोप में 'पोप' और सामन्तों के बीच चले लम्बे संघर्ष का जिक्र तक नहीं है, जिसकी कोख से यह शब्द पैदा हुआ था । लेखक का यह कहना बिल्कुल सही है कि "सेक्यूलर शब्दका सही प्रतिशब्द होगा साम्प्रदायिकता-निरपेक्ष । वैसे इसका सटीक अनुवाद 'लोकाश्रयी' या 'लोकायत' है । .... व्यवहार के स्तर पर इसका (धर्म-निरपेक्षता का) अर्थ होता है 'धार्मिक सहिष्णुता' मात्र ।"

'सार्वभौम मानव-धर्म: तथ्य और कल्पना' का लेखक स्वपरिभाषित 'संयम और तपस की कट्टरता' नामक 'निष्ठा' से ओतप्रोत है । स्व-धर्म की वकालत के ऊपर उठने के लिए प्रस्तुत ही नहीं है : "मेरे कथन का इतना ही तात्पर्य है कि आकाश का ध्रुवतारा महत्वपूर्ण है सही । परन्तु घर का दिया उससे ज्यादा महत्वपूर्ण है । सूर्य के तेज से चूल्हे की जलती आग ज्यादा अपनी है । .... अतः सार्वभौम मानव-धर्म

को सच्ची श्रद्धा से प्रणाम करते हुए भी मैं बाप-दादों के हिन्दूधर्म से ही सन्तुष्ट हूँ ।" अपनी ही शर्तों पर वसुधा को कुटुम्ब बनाने की निष्ठा को क्या कहा जाय !

'किसान-गुरु स्वामी सहजानन्द' में स्वामी जी की ओजस्विता, सत्यनिष्ठा, पांडित्य और कर्मठता का मर्म-स्पर्शी चित्रण प्रस्तुत करने के बाद, लेखक उनके द्वारा चलाये गए किसान आन्दोलन और उसके ऐतिहासिक रूपान्तरण की करुण रूपरेखा की एक झलक पेश करता है: "तब इस 'किसान' शब्द का अर्थ था 'जमींदार' की एण्टी थीसिस यानी 'काश्तकार' । .... स्वामीजी इसी अर्थ को लेकर चले थे । ..... अब समस्या है 'खेतिहर' बनाम 'खेती मजदूर' की । .... स्वामी सहजानन्द सरस्वती ..... दोनों को मिलाकर एक 'इकाई' मानते थे । परन्तु आज बात स्पष्ट हो गई है कि .... दोनों के बीच द्वन्द्ध उभाड़ने के लिए पर्याप्त जमीन है । ...... इस द्वन्द्ध की आँच पर सभी राजनीतिज्ञ अपनी चुनावकी कड़ाही गरमा रहे हैं । मजदूर के लिए सभी के कलेजे में महाकरुणा का अबाध निर्झर चालू है । ... जिस किसान के पास साल में महज छः माह का भोजन है (... सौ में नब्बे ऐसे हैं) वह अपने हलवाहे के लिए बारह महीने वेतन और 'प्राविडेण्ट फण्ड' की भी व्यवस्था करे, यह सब भारतवर्ष के शेषनाग ग़रीब किसान के साथ एक अत्यन्त निर्मम मजाक के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?"

'हिन्दी साहित्य के भगीरथ राहुल सांकृत्यायन' का लेखक पूर्वाग्रह मुक्त है । वह राहुल जी की अधिकांश कृतियों की वस्तुनिष्ठ और सारगर्भित समीक्षा करने के बाद उनकी मनोभूमि का चित्रण और प्रतिभा का मूल्यांकन करता है "नवशिक्षित एवं अंग्रेजी मार्फत प्राप्त वामपंथी चेतना सर्वदा भारतीयता के प्रति एक 'बेगाना' एवं तिरस्कारपूर्ण भावसे पीड़ित रहती है । यह दोष राहुल जी में नहीं था । वे नखशिख भारतीय थे । ..... राहुल जी भारतीय संस्कृति की सनातन वामधारा के प्रतिनिधि थे । यह वामधारा श्रमण परम्परा कही जाती है जो भगवान ऋषभ देव से प्रारम्भ होकर बुद्ध-महावीर-नानक-कबीर क्या, एक तरह से देखें तो मुंशी प्रेमचन्द्र तक आती है । ... यह भारतीय वामधारा 'लोक' और लोकोत्तर (यानी धर्म-चेतना) दोनों को लेकर चलती है और यह भौतिकवादी नहीं है । राहुल जी भी अनीश्वरवादी थे, परन्तु भौतिकवादी नहीं थे। वे संस्कृति परिवेश में ही धर्म-चेतना का सम्मान करते थे । ईश्वरवादी धर्म-चेतना से उनका कोई लगाव नहीं था और पुरोहित आश्रित धर्म के तो वे घोर विरोधी थे । ..... राहुल जी ने अपने लम्बे जीवन में बहुत कुछ लिखा है । सर्वत्र और सभी कुछ से सहमत होना असम्भव है। ..... पक्षधर एवं प्रतिबद्ध लेखन में ये सामयिक दोष आ ही जाते हैं । कबीरमें बहुत कुछ ऐसा ही आ गया है । .... राहुल जी ने हमें बहुत कुछ ऐसा दिया है और

विपुल परिमाण में दिया है जो महार्घ है और अतुलनीय है । ...... वे सनातन भारतीय वामधारा के अभिनव तीर्थंकर थे, हिन्दी साहित्य के भगीरथ थे, अद्वितीय थे ।"

'गाँधी की प्रासंगिकता' में लेखक की आत्मा बोलती है । गाँधी और उनके दर्शन से लगाव इतना स्पष्ट है कि कुछ लोग इसे पूर्वाग्रह की संज्ञा भी दे सकते हैं। उसके विचार में मनुष्य की अच्छाई । शीलबोध का भयावह रूप से अक्षम और अपर्याप्त हो जाना ही हमारी आज की ट्रैजेडी है । वह दो प्रश्न उठाता है । १- मनुष्यकी अन्तर्निहित अच्छाई को कैसे सक्षम और पर्याप्त बनाया जाय ? २- इस अच्छाई की व्यूहरचना कैसी हो जो एक दीर्घकालीन समाधान दे सके? उसके पास एक ही समाधान है: "इन दोनों सवालों का उत्तर मात्र गाँधी-चिन्तन के भीतर प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं ।" वह गाँधी के 'अभय' से ही अपनी बात शुरू करता है । अभय के तीन स्रोत चिह्नित करता है: राजशक्ति, जनशक्ति और लोक शक्ति । पहली को दमनात्मक और दूसरी को हिंसात्मक बताकर उन्हें अभय-दान के अयोग्य घोषित कर देता है । वह 'जन' को अन्तःकरणविहीन भीड़ का अंश बताता है और 'लोक' को अन्तःकरण सम्पन्न व्यक्ति । "तो समाज में अन्तर्निहित अच्छाई या मनुष्यत्व को सक्षम बनाने और अभयबोध देने के लिए गाँधी-चिन्तन में एक तीसरी शक्ति कल्पित की गई है, वह है लोकशक्ति । .... इस लोकशक्ति की सही प्रकृति है 'अहिंसा', और अपरिग्रह और सत्याग्रह इसकी खुराक है । ..... गाँधीजी ने लोकशक्ति की बिरादरी (वर्ग या वर्ण नहीं) के गठन के साथ-साथ 'सर्वोदय समाज' की परिकल्पना की है इन दोनों सवालों के जबाब में ।" लेखक इतिहास के सम्पृक्त बिन्दु तथा मनुष्य के प्रयत्नों की भूमिकाओं को रेखांकित करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचता है : "आधुनिक भोगप्रधान विलासी पश्चिमी संस्कृति, जिसे भूल से 'वैज्ञानिक् संस्कृति' भी कहा जाता है, कई अर्थो में रोमन साम्राज्यवादी संस्कृति के समनुरूप है । यह भी अपने सम्पृक्त बिन्दु की ओर अग्रसर हो रही है । एक दिन ऐसा आयेगा कि सभी को 'सर्वोदय' और गाँधी की जरूरत अनिवार्य लगेगी ।" वस्तुतः पर्यावरण प्रदूषण और सामूहिक जीव-संहार के आयुधों से चिन्तित उत्तरआधुनिकतावादी चिंतक तथा टिकाऊ विकास की आवश्यकता को निर्विकल्प एवं सम्भव बताने वाले अर्थशास्त्री गाँधी-चिन्तन की अनिवार्यता पर बल देने लगे हैं । कुल मिलाकर 'मराल' एक शिक्षाप्रद और पठनीय पुस्तक है । इसका नामकरण सार्थक है ।

●

"नमामि त्वां हृदयशेषे" (मराल)

डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह,
रीडर, हिन्दी विभाग
जामिया मिल्लियां इस्लामिया, नयी दिल्ली

कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों का समग्रतया विश्लेषण अनेक विद्वानों द्वारा अनेक प्रकार से किया गया है, किन्तु कभी-कभी किसी रचनाकार की रचनात्मकता के आकलन में उसकी कोई एक छोटी-सी रचना भी पर्याप्त सहायक सिद्ध होती है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए इस छोटे से आलेख में कुबेरनाथ राय के एक ललित निबंध पर अपना विमर्श प्रस्तुत करने का यत्न किया जा रहा है।

कुबेरनाथ राय ने अपने अनेक निवन्धों का शीर्षक संस्कृत में दिया है इसी क्रम में उनका यह निबन्ध-'नमामि त्वां' हृदयशेषे भी है। इस निबन्ध के अन्तर्गत लेखक ने हृदय, मन, प्राण आदि शब्दों की व्याख्या तो की ही है, साथ में पिकासो कम्युनिजम, भौतिकवाद, यांत्रिकता एवं बुद्धिवाद जैसे बिन्दुओं पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं।

नमामि त्वां हृदयशेषे निबन्ध का आरम्भ हृदय और मन की व्याख्या से होता है। यक्ष के एक प्रश्न पर युधिष्ठिर का उत्तर है कि 'हृदय पत्थर के पास नहीं'। इस वार्तालाप में केवल हृदय है, मन नहीं है, किन्तु कुबेरनाथ राय कहते हैं" हृदय अर्थात् मन, मन ही अक्षर ब्रह्म की शय्या है"। अर्थात् लेखक के अनुसार हृदय और मन दोनों एक हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं। कुबेरनाथ राय बहुपठित थे, बहुज्ञ थे, वे जब कह रहे हैं तो शंका की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। वे भाषाविद् भी थे। अपने निबन्धों में उन्होनें भाषा और शब्द को लेकर अनेक तरह की विश्लेषणात्मक व्याख्याएँ भी दी हैं। अतः यह बात समझ में नहीं आती कि उन्होंने यह कैसे मान लिया कि दो भिन्न प्रकार के शब्द एक दूसरे के पर्याय हो सकते हैं। वस्तुतः हृदय, मन, बुद्धि, आत्मा आदि शब्दों के स्वतंत्र अस्तित्व हैं। मन चपल है। उसकी चपलता की सीमा तुलसी के शब्दों में यहाँ तक है – "पीपर पात सरिस मन डोला" अर्थात् 'मन पीपल के पत्ते की तरह डोल गया' और पीपल का पत्ता है कि बिना हवा चले ही डोल जाता है। कठोपनिषद् में 'आत्मा' की व्याख्या के संदर्भ में मन और बुद्धि की व्याख्या भी हुई है। वहाँ रथ-रूपक के माध्यम से यह बताया गया है कि मनुष्य का शरीर एक रथ है, आत्मा रथी है (अर्थात् रथ पर बैठा

हुआ) और बुद्धि सारथि है । मन वल्गा यानी लगाम है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं । इस व्याख्या में भी मन को विचलन की प्रवृत्ति से युक्त कहा गया है । यदि बुद्धि रूपी सारथि दृढ़ न हो तो मन रूपी वल्गा ढीली हो जायेगी और इन्द्रियों के घोड़े शरीररूपी रथ को न जाने किस खाई में गिरा दें । इस व्याख्या में 'हृदय' नहीं है । किन्तु यह नहीं लगता कि मन हृदय के पर्याय के रूप में इस्तेमाल हुआ है ।

वस्तुतः मन का काम है सोचना (To think) और हृदय का काम है अनुभव करना (To feel)। सम्भव है कुवेरनाथ राय ने सोचने और अनुभव करने को एक ही अर्थ में लिया हो । किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में यह हो भी सकता है । अतः यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक का यह विचार त्रुटिपूर्ण है, किन्तु विचारणीय अवश्य है ।

युधिष्ठिर के उपर्युक्त कथन, अर्थात् हृदय पत्थर के पास नहीं, से जोड़कर कुबेरनाथ राय ने दूसरा भी अर्थ निकाला है । वे कहते हैं "पत्थर मात्र ही नहीं, सारे पार्थिवतत्त्व, धातु, काष्ठ, खनिज, चांदी, सोना ये सबके सब हृदयहीन हैं । भले कोई दुलार से अपनी प्रेमिका को सोना कहकर बुलाये ।" इसी संदर्भ में वे आगे कहते हैं "और प्रेमिका को तो (मेरी सोना) कहना बिल्कुल विसंगत है, इससे तो अच्छा है कि उसे कहा जाय (मेरी पत्थर) ।" यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रेमिका को पत्थर मानने की यह परिकल्पना एकदम सही है । फारसी कविता में प्रेमिका पत्थर ही है । फारसी और उर्दू शायरी में प्रेमिका के संदर्भ में जिस शब्द का इस्तेमाल प्रचुरता के साथ हुआ है वह है सनम । सामान्य लोग यही जानते हैं कि सनम का अर्थ है प्रेमिका, किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ है 'पत्थर की मूर्ति' । निष्कर्ष यह कि कुबेरनाथ राय की परिकल्पना वायवीय नहीं है, इसका बीज पहले भी विद्यमान था । किन्तु कुबेरनाथ राय के इस कथन का अपना महत्त्व भी है, क्योंकि उन्होंने धरती के गर्भ में छिपे हुए बीज को अंकुरित किया है । अंकुरण पुण्य है, धर्म भी । लेखक ने पुण्य और धर्म दोनों ही किया है ।

"नमामि त्वां हृदयशेषे" के पाठ से गुजरते हुए यह अनुभव होता है कि लेखक विज्ञान एवं वैचारिक क्रांतियों से परेशान है । वे कभी डार्विन के माध्यम से संस्कृति के हाहाकार का जिक्र करते हैं और कभी फ्रायड और युंग आदि के माध्यम से मन के भीतर बैठे अपदेवता का । कुबेरनाथ राय का यह विश्लेषण अपने आप में महत्त्वपूर्ण तो है ही, हम भारतीयों के लिए विचारणीय भी है, किन्तु जब वे पिकासो की कला के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हैं तो आश्चर्य होता है । पहले तो वे यह तथ्य उद्घाटित करते हैं कि पिकासो की कला में जो शैली प्रयुक्त हुई है, वह है धनबाद की शैली । उनकी कला में आयत, त्रिभुज और चतुर्भुज तो हैं, किन्तु

वर्तुल रेखाएं नहीं हैं, जबकि मनुष्य, पक्षी, फूल-पत्ते वर्तुल रेखाओं में बने हैं, । अर्थात् वर्तुलता ही जीवन का असली और सही रूप है । इसके बाद वे यह व्यवस्था देते हैं कि–"कम्युनिस्ट भौतिकवादी खेमे में पिकासो को वाहवाही इसीलिए मिलती है कि वह जीवन के अन्दर से भाव सौंदर्य रहस्य रूमान को खदेड़कर एक वैज्ञानिक यांत्रिकता को प्रतिष्ठित करना चाहता है ।" यहाँ कुबेरनाथ राय के प्रति पूरे सम्मान और पूरी विनम्रता के साथ यह बताना आवश्यक है कि कम्युनिज्म की दृष्टि में भाव और सौंदर्य का क्या महत्त्व था । अपने घोषणा पत्र में कार्लमार्क्स ने एक जबरदस्त बात कही है कि पूंजीवाद ने मनुष्य और मनुष्य के बीच के सारे रिस्ते खत्म कर दिये हैं, सिवा रुपये पैसों के लेन-देन के । पूंजीवाद ने मनुष्य की भावनात्मकता को नष्ट कर दिया है । अर्थात् 'भाव' को नष्ट किये जाने को लेकर मार्क्स कितना परेशान थे इसे समझने के लिए यह उदाहरण पर्याप्त था । वास्तविकता यह है कि पिकासो यदि कम्युनिस्टों के बीच प्रिय हुआ तो उसका कारण तथाकथित अमानवीय कला नहीं थी, बल्कि कला के क्षेत्र में उसका नया प्रयोग था ।

कुबेरनाथ राय़ ने अपने इस निबन्ध में 'गृह' शब्द की व्याख्या भी की है । उनके अनुसार 'गृह' भले ही फूस की पर्णकुटी हो, तो भी रहने का 'यंत्र' नहीं, बल्कि एक नीड़ है । उनकी यह व्याख्या न केवल सार्थक और संस्कृति सम्मत है, बल्कि यथार्थपरक और गरिमा युक्त है । वस्तुतः घर को घर की तरह व्याख्यायित करने का प्रयत्न साहित्य में कम ही हुआ है । कुबेरनाथ राय ने इस कमी को पूरा किया है । उनकी घर सम्बन्धी इस व्याख्या को शायद उर्दू का यह शेर पूर्णता प्रदान कर सके –

बस्ती मिली, मकान मिले, बामो-दर मिले
मैं सोचता रहा कि कहीं कोई घर मिले

उत्तर कुरुः आर्य और अनार्य संस्कृति के समन्वय की ललित रचना

डॉ. पूर्णमासी राय
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय

'उत्तर कुरु' श्री कुबेरनाथ राय का चतुर्दश निबंध संग्रह है । इसका प्रकाशन सन् १९९४ में नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली से हुआ । इसमें १६ निबंध संकलित हैं । वर्गीकरण की दृष्टि से इन्हें दो कोटियों में रख सकते हैं– तथ्य प्रधान और लालित्य प्रधान । 'उत्तरकुरु', 'अनार्यावर्त' और 'जम्बू द्वीप' ललितप्रधान कम और तथ्यप्रधान अधिक हैं । लेखक ने इन्हें 'ललित प्रबंध कहा है । शेष तेरह निबंध भी भारतीय इतिहास और संस्कृति के समन्वयमूलक चिंतन से अनुप्राणित अनेक संदर्भों को लेकर हैं । इनमें अपेक्षित विषय की ओर संकेत मात्र है, अतः विषय के पूर्णांग विवेचन की अपेक्षा नहीं की जा सकती । इनके नाम इस प्रकार हैं–'उत्तर कुरु और कदलीवन', 'शैवाल में उलझा एक मुखकमल', 'शकुंतला-प्रतीक और अर्थ', 'भारतीय इतिहास की अप्सरानाभि', 'चल मोरवा बारात रे' नदी पतित पावनीः नदी मत्स्यगंधा,' 'नद्दी अप्सरा और भरतगण' 'यमुना साँवरी', खौलती नदी, नाग और किशोर, जखनी-थान', अगरु वन की पग-ध्वनि,' धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' और 'अंजुरी भर उत्सव' ।

श्री राय के ललित निबंधों का वर्ण्य विषयों की दृष्टि से विवेचन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रस आखेटक', गन्धमादन और 'पर्णमुकुट' में शुद्ध ललित निबंध हैं. । जिनका उद्देश्य लालित्यबोध के साथ बौद्धिक रस का संप्रेषण और इसके द्वारा पाठक के मानसिक क्षितिज का विस्तार करना रहा है । इनकी वैचारिक भूमि में भारतीय साहित्य की क्लासिकल परंपरा, शाक्त-वैष्णव मनोभूमि और आधुनिकता-बोध-ये तीनों रहे हैं । सन् 1973 में प्रकाशित 'निषाद-बाँसुरी' में इनके लेखन की नवीन दिशा उद्घाटित हुई । इसके ललित निबंधों का लक्ष्य तो साहित्य ही रहा, पर उपलक्ष्य बन गया भारतवर्ष की आर्येतर सत्ता की रचनात्मक व्याख्या और भारतीयता की नींव के रूप में 'गंगातीरी निषाद संस्कृति की विविध रुचियों का अंकन और वर्तमान हिन्दू सभ्यता में उसके अवदान का विश्लेषण. । उन्होंने स्वयं लिखा है– "इस आर्येतर भारत अर्थात् अनार्यावर्त की सांस्कृतिक महिमा और मूलगत अवदान की व्याख्या मेरी चार पुस्तकें उपस्थित करती हैं ललित

निबंधों की विधा में । 'निषाद बाँसुरी' (1973), 'मन पवन की नौका' (1987), 'किरात नदी में चन्द्रमधु' (1983) और शीघ्र प्रकाश्य उत्तरकुरु' । (मराल-पृ. 159)

'उत्तरकुरु ' में भारतीय दक्षिण कुरु एवं पांचाल की पितर-संस्कृति का संकेत है । इसका संबंध चंद्रवंशीय आर्यों एवं हिमालय की गन्धर्व-किन्नर जातियों के समन्वय की कथा से है । महाभारतीय आर्य-संस्कृति की नींव को यहाँ पर ललित निबंधों के माध्यम से रेखांकित किया गया है । लेखक की अवधारणा है कि भारतीय आर्य वस्तुतः 'नव्य आर्य' हैं जिसकी रचना इतिहास-विधाता ने चार-तत्त्वों-आर्य-द्राविड़- निषाद-किरात से की है, और दूसरी बात यह कि जिसे हम आज भारतीय संस्कृति कहते हैं वह आर्य और आर्येत्तर दोनों की संयुक्तनिधि (कामनवेल्थ) है और इसकी संरचना में हमारे आर्येतर पितरों का भी समान योगदान है । (मराल-पृ. 159)

सर्वप्रथम 'उत्तरकुरु' शीर्षक पर विचार करें । 'उत्तर कुरु' प्रतीक है– काव्यों और पुराणों में कल्पलोक या इच्छा लोक का और इतिहास परंम्परा में यह प्रतीक है–भारतीय आर्यत्व के बीजस्थल का । लेखक को इस शीर्षक की प्रेरणा वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योगपर्व के वर्णनों से मिली । वा. रा. में सुग्रीव ने उत्तर दिशा की ओर अभियान करने वाले वानरों से कहा, "कुरुपांचाल से आगे, मद्र से आगे, यवन, बाह्लीक, ऋषीक और कम्बोज तथा शक देश से भी आगे, और अधिक उत्तर में स्थित है यह उत्तर कुरु देश !......इस उत्तर कुरु में 'स्वर्ण कमलों से भरी हुई नदियाँ हैं, नील-वैदूर्य-शिरीशों की पुरइन लताऐं हैं ...इस उत्तर कुरु में प्रत्येक वृक्ष ही कल्पवृक्ष सा है, उनके फूल और फल मौसमी नहीं, बल्कि नित्य और सार्वकालिक हैं– उनका गन्ध और रस दिव्य और अपार्थिव है । उनके पत्ते-पत्ते पर मनुष्य लोक की कामनाओं का संकेत लिखा है ।" (उत्तर कुरु-पृ. 7) इसलिए लेखक ने निष्कर्ष निकाला है कि 'उत्तरकुरु' प्रतीक है– काव्यों और पुराणों में कल्पलोक या इच्छालोक का । पर इतिहास के दृष्टिकोण से देखें तो कश्मीर ही उत्तरकुरु है और वहाँ से उतर कर वर्तमान कुरुक्षेत्र को 'दक्षिणकुरु' के रूप में बताना स्वाभाविक लगता है । संभवतः 'दक्षिण कुरु' में ही आकर कुरुगण स्थायी वाशिन्दे बने और गोपालक से कृषक बने । कभी ये हिमालय के उत्तर में थे । वहाँ से कश्मीर उतरे, कश्मीरसे एक गण कुलू के एक रास्ते शिमला-जौनसार-कूर्माचल के पहाड़ी क्षेत्र की ओर चला गयां और अपनी संस्कृति के आदिम रूप को सुरक्षित रखा तो दूसरा दल सरस्वती नदी के तट पर उतरकर यमुना की भूमि तक फैलता गया-एक नयी शालीन पद्धति में । निष्कर्ष यह कि 'उत्तरकुरु' हमारी धरती की ही तरह राग-विराग, सुख-दुःख वाला एक जनपद था जिसका इतिहास और भूगोल भ्रमणशील रहा है । पामीर के पठार और चीनी, तुर्किस्तान से लेकर वर्तमान हिमाचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश के कूर्माचल तक । परन्तु कालान्तर में यह

ऐतिहासिक कड़ी भूल गयी और उसका स्थान ले लिया मुक्त कल्पना ने । 'उत्तर कुरु' बन गया तब एक 'पुटके पुटके मधुवाला लोक' ।

'उत्तरकुरु' के ऐतिहासिक इतिवृत्त के बाद कुबेरनाथ राय ने 'अनार्यावर्त' शीर्षक तथ्यप्रधान निबंध में नृतत्वशास्त्र, भाषाशास्त्र और समाजशास्त्र के आधार पर यह सिद्ध किया है "भारतवर्ष की एक संज्ञा आर्यावर्त्त भी है । परन्तु असलियत तो यह है कि यह आर्यावर्त कम और अनार्यावर्तज्यादा है । भारतीय महाजाति की संरचना नीग्रो, आदिनिषाद, निषाद, किरात, भूमध्यीय (द्रविड़) और आर्य । आर्यों की संस्कृति में इन सबकी संस्कृति घुल-मिल गयी कि सरस्वती से लेकर ब्रह्म पुत्र तंक एक मिली-जुली नस्ल विकसित होती रही जिसकी संज्ञा 'हिन्दी' या भारतीय हो सकती है और जो अपने को आर्य घोषित करते हुए भी दीक्षित आर्य है–शुद्ध आर्य नहीं । '(उत्तरकुरु-पृ. ११) लेखक की दृष्टि में ये निष्कर्ष डॉ. सुनीत कुमार चाटुर्ज्या, (चटर्जी) आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी और वासुदेवशरण अग्रवाल भी शोधात्मक दृष्टिकोण से निकाल चुके थे । श्री राय ने ललित निबन्धों की सरणि से उनके निष्कर्षों को और हृदयङ्गम बना दिया और विदेशियों द्वारा आर्य और आर्येतर द्वन्द्व (ऐन्टी-थिसिस) का खंडनकर वाद-प्रतिवाद की शैली से ऊपर उठकर समन्वय की शैली में समाधान निकाला । उन्होंने डॉ. राम विलास शर्मा (आर्य द्रविड़ भाषा परिवारों का सर्वेक्षण) का हवाला देते हुए लिखा कि समूची अभिजात एवं श्रेष्ठतर अभिव्यक्तियों की शब्दावली में द्रविड़-मूल के शब्द ज्यादा हैं । क्या आजी, अम्मा, मामा, ताई, माई, मुन्ना आदि शब्दों का मूल द्रविड़ है ? क्या यह सब शत्रुभाव, आगंतुक भाव, बेगानापन और अपरिचय के माध्यम से संभव है ? (उत्तर कुरु-भूमिका)

कुबेरनाथ राय की प्रतिभा का संचरण मुख्यतः ललित निबंधों में हुआ है । उन्होंने ललित निबंधों को भी व्यक्तित्वप्रधानता और आत्मीयता की संकुचित मान्यता से पृथक् काव्य और शास्त्र का स्तर प्रदान किया । उनकी दृष्टि में 'ललित निबंध शुद्ध मौज-शौकिया मात्र आनन्द से जुड़ी विधा नही है । इसमें एक व्यक्त या अव्यक्त जीवनदृष्टि रहती है । यह शुद्ध गद्य-काव्य न होकर एक दृष्टिसंपन्न विधा है । इसी से यह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है ।" (दृष्टि-अभिभार-भूमिका) वे पुनः लिखते हैं–"ललित निबंध एक लालित्य-बोध या रस-बोध पर आधारित होता है । भले ही यह रस **'भीमपाक'** या करेला-पाक' हो । 'रम्य या रमणीय' सदैव मधुर अर्थ में ही नहीं गृहीत होता है । कोई भी अनुभव जो प्रगाढ़ और गहन-गंभीर हो, जो उदात्त हो, जो चित्त को चमत्कृत कर सके, वह सब रम्य या 'रमणीय' कहे जाने का अधिकारी है । .....ललित निबंध में अनुभव के विविध खण्डों का महत्त्व नहीं । महत्त्वपूर्ण है उन सारे अवयवों या खंडों के संयोग से बना हुआ सामाजिक अनुभव या गेस्साल्ट । ललित निबंध में इसी सामग्रिक अनुभव को स्पष्टतः या संकेत रूप में परिभाषित कर देने की प्रचेष्ठा अवश्य वर्तमान रहती है और निबंधकार अनुभव

के बिम्बों के साथ-साथ कथा-व्यास या सूत्रधार की भूमिका तोलता चलता है ।" (दृष्टि-अभिमार-भूमिका)

'उत्तरकुरु' के तेरह ललितनिबंधों में लेखक के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के साथ उनकी जीवन-दृष्टि और उनका सामाजिक अनुभव सौन्दर्य बोध और रसबोध व्यक्त हुआ है । जब 'उत्तरकुरु' की प्रवहमान धारा को ही वे कुरु-पांचाल क्षेत्र स्वीकार करते हैं तो शकुंतला की रमणीय कथा में भारतीय संस्कृति के गौरव भरत-दुष्यन्त आदि के चरित्र आ जाते हैं–उसी में अप्सरा, यक्षिणी, गंगा, यमुना और सरस्वती के मिथक अन्तर्भुक्त हो जाते हैं । इसके निबंधों में श्री राय ने विभिन्न रूपों में आर्य और आर्येतर के समन्वय की अभिव्यक्ति की है । "आर्य और आर्येतर नस्लो का यह सामाजिक और सांस्कृतिक समन्वय ही वैदिकोत्तर युग की भारतीयता की जन्मभूमि है– विशेषतः महाभारतीय आर्यशास्त्र के चन्द्रवंशियों की तो प्रसव-योनि ही रचती है– अप्सरा-संस्कृति । कालिदास के उपर्युक्त दोनों नाटक (अभिज्ञानशाकुंतलम् और विक्रमोर्वशीयम्) जिनकी नायिकाएँ शकुंतला और उर्वशी हैं, इसी ऐतिहासिक संकेत को बड़ी मोहक शैली में प्रस्तुत करते हैं । इनमें उर्वशी तो स्वयं अप्सरा है और शकुंतला है अप्सरा कन्या" (उत्तर कुरु पृ. 2)

इस प्रकार ललित निबंधों की रम्य विधा को श्रीराय ने ललित कल्पना, उदात्त आत्माभिव्यंजन, अभिव्यक्तिपूर्ण भाषा और मिथकों की प्रतीकात्मक व्याख्यासे समृद्ध किया है, उन्होंने नवीन मूल्य-दृष्टि से उन्हें संपन्न भी किया है । विशेष विस्तार में न जाकर उनकी जीवन-दृष्टि के प्रमुख पक्षों की ओर संकेत किया जाता है–

१) उत्तर कुरु में गांधीवादी शांत और अहिंसक मूल्यों की अभ्यर्थना की गई है (पृ. 123-24), पृ. 98
२) दूरदर्शन और आकाशवाणी से पुस्तकाध्यन की रुचि घटी है । (पृ. 131)
३) मनुष्य उत्पादन की इकाई नहीं एक आत्मा भी है–अतः उसे उत्पादन के संसाधन के रूपमें नहीं देखा जाना चाहिए । (पृ. 123)
४) आर्य और अनार्य का समन्वय । पृ. 9 ।
५) वर्णाश्रम धर्मों और सनातन धर्म में बहुत बड़ा भेद है । सनातन धर्म सबके लिए है, वह सार्वभौम और सार्वकालिक है । वह सनातनधर्म कुछ आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों की समूह वाचक संज्ञा है जिसका जाति और वर्ण से कोई ताल्लुक नहीं है । इसके लिए सत्य, दया, तपस्या, त्याग आदि तीस लक्षणो का -श्रीमद्भागवत 7।11।3-12 में निर्देश है ।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में समर्पित मानक मूल्यों की यत्र-तत्र तात्विक मीमांसा करते हुए 'उत्तरकुरु' को आर्य और अनार्य संस्कृति के समन्वय की महागाथा के रूप में रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया गया है । समग्र रूप से देखने पर श्रीकुबेरनाथ राय का 'उत्तरकुरु' इतिहास-लोक-संस्कृति और मौलिक मूल्य-दृष्टि की त्रिवेणी है । इसके कुछ सूत्रों को आधार बनाकर भविष्य के इतिहास वेत्ता को शोध की नूतन दिशाएँ मिल सकती हैं ।

●

उत्तरकुरु

डां. महेन्द्र नाथ राय
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

'उत्तरकुरु' में 16 निबन्ध संगृहीत हैं । उत्तरकुरु प्रतीक है काव्यों और पुराणों में कल्पलोक या इच्छालोक का और इतिहास परम्परा में यह प्रतीक है भारतीय आर्यत्व के बीज स्थान का जिसका प्रत्यक्ष संबंध तो कुरु पांचाल-राजस्थान गुजरात के शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्रों से ही है परन्तु अप्रत्यक्ष संबंध समस्त उत्तर भारत की आर्यभाषा बोलने वाले जन समाज से है । निबंधकार डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अभिमतों का उल्लेख करते हुए निबन्धकार भूमिका में निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचता है–"प्रथम तो आर्य-आर्येतर संबंधों में संघर्ष से ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका रही है– संयोग और सहयोग की और दूसरी यह कि आज की भारतीय महाजाति का कोई घटक चाहे वह आर्यभाषा भाषी हो या आर्येतर भाषा-भाषी विशुद्ध नहीं मिश्रित है । अतः इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए विद्वानों को समन्वय और सहयोग पर बल देते हुए एक ऐसे नृतत्वशास्त्र और समाजशास्त्र की रचना के लिए अग्रसर होना चाहिए जो अहिंसक हो, जो अवदमन से मुक्त हो और जो सर्वोदयी हो ।" पिछड़ी से पिछड़ी जाति या जनजाति के पास भी बहुत कुछ ऐसा है जो अत्यन्त उन्नत समाज के सदस्य के लिए भी जानने और सीखने लायक हैं । प्रत्येक के पास अपनी ऋद्धि-सिद्धि है, अपनी मौलिकता है। भारतवर्ष को भारतवर्ष बनाने की प्रक्रिया में पिछड़े से पिछड़े वर्ग का भी सामाजिक सांस्कृतिक और भाषिक योगदान रहा है । उत्तरकुरु के तीन निबंध 'उत्तरकुरु', 'जम्बूद्वीप' और 'अनार्यावर्त्त' ललित कम, तथ्य प्रधान ज्यादा हैं । इन्हें 'ललित प्रबंध' माना जा सकता है ।

'उत्तरकुरु और कदलीवन'– इस निबंध संग्रह का पहला निबंध है जिसमें हिमालय के उस पार उदीच्य जनपदों में से एक-उस भारतीय पौराणिक मन के कल्पलोक -'उत्तरकुरु' की चर्चा है जहाँ वृक्षों के पत्ते और फल नित्य हैं, यौवन नित्य है, जहाँ जरा और पतझर नहीं, रति का आत्मक्षयी रूप नहीं, अव नहीं, केवल शाश्वत किशोरवय है,

यह दिव्य उत्तरकुरु वस्तुतः आर्य इतिहास और कल्पना का अवदान है। भारत में पूर्व दिशा और दक्षिण दिशा अपेक्षाकृत अल्पज्ञात एवं रहस्यमय दिशाएँ थीं। अतः इन दिशाओं को रहस्यावृत लोक की तरह देखा जाना स्वाभाविक है निबन्धकार के शब्दों में भारतवर्ष कर्मभूमि है, यह मुक्तभोग भूमि नहीं यहाँ कर्म का बन्धन है। भगवान तक यहाँ कर्म से मुक्त नहीं। यहाँ कोरा सौन्दर्यबोध निरर्थक है, उसे शील से जोड़कर ही रचनात्मक और मंगलमय बनाया जा सकता है। मात्र भोगवाद हमारी भारतीय संस्कृति और साधना का लक्ष्य नहीं हो सकता। उससे मनुष्य न तो तुष्ट-पुष्ट होगा, न अहिंसक और निरुज ही।

उत्तर कुरु में निबंधकार ने रामायण-महाभारत से प्राप्त ब्यौरे को अपने ढंग से सत्यापित करते हुए दर्शाया है–"हिमालय के जौनसार क्षेत्र में आज भी आर्य-किरात विभिन्न प्रथाओं का प्रचलन है, नागालैंड की तरह यहाँ भी पितर पूजे जाते हैं। पितर हैं भीम और दुर्योधन। अन्य प्रथा है बहुपतित्व। वस्तुतः यह ट्राइबल मातृसत्ता प्रधान आदि स्थिति का संकेत देती है।

शैवाल में उलझा एक मुख कमल– में निबंधकार का मंतव्य है कि भारतीय संस्कृति एक महासमन्वय की उपज है। यह देवोपम आर्यपुरुषों तथा अप्सराओं अर्थात् आर्येतर जनजातीय कन्याओं की मिश्रित संतानों की संस्कृति है। शंकुतला संपूर्ण निसर्गश्री का प्रतीक है और उसके चरित्र में उत्तर की नदी उपत्यकाओं तथा दक्षिण की रंगीन माटी-दोनों के गुणों का समावेश है। भारतीय इतिहास के आरंभिक काल से ही महासमन्वय की ऐतिहासिक प्रक्रिया की यह प्रतीक है। बाद में भोजन और काम के संबंध में विधि-निषेध आश्रित पवित्रतावाद का परिणाम हुआ घनघोर घृणा और द्वेष। जो पवित्रतावाद हमारे अंतर्निहित मनुष्यत्व को ही समाप्त कर दे, वह हमारे लिए कभी ग्राह्य नहीं हो सकता।

'शंकुतलाः प्रतीक अर्थ'– में निबंधकार की अवधारणा है कि शकुंतला भारतीय साहित्य में कामना और रसबोध का विशिष्ट प्रतीक बनकर उपस्थित है। वह सरसा धरित्री की लौकिक भंगिमा को व्यक्त करती है और सौन्दर्यबोध के लौकिक संस्करण की एक भुवनमोहिनी छवि है। कालिदास ने बड़ी कुशलता से आदिम भारतीय निसर्ग का समस्त मधु शकुन्तला के चरित्र में उतार दिया है। प्रेम स्नेही ही नहीं मां भी है। परमाप्रकृति का सही रूप प्रेयसी और माता का संयुक्त रूप ही दुष्यंत की प्रेमिका की ट्रेजेडी सर्वदमन की माँ की महिमा में अपनी उर्ध्वतर प्रतिष्ठा पाती है। शकुंतला इच्छाशक्ति के वैष्णवी रूप का प्रतीक है, वह ललित और करुण दोनों ही है। वह करुण है क्यों कि माँ है, गाय की तरह, धरती माता की तरह।

'भारतीय इतिहास की अप्सरा नाभि'– निबंध में कुबेरनाथ राय की स्थापना है कि भारतीय सौन्दर्य बोध प्रकृति के सहज सुंदर परिवेश से ही जुड़ा चलता है और उसका ही प्रतीक है– शकुंतला ।

'अप्सरा शब्द की व्युत्पत्ति से उसके व्यक्तित्व को संश्लिष्ट करते हुए निबंधकार का मंतव्य है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति से उसकी चंचलता, स्वच्छन्दता प्रकट होती है । यह नदी का भी अर्थ देती है । नदी अर्थात् जलवती, रसवती । वह किसी ग्राम, देश या कूल से बंधकर नहीं रहती, जन-जन की तृष्णा बुझाती है, नदी पार्वती की बहन है तो अप्सरा सागर संभवा लक्ष्मी और अमृत की सहोदरा है । दोनों में कुछ भेद भी है । सारे मुक्त विचरण के बावजूद नदी कूलों के बीच अनुशासित रहती है क्योंकि वह महासती पार्वती की बहन है, परन्तु अप्सरा चंचल लक्ष्मी की सहोदरा होने से 'अकूल' बनी रहती है, किसी मर्यादा के नियमों से नहीं बंधती । पुराणों की भाषा में मानव और देवता का अर्थ आर्यमानव ही है । यक्ष, असुर, नाग, किन्नर, गंधर्व आर्येतर मानवों के मिथकीय प्रारूप हैं । गंधर्वगण की नारियाँ ही अप्सराएँ होती हैं । वैदिक संस्कृति के पूर्व ही आर्य-आर्येतर मिश्रण रजवीर्य और मन बुद्धि-दोनों क्षेत्रों में आरम्भ हो गया था ।

'चल मोरवा बरात रे'– में मोर की महिमा का आख्यान है । वह भारत का राष्ट्रीय पक्षी है । वह एक भावनात्मक प्रतीक और मंगल चिह्न है । इसे सगुन पक्षी माना जाता है । शकुन से ही जुड़ी है शकुन्तला । यह रसराज श्रृंगार रस का प्रतीक है और कृष्ण इस रस के अधिदेवता हैं । मयूर पंख का मुकुट धारण करने वाले हैं श्रीकृष्ण 'रसो वै सः' हैं । उन्हीं से सारे रस निःसृत होते हैं । मयूर पंख एक तरह से कामाध्यात्म का प्रतीक है । वह कामाध्यात्म के देवता कृष्ण से अभिन्न है । निबंधकार अपनी अनुसंधानवृत्ति का सहारा लेते हुए मयूर को लोकधर्म और तंत्रधर्म के अनेक विश्वासों से जुड़ा पक्षी स्वीकरता है । गंधर्वों और अप्सराओं से इसकी निकट की संगति बैठती है । अप्सराओं का पक्षी मयूर कार्तिकेय का वाहन और निबंधकार का अभिमत है कि गंधर्व और अप्सराएँ हिमालय और उसके निकटवर्ती अंचल में बसने वाली आर्येतर जातियाँ थीं और आर्यनायक उनकी कन्याओं के साथ समय-समय पर रक्त का मिश्रण करने की सुविधा उठाते थे जिसके परिणामस्वरूप अपूर्व क्षमताओं से सम्पन्न संतानों का जन्म हुआ । मित्र और वरुण ने जब एक ही साथ उर्वशी से संबंध स्थापन किया तो वशिष्ठ और अगस्त्य जैसी क्षमतावान संतानें उत्पन्न हुईं । मेनका और विश्वामित्र के संयोग का परिणाम थी शकुंतला । निबंधकार का अभिमत है– "हमारे साहित्य में आत्मा" का प्रतीक हंस है और मन का प्रतीक है मयूर ।

'नदी पतित पावनी : नदी मत्स्यगंधा'– में नदी और नारी की प्रकृति के साम्य पर विचार करते हुए निबंधकार की अवधारणा है–"नदी भी नारी की तरह जलवती, सोमवती, दुग्धवती सत्ता है । गंगा भी कभी मात्र समूचा लोकजीवन इस नदी प्रवाह के साथ एकाकार होकर बहता रहता है । वस्तुतः गंगातट पर सुरसरि की जलधारा, सुरभी (गाय) और सुहागिनी की एक मित छवि-नदी देवता का बोध कराती है । यह गंगा पुत्री, वधू, माता और तापसी की विभिन्न मुद्राओं में समय-समय पर लक्षित होती है ।

यह नदी लोकसंस्कारों में पवित्रता, उद्धार, मोक्ष और ज्ञान वैराग्य का बिंब रचती है । गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का मूल बीज है । हमारे धर्म और संस्कृति से यह अविच्छिन्न है । भारतीय जीवन में संस्कृति का प्रयोग निबंधकार के अनुसार परिष्कार और प्रक्षालन के अर्थ में होता है– सुसंस्कृत और संस्कारवान् जैसे शब्द इसी से जुड़े हैं । राय साहब का मत है–"संस्कृति और कुछ नहीं, धर्मसाधन का ही सेक्यूलर (लोकायत) रूप है । धर्म और संस्कृति– दोनों का उद्देश्य पवित्रता, संयम, परिष्कार, प्रक्षालन एवं अवदमन से मुक्ति है । दोनों ही मनोविकारों को संयत करने पर बल देते हैं । दोनों अभ्युदय के लिए हैं । चाहे व्यक्तिं हो या राष्ट्र जितने अंशों तक अपनी कामना की उग्रता का वे संयमन कर पाए हैं– उतने अंश तक ही वे संस्कृतिसम्पन्न और उन्नत कहे जा सकते हैं ।

गंगा जिस धर्म संस्कृति एवं जातीय दृष्टि की प्रतीक है– राय साहब के अनुसार वह शीलप्रधान है । यह शीलाचार को गौरवान्वित करती है । आर्येतर कोमलता और सौन्दर्यबोध के साथ आर्यप्रकृति का बल-संयम, अनुशासन और कर्त्तव्य बोध इस देश के शील स्वभाव की विशेषता हैं । इसी शील-स्वभाव का महाकाव्य है 'रामायण' ।

'नदी अप्सरा और भरतगण'– निबंध की स्थापना है– "गंगा से जुड़ी पौराणिक कथाएँ इसे सूर्य और चन्द्र दोनों वंशों से जोड़ती हैं । 'भरत' का अर्थ आदित्य होता है और उसकी संततियाँ 'भारती' हैं । गंगा नामकरण किरातों और निषादों ने पहले ही कर दिया था । निषाद गंगा की घाटी में कृषि तथा नौकानयन का शुभारंभ कर चुके थे । रघुवंशीय भरतों ने इनके सहयोग से एक नए भारतवर्ष की नींव डाली और तेजस्वी व्याघ्रोपम आर्यत्व के स्थान पर एक सावित्री प्रधान, सौम्यकांत आर्यत्व को विकसित किया । कोशल प्रदेश ही गांगेय सभ्यता की नींव रचता है ।

राय साहब की स्थापना है कि प्रारंभ में गंगानदी हिमालय की मकरवाहिनी यक्षिणी देवता मात्र थीं, यक्षगण उद्भिद् और जल से जुड़े उर्वरता के देवता थे । गंगा का चरित्र मैदानों में आकर वनस्पति की उर्वरता से जुड़ जाता है, वह ऐश्वर्य

वैभव एवं लक्ष्मी स्वरूपा बन जाती है । उसके यक्षी और अप्सरा चरित्र का उदात्तीकरण पुराणों ने किया-अप्सरा सती भगवती देवी बन गई ।

'यमुना सांवरी'– यमुना के पौराणिक एवं ऐतिहासिक महत्व का निदर्शन हुआ है । यमुना से वृंदावन, कृष्ण, उनकी वांसुरी की ध्वनि, उनके द्वारा संपादित रासलीला आदि का ख्यात संबंध है और इन सबकी मधुर स्मृति लोकमानस में रसी-बँसी है ।

पुराणों के अनुसार 'यमी' ही यमुना है । शूरसेन और कुरु-पांचाल दोनों ही यमुना नदी से प्रगाढ़ रूप से जुड़े रहे हैं । महाभारत की गाथा भूमि कुरु-पांचाल देश ही है । यमुनातट पर भरतगणों के द्वारा जितने अश्वमेध हुए हैं, उतने गंगातट पर नहीं । भागवत के अनुसार कालिन्दी कृष्ण की प्रेमिका और पत्नी भी बनी थी । वृंदावन लीला से जुड़कर यह नदी धन्य हो गई । महाकाव्यों ने राधा को कृष्ण की आत्मा और कालिन्दी को उनका मन माना है ।

नदी, नाग और किशोर शीर्षक निबन्ध में राय साहब 'नाग-नथैया' लीला प्रसंग पर अपना अभिमत देते हुए पुनः यमुना नदी का स्मरण करते हैं । यमुना जब अपने ही अन्तर्निहित विष से व्याकुल हो भगवान के समक्ष आर्त्तभाव से शरणागति की मुद्रा में उपस्थित हुई तब उन्होंने कालिय नाग का मानममर्दन करते हुए उसका उद्धार किया था । राय साहब के अनुसार "इस लीला का प्रतीकार्थ बड़ा गहरा है । यहाँ नाग अपस्मार का प्रतीक है और माया-माणवक मन की दिव्यवृत्तियों का– जो सुन्दर और सुकुमार होते हुए भी अपराजेय है ।" भारतीय कला और साहित्य में जो सूत्र सर्वाधिक महत्वपूर्ण है वह है सद् द्वारा तमस् का विमर्दन । अपस्मार को रौंदता हुआ नर्तित नटराज । आधुनिक मनोविज्ञान में सर्प सेक्स का प्रतीक है । यहाँ पर कालियनाग एक बृहत्तर प्रतीक है–सारे नकारात्मक और उत्तेजक मनोविकारों का । कालिय नाग का दमन कर कृष्ण उसे अनुशासन में लाते हैं । आज के संदर्भों में इस प्रतीक को घटाते हुए राय साहब लिखते हैं– "आज का समाज शिश्नोदर की उपासना को चरम लक्ष्य मान चुका है । भाषा और नारी के प्रति उसकी दृष्टि अत्यंत हिंसक है । ऐसी स्थिति में आज हमारे लिए जरूरी है परिश्रमी मानसिकता को निरंतर उधार लेने की जगह अपने देशी मानसिक उत्तराधिकारों की चिंता करें । हम अपनी 'कामना' और 'इच्छाशक्ति' को सही ढंग से प्रक्षालित और संतुलित कर लें । आज संपूर्ण एशिया और विशेष रूप से भारतवर्ष एक नए 'द्वापर' से गुजर रहा है । सारी मानवीय संस्कृति ही अपस्मार के आवेश से पीड़ित है । जल-थल अन्न सभी स्तरों पर प्रदूषण ही प्रदूषण है । इस प्रदूषण से मुक्ति के लिए हमें नटराज से प्रार्थना की भूमि में आना है–यही विकल्प है ।

'जखनी थान' निबंध में कुबेरनाथ राय ने वाराणसी जनपद के 'जखनी थान' अर्थात् देवस्थान पर प्रकाश डालते हुए लिखा है– "जखनी शब्द मूलतः यक्षिणी है। काशी क्षेत्र आदिम युग में यक्ष पूजा का क्षेत्र था। बौद्ध ग्रंथों में वाराणसी के महाकाल यक्ष का उल्लेख मिलता है। विद्वानों की धारणा है कि काशी की यक्षोपासना पर कालांतर में शैवोपासना का आरोप हो गया और वाराणसी का महायक्ष ही विश्वेश्वर शिव के रूप में उपस्थित है। पुजारियों का मानना है कि यह शब्द 'दाक्षायणी' का अपभ्रंश है। निबंधकार के शब्दों में यदि जनता 'जक्खिनी' को 'दक्खिनी मार्ग' कहती है तो ठीक ही कहती है। 'दक्ष' अर्थात् 'जक्ष' की ही कन्या थी दाक्षायणी सती और सारे यक्षिणी कोटि के देवताओं का इसी अंबिका के भीतर समाहार हो गया। यक्षिणी का स्वतंत्र चरित्र है और यह शैवाचार और शास्त्राचार में आगम और तंत्र के मार्ग से प्रतिष्ठित है। इस स्थान की यक्षिणी भी इसी कोटि की देवता है जो आद्यशक्ति अंबिका के समतुल्य नहीं। यह पार्षद देवता कोटि की ही है। गंगा के इस पार है जखनी-थान और उस पार है विंध्यभूमि। यहाँ के लोगों का विश्वास है कि कभी-कभी चुनार दुर्ग से राजा भरथरी अब भी अर्धरात्रि में आकर इसका पूजन करते हैं। सही उपासना पद्धति से ये सभी दिव्यभाव तक पहुँचा देती हैं। निबंधकार को लगता है कि वाराणसी की यह यक्षिणी भी अपने मूल रूप में निषाद नस्ल वाले आदिमजन जातियों की कुलदेवता रही होगी। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल को उद्धृत करते हुए राय साहब लिखतें हैं– काशीप्रांत के सारे यक्षथानों में कुछ तो शैवउपासना केन्द्रों में बदल गए, कुछ 'वीर' या 'बरमधान' के रूप में सुरक्षित रहे। आदिम निषाद पितर, प्रेत, वीर, बरम जैसे अपदेवताओं का भी उपासक था।"

'अगरुवनों की पगध्वनि' में निबंधकार ने मणिपुरी नृत्य की विशेषताओं का आनुभूतिक रेखांकन किया है– "भारतवर्ष की एकांत नृत्य उपासना की शैली में होता है। मणिपुर की उपत्यका में अवस्थित मङ्राङ् लोकताल झील आदि वराह के प्रदेश में है। यहाँ कदलीवनों और चंपा पुष्पों से सज्जित अनेक ग्राम द्वीपों की तरह अवस्थित हैं जहाँ पर वक्ष तक नग्न निर्भय नारियाँ और शिशुओं के दल थिकरते रहते हैं। मणिपुर में अनेक जातीय नृत्य समय-समय पर विभिन्न मौसमों में होते रहते हैं और यहाँ के लोगों का विश्वास है कि इन नृत्यों से देवताओं को शक्ति मिलती है तथा तामसी शक्तियाँ दुर्बल बनती हैं। इन नृत्यों से मनुष्य के भीतर की देवशक्ति जाग्रत हो उठती है। इसका चित्रण करते हुए वह लिखता है–"मणिपुरी लोग आज वैष्णव हो गए हैं। प्रत्येक मणिपुरी आंगन में तुलसी वृक्ष, सहन में चंपे के झाड़ और पृष्ठभूमि में केले का बाग अवश्य रहता है।" मणिपुर को कभी नारी राज्य कहा जाता था। यहाँ पिताहीन संतान को धिक्कृत नहीं माना जाता।

'अनार्यावर्त, शीर्षक निबंध में भारतीय महाजाति की संरचना पर विचार करते हुए कुबेरनाथराय ने नृतत्वशास्त्रीय और भाषावैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग समीचीन ठहराया है और नीग्रो, आदिनिषाद, निषाद, किरात, भूमध्यीय (द्रक्षिण) और आर्य प्रजातियों के रंग रूप की विशेषताओं का रेखांकन किया है । इस संदर्भ में उन्होंने स्थापित किया है कि आज के भारतीय संदर्भ में दक्षिण वालों का द्रविण जातिवाद का नारा उतना ही खोखला है जितना कि उत्तरभारतीयों का 'आर्यजातिवाद' का । भारतवर्ष में 'भाषा और नस्ल' सर्वदा एक ही नहीं रहे । नस्लें जहाँ की तहाँ रह गईं और भाषा दक्षिण की ओर खिसकती गई । भारत के द्रविड और निषाद जो आर्यों के पूर्व यहाँ बसे थे, अपनी भाषा और धर्म को छोड़कर आर्यधर्म में दीक्षित हो गए तथा आर्यभाषा का कुछ हद तक और आर्यधर्म का पूरा-पूरा रूपान्तर वर्तमान हिन्दू धर्म के रूप में उन्होंने कर डाला । आर्यों ने इनकी सारी संस्कृति और धर्म को अंगीकार कर लिया और इन्हें अपनी भाषा दे दी । इस प्रकार सरस्वती से लेकर ब्रह्मपुत्र तक एक मिली-जुली नई 'नस्ल' विकसित होती रही, जिसकी संज्ञा 'हिन्दी' या भारतीय ही हो सकती है । इस समन्वय के चलते हिन्दू धर्म और चिंतन, साहित्य, भोजनयान और लोकाचार के स्तर पर तीन चौथाई आर्येतर अर्थात् अनार्य है ।

'जम्बूद्वीप' शीर्षक निबंध में कुबेरनाथ राय ने जम्बूद्वीप के इतिहास भूगोल एवं भारतवर्ष के साथ उसके अन्योन्याश्रित संबंध पर रोशनी डाली है । कुछ शब्दों का भूगोल मृण्मय न होकर चिन्मय होता है । जिस तरह उत्तरकुरु के आर्य-कवीलों का भूगोल घुमंतू रहा है, उससे ज्यादा जंबूद्वीप के लिए यह सच है । मोटे तौर पर कहा जा सकता है 'जंबूद्वीप' उत्तरकुरु के दक्षिण में वर्तमान है और पूरा भारतवर्ष और पाकिस्तान इसके अन्तर्गत आते हैं । अफगानिस्तान को भी अपने सांस्कृतिक भारत का ही एक अंग समझना चाहिए । बौद्धों ने भारत के स्थान पर 'जंबूद्वीप' शब्द का ही व्यवहार किया है । अशोक के शिलालेखों में 'जंबूद्वीप' शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है । निबंधकार के अनुसार–" लोगों को यह भ्रम है कि बौद्ध दर्शन नाधर्मी और जीवनविरोधी है । बुद्ध ने कामनानिरोध पर बल दिया है । कामना की अतिशयता हमारे जीवन को असहज बनाती है इस लिए वह त्याज्य है । राय साहब ने बौद्ध दर्शन, गीता, श्रीमद्भागवत आदि के व्याज से भारतीय संस्कृति के समान मूल्यों को सर्वत्र प्रीतिकर ढंग से उरेहने का प्रयास किया है और उनका यह प्रयास आज के वातावरण में सर्वथा प्रासंगिक है ।

'धर्म क्षेत्रे कुरु क्षेत्रे' शीर्षक निबंध में राय साहब लिखते हैं:– "महाभारत हमारा इतिहास है, 'रामायण' काव्य-अर्थात् पहला हमारा यथार्थ है और दूसरा आदर्श । निबंधकार का निश्चय है कि प्रत्येक शुभ कर्म यज्ञवत् है, देवताओं को समर्पित

आहुति है । परमात्मा को समर्पित सभी कर्म शुभपरिणाम दाता होते हैं, वे नर-नारायण के संयुक्त कर्म होते हैं । निबंधकार का मानना है कि 'कुरुक्षेत्र' का पुराना नाम धर्माख्य था जहाँ सरस्वती नदी बहती थी और जिससे अंगिरस्, जमदग्नि, दधीचि और वासुदेव कृष्ण सभी जुड़े । कालान्तर में इस भूमि की पवित्रता बाधित हुई । महाभारत काल से बीसवीं शती के मूल्यों एवं परिस्थितियों में काफी समानता पाते हुए निबंधकार की टिप्पणी है– बीसवीं शताब्दी मूढ़ कर्मयोग की शताब्दी है जहाँ आत्मतत्व का विस्मरण है, संस्कृति और शिक्षा भी इसके प्रभाव में आ गए हैं, परिणाम है समाज से सुख शांति का पलायन ।

'अंजुरी भर उत्सव' में 'वसंत पंचमी' के व्याज से भारतवर्ष की उत्सवधर्मिता का प्रकाशन किया गया है । आज की तिथि एक ही साथ बहुत कुछ है । आज शस्यपूजन की तिथि 'नवान्न' है, श्री पंचमी है, वसंत पंचमी है, गंधर्वों का रतिकाम महोत्सव है, अप्सरा पूजा है, बालगोपाल की सरस्वती पूजा और विद्यारंभ का मुहूर्त्त है । यह एक ही तिथि अनेक ऋद्धियों-सिद्धियों का द्वार खोलती है, आज एक ही साथ अंजुरी भर उत्सव है, निबंधकार सोचता है कि आजका युग आनंद के आस्वादन में नहीं आनंद के घर्षण में विश्वास करता हुआ, नारी, भाषा और भाव तथा अन्नपान के ग्रहण में बलात्कार की मुद्रा अपनाने में सुख पाता है । निबंधकार 'ईशावास्य' के व्याज से इस बात का समर्थन करता है कि व्यक्ति को परा एवं अपरा दोनों तरह की विद्याओं से युक्त होना चाहिए क्योंकि परा से यदि मोदक्ष साधित होता है तो अपरा से काम और अर्थ । निबंधकार को खेद होता है कि दूरदर्शन और आकाशवाणी के समूह माध्यम के चलते धीरे-धीरे पुस्तको के अध्ययन से नई पीढ़ी में विरागभाव पैदा होता जा रहा है । पुरस्तकों का अध्ययन हमें अंतर्मुखता प्रदान करता है–इनके जरिए हमारा भीतर प्रवेश होता है ।

निष्कर्ष यह कि कुबेर नाथ राय ने 'उत्तरकुरु' 'निबंध संग्रह' में संकलित अपने निबंधों के जरिए भारत के सांस्कृतिक इतिहास, उसके धार्मिक पौराणिक विश्वास अथच मानवीय मूल्यादर्शों की पुनःपहचान का प्रशंसनीय प्रयास किया है । इस प्रयास में वे कभी उत्तरकुरु और जंबूद्वीप के इतिहास-भूगोल की परिक्रमा करते हैं, कभी आर्य, किरात-निषाद संस्कृति की टोह लेते हैं, कभी गंगा-यमुना सरस्वती के उद्गम स्रोतों तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं, तो कभी भारत की उत्सवधर्मिता को उजागर करने के क्रम में बीसवीं शताब्दी की मनोगत त्रासदी और प्रदूषण के फैलते जाल को लक्षित कर आहत हो जाते हैं । अपने पूर्ववर्ती हिन्दी के ललित निबंधकारों के स्वरमें स्वर मिलाते हुए ऐसे विषम परिवेश में भी राय साहब कभी हतोत्साहित नहीं होते और अपने पाठक को भारतीय आर्य परंपरा के प्रकाशधर्मी चिंतन-मनन से प्रेरणा की संजीवनी लेने के लिए निरंतर उत्कंठित बनाते रहते हैं ।

●

'चिन्मय भारत'

भारतीय जीवन और वैदिक ज्ञान की अविभाज्य समसरता

डॉ. लक्ष्मी कान्तवर्मा

स्व. कुबेरनाथ राय उन चिन्तकों और विचारकों में से थे जो भारतीय संस्कृति के मिथकों और पौराणिक संदर्भों को व्याख्यायित करने में हमेशा एक नयी दृष्टि देते थे। भारतीय विद्या जो अन्ततः 'वेद-विज्ञान' ही कहा जायेगा, अपने आप में पूर्ण ज्ञान और विज्ञान का केन्द्रबिन्दु है। जिस तथ्य को वस्तुपरक विज्ञान के माध्यम से आइंस्टाइन जैसा वैज्ञानिक अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में, सम्पूर्ण गुरुत्व, चुम्बकीय और विद्युतिक स्रोत को एक अखण्ड-सत्ता क्षेत्र (यूनिफाइड फील्ड) के नाम से सिद्ध करने में लगा था, उसी ज्ञान-विज्ञान को वेद-विज्ञान अखण्ड सत्ता का क्षेत्र अपनी आत्मपरक स्वतः अनुभूत प्रज्ञान से पहले ही मानता रहा है। वह अखण्ड सत्ता अदृश्य है। स्वतंत्र है। अपनी स्वायत्तता से परिचालित होती है। वह स्ववश भी है, उसकी गतिविधि को कोई नियंत्रण नहीं कर सकता। परमाणु का वह केन्द्र-बिन्दु या नाभिका है जिससे समस्त ऊर्जा निःसृत होती है और पुनः उसी नाभिका में पर्यवसित भी होती है। उसमें अपने को स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल में बदलने की क्षमता है। वह क्षेत्र अनुभव का क्षेत्र है। अणु (इलेक्ट्रॉन) को किसी ने देखा नहीं है, किन्तु उसकी अखण्ड सत्ता कों 'कणाद' ने अपने अनुभव से स्वीकारा था और काण्टम भौतिकी ने उसे धीरे-धीरे वस्तुपरक ज्ञान से जाना। नतीजा यही है कि वह अणु अविभाज्य, अखण्ड, अदृश्य और अनन्त ऊर्जा का स्रोत है। विजय और सृजन की क्षमता उस नाभिका में एक साथ विद्यमान है। उस नाभिका को खण्डित करने के प्रयास में इतनी ऊर्जा का संचालन करना होगा जो अनन्त सौर-ऊर्जा के बराबर होगी। फिर भी क्या वह अखण्ड सत्ता टूटेगी? आध्यात्मिक जगत् में इसका अर्थ चाहे जो हो, पर वस्तुपरक विज्ञान का इस निष्कर्ष पर पहुँचना अपने आप में एक नयी दिशा का संकेत देता है और यह सोचने पर विवश करता है कि क्या भारतीय विद्या का अर्जित ज्ञान आधुनिक भाषा और शैली में व्यक्त किया जा सकता है? पुराणपंथी लोग अपनी परिचित मोहावरे वाली शैली में इसकी व्याख्या सदियों से करते आये हैं, किन्तु वह इस समुचित ज्ञान को उसी भाषा, प्रतीक और शैली में व्यक्त करते रहे जिसे आधुनिक विवेच्य शैली में आत्मसात् करने में कठिनाई होती है।

इस दिशा में जिन प्राच्य विद्या के विद्वानों ने विशेष कार्य किया है, उनमें से आचार्य क्षितिमोहन सेन, डॉ. मजूमदार, डॉ. बड़थ्वाल, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कविराज गोपीनाथ और ललित शैली में श्री कुबेरनाथ राय के नाम स्मरणीय हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन और महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के पास तो अभूतपूर्व अध्ययन और ज्ञान था। आचार्य नरेन्द्रदेव ने श्रमण-चिन्तन का जो अध्ययन बौद्ध धर्मदर्शन में प्रस्तुत किया है वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। आचार्य काका कालेलकर और दादा धर्माधिकारी ने भी इस दिशा में प्राचीन भारतीय भूगोल से लेकर दर्शन और चिन्तन को बड़ी सुचारु शैली में पुनर्व्याख्यायित किया है।

मुझे इस पंक्ति में कुबेरनाथ राय को रखने में कोई संकोच नहीं होता। मैं समझता था कि उनका वह गहरा ज्ञान जितना ललित निबंधों में आया है, उतना ही पर्याप्त होगा, किन्तु 'चिन्मय भारत' में आर्ष-चिन्तन-परम्परा पर उनका व्याख्यान सुनकर मुझे वही आनन्द मिला जो डॉ. जयदेव सिंह का भारतीय संगीतशास्त्र पर व्याख्यान सुनकर मिला था या कभी-कभी डॉ. रामविलास शर्मा के लेखों में उस पाण्डित्य की सरल अभिव्यक्ति की झलक मिलती है। आचार्य बृहस्पति के संगीतशास्त्र की पुस्तकों को पढ़ने में भारतीय संगीत के सम्बन्ध में उनके विचार भी प्रभावित करते रहे हैं। पर यह सारे चिंतक और विचारक भारतीय विद्या और आधुनिक चिन्तन का समीरण करने में संकोच करते रहे। उसका मुख्य कारण शायद यह रहा हो कि चिन्तन में सृजनशील होने के बावजूद अभिव्यक्ति में वे उतने ललित नहीं हो पाते। कुबेरनाथ राय की विशेषता यह है कि वह गम्भीर से गम्भीर चिन्तन को जटिल बनाने की अपेक्षा सृजनशील लालित्य का निर्वाह करने में भी विश्वास करते थे। यद्यपि उनकी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'चिन्मय भारत' उस शृंखला में नहीं आती, फिर भी आर्ष-परम्परा जैसे विषय को जिस प्रकार उन्होंने आगम से लेकर गांधीवाद के महायान तक जोड़ने का प्रयास किया है, वह अपने आप में उसकी मूल प्रकृति को उजागर करता है। आर्ष और श्रमण, अध्यात्म और परमात्म, जीव और ब्रह्म, काल और समय आदि अनेक शब्द हैं, जिनके मूल स्रोत को जाने बिना हम प्रयास करते हैं। कभी-कभी तो आगम-निगम, आर्ष-श्रमण का ऐसा प्रयोग करते हैं कि कुछ भी स्पष्ट नहीं हो पांता।

श्री कुबेरनाथ की पुस्तक में पूरे विषय को बड़ी सहज शैली में प्रस्तुत किया गया है। पुस्तक को छह खण्डों में विभाजित किया गया है। पहला है आर्ष-चिन्तनः एक आह्वान; दूसरा है आर्ष-चिन्तन 'पद्धति और प्रकृति; तीसरा खण्ड है भारतीय वाङ्मय का विश्वरूप। चौथा खण्ड, द्वैत्य वैविध्य और रचनात्मक सामजंस्य है। पाँचवाँ खण्ड काल चिन्तन की ज्यामित; छठा खण्ड त्रिक चिन्तन : मनुष्य प्रकृति, ईश्वर के अतिरिक्त दो खण्डों में परिशिष्ट भी है : (क) हिन्दू कर्मकाण्ड (ख) गांधी चिन्तन का महायान।

पुस्तक की भूमिका में आर्ष-चिन्तन के प्रति उपेक्षा के भाव पर विचार करते समय 'अनन्ता वै वेदाः' की व्याख्या जिन सन्दर्भों में उन्होंने की है, वह भारतीय विद्या और आर्ष-चिन्तन को पुनः स्थापित करने के लिए प्रेरणा देती है । यह सुखद संयोग है कि जिन आर्ष-चिन्तकों की विचारधारा से श्रीराय प्रभावित हैं, वे मेरे भी आदर्श रहे हैं । आचार्य क्षितिमोहन सेन, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने जिन परिस्थितियों में आर्ष-चिन्तन की व्याख्यायें की हैं, उस परम्परा को कुबेरनाथजी ने आगे बढ़ाने का प्रयास किया है । उनकी चिन्ता है कि एक भारतीय होने के नाते हमें अपनी मूल चिन्तनधारा को फिर से जागृत करना चाहिए । भारत की स्वतः स्फूर्त चेतना जिस जीवन दर्शन की आधारशिला है, उससे जुड़े बगैर हम अपनी राष्ट्रीय अस्मिता और जातीय स्मृति की विरासत के प्रति सही दृष्टि नहीं बना सकेंगे ।

पुस्तक में इस बात को स्थापित करने की चेष्टा की गई है कि आर्ष और श्रमण एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं । वे एक दूसरे के पूरक हैं । यह बात स्वयं श्रमण चिन्तकों द्वारा और आर्ष-चिन्तकों द्वारा बार-बार कही गयी है । महात्मा बुद्ध का 'मज्झिमनिकाय' न तो कट्टरपंथ श्रमण-चिन्तन को अन्तिम सत्य मानता है और न यही मानता है कि आर्ष-चिन्तन में जो कुछ भी उपलब्ध विचारधारा है, वह श्रमण-चिन्तन की विरोधी है । चीन-जापान, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आदि जहाँ बौद्ध धर्म आज भी जीवित है, जहाँ श्रमण-चिन्तन आज भी जीवन-पद्धति के रूप में है, वहाँ भी विद्वानों ने यह माना है कि आर्ष-चिन्तन और श्रमण-चिन्तन अलग-अलग नहीं हैं । ये एक दूसरे के पूरक के रूप में ही हैं । आज इस बात को पूरी शक्ति के साथ स्थापित करने की आवश्यकता है क्योंकि भारत जैसे विशाल देश में चिन्तन के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक दृष्टि नहीं रही । इसके विपरीत जब भी समग्रता की दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय पर विचार किया जाय, तो आर्ष और श्रमण-चिन्तन दोनों एक सिक्के के दो पहलू के रूप में स्थापित होंगे ।

कुबेरनाथ राय ने अपने इस मत को स्थापित करते हुए यह कहा है कि आर्ष-चिन्तन का विस्तार विपुल है । आर्ष विश्व-दृष्टि और वाङ्मय की प्रकृति और जीवन-मूल्यों की चर्चा करते हुए वह लिखते हैं कि मनुष्य, प्रकृति और ईश्वर, इन तीनों पर गहराई से विचार करने पर हमें ज्ञात होता है कि आर्ष और श्रमण-चिन्तन आज के सन्दर्भ में हमें शक्ति दे सकते हैं । क्योंकि पूरा राष्ट्र और पूरी जाति की दृष्टि बिना इन आधारभूत सत्यों का साक्षात्कार किये सम्भव नहीं है । इसलिए आर्ष की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि आर्ष से हमारा तात्पर्य वैदिक भाग या ऋषि-दृष्टि प्रसूती तक सीमित नहीं है । इसमें निरन्तर विकास होता रहा है । इस पूरी परम्परा में राष्ट्र-चिन्तन के क्षेत्र में निरन्तर विकसित होने की क्षमता है । इस चिन्तन परम्परा को हम ऋषि-परम्परा से लेकर गांधी और अरविंद की आध्यात्मिक चिन्तन के विस्तृत क्षेत्र में जोड़ते हैं ।

पुस्तक के दूसरे अध्याय में जहाँ आर्ष-चिन्तन: पद्धति और प्रकृति की चर्चा की गई है, वह भी प्रेरणादायक है । बिना पत्रति और प्रकृति को पहचाने हम उसके गुण और दोष का विवेचना करने में सफल नहीं हो पायेंगे । भारतीय चिन्तन को पहचाने बिना हम उसके गुण और दोष का विवेचना करने में सफल नहीं हो पायेंगे । भारतीय चिन्तन-परम्परा दोहरा अर्थ रखती है । भारतीय दर्शन में सारे ज्ञान का स्रोत जिस अखण्ड सत्ता को स्वीकार किया गया है, वह ऊर्ध्वमूल के रूप में स्थापित किया गया है । यानी वह स्रोत ऊपर और जितने दर्शन और शास्त्र हैं, वे उस ऊर्ध्वमूल से निकलते हुए स्थूल पृथ्वी की ओर बढ़ते अर्थात् अखण्ड सूक्ष्म सत्ता आकाश में हैं, लेकिन वह सत्ता अपनी चिन्तनधारा या अपनी सत्ता की अभिव्यक्ति पृथ्वी की ओर करती बढ़ता है और यहीं यह भी सिद्ध होता है कि सूक्ष्म गति सूक्ष्मतर की दिशा में नहीं, बल्कि स्थूल पृथ्वी व लोक-जीवन को जोड़ने के लिए निरन्तर चेष्टा करती रहती है । इस पूरे को हम उलट कर भी देख सकते हैं । जितनी भी विचारधाराएँ हैं, जितने भी दार्शनिक सम्प्रदाय हैं, यह सब के सब लोक-परलोक की ओर या लोकसत्ता से ऊर्ध्वसत्ता की ओर जाने की चेष्टा करते हैं और इस प्रक्रिया में यह सिद्ध करते हैं कि अखण्ड सत्ता के लिए स्थूल की आवश्यकता पड़ती है । स्थूल के अस्तित्व से ही हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जो सूक्ष्म है, उसकी अभिव्यक्ति के लिए अधोमुख होकर के स्थूल का आलिंगन करना पड़ता है और जो स्थूल है, वह अपने स्थूलत्व से ऊपर उठकर सूक्ष्म में घुल-मिल जाना चाहता है । और यही बिन्दु है जहाँ आर्ष और श्रमण, लोक और परलोक, जीवन और ब्रह्म, अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् का कायिक और आत्मिक, जैविक और आध्यात्मिक क्षेत्र स्थापित कर अखण्ड सत्ता अपनी बेचैनी को अपने ही में विभाजित करके स्थूल और व्यक्त में मुखर हो जाती है । स्थूल को सबसे बड़ी आकांक्षा होती है कि अपनी सीमाओं को असीम में मिला दें । जब आर्ष और श्रमण के चिन्तन को एक दूसरे का मानते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों का आवागमन भारतीय चिन्तन-परम्परा, चिन्तन-पद्धति और चिन्तन-प्रकृति का अनिवार्य अंग है । वस्तुतः अखण्ड सत्ता-क्षेत्र का लोकोन्मुख होना स्वाभाविक है और लोक की विभिन्न शाखाओं का अपने मूल स्रोत के ऊर्ध्वमुख होनां भी स्वाभाविक है । वेदान्त दर्शन में यह कहा भी गया है कि प्रत्येक पदार्थ हमेशा अपने मूल की ओर बढ़ता है और चलना उसका विशेष गुण है । आग की लपटें हमेशा आकाश की ओर दौड़ती हैं क्योंकि अग्नि का स्रोत सूर्य है और जल का स्रोत सागर है । नदी का सागर की ओर बढ़ना स्वाभाविक है । आकाश शब्द है और यह शब्द अपने मूल स्रोत की ओर बढ़ता ही है । यह सारी अवधारणाएँ श्री कुबेरनाथजी की इस पुस्तक में बड़ी ही सरल शैली में दी गई हैं । यह इस बात का प्रमाण है कि श्री कुबेरनाथ राय ने विषय मर्मज्ञ होने का तो परिचय दिया ही है, साथ ही विषय को आत्मसात् करने में भी अपनी बौद्धिक जागरूकता का परिचय दिया है ।

आर्ष-चिन्तन पद्धति और प्रकृति के सम्बन्धों को बड़े सारगर्भित ढंग से कुबेरनाथजी ने विवेचित किया है । जब वह कहते हैं कि भारतीय आर्ष-चिन्तन की

मूल प्रकृति बिम्बात्मक या प्रतीकात्मक है, या अपरोक्ष रूप से दोनों की जरूरत है तो इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिन्तन-पद्धति चाहे आर्ष-चिन्तन हो या श्रमण, दोनों में प्रकृति का विरोध नहीं है, जो सहज है, स्वाभाविक है, जैविक है, वह भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना वह जो उदात्त है, नैसर्गिक है और यह बिम्ब प्रतीक प्रकृति के साहचर्य में ही विकसित होते हैं । जो परोक्ष अर्थात् अन्तर्जगत् की सूक्ष्म संवेदनाएँ हैं, उनको समझने की कोशिश आर्ष-चिन्तन की मुख्य चिन्ता रही है । आगे चलकर इस चिन्तन के विकासक्रम में उपनिषदों में यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि यह बाह्य जगत् या प्रत्यक्ष जगत् कुछ नहीं है । यह केवल हमारे अन्तर्जगत् का बाह्य स्वरूप है । जिन पाँच तत्वों से यह बाह्य जगत् बना है, वह आकाश तत्व, जल तत्व, वायु तत्व, अग्नि तत्व और मृत् तत्व है । निरन्तर यही पाँच तत्व हमारे आन्तरिक जगत् का भी निर्माण करते हैं । आन्तरिक जगत् की विशेषता यह है कि उन पाँच तत्वों के अलावा उसमें आत्मबल तत्व की सत्ता भी है जो बाह्य और आन्तरिक जगत् के सम्बन्धों को समझने और समझाने में सहायक है ।

भारतीय वाङ्मय की बहुत ही विश्वसनीय और प्रमाणित व्याख्या कुबेरनाथ ने की है । यह परमा प्रकृति और निसंग प्रकृति और मानषी मन के रागात्मक सम्बन्धों को सुन्दर ढंग से अक्षर और अक्षर दोनों को समाहित करने वाली है । यही नहीं, भारतीय वाङ्मय में ज्योतिष, भारतीय गणित, रस-प्रक्रिया इन सबों का कला पक्ष और दार्शनिक पक्ष का भी संकेत दिया । कला पक्ष की जो रस-सिद्धि है, वह साहित्य में सचित आनन्द से इस चिर आनन्द की वैष्णव व्याख्या में बदली है । यह लेखक के गहन चिन्तन की परिचायक है । और इसी सम्बन्ध में तो "अनन्ता वै वेदा:एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति," तो 'अनन्ता वै वेदा:' के क्षेत्र में अस्तित्व दर्शन से लेकर उदात्त दर्शन तक उन्होंने उसको व्याख्यायित करने की चेष्टा की है ।

द्वैत और वैविध्य और रचनात्मक सामंजस्य में जो सौन्दर्य दृष्टि और वास्तुदृष्टि के साथ-साथ लोक-संग्रह और लोकमंगल की भावना का सत् और द्वैत के सन्दर्भ में विवेचित किया है, जो उनके चिन्तन की गहराई को व्यक्त करता है । इसी सन्दर्भ में द्वैत वैविध्य का सन्दर्भ देते हुए आत्मा शब्द की व्याख्या बड़ी सुन्दर है और अपने चिन्तन के समर्थन में जिस प्रकार बृहदारण्यकं उपनिषद् से या श्रवणक्य मैत्रेय-संवाद में प्रयुक्त आत्म का 'मायोपियम भवति' और महाभारत के आत्मकथा 'पृथ्वी तेजूयते' तथा देवासुर शुभ, अशुभ और सत् और असत् की व्याख्याएँ भी उनकी चिन्तन-प्रक्रिया के चरम बिन्दुओं को आलोकित करती है ।

भारतीय दर्शनशास्त्र और साहित्यशास्त्र में कला की अवधारणा को लेकर अलग-अलग अर्थसाक्ष्यों का प्रतिपादन किया जाता रहा है । 'चिन्मय भारत' में

कुबेरनाथ राय ने भारतीय काल-चिन्तन की अवधारणा को बहुत वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया और लीनियल टाइम और सकुलर टाइम, काल-टकराव, काल की सीधी गति का विवेचन करते हुए वगथा, प्लेटो तथा लॉगजाइनश की अनुभूतिपरक, वस्तुपरक तथा विश्वपरक एवम् ब्रह्ममाण्डा परक काय की अवधारणा को भारतीय दृष्टि से व्याख्यायित करके एक नया सन्दर्भ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है । इसी प्रकार भारतीय चिन्तन के त्रियक, ब्रह्म, जीव और माया रूपी संसार के रहस्य को पूरे भारतीथ चिन्तन की अद्‌भुत प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की है जो निश्चय ही भारतीय दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र के चिन्तकों की वृद्धि ही नहीं करेगी, वरन् उनको दिशा देने में भी समर्थ होगी ।

जिस विचारधारा से मैं पूर्णतः सहमत नहीं हो पाता, वह हिन्दू कर्मकाण्ड की सर्वभूतात्मक वाद प्रत्येक चिन्तन में परमसत्ता की स्थापना और एकोऽहं बहुस्याम् ऋत, सत् और शास्वत काल के बोध को मात्र हिन्दू कर्मकाण्ड के टोटम मानना ठीक नहीं लगता और मृण तत्व की सार्थकता से जोड़ा जा सकता है । इस पर पूर्णतः सहमति होती कही है किन्तु जहाँ तक पी. वी. काणे और राजपति पाण्डेय दोनों विद्वानों का सन्दर्भ देते हुए हिन्दू कर्मकाण्ड को ही ब्रह्म चेतना से जोड़ने की कोशिश की गई है, इसमें कहीं कुछ अधिक व्याख्या की आवश्यकता है ।

अंत में 'गाँधी-चिन्तन के महायान' परिशिष्ट में गाँधी को वैदिक चिन्तन की परम्परा से जोड़ते हुए काल पृष्ठ रूप में जोड़ भारत के आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में जो प्रयास .अपने आप में महत्वपूर्ण है और यदि गाँधी के माध्यम से हम वेद-विज्ञान को समझने की कोशिश करें और 'अनन्ता वै वेदा:' की व्याख्या करेंगे, तो निश्चय ही आगम और निगम दोनों को समझने में क्रान्तिकारी दिशा मिलेगी । यह मेरे लिए बड़े दुःख की बात है कि इस किताब के छपने के साथ विद्वान् लेखक दिवंगत हो गये । वैदिक चिन्तन से लेकर गाँधी और डॉ. लोहिया तक के चिन्तन की उन्होंने लीनियम टाइम के अन्तर्गत व्याख्या की । यदि वे होते तो मैं उनसे आग्रह करता कि गाँधी और लोहिया के चिन्तन से शुरू करके वे एक बार चक्रवाती यात्रा करें तो शायद वैदिक ज्ञान की प्रासंगिकता और उसकी कालजयी क्षमता इस पुस्तक की पूरक होती । जिस सीमा तक 'चिन्मय भारत' में उन्होंने भारतीय जीवन और वैदिक ज्ञान की समरसता को अविभाज्य सिद्ध किया है, वह श्लाघ्य है । अब यह हमारे ऊपर है जो जीवित है, निर्भर करता है कि अपनी चिन्तन-प्रक्रिया से कैसे चिन्तन की यह दिशा निर्धारित करेंगे, क्योंकि नौयोनिज सृष्टि के रूप में रज और वीर्य के अणुओं से समन्वित सृष्टि हमें उपलब्ध है । उसको समझने के लिए एक नयी यात्रा की आवश्यकता है ।

●

चिन्मय भारत की पहचान

डॉ. रामचन्द्र तिवारी
पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय

श्री कुबेरनाथ राय एक ललित निबन्धकार ही नहीं अध्ययनशील विचारक भी थे । अपने प्रथम निबन्ध-संग्रह 'प्रिया नीलकण्ठी" में आपने कहा था – "मेरी कल्पना, मेरी प्रतिज्ञा भी विषपायी नीलकण्ठी है । दुख या उल्लास दोनों के भीतर जहर होता है । उस जहर को यह खींचकर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है और धरती को जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है ।" यह निबन्ध संग्रह १९६८ में प्रकाशित हुआ था । तबसे लेकर मृत्यु पर्यन्त (जून १९९६) आप निरन्तर साहित्य की धरती को शुद्ध प्राण और रस से सींचते रहे । आपने प्रारम्भ से ही भारतीय संस्कृति के आधार-तत्वों के अनुसंधान को अपने अध्ययन एवं चिन्तन का विषय बनाया था । आपकी मान्यता है कि भारतीय संस्कृति के अनेक तत्व किरात-निषाद संस्कृति के प्रभाव में विकसित हुए हैं । आगमदर्शन तथा 'सांख्य' एवं 'योग' की मौलिक धारणाओं के लिए भी हम किरात-निषाद संस्कृति के ऋणी हैं । श्री कुबेरनाथ राय ने "मार्क्सवादी समाजवाद" और "अस्तित्ववाद" का भी अध्ययन किया था । आपके अनुसार "मार्क्सवादी समाजवाद" प्रबल और स्थायी होने पर व्यवहार में "अमलतांत्रिक समाजवाद" बन जाता है । ऐसी स्थिति में प्रेस और साहित्य दोनों पर अमलातंत्र द्वारा सरकारी नियंत्रण रहता है । इसलिए सारा देश ही एक कपाटबद्ध अवरुद्ध वायु का वधकक्ष बन जाता है । "अस्तित्ववाद" के विषय में आपकी धारणा है कि यह आसपास का असली बोध, सदा अनुभूतियों का सही बोध और विषात् का सही अनुभव देकर ही चुक जाता है । इस स्थिति से उबरने का कोई सशक्त सूत्र नहीं दे पाता । इधर चिन्तन के स्तर पर श्री राय देश के 'चिन्मय व्यक्तित्व' के बाधाहीन, मुक्त विकास को संभव बनाने वाले एक नये कर्मयोग की तलाश कर रहे थे । निश्चय ही "चिन्मय भारत" उनकी इसी तलाश का साक्षी है । श्री राय यह अनुभव करते हैं कि इस समय हमारा देश इतिहास के 'धुरी काल' से गुजर रहा है और ऐसे काल में अपने चिन्तन और कर्म को पुनर्व्यवस्थित कर लेने की एक चुनौती स्पष्टतः सामने है । इस चुनौती को स्वीकार करके जब श्री राय आगे बढ़ते हैं तो उन्हें लगता है कि अपनी जैविक

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आधुनिकीकरण आवश्यक है, साथ ही अपने सर्जनात्मक व्यक्तित्व के मौलिक विकास के लिए भारतीय अस्मिता की पहचान और रक्षा भी अनिवार्य है । उनकी यह सोच उन्हें आर्षचिन्तन के बुनियादी सूत्रों की ओर ले जाती है और वे आठ बुनियादी सूत्रों की स्थापना करते हैं – ये सूत्र हैं–

1. सर्वभूत आत्मवाद– अर्थात् यह मानना कि सभी सत्ताओं में परम तत्व अन्तर्यामी रूप में स्थित है ।

2. चिन्तन की प्रत्येक शाखा में परमतत्व की प्रत्यक्षतः या परोक्षतः स्थापना । अर्थात् पदार्थवादी चिन्तन को पूर्णतः अस्वीकार करना ।

3. "अनन्ता वै वेदाः" - अर्थात् ज्ञान के अनेक रूप हैं । अतः सत्य अनेकान्त है ।

4. एक और बहु, केन्द्र और असंख्य विकेन्द्र के बीच, सद् और असद् के बीच रचनात्मक सामंजस्य ।

5. सत्य के प्रवाहशील रूप 'ऋत' का स्वीकार और इसे ही रचनात्मक सामंजस्य का आधार मानना ।

6. काल की गति को वृत्ताकार मानना और इस दृष्टि से 'क्षण' एवं 'शाश्वत' दोनों की महत्ता को स्वीकार करना ।

7. तार्किक ज्ञान के साथ-साथ प्रतिमज्ञान- (Intuition) के महत्व को स्वीकार करना ।

8. 'मनुष्य - प्रकृति - ईश्वर' के त्रिक के भीतर ही मनुष्य की वास्तविक और सही स्थिति को स्वीकारना ।

श्री राय आर्षचिन्तन के अन्तर्गत मात्र वैदिक या ऋषि- दृष्टि-प्रसूत चिन्तन को ही नहीं उस समूची चिन्तन-परंपरा को स्वीकार करते हैं जो अविच्छिन्न रूप से कालिदास, शंकराचार्य, रामानुज-वल्लभ-चैतन्य, सन्त और भक्त से होती हुई आधुनिक गांधी-अरविन्द तक आती है । श्री राय का मानना है कि विगत तीन-चार हजार वर्षों से चली आ रही इसी चिन्तन-परंपरा के तहत पूरा भारतीय वाङ्मय लिखा गया है और भारतीय समाज की संरचना हुई है । उन्हें दुःख है कि विगत सौ डेढ़ सौ वर्षों में विश्वविद्यालयों में विदेशी भाषा के माध्यम से भारतीय वाङ्मय और भारतीय समाज का जो अध्ययन हुआ है वह उल्टी और भिन्न चिन्तन-पद्धति के आधार पर हुआ है । इसी के चलते तरह-तरह की गलतफहमियाँ हुई हैं । चरित्र हनन हुआ है । अधूरी समझ विकसित हुई है । इसी अधूरी समझ के बल पर आज का बुद्धिजीवी देश का भाग्यविधाता बना है ।

श्री राय का यह दृढ़ विश्वास है कि उनके द्वारा चयनित उपर्युक्त आठ बुनियादी सूत्र आज के समाज की बौद्धिक - नैतिक - आत्मिक आवश्यकताओं के

लिए तो महत्वपूर्ण हैं ही, 21वीं शती के विश्व-मानव-समाज के लिए भी एक दिशा संकेत देते हैं।

श्री राय की उपुर्यक्त स्थापना और निष्कर्ष के महत्व को स्वीकार करते हुए भी इस संदर्भ में मुझे दो बातें कहनी हैं। एक तो यह कि श्री राय द्वारा चयनित और प्रस्तावित बुनियादी सूत्रों के आधार पर भारतीय समाज की जो रचना हुई थी उसमें कहीं कोई खोट या कमी भी थी या नहीं ? श्री राय इस दिशा में कोई संकेत नहीं देते। क्या भारतीय समाज-रचना में पूर्वजन्म और कर्म-फल के सिद्धान्त ने हमारी कर्मशीलता को बाधित कर किसी स्तर पर हमारे पुरुषार्थ को कुण्ठित नहीं किया था ? क्या यह सोचकर कि हमारी सामाजिक हीनता और आर्थिक विपन्नता हमारे ही पूर्व कृत कर्मों का फल है, हम एक सीमा तक नियतिवादी नहीं हो गये थे ? कम से कम आज के संदर्भ में यह प्रश्न महत्वपूर्ण हो गया है। इस पर भी विचार किया जाना चाहिए था। दूसरी बात यह है कि मध्यकाल में (भक्तिकाल में) सद्-असद् के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने में हमें पूरी सफलता क्यों नहीं मिली ? इस युग में श्री राय के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि सद्-असद् के बीच रचनात्मक सामञ्जस्य स्थापित करने की सबसे विराट चेष्टा तुलसी ने की थी किन्तु वे भी विजेता जाति के मुख्य प्रवाह को न तो अपनी ओर खींच सके और न स्वयं उससे जुड़ सके। ऐसी विषम परिस्थिति में आर्षचिन्तन-परंपरा की सारी शक्ति मात्र हिन्दू-समाज को जोड़ने में ही निःशेष हो गई। आज भी वह समस्या बनी हुई है। कुछ भी हो, यह स्वीकार करना होगा कि श्री राय ने बड़ी निष्ठा, श्रम और समर्पण भाव से आर्ष चिन्तन के बुनियादी सूत्रों का चयन और उसके आधार पर चिन्मय भारत की मूर्ति गढ़ी है। इसके लिए श्री राय (स्वर्गीय) और हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद' दोनों ही साधुवाद के पात्र हैं।

●

चिन्मय भारत

प्रो. युगेश्वर
पूर्व प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ, वाराणसी

चिन्मय भारत (आर्ष-चिंतन के बुनियादी सूत्र) पुस्तक विचार प्रधान है । श्री कुबेरनाथ राय की लोकछवि ललित निबंधकार की है । किंतु इस पुस्तक का निवंध से कोई संबंध नहीं है । यह पुस्तक न तो निबंधों का संग्रह है, न व्यक्तिव्यंजक या ललित है । यह विश्वविद्यालयों का उबाऊ शोधप्रबंध भी नहीं है । तव क्या साम्यवादियों की ऐय्यारी का पिटारा है ? नहीं ऐसा कुछ नहीं है । इसमें दो बातें प्रमुख हैं–एक, यह एक बहुपठित चिंतक का लेखन है । ऐसा चिंतक जिसने पूर्व और पश्चिम के प्राचीन एवं आधुनिक दोनों प्रकार के साहित्य को पढ़ा है । उन पर सोचा है । दूसरों का सोचा न लेकर स्वयं सोचकर ग्रहण किया है । दूसरा, आज की दुनिया में भारत की दृष्टि क्या हो सकती है इसका विस्तृत प्रकाश है । प्रायः ही भारत का लेखक परिचय को यथावत् लेने का अभ्यस्त हो गया है । इसी क्रम में वह भारतीय चिंतन को हीन भी मानता है । भारत की संपूर्ण विश्वविद्यालय शिक्षा पश्चिम के राष्ट्रगीत मात्र दुहराती है । इसी क्रम में राष्ट्रीय कहे जाने वाले कुछ हैं जो पश्चिम की श्रेष्ठता स्वीकार कर भारत को भी उसके सामने प्रस्तुत करते हैं । गर्व से कहते हैं –योरप महान् है । भारत भी वैसा ही महान् है । नम्बर एक भी नहीं तो नम्बर दो महानता तो है ही । किंतु श्री कुबेरनाथ राय इन दोनों से भिन्न तीसरे प्रकार के विचारक हैं । ये योरप के चिंतन के मुकाबले भारत चिंतन की श्रेष्ठता के प्रतिष्ठापक हैं । भारत आर्ष चिंतन योरप के चिंतन से श्रेष्ठ है । इतना ही नहीं । आज का यूरोपीय चिंतन अपने ही पूर्व पुरुषों के चिंतन से हीन है । उदाहरण के लिये देखें । आजकल मानवता या मानववाद पर बड़ा जोर है । लोग समझते हैं, यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । किंतु योरप से आया यह मानववाद एक तरफ प्रकृति और प्राकृत विरोधी है । दूसरी ओर यह विशाल औद्योगिकीकरण का दास है । फलतः यह अपनी स्वतंत्र सत्ता खोकर 'संसाधन' हो गया है । पूछिए मानव किसका संसाधन है ? उत्तर में कुछ हिचक है । किंतु कहना होगा । आज का मानव तकनीकी, भारी उद्योग, भोगमूलक वस्तुओं, विज्ञापनों, अंग नचाते फिल्मी दृश्यों का संसाधन है । अपने ही रक्त का स्वाद लेने वाला पशु प्रसन्न है । वह

कितना सरस भोग रहा है किन्तु भोग का यह संसाधन बाहर का नहीं, उसके भीतर का है। वह स्वयं है। कुवेरनाथ राय वताते हैं। योरप में मानववाद का विकास खास संदर्भ में एकतरफा हुआ था। किंतु भारत ने इस खंडित विकास को पूर्ण मान लिया। जहाँ भारत पश्चिम को दया का पात्र बनाने की स्थिति में था, वहाँ वह (भारत) स्वयं दया का पात्र बन गया। संपूर्ण आधुनिक भारत चिंतन की कमजोरी है। वह आक्रांत को श्रेष्ठ मानता है। जब ऋषि चिंतन में आक्रांता हीन तथा दया का पात्र है। यह आक्रांता सैनिक, राजनीतिक या आर्थिक चाहे जैसा भी हो। राय का यह लेखन आक्रांता संस्कृति के विरुद्ध भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक अस्मिता का लेखन है। इसमें ऋषियों जैसा उदात्त चिंतन और विश्व बंधुत्व का भाव है। किसी भी प्रकार की कटुता का अभाव है।

श्री राय की यह पुस्तक हिंदुस्तानी एकेडमी के धीरेन्द्र वर्मा व्याख्यान माला के अंतर्गत छपी है। इसमें कुल मिला कर आठ निबंध हैं। मात्र १८६ पृष्ठों की यह पुस्तक अत्यंत महत्वपूर्ण दिशा निर्देशिका है। श्री राय सूत्रों में बात करते हैं। किंतु सूत्रों को सूत्र ही नहीं रहने देते। उनकी व्याख्या करते हैं। इस ग्रंथ का मूल उद्देश्य है भारत को भारत की आँखों से परिचित कराना 'अपनी असली आँख क्या है, इसकी चर्चा करना आज जरूरी हो गया है।' 'आर्ष चिंतनः पद्धति और प्रकृति' को छः सूत्रों में समेटकर कहा गया है –(क) आर्ष चिंतन की प्रकृति 'ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्' है। (ख) यह दो बाह्यतः विपरीत लगने वाले जोड़े के बीच 'ऋत' के माध्यम से सामंजस्य है। (ग) यह यज्ञसंभव है। (घ) यह हर कर्म में छंद को प्रतिष्ठित करती है। (ङ) यह प्रतीकधर्मी और परोक्षप्रिय है। (च) यह जातीय या विजातीय अवधारणाओं में नये अर्थ देकर मूल को अविच्छिन्न रखते हुए समन्वय करती है।

भारत दृष्टि ही विश्व दृष्टि है। आर्ष दृष्टि में उपयोगी है वह साथ ही आध्यात्मिक और ललित भी है। आधुनिक चिंतन में यंत्र है, आत्मा नहीं। प्राचीन चिंतन में आत्मा, व्यक्ति और विश्व तीनों एक ही सत्ता के तीन आयामों की तरह माने गये हैं। जीवन मन; प्राण; भूत का त्रिक है। ये सभी वाक्य मूल ग्रंथ के हैं। इन वाक्यों से स्पष्ट श्री राय का चिंतन जितना गहरा था, उतना ही निर्भीक। वहुत लोग डर कर सोचते हैं। राय भयरहित होकर वर्ण, जाति, हिन्दू कर्मकांड आदि का सुचिंतित विश्लेषण करते हैं। साहित्य के संदर्भ मे वे कहते हैं - 'शाकुंतल का रोमांटिक प्रणय शेक्सपीयर के 'रोम्योजूलियट' या 'टेम्पेस्ट' की भूमि से उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित है। भारत को समझने के लिये कुछ केंद्रीय शब्द हैं। जैसे 'काम, क्रतु, ऋत, मन, प्राण, वाक्, प्रज्ञा, प्रकृति, आत्मा, पुरुष, कर्म , और रस जैसे

शब्द, जिनके अर्थ का विकास एक लंबी परंपरा के अंतर्गत हुआ है ।' इस प्रकार श्री राय सभी भाषा में संपूर्ण ऋषि चिंतन को आज के लिये प्रतिष्ठित करते हैं ।

इस प्रतिष्ठित पुस्तक को अंतिम मानने की भूल नहीं होनी चाहिए । यद्यपि कि इसमें अंतिम होने की प्रचुर सामग्री है । फिर भी दो एक । श्री राय की दृष्टि में इतिहास दृष्टि का लोप नहीं है । जबकि इतिहास दृष्टि भूत है । इतिहास जड़ भूत का होता है । आत्मा, अविनाशी , स्थाणु, इतिहास रहित सनातन है । इसी से भारत में इतिहास नहीं पुराण (पुराण नव्य) का महत्व है । इतिहास का क्वचित् प्रयोग प्रायः ही राजवंशों के लिये है । ऋषि वंश अत्यल्प है । वह मुख्यतः पुराण है । यहाँ काल विभाजन की अपेक्षा कल्प को विशेष महत्त्व है । काल के विभाजन क्षयिष्णु हैं । राय ने भीष्म और कर्ण को विभीषण से हीन कह कर संपूर्ण शांतिपर्व को व्यर्थ जैसा कर दिया । भीष्म चरित्र को मेघनाद और कुंभकर्ण के समक्ष रखना महाभारत को व्यर्थ बना देना है ।

शाश्वत चिंतन के बावजूद राय क़ालेजी दबाब भी झेलते हैं । उदाहरण के लिये परिशिष्ट में एक राजपाल की चर्चा उचित नहीं थी । गांधी के संदर्भ में और भी नहीं । इसी प्रकार कोलों, भीलों आदि की आर्येतर वाली दृष्टि भी पश्चिमी है । सिंदूर, हरिद्रा आदि को बाहरी मानकर राय ने अपने विचारों को ही प्रश्नवाचक बनाया है । शूभाखर की चर्चा में पश्चिम से आक्रांत होने की शंका होती है ।

श्री राय की यह पुस्तक भारत चिंतन का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है । किंतु और कार्य की आवश्यकता है ।

●

'चिन्मय भारत'

भारत का आर्ष चिंतन

प्रकाश सत्येन नटराजन

स्व. कुबेरनाथ राय की पुस्तक चिन्मय भारत, कई अर्थो में भारतीय संस्कृति और चिंतन से जुड़े मुलभूत प्रश्नों को सम्यक् रूप में उठाती है और इस क्रम में कुछ भ्रांतियों को भी दूर करती है, पर संभवतः आधुनिक भारत के संदर्भ में आर्ष चिंतन की सार्थकता को पूर्णतः प्रतिपादित नहीं कर पाती । इस विफलता के दो कारण हैं । पहला तो यह कि विद्वान लेखक समझते हैं कि एक विशिष्ट अन्वेषण प्रणाली जो कि किसी परिष्कृत संस्कृति को आत्मसात् करने के उपरांत ही अपनाई जा सकती है और जिसे वह 'अभिनिवेश' कहते हैं, उस संस्कृति के सही मूल्यांकन या परीक्षण के लिए आवश्यक है और यह मात्र अनुप्रवेश से श्रेष्ठतर है । दोनों ही अन्वेपण प्रणालियों में मूलभूत कमियां हो सकती हैं और इसके साथ ही अन्वेषणकर्ता के अपने संस्कार चाहे वे आलोच्य संस्कृति के हों अथवा किसी बाहरी संस्कृति के संवद्ध संस्कृति के उचित मूल्यांकन में बांधक हो सकते हैं, पर किसी भी अन्वेषण प्रणाली को मात्र अभिनिवेश के आधार पर श्रेष्ठतर नहीं ठहराया जा सकता । दूसरे शब्दों में. अन्वेषण प्रक्रिया का मूल सार्थक तत्व ज्ञान पिपासा है न कि सहानुभूति । इसके साथ ही चिंतन अथवा सत्यान्वेषण की मूल बौद्धिक प्रणाली में सार्थकता या उपयोगितावाद, जो अनिवार्यतः लोक-व्यवहार की परिसीमित आकांक्षाओं से बंधा रहता है, एक प्रकार का विघ्न पैदा करता है जिससे चिंतन निस्सीम और विलक्षण तत्व धूमिल हो जाता है । इसका यह तात्पर्य नही हैं कि इस प्रकार के चिंतन के निष्कर्षों की सामाजिक उपादेयता या प्रासंगिकता समाप्त हो जाएगी जो कि देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों के संदर्भ में एक प्रभावोत्पादक संभाव्य शक्ति के रूप में उभरेगी, पर चिंतन के निष्कर्षों के आधार पर इस संभाव्य प्रभावोत्पादकता को अभिधेय नहीं माना जा सकता । यह चिंतन प्रक्रिया का 'शून्यत्व' है, जो रिक्त नहीं, परंतु अभिधेय संभाव्यताओं से परिपूर्ण है । यह कहना कि भारतीय आर्ष चिंतन के कुछ बुनियादी सूत्र' हैं, यह स्वयं आर्ष चिंतन को अनावश्यक रूप से परिसीमित करना है, जिसकी आधुनिक युग में कोई विशेष प्रासंगिकता नजर नहीं आती ।

संसार की तीन महासंस्कृतियों में आर्य महासंस्कृति एक है जो अन्य दो महासंस्कृकियों की तुलना में अधिक कल्पनाशील है । अन्य दो महासंस्कृतियां हैं -

सामी और चीनी । इन तीनों महासंस्कृतियों की पहचान इनके भिन्न विश्वदृष्टिकोणों में निहित है, जो इनकी मूल भाषाई संरचनाओं में पाए जाते हैं, क्योंकि इन महासंस्कृतियों का आधार जाति नहीं, अपितु भाषा है । भारतीय संस्कृति की पहचान रूपवादी ढंग से भाषाई या धर्मग्रंथीय स्तर पर की जा सकती है, जैसा कि एक सीमा तक हाजिमे नाकामूरा ने किया है, पर मेरे विचार से इन महासंस्कृतियों की पहचान इनकी विचारशैली और अनभिव्यक्त रुझानों और यहां तक कि पूर्वाग्रहों द्वारा परिलक्षित होती है । यह विचारशैली या रुझान किसी सामान्य धार्मिक या दार्शनिक सिद्धांत के संदर्भमें व्यक्त नहीं किए जा सकते क्योंकि एक महासंस्कृति का मुख्य लक्षण यह है कि उसमें घोर विरोधी मतवाद सन्निहित और संघर्षशील रहेंगे और किसी मतवाद विशेष को सर्वोपरि स्थान देने से उस महासंस्कृति की उचित पहचान धूमिल होगी । उदाहरण के लिए, जिसे हम भारतीय संस्कृति कहेंगे, उसमें इस्लाम के माध्यम से सामी महासंस्कृति के अंश भी मिश्रित होंगे और अन्य आर्येतर संस्कृतियों और आदिम संस्कृतियों का भी उसमें उचित समावेश होगा । एक महासंस्कृति मात्र एक संस्कृति का भी उसमें उचित समावेश होगा । एक महासंस्कृति मात्र एक संस्कृति से इस मायने में अलग है कि महासंस्कृति एक गत्यात्मक एवं मिश्रित प्रक्रिया है जिसकी मूल धारा को मोटे रूप से इंगित किया जा सकता है, पर 'बुनियादी सूत्रों' द्वारा परिभाषित नहीं किया जा सकता ।

भारतीय संस्कृति की एक और कठिनाई इसकी 'भारतीयता' को लेकर है, क्योंकि यदि इस महासंस्कृति की पहचान भाषाई है तो इसका उद्गम एक विलुप्त मूल आर्यभाषा में खोजना होगा, जिसका एक संस्करण संस्कृत में उपलब्ध है । आर्य जाति की विभिन्न आदिम संस्कृतियों और कभी-कभी परिष्कृत सभ्यताओं से संसर्ग या विरोध संभवतः एक आर्य महासंस्कृति की शैलीगत पहचान का आधार है जिसका पूर्ण विकास भारत में ही संभव हुआ । आर्य जाति की एक मुख्य विशेषता यह रही कि यह भौतिक और तकनीकी स्तर पर अन्य समसामयिक सभ्यताओं से अत्यंत पिछड़ी होने के बावजूद, भ्रमणशील रहने के कारण निरंतर परिवर्तनशीलता की ऐंद्रिक अनुभूति से सम्पन्न रही, पर जिसके कारण इसकी मूलभूत जनजातीय चेतना पूर्णतः विलुप्त नहीं हुई । कर्म और उत्साह के स्तर पर यह शत्रुदमन के भाव में परिलक्षित होती है, वहीं वैचारिकता के स्तर पर विशुद्ध परिवर्तन की तत्त्वमीमांसात्मक जिज्ञासा के दर्शन यह हमें ऋग्वेद में उपलब्ध कराती है, जो जनजातीय भावुक शक्ति और परिष्कृत चिंतन का एक मिला-जुला रूप है ।

कहने का तात्पर्य है कि आर्य महासंस्कृति का सबसे परिष्कृत रूप भारत में मिलता है, पर इसका वैचारिक और भाषाई मूल मध्य एशिया, ईरान और यूरोप में आज भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय संस्कृति की भू-खंडीय पहचान नहीं हैं, पर इस पहचान को

ऐतिहासिक-राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में न देखकर विशुद्ध सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में देखा जाना चाहिए । उदाहरणतः राजीतिक रूप से जिस भूखंड को हम भारत कहते हैं, उसके कुछ भाग जैसे पूर्वोतर प्रदेश भारत के सांस्कृतिक परिसीमन के बाहर हैं । लद्दाख मूलतः सांस्कृतिक रूप से तिब्बती संस्कृति का भाग है । इसी प्रकार पाकिस्तान के पंजाब और सिंध और पूर्वी बंगाल का बंगलादेश भारतीय महासंस्कृति के भूखंड के अभिन्न अंग हैं, पर शायद बलूचिस्तान और पश्चिमोत्तर प्रांत इस भूखंड के बाहर हैं । लेखक ने एक स्थान पर कहा है कि पाकिस्तान और बंगलालेश में हिंदू संस्कृति विलुप्त है । सतही स्तर पर यह सही है, पर आज का भारतीय उपमहाद्वीपीय इस्लाम हिंदुत्व से ओतप्रोत है और उसी प्रकार कम से कम उत्तर भारत की हिंदू संस्कृति इस्लाम से अत्यधिक प्रभावित है । यहां मैं मिली-जुली हिंदू-मुस्लिम संस्कृति की बात नहीं कहता, जो मेरे विचार से अनावश्यक गलतफहमी पैदा करती है, क्योंकि शताव्दियों एक साथ रहने के बावजूरद आर्य और सामी महासंस्कृतियों की पहचान अलग है, पर वे अलग पहचान बनाए हुए भी एक दूसरे को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित अवश्य करती हैं । किसी भूखंड के सांस्कृतिक परिसीमन का कार्य कठिन है, पर इसका एक मुख्य आधार, सांस्कृतिक और वैचारिक आंदोलनों के उद्भम और प्रसार द्वारा निर्धारित किया जा सकता है । इस संदर्भ में मुख्यतः भक्ति आंदोलन और सूफीमत भारतीय उपमहाद्वीप को एक अच्छी भूखंडीय सांस्कृतिक परिभाषा प्रदान करते हैं । किसी भूखंड का सांस्कृतिक परिसीमन राजीतिक या सामुदायिक आधार पर करना गलत है ।

आज जिसे हम हिंदू संस्कृति कहते हैं वह मोटे तौर पर आर्य महासंस्कृति का एक विशेष भूखंडीय संस्करण है, यद्यपि यह उस महासंस्कृति का वर्तमान में उपलब्ध सर्वाधिक परिष्कृत और विशुद्ध रूप है जो लगभग १५०० ई. पू. से आज तक मूल रूप में अक्षुण्ण बना हुआ है । आज की हिंदू संस्कृति अपने मूल रूपमें एक बृहत्तर आर्य महासंस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, पर इसमें आर्येतर सभ्य और आदिम संस्कतियों का महत्वपूर्ण योगदान है और सामी महासंस्कृति के इस्लामी संस्करण से भी विशेषकर उत्तर भारत में प्रभावित है। अतः हिंदू संस्कृति को भी इस संश्लिष्ट रूप में महासंस्कृति का दर्जा प्राप्त है ।

संभवतः आर्य चिंतन शैली एक काव्यात्मक कल्पनाशीलता (जो अधिक कहन रूपों मे तत्वमीमांसात्मक और अंततः धार्मिक रहस्यवाद का रूप ले लेती है) प्रस्तुत करती है । इस सन्दर्भ में लेखक की अवधारणा सही है जिसके अनुसार धर्म जो इन्द्रियातीत 'परा' शक्ति का प्रभाव 'अपरा' क्षेत्र पर डालता है, वह अपने में एक पूर्ण इकाई है । हिंदू धर्म संपूर्ण संस्कृति का समानार्थक तो नहीं, पर उसे पूरी तरह प्रभावित अवश्य करता है । लेखक मानते हैं कि आर्ष चिंतन का मूलभूत ब्रह्मसूत्र के 'ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्' फार्मूले में निहित है; दूसरे शब्दों में, भारतीय आर्ष चिंतन

को एक उल्टे खड़े वृक्ष के रूप में प्रतिपादित करता है, जिसकी जड़ें आकाश में हैं, और शाखाएं और फल-पत्तियां पृथ्वी पर फैली हैं । इस 'ऊर्ध्वमूल' को ब्रह्म या अक्षर माना गया है, जो अंततः इंद्रियातीत और सामान्य अनुभव और चिंतन के परे है, पर जो परा जगत का स्रोत, नियामक और दिशा-निर्देशक है । यह नियामक या दिशा-निर्देशक तत्त्व एक बाहरी शक्ति का आदेश नहीं है, जिसका जीव को जबर्दस्ती अनुपालन करना है, अपितु यह "ऋत" द्वारा संबोधित किया गया है जो 'सृष्टि के प्रवाह की शुभ-विधायिका ब्रह्म-शक्ति (पृ.२१) है । ऐसी बात नहीं है कि सृष्टि में भला-बुरा नहीं है और इसका द्वंद्व नहीं है, पर अंततः सब कुछ 'ब्रह्म का ही क्रियापरक रूप है' ... अतः ब्रह्म का व्यक्त रूप है सत्य और ऋत का युग्म' । (पृ. २२) सृष्टि में विभिन्न प्रकार की द्वन्द्वात्मकता होने के बावजूद सब कुछ ऋत आश्रित होने के कारण एक प्रकार के 'रचनात्मक सामंजस्य' के रूपमें परिलक्षित होता है । द्वन्द्वात्मकता मात्र आकस्मिक है; विशुद्ध और अगम्य परिवतर्नशीलता जिसे ऋतबद्ध रूप में न प्रस्तुत किया जा सके, एक असंभव स्थिति को दर्शाती है । इतना ही नहीं, भारतीय आर्षचिंतन ब्रह्म की क्रियाशीलता में लयात्मकता या छंदबद्धता का प्रतिपादन करता है. यह भारतीय संस्कृति के मूल में शुभ, लयबद्ध और द्वंद्वात्मक तत्वों के ऊपर रचनात्मक सामंजस्य को महत्त्व प्रदान करता है, जिसे लेखक ने महाभारत और गीता से उद्‌भूत माना है ।

इस संदर्भ में लेखक की यह मान्यता महत्वपूर्ण है कि 'निगम' जो ब्रह्मविद्या का समानार्थक है और आगम जो लौकिक विधाओं का प्रतिनिधित्व करता है, उनका आपसी रिश्ता 'अन्योन्याश्रित हैः '... पृथ्वी-विद्या का जो अंश .....निगम की ब्रह्म विद्या से सुप्रकाशित हो जाता है वह पुनः परावर्तित होकर 'आगम' की संज्ञा लेकर निगम के हृदय में स्थित हो जाता है ... पृथ्वी-विद्या या लोकविद्या का जो अंश निगम के ब्रह्मबोध को धारण नहीं कर पाता है, वह मात्र लोकविद्या ही रह जाता है । (पृ. ५५) इससे यह परिलक्षित होता है कि निगम और आगम एक-दूसरे से प्रभावित रहते हैं और मनुष्य के अनुभव का एक भाग ऐसा भी है जो अपनी निम्न स्तरीय या भौतिक क्रियाशीलता और तकनीक में ब्रह्म विद्या से सुप्रकाशित' नहीं होता । इस बात पर लेखक ने बहुत जोर नहीं दिया है, पर यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि मनुष्य का दैवी या आधिभौतिक चिंतन संपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता । सदा ही कुछ ऐसा रहेगा जो उस चिंतन के अभिव्यक्त परिसीमन के या तो बाहर है या उसके लिए अप्रासंगिक है । ब्रह्म को किसी भी रूप में चाहे वह कोई अक्षर हो या कुछ और अभिव्यक्ति करना उसका परिसीमन करना है । यदि रचना को अभिव्यक्ति के समानार्थक मान लिया जाए तो कहा जा सकता है कि इसका कोई पूर्वनियोजित उद्देश्य नहीं है और जो सोद्देश्यता सर्जनेच्छा या मंगल विधायक तत्व के

रूपमें भारतीय संस्कृति में प्रस्थापित मानी गई है, वह एक उदात्त, सभ्यतामूलक परंतु काल्पनिक प्रस्थापना मात्र है, उसका कोई स्वतंत्र वस्तुपरक अस्तित्व नहीं है। यह बात इस प्रस्थापना विशेष के लिए नहीं, अपितु इस प्रकार की किसी भी प्रस्थापना पर लागू होगी। प्रत्यक्षतः लेखक इस विचार का समर्थन नहीं करेंगे, परंतु 'लोकविद्या' का आगम-स्वतंत्र स्वरूप के माध्यम से ऐसा निष्कर्ष निकालना संभव है, जहाँ निगम और आगम दोनों का ही परिसीमन दर्शाया गया है। मूल प्रकृतियों का प्रातिभ-ज्ञानात्मक चिंतन भी परिसीमन से स्वतंत्र नहीं है। प्रातिभ-ज्ञानमूलक अनुभव अविस्मरणीय या अद्‌भुत हो सकता है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह यथार्थ की संपूर्ण और सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। इस बात का समर्थन लेखक भी संभवतः करना चाहेंगे, पर अंतर यही है कि वह रहस्यात्मक ब्रह्माक्षर को सर्वोच्च स्थान देते हैं, जबकि अपरा माया जगत झूठा न होते हुए भी इसके अधीनस्थ है। इसी प्रकार सांसारिक द्वंद्व दो विरीतार्थक शक्तियों में संघर्ष न होकर एक क्रियाशील समन्वय या युग्म के रूप में देखा जाना चाहिए।

हिंदू या भारतीय संस्कृति के मूलतत्व शैलीगत हैं न कि सैद्धांतिक। इस शैली का यदि कोई एकमात्र सार्वभौमिक सिद्धांत है तो वह है सोद्देश्यता। लगभग सभी धार्मिक और दार्शनिक किसी न किसी रूप में समाज और व्यक्ति के अस्तित्व को सोद्देश्य मानते हैं, जिसकी अवधारणा कुल मिलाकर आध्यात्मिक ही मानी जाएगी। बल्कि लेखक का यह कहना और प्रासंगिक हो जाता है कि वास्तव में अवैदिक श्रमण सिद्धांत वैदिक ब्राह्मण सिद्धांत के मुकाबले लोकाचार के अधिक निकट है, परंतु कुल मिलाकर ये दोनों ही सिद्धांत आध्यात्मिक सोद्देश्यता से परिपूर्ण हैं जो कि समसामयिक सामाजिक संरचना में कोई मूलभूत परिवर्तन नहीं खोजते। इसके अलावा विशुद्ध लोकायत मत जिन्हें प्रायः भारतीय मूल वैचारिक परंपरा में कोई मान्यता प्राप्त नहीं हुई, कुल मिलाकर 'सोद्देश्यता' से तो परिपूर्ण है; पर उस सोद्देश्यता की परिभाषा आध्यात्मिक नहीं है। अतः इस सोद्देश्यता की परिकल्पना आर्य महासंस्कृति या हिंदू संस्कृति में भिन्न-भिन्न हो सकती है; अतः लेखक का यह कहना कि हिन्दू संस्कृति के मूल स्वरूप को - जो सार्वभौमिक भी है, उत्तर मीमांसा या किसी अन्य धार्मिक या दार्शनिक सिद्धांत के अंतर्गत परिभाषित या परिसीमित किया जा सकता है सही नहीं है। आर्य महासंस्कृति और उसके श्रेष्ठतम परिष्कृत स्वरूप हिंदू संस्कृति का विशिष्टत्व शैलीगत है न कि दार्शनिक या सैद्धांतिक। इस शैली के सभी मानवीय कर्मों या विचारों को आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक सोद्देश्यता के रूप में पहचाना जा सकता है, जो सोद्देश्यता मनुष्य के संपूर्ण व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अपेक्षाकृत स्थायी और द्वंद्वहीन व्यवहार और विचार प्रणाली की ओर ले जाती है। लेखक का यह कहना कि भारतीय धर्म में मस्तिष्क और

प्रज्ञा स्वतंत्र रखे गए हैं, पर इंद्रियों को नियंत्रित रखा गया है , अनचाहे ही हिंदू संस्कृति की सबसे बड़ी कमजोरी को दर्शाता है । सामान्य जनजीवन और लोकसंस्कृति ऐंद्रिकता से ओतप्रोत है, पर इंद्रियों का वैचारिकता से गहन संबंध है । जहां वैचारिकता 'ऊर्ध्वमूलम् ऊधःशाखम्' सूत्र के अनुसार ढाली जाएगी, वहां वह चेतनाशून्य और विशुद्ध परिवर्तन के प्रति उदासीन हो जाएगी अथवा उन्हें ऊपर से लाए गए किसी 'छंद' में बांधने की कोशिश करेगी ।

यद्यपि लेखक ने हिंदू संस्कृति के आर्येतर संबंधों पर उचित प्रकाश डाला है (यथा 'ब्रह्म' शब्द का जनजातीय उद्‌गम) और हिंदू कर्मकांड की लौकिक सदेच्छाओं के संदर्भ में भी उचित व्याख्या की है, पर उन्होंने भारतीय उपमहाद्वीप में हिंदू संस्कृति के इस्लामी संस्कृति के साथ संबंधों और विरोधों को भारतीय आर्ष चिंतन की परंपरा के संदर्भ में विश्लेषित नहीं किया जिसकी आज के युग में अत्यधिक प्रासंगिकता है । लेखक के विचार हिंदू संस्कृति के एक विशेष स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं, जो व्यवस्थामूलक है, पर मात्र व्यवस्थामूलक होने से उनके विचारों का विरोध करना उचित नहीं । उचित यही है कि हिंदू संस्कृति की शैली और उसमें निहित विभिन्न सिद्धांतो का सम्यक् विश्लेषण किया जाए जो बौद्धिक और व्यावहारिक स्तरों पर संप्रेषणीय हो न कि रहस्यवाद के अंधेरे में खो जाए ।

अंत में दो बातें कहना चाहूँगा । पहला, हिंदू संस्कृति के उल्टे खड़े पेड़ को सीधा किया जाए, उसकी जड़ें धरती में हों, पर आकाशोन्मुख शाखाओं और पत्तियों के फैलाव की कोई सीमा न हो । दूसरा, हिन्दू संस्कृति की शैली में बदलाव की आवश्यकता है । यह बदलाव पाश्चात्योन्मुख होना आवश्यक नहीं । इसका उद्‌गम ऐंद्रिय जनजातीय चेतना में खोजा जा सकता है या फिर ऋग्वेद की ताजगी में जिसका 'शिश्न और उदर' से गहन संबंध है । साथ ही 'पाश्चात्य' से इतना डरने या घबराने की भी जरूरत नहीं, क्योंकि स्वयं पाश्चात्य संस्कृति के उद्‌गम आर्य महासंस्कृति में हैं, जिन्हें हम नैसर्गिक और मौलिक रूप में आत्मसात् कर सकते हैं और बदले में पाश्चात्य ही नहीं अपितु समस्त विश्व संस्कृति में एक महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं । चीनी महासंस्कृति की अनुभवजन्य और व्यावाहारिक शैली से भी हम बहुत कुछ ग्रंहण कर सकते है । दुर्भाग्यवश आज के युग में सामी महासंस्कृति का इस्लामी संस्करण बहुत खराब हालत में है, जिसे अब्बासी युग के स्वर्णिम काल के आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पुनरुत्थान क़ी घोर आवश्यकता है । जब आर्य और सामी महासंस्कृतियां अपने हिंदू और इस्लामी रूपों में स्वतंत्र और गत्यात्मक हो जाएंगी, तो संसार में 'पूर्वी' और 'पश्चिमी' चिंतन का भेद भी मिट जाएगा ।

(आजकल-अक्टूबर, ९६

●

'कंथामणि'
प्रकृति और संस्कृति के परस्पर संश्लेषण की कविताएं

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

स्वर्गीय श्री कुबेरनाथ राय बहुत शुद्ध व्यक्ति थे और उनका संस्कृति का ज्ञान तलस्पर्शी था। उनके निबन्धों में उनके ज्ञान की प्रतिछवि भरपूर रहती है और बड़ा विस्मय होता है कि अंग्रेजी के अध्यापक को भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों का और प्राचीन भारतीय साहित्य का इतना गहरा मर्म कैसे केवल निजी साधना के बल पर मिला। यह विस्मय उनकी काव्य प्रतिभा से पहली बार 'कंथा-मणि ' के माध्यम से परिचय पाने से दूना हो जाता है। इतना तो मैं जानता था कि वे आत्मलीन एकनिष्ठ शब्द-साधक थे। पर वे इस साधना को ऐसी मनोरम काव्यभाषा दे सकते हैं – यह नहीं जानता था। 'कंथा-मणि' उनके निधन के पश्चात् प्रकाशित हो रही है। यह संग्रह उनकी संस्कृति यात्रा के अन्तरंग अनुभवों का अंकन है। किस प्रकार वे लोक-संस्कृति को अपने शास्त्रीय अध्ययन में पचा कर नया सर्जनात्मक रूप दे सकते हैं इसी का प्रमाण उनका यह क्लासिक गुण वाली कविताएँ हैं। इनकी इन कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि .यह सहज, शाश्वत और समकालीन हैं। 'उन्नीस सौ सड़सठ' के गीत नाट्य में जिस प्रकार लोकशास्त्र और बाहर की वास्तविकता को एक आकुल ग्रहीता के माध्यम से एक-दूसरे से आश्लिष्ट कराया गया है वह केवल कुबेरनाथ राय की प्रतिभा कर सकती है। संग्रह में अन्तःकरण के चारों रूपों के संश्लेष मन, बुद्धि चित्त व अहंकार इन चारों के संश्लेष और इन चारों के अतिक्रमण का अध्यात्म पृथ्वी-तत्व से ऊपर उठा हुआ अध्यात्म है, इसीलिए वह विश्वसनीय है। कभी भी अपनी उम्र की यात्रा में कुबेरनाथ राय धरती का आधार नहीं छोड़ते। वे कालिदास के मानस-चारी हंस की तरह धरती का सम्बल विस-किसलय लिए उड़ान भरती है। वह विस किसलय को मानसरोवर को सौंपना चाहते हैं।

प्रकृति के साथ में कवि का संश्लेष वैसा ही है। 'माधवी रात', 'महा-वल्लीपुरम्', 'पुरीतट', 'मथान-गुड़ी', 'नदी और मैं'- ये सभी कविताएँ कृति और संस्कृति के परस्पर संश्लेष की कविताएँ हैं। समुद्र हो, नदी हो, साज और चाँदनी

हो, कवि इन सबमें एक तीव्र आध्यात्मिक आकांक्षा बढ़ते देखता है और उस आकांक्षा में अपना साधारणीकरण कर लेता है। जहाँ कवि संस्कृति के तार छेड़ता है वहाँ वह पूरे सरगम के बीच संवाद स्थापित करता है। परन्तु यह स्वीकार नहीं है कि वह वस्तुओं को, व्यक्तियों को, समूहों को, समूह के संस्कारों को उनके रचना व्यापारों को विच्छिन्न रूप में या असम्बद्ध रूप में देखा जाए। वह इन सबके भीतर के अदृश्य सूत्रों को अपनी संधायिका शक्ति से पारदर्शी बना देता है। यह अवश्य है कि इनमें से बहुत सारी कविताएँ प्राचीन चीनी कविताओं की तरह या श्रीहर्ष जैसे शास्त्र कवियों की रचनाओं की तरह सन्दर्भ-बहुल हैं और पाठकों से विशिष्ट विविधता की माँग करती हैं, पर कवि के भीतर की तरलता कविता को सम्प्रेषणीय बनाये रखती है।

यह पूरा का पूरा ग्रन्थ विशिष्ट प्रकार का संग्रह है। इसे अपने ढंग का आधुनिक हिन्दी में नया संग्रह कह सकते हैं। इसको किसी कोटि के भीतर बाँधा नहीं जा सकता है। यह रचना विशेष रूप से कवि पाठकों को और चिन्तक पाठकों को सम्बोधित है। यह नदी का प्रवाह नहीं, गहरी नीली झील का संयत हिलोर है। ये पंक्तियाँ लिखते समय गहरा विषाद होता है कि यह संग्रह स्वयं पुस्तक रूप में कवि प्रकाशित नहीं देख सका। मैं अत्यन्त वाष्पगद्गद् मन से कवि कुबेरनाथ राय का स्मरण करता हूँ।

(भूमिका से)

●

ललित निबन्ध और कुबेरनाथ राय

हिन्दी ललित निबंध-परंपरा और कुबेरनाथ राय

डॉ. ओमप्रकाश गुप्त
प्रवक्ता, हिन्दी-विभाग
एच. के. आर्ट्स कालेज, अहमदाबाद

कुछ दिन पूर्व हिन्दी ललित निबंध- परंपरा की एक सशक्त कड़ी टूट गई। आत्माभिव्यंजना की दृष्टि से निबंध ही गद्य साहित्य की सर्वोत्तम विधा है, विषय और व्यक्तित्व की सहज समन्वित अभिव्यक्ति ललित निबंध की सबसे बड़ी लाक्षणिकता है। सौभाग्य से हिन्दी निबंध-परंपरा का प्रारंभ भारतेन्दुयुग में इसी प्रकार के व्यक्तिव्यंजक ललित निबंधों से हुआ। एक बहुत बड़े निबंधकार के रूप में प्रतिष्ठित होने के बावजूद भी आचार्य रामचंद्र शुक्ल इस परंपरा में अपना कोई स्थान न बना सके। संभवतः उनका पांडित्य इसमें बाधक रहा। आगे चल कर हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में इस परंपरा की पुनःप्रतिष्ठा हुई और इसकी चरम परिणति दिखाई दी विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय के निबंधों में। गुण और परिणाम दोनों दृष्टियों से कुबेरनाथ के निबंध इस परंपरा की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। द्विवेदी संस्थान के प्रतिष्ठित निबंधकार का सम्मान उन्हें प्राप्त है।

कुबेरनाथ राय की सर्जनात्मक चेतना आरंभ से ही ललित निबंध पर एकाग्र रही। उनकी चित्तवृत्ति का मुख्य अभिसार-क्षेत्र आरंभ से अंत तक ललित निबंध ही रहा। उनके व्यक्तित्व को उन्मुक्त रूप से विचरण करने का अवसर निबंध में ही मिला। इस सम्बंध में मार्मिक टिप्पणी करते हुए उन्होंनें स्वयं लिखा है – "विषय के आसपास शिव के साँढ़ की भाँति मुक्त चरण और विचरण ललित निबंध है।" उनके निबंधों में विषय - वैविध्य के साथ साथ विषय निरूपण की गहरी पकड़ भी है। प्रकृति का व्यापक परिवेश, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य-संस्कृति, लोक-जीवन का रस, दर्शन-पुराण और युग-चेतना आदि ऐसे विषय हैं जिनका उनके निबंधों में सुंदर समायोजन हुआ है। शास्त्रज्ञान उनके निबंधों का अंतर्निहित अनिवार्य अंग् है। उन्हीं के शब्दों में –" अंतर्निहित शास्त्र-ज्ञान के बिना काव्य रीढ़हीन केंचुए जैसा लिजलिजा होता है। यह शास्त्र-ज्ञान उनके निबंधों की शक्ति है तो सीमा भी। यह उनके निबंधों में यदि रस की सृष्टि करता है तो बोझ भी बन बैठता है। शास्त्रीय शब्दावली के घटाटोप में भावसौंदर्य कहीं-कहीं दब- सा जाता है फिर भी उनके निबंध कमजोर नहीं बन जाते।

यद्यपि कुबेरनाथ राय और विद्यानिवास मिश्र दोनों ही द्विवेदीजी की परंपरा के सर्जक हैं किंतु दोनों में अंतर यह है कि मिश्रजी द्विवेदीजी के प्रभाव से प्रायः मुक्त नही हैं जबकि कुबेरनाथ राय उनसे अलग हटकर नवीन भंगिमाओं की खोज में बराबर प्रयत्नशील रहते हैं । उनके निबंधों में पौराणिक और सांस्कृतिक संदर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों और नवीन जीवन-दृष्टि को साफ देखा जा सकता है । 'रस आखेटक' में निबंधकार ने रस को नये धरातल पर परिभाषित करने का प्रयास किया है । 'विषादयोग' में नई दिशा की खोज है । उन्हीं के शब्दों में "युग बोध की दृष्टि से इसमें अधिक प्रामाणिकता है । यदि अन्य संकलनों का आस्वादन 'श्रीमद् भागवत' की जाति का है तो इस संकलन की स्वानुभूति 'महाभारत' की समगोत्रीय है ।" इस संकलन में हमारे समय की समाजवाद, अस्तित्ववाद, युवाक्रांति जैसी चिंताधाराएँ रसमय बनकर अभिव्यक्त हुई हैं । विषय-निरूपण की शैली भारतेन्दु युग में निबंधकार प्रतापनारायण मिश्र या बालकृष्ण भट्ट का स्मरण कराती है । इस दृष्टि से कुबेरनाथ राय हिन्दी ललित निबंध की मूल परंपरा से भी जुड़ जाते हैं ।

कुबेरनाथ राय की एक विशेषता यह भी है कि उनका निबंधकार अपनी भाषा-साहित्य विषयक मान्यताओं को अपने निबंधों में परत-दर परत खोलता चलता है । 'दृष्टि अभिसार' में संगृहीत उनका निबंध 'भाषा बहता नीर' इसका उत्तम उदाहरण है । यह ललित निबंध एक प्रकार से कबीर की उक्ति 'संस्कृत है कूप जल, भाषा बहता नीर' की नई व्याख्या-विवेचना है । सबसे पहले लेखक इस भ्रांति का निवारण करता है कि संस्कृत कूप जल है । उसके विचार से कबीर का यह कथन अपने समय की पुरोहित विद्या पर प्रहार है जिसका माध्यम थी संस्कृत । भाषा बहता नीर'.की व्याख्या करते हुए लेखक कहता है कि इस उक्ति का आशय यह नहीं था कि भाषा का वही रूप श्रेष्ठ है जो आम आदमी बोलता है, बल्कि उनका आशय उस भाषा से था जिसमें आवश्यकता के अनुरूप किसी भी युग और किसी भी क्षेत्र के शब्दों को सहजता से सम्मिलित किया जा सके । और आगे स्पष्ट करता हुआ लेखक कहता है कि साहित्य की भाषा अनावश्यक रूप से दुरूह या कठिन नहीं होनी चाहिए । इसी क्रम में कुबेरनाथ राय के निबंधों की अपनी विशेषता है । उनकी निबंध-चेतना युग-चेतना बन कर आने वाले युग को प्रभावित करेगी, इसमें दो मत नहीं । हिन्दी ललित निबंध को उनकी देन सदैव स्मरणीय रहेगी ।

●

हिन्दी ललित निबन्ध को कुबेरनाथ राय उर्फ निबन्ध कुबेर की देन--

डा. शशिकलात्रिपाठी
प्रवक्ता (हिन्दी)
वसंतमहिला महाविद्यालय
राजघाट, वाराणसी

ललित निबन्ध आधुनिक युग की देन है, जिसमें सांस्कृतिक-चेतना, उपनिषद पुराणों का तर्कपूर्ण-विवेचन, देश की प्रकृति, भूगोल, इतिहास, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष विज्ञान और लोकतत्वों का समुचित समावेश होता है । एक खास विशेषता वैयक्तिकता भी है । इसीलिए, विद्यानिवास मिश्र ने ललित निवनध को 'व्यक्ति-व्यंजक' निबन्ध कहा है । औरों नें कहा, क्या कहा है; इस पर ज़ोर न देकर क्यों न कुबेरनाथ राय की ही दृष्टि से ललित-निबन्ध की पड़ताल की जाये । उन्हे 'व्यक्ति-व्यंजक' विशेषण में कोई औचित्य नहीं दीखता । बल्कि, ऐसे विषेषण को भ्रमात्मक मानते हैं । उनका कहना है कि व्यक्तिपरक निबन्धो में भी लेखक का 'जीवन' नहीं, , उसका 'व्यक्तित्व' अभिव्यक्त होता है । वह भी 'तथ्य' में नहीं, 'भंगिमा' में । सच तो यही है कि साहित्य में 'मैं' समूहवाचक ही होता है । वैयक्तिकता का तो संदर्भ सीमित होता है । ललित निबन्ध को 'आत्मकथा' कहने वाले की वे कड़ी खिलाफ़त करते हैं ।

ललित निबन्ध के अन्य आयामों की चर्चा करते हुए कुबेरनाथ राय 'दृष्टि अभिसार' में कहते हैं कि काव्य और शास्त्र दोनों ही निबन्ध में होते हैं किन्तु, अलग-अलग नहीं, संश्लिष्ट रुप में । उसमें संवेदना का लालित्य और बुद्धि, चिन्तन का सम्यक् समन्वय होता है । 'ललित' विशेषण के बावजूद अगर विधा निवन्ध है तो उसमें अनिवार्य चिन्तन की है ही । वस्तुतः लालित्य की आसंगता भंगिमा से है। ललित निबन्धकार अपनी बात 'सखा' और 'बंधु' के लहजे में कहता है जबकि, शुद्ध निबन्धकार गुरु या अध्यापक की टोन में । दूसरा, महत्वपुर्ण विचार. यह है कि 'लालित्य' की कोई सर्वांगपूर्ण परिभाषा नहीं है । फिर भी, 'सम्मोहन' की विशिष्टता होती है । श्रंगार का ही नहीं, वीभत्स, क्रोध आदि रसों का भी । परिपक्व अवस्था में वोध ही लालित्य का रुप ले लेता है । प्रकृति के सुदूर उपकरणों पर ललित निवन्ध लिखा जाय स्वाभावकि है । किन्तु , कुबेरनाथ लिखते हैं, गैंडे पर, जून की निचाट दुपहरी में असम के जंगलों पर, हुआं-हुआं करते स्थानों के सदन से काँपते श्मशान पर, कामातुर बाराहों और वनचरों के चीत्कार पर । ऐसे विषयों पर

निबन्ध लिखना और वह भी ललित कुबेर जी के लिए ही साध्य था। अतः उन्हें 'निबन्ध-कुबेर' कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। 'रस आखेटक' में उन्होने ललित निबन्धों को 'क्रुद्ध ललित स्वभाव वाले' कहा है। इनमें धरती का क्रोध, धरती की त्राहि- त्राहि और धरती की करुणा भी बोल उठी है। कहना न होगा कि ललित निबन्ध की ख़ासियत शैली से प्रकट होती है। सम्पूर्ण लालित्य, रसात्मकता, आकर्षण और मनोरमता उसकी शैली में ही होती है। शैली के उपकरण-शब्द, वाक्य, बिम्ब, प्रतीक आदि वे - उपकरण हैं जो निबन्धकार की शिनाख्त कराते हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ललित निबन्ध का सूत्रपात करते हैं। वैसे, इस समय तक स्वतंत्र रुप से न तो ललित निबन्धकी परम्परा विकसित हुई थी और न ही स्वतन्त्र रुप से कोई ललित निबंधकार बन सका था। निबन्ध लेखन के इस प्रारम्भिक दौर में ललित निबन्धों के कुछ गुणों की पहचान जरूर की जा सकती है। विकासक्रम के दूसरे चरम में आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी सम्पूर्ण सर्जना को प्रभावित करते हैं। परिमार्जन-युग होने के कारण वैचारिकता के दवाव तले निबन्ध कुछ बोझिल हो गये है। सरदार पूर्णसिंह के निबन्ध ज़रुर ऐसे हैं; जिनमें आत्माभिव्यंजा, भावनात्मकता और उदारता है जो निबन्ध विधा को मानवतावाद की ओर ले जाते हैं। चन्द्रधरशर्मा गुलेरी के निबन्धों में हास्य एवं व्यंग्य है रुढ़िवादी समाज पर किन्तु, भाषा पाण्डित्य से वे दुरुह हो गये हैं। तृतीय चरण शुक्ल युग में निवन्ध न तो पूर्णतः विचारात्मक हैं और न ही आत्मपरक। इनमें गाम्भीर्य एवं भावुकता का संगम है। बुद्धि एवं ह्रदय का समन्वय है। यह सच है कि आ. रामचन्द्र शुक्ल ललित निबन्धकार नहीं है। किन्तु, उन्होनें ललित निबन्धकारों को प्रभावित न किया हो, ऐसा नहीं है। संस्मरणात्मक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक निबन्ध की सर्वप्रथम शुरुआत इस युग में ही हुई।

शुक्लोन्तर निबंधकारों में ललित निबन्ध का चरमोत्कर्ष रुप दिखायी देता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, विवेकीराय, राम-नारायण उपाध्याय आदि के निबन्धों में एक साथ सरलता और विद्वत्ता मिलती है। इनमें अग्रगण्य और मूर्धन्य है आ. द्विवेद्दी; जिनमें पाण्डित्य और लालित्य एक साथ लक्षित किया जा सकता है। उन्होंने 'वसन्त आ गया है' से 'अशोक के फूल' तक जिस तरह का निबन्ध लेखन किये, उसी के लिए ' ललित' विशेषण दिया गया जो इतना सटीक था कि सर्वमान्य हो गया और उसकी एक परम्परा बन गयी।

आ. द्विवेदी ने निबन्ध की जिस परम्परा का सूत्रपात किया, उसके एक महत्वपूर्ण लेखक कुबेरनाथ राय हैं। आ. द्विवेदी ने अपने निबन्धों में संस्कृति के वैविध्य एवं वैशिष्ट्य को अंकित किये हैं। विद्दानिवासजी ने भी संस्कृति और असंस्कृति के समानान्तर समाज, धर्म, साहित्य नैतिकता, कला, सौन्दर्य आदि का विवेचन अतीत के गलियारे से गुज़रते हुए वर्तमान संदर्भ में किये हैं। इसी परम्परा

को कायम किया है कुबेरनाथ राय ने । उनके निबन्ध पांडित्य के अनेकानेक आयाम-इतिहास, संस्कृति, ज्योतिष, प्रकृति, लोकानुभव आदि से प्राणवान हैं । यदि कुबेरनाथ यहमानते हैं कि किसी व्यक्ति की पहचान, उसके परिवेश, धरती, भूगोल पर्यावरण के साथ ईश्वर और उसके प्रति विश्वास तथा संस्कृति से होती है तो सही ही है । उनके सभी निबन्धों में भारतीय संस्कृति की विविधता और विशेषता रूपाायित होती है ।

श्री राय संस्कृति के प्रति रागमयी दृष्टि रखते हैं । उसमें किसी प्रकार का विखंडन उन्हें सह्य नहीं । वह अविभाज्य औरअविच्छिन्न हैं जिसमें भिन्न भिन्न जातियों एवं संस्कृतियों का सम्मिश्रण हुआ है । उनका कहना है, भारतीय संस्कृति चतुर्मुखी ब्रह्मा के समान है। जिसका एक मुँह द्राविड़ है, दूसरा आर्य, तीसरा निषाद और चौथा किरात । यद्यपि उनकी पहचान अब कठिन है । इसी तरह 'गंगा, यमुना, सरस्वती' में लिखते हैं,"गांगेय संस्कृति ही भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय रुप है और इस संस्कृति का निमित्त कारण है आर्य और उपादान कारण हैं'निषाद' या 'निषाद द्राविड़' । अग्नि आर्य की है परन्तु ईंधन जुटाता है आर्येतर । 'निषाद बाँसुरी' में निबन्धकार नें भारतीयों के खोये हुए आत्मसम्मान को पुनः वापस लाने और आत्मविश्वाससे परिपूर्ण करने की चेष्टा की है । 'चित्त विचित्र' एक ऐसा ललित निबन्ध है जो लेखक के ज्योतिषशास्त्र और नक्षत्र विज्ञान विषयक ज्ञान के द्वारा भारतीय संस्कृति के एक और पहलू को उद्घाटित किया है "सूर्य'चित्रा' नक्षत्र में स्थित था । इसी से ज्योतिषियों नें संवत्सर के प्रथम मास का नाम चैत्र रखा ।"

"चिन्मय भारत : आर्य चिन्तन के बुनियादी सूत्र' में कुबेरनाथ राय ने संसार की तीन महासंस्कृतियों - आर्य, सामी और चीनी के स्वरुपों को व्याख्यायित करते हुए हिन्दू संस्कृति को सविस्तार विवेचित किया है । भारत में आर्य महासंस्कृतिका अधिक स्पष्ट रुप दिखायी देता है । भारतीय संस्कृति की पहचान ऐतिहासिक, राजनीतिक परिदृश्यों में नहीं, सांस्कृतिक-परिदृश्य में ही संभव है । उनके इस निबन्ध में यह कमी ज़रुर अखरती है कि इस्लामी और हिन्दू संस्कृति के पारस्परिकता पर रोशनी नहीं डाली गयी है जबकि, आज के परिप्रेक्ष्य में इसकी आवश्यकता थी ।"

सांस्कृतिक चेतना संपन्न श्री राय अपनी ज़मीन से कभी अलग न हो पाये भले ही कलकत्ता विश्वविद्यालय में अध्ययन किये हों । उनके निबन्ध गँवई-संवेदना से लैस हैं । तमाम रचनाकारों का 'गाँव' से मोहभंग हो चुका है यह मानते हुए कि गाँवों में नगर घुस आया है पूरी आक्रामकता, उदण्डता और विद्रूपता के साथ । किन्तु, कुबेरनाथ आस्थावान रहे । उनका विश्वास था कि आज के यांत्रिक, संवेदनहीन और संस्कारहीन समाज को मानवीय, संवेदनशील और संस्कारसम्पन्न ग्रामीण जीवनमूल्यों के द्वारा ही बनाया जा सकता है । यही कारण है कि पश्चिम

जीवन-मूल्य उनके निबन्धों में हावी नहीं हो पाये । मार्क्सवादी -विचारधारा उन्हें कोई उत्तेजना नहीं देती । अपितु, अपने देश के गाँधी प्रभावित करते हैं । मार्क्सवादी आलोचक उनके निबन्धों में इतिहास-बोध का अभाव पाते हैं; जिसका ज़वाब देते हैं राय साहब कि मार्क्सवादी चिन्तन-पद्धति का इतिहास-बोध अधूरा है । इतिहास-बोध और सांस्कृतिक-बोध को विच्छिन्न करके नहीं देखा जा सकता । इसीलिए, राय सांस्कृतिक निरुपण के लिए पुरात्व एवं प्रागैतिहासिक काल की मूलभूत मान्यताओं और परम्पराओं तक गये हैं । मूर्तिकला, उपासना पद्धति तथा साधना पथों का विवेचन करते-करते उनकी दृष्टि समाजशास्त्रीय हो गयी है ।

इस शताब्दी में काल-चिन्तन पश्चिम में भी हुआ और इसे साहित्य में स्वीकृति मिली है । कुबेरनाथ ने भी अपनेएक निबन्ध 'काल-चिन्तन की ज्यामिति' में काल के 'दृष्टिक्रम' को व्याख्यायित किया है कि एक ही दृश्य दो एंगिलों से अलग-एलग दिखायी पड़ते हैं । मसलन, शिखर से देखने पर 'संपूर्णता' का बोध होता है और तल से देखने पर 'खंड' का । यही खण्डबोध 'इतिहास चेतना' जगाती है जबकि सम्पूर्णता का बोध काव्य, दर्शन और मिथक में मिलता है ।

कुबेरनाथ जी के कई निबन्ध ऐतिहासिक तथ्यों का परिज्ञान कराते हैं । स्वतन्त्र रुप से 'इतिहास' विषय वस्तु न होते हुए भी उनके कई निबन्धों में ऐतिहासिक तथ्य बिखरे पड़े हैं । आर्य, निषाद, किरात आदि जातियों तथा गौतमबुद्ध के इतिहास का तो इन निवन्धों में अति विस्तार से वर्णन है । लेखक ने भारतीय संस्कृति, सभ्यता के साथ ही रोमन सभ्यता का विवेचन/मूल्यांकन किया है । 'पिया नीलकण्ठी' के एक निबन्ध 'डूबता देवयान' में यूरोप के इतिहास का अंकन है । आ. ह. प्र. द्विवेदी ने ललित निबन्ध में ऐतिहासकिता की जो नींव डाली थी उसको राय ने निस्संदेह मजबूती दी है ।

गाँधी के बाद कोई शख्सियत अगर कुबेरनाथ को प्रभावित किया है तो वे रहे हैं राममनोहर लोहिया । लोहिया की ही तरह राय मानते हैं कि इंसान को केवल 'क्षणबोध' में नहीं जीना चाहिए । काल का पूर्णांगबोध होना अपेक्षित है । यानी, 'क्षण' और 'प्रवाह' दोनों का बोध हो । इसलिए, इतिहास से किसी भी कीमत पर अधिक जातीय मिथक और पुराण महत्वपूर्ण हैं । मिथकीय चरित्र ज़्यादा प्रभावी होते हैं । किसी राष्ट्र के जीवन मूल्यों के आधार पुराण ही होते हैं । इसीलिए, राय के निबन्धों में पौराणिक-आख्यानों का उल्लेख अत्यधिक है । 'विषाद योग' निबन्ध संग्रह में तीन ललित निबन्ध रामायण, महाभारत पर आधारित हैं । 'गन्धमादन'संग्रह में महाभारत' के बनपर्व में उल्लिखित 'गन्धमादन' पर्वत के पौराणिक-संदर्भ का हवाला देते हुए निबन्धकार ने गद्य लेखन को गदा' सदृश माना है । यद्यपि सरस्वती का पौराणिक रुप ही लोकमानस में स्वीकृत है । फिर भी राय का मानना है कि सरस्वती सुषना नारी के रुप में हमारे शरीर में ही प्रवाहमान हैं ।

'विपादयोगं' संकलन के 'यक्ष रात्रि' में वताया गया है कि यह त्योहार यक्षों का रहा है। इसी से दीपावली की एक संज्ञा 'यक्ष रात्रि' है। 'प्रिया नीलकंटी', 'विषाद योग' तथा 'निपाद वाँसुरी' निवन्ध संग्रह तो पौराणिक मिथकों की व्याख्या के दस्तावेज ही मालूम होते हैं। लेखक ने वैदिक वाङ्मय, पौराणिक साहित्य से लेकर मध्यकालीन और आधुनिक साहित्य तक के संदर्भ देते हुए ईश्वर संबंधी अनेक जिज्ञासाओं को व्यक्त किया है। कहना अनावश्यक न होगा कि राम के निबन्धों में सच्ची भारतीयता की प्रतीति होती है। पाठक को एक साथ देश की प्रकृति, भूगोल, इतिहास तथा पुराणों से परिचित कराते हैं। साथ ही साहित्य, दर्शन, ज्योतिष विज्ञान आदि की भी विवेचना उनमें है।

पूर्णकालिक निबन्धकार कुबेरनाथ नेसांस्कृतिक संदर्भों के समानान्तर ही लोकजीवन की भी समाहिति निबन्धों में की है। अपनी ज़मीन गाजीपुर के कारण भोजपुरी और असम में कई वर्षों तक रहने के कारण असमिया लोक संस्कृति का प्रस्तुतीकरण किये हैं। 'प्रिया नीलकण्ठी' के 'आँधी का पेड़', बहुरुपिए, चण्डीथान, पैशाची तथा 'रस आखेटक' संग्रह में रस आखेटक', 'एक महाश्वेता रात्रि' और 'मृगशिरा' आदि निबन्धों में भोजपुरी लोकतत्वों का वर्णन है। 'निषाद बाँसुरी' के दो निबन्ध 'यह लो अँजुरी भर कामरुप' तथा 'पान ताम्बुल' में असम की लोकसंस्कृति को अभिव्यक्त किया गया है। पर, इन निबन्धों में सार्वभौमिक जीवन-बोध भी महसूस किया जा सकता है। 'प्रिया नीलकण्ठी' के मूलाधार में गाँव ज़रुर है पर दर्शन, साहित्यशास्त्र और कामशास्त्र का पाठ भी पढ़ा /सीखा जा सकता है।

यद्यपि, कुबेरनाथ राय ललित्त निबन्ध को 'व्यक्तिपरकनिबन्ध' कहने पर आपत्ति प्रकट करते हैं तथापि, कहना न होगा कि रचनाकार सामाजिक होते हुए भी एक 'व्यक्ति ' होता है। उसकी कुछ ख़ास बनावट होती है जिसका प्रभाव कमोबेश उसकी रचनाओं में पड़ेगा ही अगर ललित निबन्ध जैसी विधा में विचरण करने की सुविधा हो। 'धरती ते क्रोध, धरती की त्राहि और धरती की करुणा' में सम्बेदनशील राय की वैयक्तिकता अनायास ही प्रकट हो उठती है, "मेरी समझ में धरती और नारी को असुन्दर और कुरुप कहने वाला जाति का सबसे बड़ा द्रोही है।" (रस आखेटक, पृ. १६१)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से कुछ अलग जो राह चुनते हैं कुबेर नाथ वह है शिल्प-विन्यास। आ. द्विवेदी में जहाँ खुलापन और फक्कडता थी वहाँ राय में शास्त्रीय रसज्ञता है। भाषा औरतकनीक के ज़रिये उन्होंने अपनी विशेषपहचान बनाई है। वाक्चातुरी, विलक्षणता, और भाषायी क्षमता को किसी भी निबन्ध में अनुभव किया जा सकता है। काव्यमय ललित भाषा, भावुक स्थलों पर कोमलकान्त पदावली, व्यंग्य के लिए लाक्षणिकता, प्रतीक, बिम्ब , आलंकारिकता उक्तिवैचित्र्य, अप्रस्तुत योजना, आदि पांडित्य व बुद्धिविलास के सभी उपकरण विद्यमान हैं।

किन्तु, यही वहकारण भी है जिससे पाठक सामाजिकता का अववोधन करने में कभी-कभार कठिनाई महसूस करता है ।

ललित निबन्धों में कथ्य-वस्तु कुछ भी हो उसकी अभिव्यक्ति निबन्धकार अपने 'अहम्' के माध्यम से ही करता है । अतः निबन्धों में लयात्मक चारुता और रसात्मकता भी है । प्रबन्धन की कहीं शिथिलता नहीं है । कुछ निबन्धों की शुरूआत उपन्यास /कहानी की भाँति होती है तथा विस्तार किया जाता है साहित्यशास्त्र, कामशास्त्र, भूगोल और इतिहास के द्वारा । 'प्रिया नीलकण्ठी' के कुछ निबन्ध इसी तरह के हैं । 'महाकवि की तर्जनी' में उपन्यास जैसा वातावरण सृजित करते हुए निबन्धकार ने त्रेता युग को फैण्टेसी में अभिव्क्त किया है । वे, जब पुराण के मिथकों की गहन व्याख्या करते हैं तो ऐसा लगता हैं जैसे निबन्ध ही स्वयं में मिथक हों । इस प्रकार, निश्चित रुप से कुबेरनाथ ने ललित निबन्धों की कलात्मकता में समृद्धि की है । गम्भीर विषय, गहन चिन्तन, वैचारिकता और कलात्मक-जटिलता के कारण निबन्धों में कहीं कहीं लालित्य खत्म हो गया है । अतः उन पर यह आरोप भी लगाया कि राय अपने को ललितनिबंधकार कहते हैं किन्तु, उनके निबन्धों में लालित्य है ही नहीं । फिलहाल, इस आरोप में पूरी सच्चाई नहीं है । कुछ निबन्धों का ही यह सच है । दूसरी न्यूनता यह निकाली गयी कि वे मौलिकता के लिए भाषाशास्त्र का सहारा लेते है । इस कारण भी दुरुहता आयी है । इस आरोप को भी आसानी से ख़ारिज किया जा सकता है क्योंकि यह पहले ही कहा जा चुका है कि निबन्ध के लिए कोई भी विषय उपजीव्य हो सकते हैं ।

अंत में, इतना ही कि कुबेरनाथ राय ललित निबन्ध को कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर समृद्ध करते हैं । पूर्णकालिक ललित निबन्धकार होना, उनकी निष्ठा को ही दर्शाता है । इस लेखन की निरन्तरता का उद्देश्य क्या था, यह जानना उन्हीं के शब्दों में उचित होगा । 'प्रिया नीलकंठी' में लिखते हैं; " शिव तो नीलकण्ठ के नाम से विख्यात हैं ही । मेरी कल्पना, मेरी प्रतिभा भी विषपायी नीलकंठी है । दुःख या उल्लास के भीतर के ज़हरको खींचकर यहस्वयं श्यामकंठ हो जाती है और धरती को जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है ।" (पृ. १७२-१७३) । आलोचक की हैसियत से मेरा भी यह मानना है कि राय अपने निबन्धो में मानवीय मूल्यों पर ही तरज़ीह देते हैं । आज, पठनीयता का संकट है । कितने पाठक उन मूल्यों को ग्रहण कर पाते हैं, यह दूसरा मुद्दा है ।

●

समग्र मूल्यांकन

सांस्कृतिक गवेषणा और लालित्य चेतना के अद्‌भुत संगम

डॉ. विद्या निवास मिश्र

कुबेरनाथ राय को मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित कर भारतीय ज्ञानपीठ ने हिन्दी की उस धारा को सम्मानित किया है जो प्रचार-प्रसार की चकाचौध और खेमों की राजनीति से दूर रह कर चुपचाप चिन्तन-मनन करती है । कुबेरनाथ राय ने सुदूर असम के एक कस्बे में रह कर चुपचाप साहित्य साधना की और हिन्दी की तमाम राजनीतिक घड़ेबंदियों से दूर रहे । हिन्दी के उन साहित्यकारों को उनकी साधना से कुछ प्रेरणा लेनी चाहिए जो साहित्यिक चर्चा के केन्द्र में रहने के लिए हमेशा के लिए दिल्ली जैसी जगह चले आये या आज भी चले आ रहे हैं, पिछले वर्ष ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित श्रीनरेश मेहता ने कहा था कि दिल्ली किस तरह साहित्यकार को खत्म कर देती है और वे किस तरह यहाँ की क्षुद्र राजनीति से विक्षुब्ध होकर दिल्ली से बाहर चले गये थे । जाहिर है, श्रीनरेश मेहता या कुबेरनाथ राय को अपनी इस चुपचाप साधना और निर्गुट रहने की कीमत चुकानी पड़ी और हिन्दी के आधुनिक आन्दोलनी आलोचकों ने उन्हें अपनी परम्परा के लिए अछूत करार दिया ।

कुबेरनाथ राय का जीवन अत्यन्त सादगीपूर्ण साधक का जीवन रहा है । भौतिक जीवन की चकाचौध उन्हें कभी आकृष्ट नहीं कर पायी । अपने बारे में उनका यह कथन बड़ा सटीक है कि 'मेरे जीवन में कुछ भी ऐसा उग्र, उत्तेजक, रोमांटिक अद्‌भुत या विशिष्ट नहीं जो कहने लायक हो । पूर्वी उ. प्र. के एक अर्ध-अभावग्रस्त सवर्ण किसान परिवार के शिक्षित और उत्तरदायित्व चेतना सम्पन्न युवक की जो नियति होती है, जैसा जीवन होता है, वैसा ही हमारा जीवन भी है ।' यही सहजता उनके चिन्तन को बरकार रखे हुए है । साथ ही लेखन के प्रति एक निर्लिप्तता भी उनमें दिखती है, जो स्वीकार करती है कि मैंने क्या लिखा, मेरे भीतर के अन्तर्यामी पुरुष ने लिखवाया । अन्यथा इस भोजपुरी देहाती से वह थोड़े ही लिखा जाता ।' इसलिए कुबेरनाथ राय की रचना यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर रही है । उनके निबंध सांस्कृतिक गवेषणा और लालित्य चेतना के अद्‌भुत संगम हैं । उन्हें पढ़ते हुए लगता है कि जैसे हम सभ्यता की खोज यात्रा से गुजर रहे हों । उनकी हाल की रचनाओं को देख कर लगता है कि वे दिन-प्रतिदिन दार्शनिक की तरह गूढ़ होते जा रहे हैं । अच्छा हो वे पहले की तरह जमीन से जुड़े रहें और यह जुड़ाव उनकी भाषा में भी पूर्ववत् प्रकट होता रहे ।

(नवभारत टाइम्स), २३-११-९३

●

साहित्यभाषा का आकाशदीप जो टूटकर बिखर गया

डॉ. शिवप्रसाद सिंह

कुबेरनाथ राय का नाम हिन्दी निवंध साहित्य में सदा चर्चित रहेगा । नलबारी से कामाख्या उतना ही निकट है जितना कुबेरनाथ राय की मन मानसिकता से हिन्दी । उनके निबंध जब धर्म-युग के माध्यम से पाठकों तक पहुंचने लगे तो लगाकि मन में छिपी अपनी ही धरोहर अचानक नयी सजधज के साथ धारा प्रवाह बरस रही है । उनके मन की कस्तूरी साहित्य को सुवासित कर ही रही थी, तभी एक नया अध्याय खुला अर्थात् गांव घर के भीतर अलाव के पास बैठे लोगों की कौतूहली मुद्रा को चौंकाती लोक तत्त्वों की रोमाण्टिक व्याख्या सहृदय पाठकों के बीच चर्चा की वस्तु बन गयी । प्रियानील कण्ठी, रस आखेटक, निषाद बांसुरी आदि कृतियों ने एक नयी सुनहरी आत्मा से सबको चमत्कृत कर दिया ।

सबसे अधिक चुम्बकीय आर्कषण उनके निबन्धों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में निहित थी जो कमोवेश मात्रा में प्रत्येक ललित निबन्धकार में होती है, पर कुबेरनाथ राय की भाषा का जादू कुछ और ही तेवर लेकर आया था । और इसे कहने में कोई संदेह नहीं होता कि कुबेरनाथ राय की भाषा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी से लेकर विद्या निवास मिश्र तक के निबन्धकारों की सहज स्वाभाविक परिणति थी । वहां लोकगीत नहीं है, पिच्छलता भी नहीं है पर इसका न होना जहाँ एक ओर नयी मर्यादा की सीमा रेखा बनाता है वहीं उसका आत्यन्तिक अभाव उन्हे भोजपुरिया क्षेत्र के बाहर का एक अजनबी आदमी भी बना देता है ।

उनके निबन्धों में स्थानीयता का आग्रह नहीं के बराबर है क्योंकि वे जिस आध्यात्मिकता से प्रभावित थे वह आगम से ज्यादा अनुशासित रही निगम से कम । नाना पुराण निगमागम की बात तुलसीदास करते हैं और मुझे लगता है कि कुबेरनाथ राय के निबन्धों के नये वस्त्र-बाने में सुसज्जित तुलसी की चिंतन-धर्मिता नयी जमीन पर आरोपित की गयी है । अतः उसमें एक ओर जहाँ उन्हें विविध क्षेत्रीय पाठकों का प्रेम और आदर मिला वही गहराई में उतरकर देखने पर लगेगा कि तुलसी उनकी यात्रा के सबसे समृद्ध पाथेय बने ।

बाद के जीवन में कुबेरनाथ राय धीरे-धीरे अपने प्रति आत्मरति के भावसे पीड़ित होते दिखलायी पड़ते हैं । संभवतः वे अहम् केन्द्रित मनपसंद भावुकता को ही प्राचीन भारतीय शब्दावलियों में लपेट कर एक नया दर्शन गढ़ने के चक्कर में फंसे

रहते थें । उनके अंतिम दिनों के निबन्ध इसी कारण पहले जैसे निबन्धों की न मिठास पकड़ पाते हैं और न तो उनकी कथ्यगत व्याख्यायें ही । यही कारण है कि बाद की रचनाएं बोझिल होती गयी । निबन्धों में कृत्रिमता और स्वयं को दुहराते चलना उनकी नियति बन गयी ।

जिस प्रकार राम चरित मानस की चौपाइयों पर हाथी दाँत की मीनारे नहीं बन सकती वेसे ही जंगली निषाद बाँसुरी कोई कल्पना प्रसूत इन्द्रजाल ही जगा पाती है । सत्य तो यह है कि अम्बाला लुधियाना से लेकर भारत के मध्यभाग को चीरती हुई दो पर्वत शृंखलाएं हैं एक शिवालिक से होते हुए अरावली शृंखला को जोड़ती है तो दूसरी विन्ध्य मेखला से लेकर महानदी के कंगार पर स्थित कटक तक की व्याप्ति का रूप प्रस्तुत कर देती है । आदिवासियों की इसी परंपरा को हम निषाद परम्परा कहते हैं । इसमें जाति तो एक ही है जिसका अविधेयशब्द है, आदिवासी जन जाति । वही मिर्जापुर में कोल, भर, गोंड़ आदि, वैद्यनाथ धाम के आसपास देवधर में केन्द्रित आदिवासियों को सन्थाल; काले बदन पर पड़ने वाली धूप की तरह चमकीली मुंडा संस्कृतिया मुंडरी, ओराँव आदि की जन भाषाएँ । सभी के भीतर इन तीन संस्कृतियों के सम्मिश्रण का रूप स्पष्ट दिखलायी पड़ता चलेगा ।

वस्तुतः आर्य सभ्यता के समानान्तर निषाद सभ्यता नहीं चली, बल्कि जनजीवन की भाषा एक हाथ में आर्य संस्कृति की ध्वजा उठाये थी दो दूसरी ओर वह किरातया मुंडा आदिवासियों का सहारा भी बन रही थी । इसीलिए सुदूर उत्तर भारत के पूर्वी हिस्सों में मंगोल शरीर वाले श्वेत वर्णी किरात और पूर्णतः कृष्ण वर्णी निषादों के सम्मिश्रण से एक परस्पर अन्तर्भुक्त रहन-सहन और संस्कृति की भाषा और सभ्यता आदि का रूप प्रस्फुटित होने लगता है । यही त्रिजातीय मिश्रण कुबेरनाथ राय के लिये एक नया दर्शन दिखाई पड़ता है जो वस्तुतः है नहीं । वस्तुतः सामने तो यथार्थ का विमर्श है । कुबेर नाथ राय इस विमर्श से बहुत दूर तक बच नहीं पाये । उन्हें जितना द्वेष अंग्रेजों के इण्डों-जर्मन सभ्यता के नकली रूप से है उतना और किसी तत्त्व से भी नहीं । ऐसी स्थिति में उनके निबन्धों को पढ़कर किसी खण्डित दर्शन के भीतर से गुजरने का यदि भाव बोध जगता है तो इससे उनका छोटापन सिद्ध नहीं होता बल्कि उन्हे समझने की एक नयी द्रष्टि अवश्य मिल जाती है ।

उनके पहले निबन्ध संग्रह 'प्रियानील कंठी' या रस आखेटक के निबन्धों को देखकर जान लेना चाहिए कि उनका कथ्य एक ऐसी प्रियतमा की खोज है जो गरल पीकर शिव की तरह नीलकंठी ही बन सकती है, पर वह सहज प्राप्य हो जाय यह संभव नहीं । वे बहुत दूर तक अपनेमन के इसी अद्भुत आकर्षण को ढोते रहे ।

उन्हें अपने ही निकट के निबन्ध लेखक विवेकी राय की अति सामान्यता के बावजूद गहराई में उतरने की निष्क्रियता तो देख लेनी चाहिए थी। विवेकी राय यथार्थ परक किन्तु सामान्य वस्तुओं से कोई बड़ी बात न कह पाने वाले लेखक बने रहे। कुबेरनाथ राय ठीक उनकी विपरीत दिशा में दूर-दूर तक अपने कमल भक्षी रस आखेटक मन को कल्पना के परवाज पर भेजते रहे। संपाती के बेटे' जैसे निबन्ध, जो उन्हें यथार्थ की गहरायी और भावबोध की ऊँचाइयों तक ले गये, के आगे जाकर वे दर्शन शास्त्र के काल-गाल में समा गये। न तो वे विवेकी राय बन सके, न तो लोकगीतों के बहेतूपन में जीने वाले विद्या निवास मिश्र रह गये। विद्या निवास जी के पास भारतीय दर्शन की एक कूटस्थ परंपरा भले ही आतंक उत्पन्न करती दिखे किन्तु वह भी साकार संभव थी। जबकि कुबेरनाथ राय त्रेता का वृहत्साम' में जिसराम को देख सके वह गरीबों के रक्षक राम न बनकर पांडित्य पूजकों के राम में बदल गये।

सच तो यह है कि कुबेरनाथ राय हिन्दी के लेखक और अंग्रेजी के व्याख्याता रहे। उन्हेंने अंग्रेजी माध्यम से जो कुछ प्राप्त किया उसका प्रयोग हिन्दी में उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेजी का स्वभाव भारतीय भाषाओं से एकदम जुड़ा है। केवल वाक्य विन्यास के स्तर पर ही नहीं सोच और समझ के स्तर पर भी वही दूसरी दुनियाँ में हमारी आंखे खोलती है जो एक तरफ एलीस का वण्डर लैण्ड और दूसरी तरफ वाल्ट फीट मैन जैसे यथार्थवादी किन्तु असामान्य प्रतिभावाले कविके पास ले जाती है। कभी बातचीत तो नहीं हुई किन्तु मुझे लगता है कुबेरनाथ राय शेक्सपियर, मिल्टन और अधिक से अधिक यूलसिस को जानते रहे होंगे। किन्तु उनके लिए फाकनर, हेमिंग्वे, एजरापाउण्ड आदि की कोई विसात नहीं रही होगी। अंग्रेजी के माध्यम से उनका भारतीय धर्मग्रंथों, विभिन्न दर्शनों, अपना देश, अपनी संस्कृति और अपनी भाषा के इतिहास से परिचय तो था किन्तु वे अपनी बद्धमूल धारणाओं के प्रति इतने आग्रही थे कि विदेशियों के द्वारा संपादित-प्रकाशित साहित्य ने उनके मन में वितृष्णा ही जगायी।

भारत के वर्तमान के प्रति उनकी सहनशीलता अत्यन्त सामान्य श्रेणी की थी। वे यदि साधारण भाव से इतिहास के नाम पर बुने हुए झूठ को स्वीकार नहीं करना चाहते तो कोई विचित्र बात नहीं, किन्तु हिन्दुस्तान के भविष्य के बारेमें इस सोच और समझ के कारण उनके मन में जो कुहेलिका उठती रही है वह अत्यन्त दुर्भेद्य ही बनी रहती है। हम मान लें कि मुसलिम इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में अतिशयोक्ति को बहुत स्वीकार किया है तो भी एक बहुत बड़ा प्रश्न यह खड़ा हो जाता है कि पूरे भारतीय प्रायद्वीप के लगभग ३५-४० करोड़ मुसलमानों से जुड़ी

समस्यायें क्या उन इतिहासकारों को गाली देकर सुलझायी जा सकती हैं। डॉ. राममनोहर लोहिया ने भारत के सभी टुकड़ो को चाहे आज उनके जो भी नाम हों, एक में जोड़ कर महासंघ नाम देने का प्रस्ताव रखा था। उसके अलावा कोई दूसरा समाधान नहीं है, भारतीय चिंतक श्री अरविन्द ने भी १५ अगस्त, १९४७ को आकाशवाणी पर दिये अपने संदेश में ऐसे ही संघ की चर्चा की थी। लेकिन इन दोनों चिंतकों का प्रभाव कुबेरनाथ पर तिल बराबरभी नहीं पड़ा।

मुझे कुबेरनाथराय के व्यक्तित्व के सम्यक विश्लेषण के लिये उन स्तुतियों की जरुरत न लगी जो अन्य लेखकों ने की होगी। इसीलिए जान बूझकर यह कटुपक्ष लिया ताकि उनको जाना जा सके इसमें तनिक संदेह नहीं।

कुबेरनाथराय की निजी सांस्कृतिक संपदा एक विशेष महत्व रखती है। वे अधिक सहजता के साथ आधुनिक स्तर पर अध्यात्म की चर्चा में खोये रहते थे। उनकी मेधा धीरे-धीरे तंत्रमंत्र के संकुचित्र क्षेत्र की ओर अग्रसर होने लगी थी किन्तु कोशिश उन्होंने यही की कि अपनी व्यक्तिगत रुचियों को निजी संपत्ति बनाकर अपने पास ही रहने दें और सांस्कृतिक लालित्यका जितना प्रतिपादन हो सके करें। उन पर रोमांटिसिज्म का भी प्रभाव रहा। उनके अनेक निबन्ध रहस्यगामी प्रभाव में महादेवी वर्मा की कविताओं की तरह लगते हैं। उनके निबन्ध अपनी ऊष्मा के लिये याद किये जायेंगे जो उनमें वह्नि तत्त्व के प्रतीक हैं किन्तु उस वह्नि तत्त्व को संयमित न कर पाने के कारण उनका जीवन चरम विन्दुपर खिलने के पहले ही समाप्त हो गया। कुबेरनाथ राय के दुःखद अन्त से हमारी साहित्य भाषा का एक आकाशद्वीप टूटकर बिखर गया।

●

आर्ष संस्कृति के अनन्य आराधक श्री कुबेरनाथ राय

डा. पाण्डुरङ्ग राव
निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली

आज से लगभग दस वर्ष पहले भारतीय भाषा परिषद् (कलकत्ता) में श्री कुबेरनाथ राय के ऋषितुल्य व्यक्तित्व का साक्षात्कार हुआ । उससे पहले उनकी अनर्घ रचना 'त्रेता का बृहत्साम' पढ़ने का अवसर मिला-परिषद के निदेशक के रूप में । उसी कृति पर उस वर्ष परिषद् का पुरस्कार उनको प्रदान किया जा रहा था । कृति के शीर्षक ने ही मुझे चमत्कृत कर दिया था । अंतरंग देखने और परखने पर मुझे इतनी आंतरिक प्रसन्नता का अनुभव हुआ कि बृहत्साम का यह अभ्यंतर केवल त्रेता तक सीमित नहीं है; बल्कि यह आज के पाण्डुरङ्ग के बाह्याभ्यंतर को भी स्पंदित और आह्लादित करने में समर्थ है । समर्थ पद-विधि को ही हमारे यहाँ के शब्दर्षियों ने वाङ्मय तपस्या की अभिव्यंजना माना है । यह पद-विधि कुबेरनाथ जी की प्रत्येक कृति के अक्षर-अक्षर में प्रत्यक्ष होती है । इसी वाक्-संस्कृति ने इस ऋषि-मनीषी को मेरा अभिन्न मित्र बना दिया । आज उनका पार्थिव शरीर हमारे बीच नहीं है । परंतु उनका अपार्थिव और पारमार्थिक व्यवित्तत्व जरा-मरण से परे हैं; इसीलिए अचिंत्य और अशोच्य है ।

कलकत्ते में परिषद् के परिसर में श्री कुबेरनाथ जी के साथ सत्संग करने का भी मुझे सौभाग्य मिला । मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरी रचनाए सहस्रधारा, श्री सहस्रिकी, रामायण के महिला-पात्र-कुबेरजी ने बड़े ध्यान से पढ़ी । उन पर गहन चितंन भी किया है । पुरस्कार-समारोह के स्वीकृति भाषा में उन्होंने मेरे कुछ विचारों की चर्चा भी की । उनके साथ कलकत्ते में जो भी क्षण व्यतीत हुए, वे मेरे लिए अविस्मरणीय है । ऐसा लगा मैं किसी आश्रम में मनस्वी महामानव से बात कर रहा था ।

बाद में जब मैं भारतीय ज्ञानपीठ पहुँचा तो वहाँ भी कुबेरनाथ जी हमारे उत्सव पुरुष बनकर पधारे । चिंतनपरक भारतीय साहित्य की रचना के लिए उनको 'मूर्ति देवी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया । इस वाङ्मय अनुष्ठान का अनुष्ठाता बनने का मुझे सौभाग्य मिला । इस अवसर पर परिषद् की ओर से विशेष प्रकाशन के रूप में 'मराल' का प्रकाशन किया गया । उसकी भूमिका में मैंने जो बातें लिखी हैं,

उनको मैं अपने अभिन्न आत्मसखा के प्रति श्रद्धा-सुमन के रूप में अर्पित करना चाहता हूँ ।

आर्ष मनीषा के अन्वीक्षक आख्याता श्री कुबेरनाथ राय का, भारतीय ज्ञानपीठ के साथ, उनकी सारस्वत साधना के प्रारम्भ से ही, घनिष्ठ सम्बन्ध रहा । उनकी प्रथम कृति प्रिया नीलकंटी भारतीय ज्ञानपीठ का ही प्रकाशन है । इसके बाद 'रस आखेटक' 'गन्धमादन' और निषाद-बासुरी' शीर्षक तीन निवन्ध संग्रह ज्ञानपीठ द्वारा ही प्रकाशित हुए । इस श्रृंखला में 'मराल' का यह प्रकाशन हमारे लिए लेखक का पंचमस्वर है जो कि दशम मूर्तिदेवी पुरस्कार समारोह के अवसर पर श्रुतदेवी सरस्वती के श्री चरणों में श्रवण -सुभग उपायन के रूप में समर्पित हो रहा है ।

'गंधमादन' की भूमिका में ललित निबन्ध के गंधमादन श्री कुबेरनाथ राय ने कहा था कि इस संकलन के निबन्ध वाक्यों के चन्दन काष्ठ हैं । साथ ही, उन्होंने अपने पाठकों को सतर्क करते हुए यह भी कहा था कि इन काष्ठों से भावों और विचारों की सुगंध प्राप्त करने के लिए पाठकों को थोड़ा सा निर्मल तरल मन होकर इन्हे कष्ट पूर्वक घिसना पड़ेगा । पिछले पच्चीस वर्षों की लोक रुचि ने अब श्री कुबेरनाथ राय के इस विश्वास की पुष्टि की है कि इन रचनाओं के मर्म में छिपी अर्थ की गंध पाठक की आत्म सत्ता का मादन करेगी ।' गंधमादन' का कुसुमित कानन यक्षराज श्री कुबेरनाथ राय का क्रीड़ा-कान्तार है जिसके स्वामी कुबेर हैं । पर विडंबना यह है कि विश्व श्री के भण्डारी यक्षेश्वर कुबेर के जो नाथ हैं, उनके पास, स्वयं कुबेर नाथ के शब्दों में 'धन-सम्पत्ति के नाम पर एक बूढ़ा बैल है और श्रृंगार सज्जा के नाम पर मोटे गज-चर्म की लंगोटी है ।" फिर भी लेखक भली-भांति जानते हैं कि ये राज-राजेश्वर संसार के चरम श्रीमान् हैं ।

नीलकंठ की नगरी वाराणसी और प्राग्-भारती का प्रभामय प्रांगण कामरूप-दोनों श्री कुबेरनाथराय के स्वाध्याय और वाङ्मय तपस्या के केन्द्र रहे हैं । प्रसन्न पुण्य सलिला भगवती भागीरथी ने कुबेरनाथ को 'रस' प्रदान किया तो असम की आत्मीयता ने उनको 'तत्त्वबोध' कराया । दोनों का मंजुल सामंजस्य श्री कुबेरनाथ राय की लेखनी में विद्यमान है । अमावस्या के हृदय में चितिमय उल्लास के रूप में विराजमान विराट विश्व के शेषशायी ने हृदययज्ञ लेखक को हृदय शेषी बना दिया है । रस आखेटक की स्वरयात्रा में ऐसे अनेक संयोग घटित हुए जिनकी रसात्मक अनुभूति के रसास्वादन से रस-द्रष्टालेखक को कीचड़ में कमल दिखाई देता है, देह वृन्दावन में वंशीधुनि सुनाई देती है, वैदिक ऋचा में परमव्योम की हंसपदी प्रगट होती है और ऋतुराज में मधुर-मधुर रसराज का लास्य परिलक्षित होता है । इन सबका रसकलश ही 'मराल' है ।

मरालका सीधा-साधा मतलब है 'हंस' । पर यह हंस केवल जलचर जीव नहीं है वसुधा को सुधा-सागर बनाकर समस्त ब्रह्माण्डको आलोकित करने वाला परमहंस इस 'मराल' में संचरित होता है । "मराली गंध गमना महालावण्यरोवधि:" "मालिनी हंसिनी माता मलया चलवासिनी," "मध्यमा वैखरी रूपा भक्त-मानस-हंसिका आदि मार्मिक उक्तियों में पौराणिकों द्वारा प्रतिपादित' मानस हंसी भी यही 'मराल' है । इसलिए इस संस्करण का नामकरण एक विशेष महत्व रखता है । यह लेखक की चौदहवीं कृति है । संस्कृत के भाव-योगी कवि भवभूति सारस्वत भंजना को आत्मा की अमृत कला मानते थे । यदि यह सही है (और सहीतो है ही) तो 'मराल' में ये चौदह-पन्द्रह कलायें एक समाहार विन्दुपर पहुंच जाती हैं जहाँ पर दुर्ललित भी ललित बन जाता है । श्री कुबेरनाथको कभी-कभी लगता था और अब भी शायद लगता होगा कि उनका सम्पूर्ण साहित्य या तो क्रोध है या अन्तर का हाहाकार । इस दृष्टि से वे अपने निबन्धों को क्रुद्धललित कहते हैं । पर 'मराल' में आकर वह दुर्ललित स्वर लहरी मृदुललित बन जाती है । वास्तव में वस्तुजगत् की परावास्तविकता में जो परमसत्य छिपा हुआ है वह कभी-कभी दुर्ललित और दुर्ग्राह्य प्रतीत होने पर भी अपनी सत्ता के चरम एकान्त में ललित और केवल ललित बनकर रहता है, क्योंकि सत्य सौन्दर्य का ही प्रति रूप है ।

●

ललित निबन्ध परम्परा के एक निष्ठ प्रतिनिधि

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय निदेश

निदेशक, भारतीय भाषापरिषद्कलकत्ता

हिन्दी की ललित निबन्ध परंपरा के एक निष्ठ प्रतिनिधि थे कुबेरनाथ राय । उन्होंने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के फक्कड़ अंदाज, और खुलेपन के बदले अपनी निजी शास्त्रीय किस्म की रसज्ञता की राह चुनी थी । भारतीय संस्कृति के पंडित और मर्मज्ञ कुबेरनाथ जी ने जो भी लिखा वह गहरी आस्था और निष्ठा से लिखा । सांस्कृतिक समय बोध' उनमें प्रभूत ज्ञान और अंतः प्रज्ञा से पुष्ट हुआ । यो ज्ञान के स्थानान्तरण के बावजूद उनकी विषय-सीमा थीं, परन्तु वैसी विगलित रस लोलुपता नहीं, जो आज ललित निबन्धों में अक्सर दिखायी देती है । अनेक दृष्टि से कुबेरनाथ जी का अवदान विशिष्ट और किसी सीमा तक अद्वितीय रहा ।

●

निबन्ध को नयी अर्थवत्ता प्रदान की

डॉ. प्रेम शंकर

पूर्व आचार्य, हिन्दी-विभाग, सागर विश्वविद्यालय

कुबेरजी ने रचना की कई दिशाओं में कार्य किया पर निबंध उनका प्रिय माध्यम है और इस क्षेत्र में वे अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व निर्मित करने में सफल हुए जिस निबन्ध को, अन्य रचना माध्यमों की तुलना में अधिक गम्भीरता से नहीं लिया गया, उसे उन्होंने नयी आर्थवत्ता प्रदान की । नया निबंध आचार्य हजारी प्रासद द्विवेदी, आचार्य विद्यानिवास मिश्र, श्री कुबेरनाथ राय आदि में अपना सांस्कृतिक धरातल प्राप्त करता है ।

कुबेरजी की रचनाशीलता तथाकथित आधुनिकतावादी दबावों से अनाक्रान्त है, और उसका देशज चरित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है । वे लोकजीवन से सामग्री ग्रहण करते हैं, और उसे अभिव्यक्ति देने के लिए अपना मुहावरा चुनते हैं । इस प्रकार उनकी अलग पहचान और अस्मिता है । परम्परा को अपने समय-संदर्भ में पुनर्व्याख्यायित करने का कौशल उन्हें प्रांसगिकता देता है ।

●

भारतीय संस्कृति को ललित निबन्धों में रूपायित करनेवाले

डॉ. कल्याण मल लोढ़ा

पूर्व कुलपति जोधपुर विश्वविद्यालय

कुबेरनाथ राय का आरंभिक जीवन कलकत्ता में ही बीता । कलकत्ता उनकी साहित्यिक रचनार्शलता की मानसभूमि रही । वे आचार्य परमानन्द शर्मा के शिष्य थे । श्रीराय ने हिन्दी में भारतीय संस्कृति को ललित निबन्धों में रूपायित करके ललित निबन्ध विधा को अत्यन्त समृद्ध किया । उनकी सारस्वत प्रतिभा और रचनाशीलता जितनी व्यापक थी उतनी ही गहरी । यह स्वाध्याय और अध्यावसायका सुफल था । उनकी जनपदीय चेतना और अतंरंगता उनकी रचनाओं में अत्यन्त सफल और संपुष्ट हुई है ।

●

एक समर्थ और जीवंत निबन्धकार

डॉ. विजय शंकर मल्ल

श्री कुबेर नाथ राय ने एक समर्थ और जीवंत निबन्धकार की तरह वर्तमान जीवन में अपने को खोजने, पाने और अभिव्यक्त करने के लिये निरन्तर सक्रिय रखा । उनकी रचनाओं में मिट्टी की गंध थी । हिन्दी जगत को उनसे अभी बहुत आशाएं थीं जो आकस्मिक निधन से टूट गयी ।

●

परम्परा और आधुनिक जीवन बोध का सरस सम्मिश्रण

डा. बच्चन सिंह

कुबेर नाथ राय के निधन से एक अत्यन्त प्रखर व्यक्ति-व्यंजक निबन्धकार उठ गया। कुबेरनाथ जी गुलेरी, हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र की परम्परा के लेखक हैं किन्तु उन्होंने परम्परा को ज्यों का त्यों स्वीकार नहीं किया।

उन्होंने कहीं लिखा है कि लेखक को बराबर 'नान कनफरमिस्ट' होना चाहिए किन्तु परम्परा को एकदम नकार कर नहीं। उनके निबन्धों में परम्परा, ग्राम्य संवेदना और आधुनिक जीवनबोध का बड़ा ही सरस सम्मिश्रण है। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति का रंग और गांवों की गरिमा दिखायी देती है। उनके अधिकांश निबन्ध संस्कृत निष्ठ हैं फिर भी वह गांवों की चाशनी, मुहावरों और गीतों में रंगे हुए है।

कुबेरनाथ जी गांव के व्यक्ति थे। गांव के मिट्टी-पानी में, परम्परागत दंतकथाओं में उनका मन रमता था। वे चाहे किसी ऋतु के सम्बन्ध में लिख रहे हों या रामायण के सम्बन्ध में या फिर महाभारत के किसी पात्र के सम्बन्ध में, उनमें ग्रामीण संवेदना की छौंक बराबर मिलेगी। अतीत की पृष्ठभूमि पर आधुनिक जीवन बोध को अपनी समग्रता में निरुपित करने का प्रयांस वे अपनी रचनाओं में बराबर करते मिलते हैं। उनके प्रारम्भिक निबन्धों में एक प्रकार की भगवत भक्ति का रंग मिलता है किन्तु समय के परिवर्त्तन के साथ साथ उन्होंने अपने को बहुत कुछ बदलने की कोशिश की।

सन् १९७०-७१ के बाद भारतीय जीवन में एक उथल पुथल दिखायी पड़ने लगी। इससे प्रभावित होकर उन्होंने कुछ ऐसे निबन्धों की रचना की, जिनमें महाभारत का विषाद योग दिखायी पड़ता है किन्तु वे विषाद योग तक ही अपने को सीमित नहीं रखते। जिस प्रकार विषाद योग के बाद अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो गये उसी प्रकार वे मनुष्य को अकर्म से कर्म की ओर ले जाना चाहते थे। हालांकि आज के माहौल में लेखक विषाद योग से मुक्त नहीं हो पाता। अद्यतन परिस्थितियों को देखने के बाद शायद ही कोई हो जोविषाद मुक्ति महसूस करें।

●

उद्धत ललित निबन्धकार

पद्म श्री पं, रामनारायण उपाध्याय

कलम की कुर्सी पर वैठे अनेक व्यक्तियों के वीच भी यदि एक अकेला व्यक्ति खड़ा नजर आये तो उसके अकेले कण्ट की पुकार में सवको झकझोर देने की क्षमता होती है। श्री कुवेरनाथ राय ललित निवन्धों के क्षेत्र में एक ऐसे ही अकेले और दूर से पहचाने जाने वाले व्यक्ति है। किसी व्यक्ति को इससे वढ़कर सफलता और क्या हो सकती है कि उसका नाम साहित्य की एक विशिष्ट विधा का प्रतीक वन कर सामने आये। ललित निवन्ध कहते ही जो नाम उभर कर सामने आता है वह है श्री कुवेरनाथ राय। ऐसे समय में जव कि ललित निवन्धों की धारा श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी तक आकर रुकी-सी लगती थी उसे अजस्र गति से आगे की ओर प्रवाहित करने का श्रेय श्री विद्यानिवास मिश्र, श्री ठाकुरप्रसाद सिंह, श्री विवेकी राय और श्री कुवेरनाथ राय को है। उनसे मेरा परिचय इस तरह से हुआ एक दिन मैं अपने गांव की खिड़की में उदास बैठा 'माध्यम' के पन्ने उलट रहा था, इसी वीच मेरी दृष्टि श्री कुवेरनाथ राय के ललित निवन्ध 'सम्पाती के बेटे' पर पड़ी और उसने मुझे ऐसे बाधा कि समूचे दिन मेरा मन उसी में तैरता-तैरता रहा। और तभी मैंने एक खत लिखा कि 'कौन हो तुम जो आसाम के जंगलों में बैठकर भी, अपने गांव की खिड़की में बैठे मेरे उदास मन को झकझोर जाने की क्षमता रखते हो तुम कोई भी हो, मेरे मन का असीम प्यार स्वीकारो।"

और तुरन्त ही उनका पत्र आया, "यह पढ़कर प्रसन्नता हुई कि 'सम्पाती के बेटे' आपको पसन्द आया। निबन्ध के नायक गृद्धदम्पति युद्ध असमिया नहीं है- ये मेरे गांव मतसा (गाजीपुर; उत्तर प्रदेश) के खलिहान में स्थित एक पुराने पीपल पर निवास करते हैं गत वर्ष की दूर्गापूजा के अवसर पर घर ही इस निबन्ध को लिखा था, ठीक एक वर्ष बाद प्रकाश में आया। आजकल वहुत कम हैं जो निवन्ध पढ़ते हैं। आपके पत्र से मुझे वहुत प्रेरणा मिली। निबन्धकार होकर लोकप्रिय होना असम्भव है और फिर आज"

उनके पहले संग्रह का नाम है, "प्रिया नीलकण्ठी"। पुस्तक के नाम के सम्वन्ध में उनका कहना है "शिव तो नीलकण्ठ के नाम से विख्यात है ही। मेरी कल्पना, मेरी प्रतिभा भी विषपायी नीलकण्ठी है। दु:ख के या उल्लास के भीतर जहर होता है। उस जहर को यह खीचकर स्वयं श्यामकण्ठ हो जाती है. और धरती को जो कुछ देती है वह शुद्ध प्राण और रस रहता है।"

"साहित्य का फूल भी दर्द के वृक्ष में ही फलता और फूलता आया है। वृक्ष की तरह साहित्यकार को भी तीन अवस्थाओं में से होकर गुजरना पड़ता है। सवसे पहले उसे जड़ की तरह धरती में गहराइ से प्रवेश कर वहाँ के अन्धकार, घुटन और पीड़ा को अकेले ही पीते हुए अपने लिए जीवन-सत्त्व प्राप्त करना होता है।

फिर उसे टहनियों और पल्लवों की तरह समस्त दिशाओं से आत्मसात होकर समष्टि से अनुभव और ज्ञान प्राप्त करना होता है।"

"प्रिया नीलकण्ठी' एक ऐसे व्यक्ति की कृति है जिसने दर्द को छक कर पीपा है फिर भी जिसका कहना है कि "मुझे स्वर्ण-पीत वासुकियों, नील-हरित करकोटकों और रक्त वर्ण तक्षकों से कुछ नहीं कहना है। मैं सहस्रशीर्षा पुरुष हिन्दुस्तान को दसों नख जोड़कर नमन करता हूँ। मुझे किसी भाई के श्रेय की पत्तल नहीं छीननी है क्योंकि न तो मैं कवि हूँ और न साहित्यकार। निबंधकार की महत्वाकांक्षाएं सीमित होती हैं।"

दर्द जितना गहरा होता है फूल उतना सुन्दर होकर निखरता जाता है। जरूरी नहीं कि फूल सदा वृक्ष के शिखर पर ही खिलें। वे वृक्ष के मन में भी खिलते आये हैं उन्हें देखने के लिए मन की आंखें चाहिए। कुबेरनाथ राय ने पुस्तक की भूमिका में एक ऐसा ही रूपक संजोया है। उन्होंने लिखा है–

"एक बार काक, बक और उल्लू के मन में विचार आया कि क्या गूलर का फूल होता है। किसी ने कहा नहीं, किसी ने कहा, होता तो है लेकिन वह आधी रात को खिलता है और अन्तर्ध्यान हो जाता है। तीनों ने सोचा कि क्यों न रात-भर जाग कर सच्चाई का पता लगा लिया जाये।"

तीनों की रात्रि-जागरण की बात सुनकर गूलर का मन उदास हो गया और उसने नजदीक खड़े कटहल से कहा–क्या बताऊँ भाई, ये लोग मेरा फूल देखने के लिए रात भर जागेगे लेकिन इन्हें कैसे समझाऊं कि मुझमें फूल नहीं खिलते। मेरा शरीर तो फोड़ो की तरह स्वादहीन फलों से लदा है, रात-भर जाग कर भी इन्हें निराश होना पड़ेगा।

कहटल ने कहा, 'दादा तु तो धर्मात्मा हो। तुम्हारे छाया में पाण्डवों ने विश्राम किया, तुम्हारे अन्दर तो भगवान् का निवास बतलाते हैं। फिर तुम्हीं में फूल क्यों नहीं खिलते ?'

गूलर ने कहा–इसकी भी एक कथा है। तुम्हे तो मालूम ही होगा– एक बार हिरण्यकश्यप को मारने के लिए भगवान् ने नरसिंह अवतार लिया था। हिरण्यकश्यप का अपने नाखूनों से वध करने के कारण भगवान् के नाखूनों में भयंकर जलन होने लगी। जब यह जलन किसी उपाय से नहीं मिटी तो वे मेरे पास आये। भगवान् को अपने द्वार पर खड़ा देखकर मेरा मन भर आया और मैंने अपना शरीर उनके नखों की ज्वाला को शान्त करने के लिए उन्हें सौप दिया। मेरे शरीर में अपने नखों को धसाने से उसकी ज्वााल तो शान्त हो गयी परन्तु उस जल को पीकर मेरा शरीर विषाक्त हो गया और उसमें फोड़ों की तरह फलों के घाव उग आये। इसी से मेरे में फूल नहीं लगते।'

कटहल ने कहा–'दादा, तुम ने उसके विष को आत्मसात् किया है जिसके चरणों से गंगा निकली है। तुम्हारे मस्तक पर भले ही फूल न खिलें लेकिन तुम्हारा

हृदय ही स्वयं एक मुकोमल फूल है वृक्षों के फूल तो देवता पर चढ़ते हैं लेकिन देवता स्वयं तुम्हारें हृदय पर न्यौछावर होते आये हैं । इसी से तुम्हारे हृदय में देवताओं का वास माना गया है ।

सृजन चाहे शिशु का हो या विचार का, वह असीम पीड़ा में से ही जन्म लेता है । कहते हैं बुद्ध और महावीर को जिन क्षणों में ज्ञान की प्राप्ति हुई उन क्षणों में उन्हें मरणान्तक वेदना सहनी पड़ी थी । निर्वासन और अकेलेपन में अन्तर है । आज का साहित्यकार अपने-आपको निर्वासित महसूस करता है, कारण, उसने सृजन की एकान्तिक वेदना को नहीं सहा है । वह साहित्य-सृजन के लिए सजी हुई टेवल की मांग करता है, इसी से उसका साहित्य ड्राइंग रूम की शोभा तो है, जीवन का अलंकार नहीं बन सका ।

श्री राय के लिए साहित्य महज खाली समय के मन-बहलाव का साधन नहीं वरन् जीवन का महत्तम लक्ष्य है । जीवन के लिए, श्रम और कला, दोनों चाहिए लेकिन इनमें से पहले कौन हो, यही प्रश्न है । श्री राय का कहना है कि "मेरी समझ में श्रम यानी उत्पादक श्रम, जीने का साधन है और कलापूर्ण जीवन उसका लक्ष्य है । जब लक्ष्य ही डूब जाता है तो न तो जीवन ही आवश्यक है और न उसका साधनस्वरूप उत्पादक श्रम । ललित कला, ललित चिन्तन, ललित कारीगरी और ललित व्यवहार यानी समूची लालित्य-साधना जिस काव्य, कला, लोक-गीत, लोक-नृत्य, दर्शन, स्थापत्य आदि के रूप में अपने अपने मानसिक स्तर और रुचि के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति वरण करता है । इसी अर्थ में महत्वपूर्ण और मूल्यवान है कि वह जीवन को सार्थकता प्रदान करती है । जो लोग झटके से कह देते है, हटाओं, इससे क्या पेट भरेगा? वे लोग बिना सोचे-समझे बिना गम्भीरता से ऐसा कह देते हैं । मार्क्स उपयोगितावादी था, पर वह अपने को शेक्सपीयर गेटे का प्रेमी घोषित कर चुका है । आज तक मनुष्य जाति के इतिहास में कोई भी ऐसा उपयोगितावादी पैदा नहीं हुआ जो लालित्य-साधना के मूल्य को अस्वीकार करे ।"

श्री राय ने जीवन को पुस्तकों के माध्यम से नहीं, अपने चारों ओर फैली प्रकृति के माध्यम से देखा है । वे जीवन के ऐसे विराट् द्रष्टा रहे कि उन्होंने अपने अन्दर चारों युगों को एक साथ भोगा है । इसीसे उनकी वाणी से 'सत्य', 'शिव' और 'सुन्दर' बनकर उतरा है ।

एक बार जब आपने रामेश्वरम् में समुद्र के दर्शन किये तो उन्हें लगा– "एक दिन इसी समुद्र के तट पर एक हत्भाग्य युवक अपने से दुगने हतभाग्य भाई और वानर-मित्र के साथ इसी बालू तट पर खड़ा रहा होगा । एक ओर स्वर्णपुरी में अपनी सम्पूर्ण आसुरी शक्ति के साथ पवित्रता में कैद और बीच में समुद्र रास्ता रोके खड़ा हुआ है और तभी मेरे कानों में निराला की राम की शक्तिपूजा की पंक्तियां गूंज गयी–

'वह रहा राम का एक हृदय जो नहीं थका ।'

वह राम का हृदय था जिसने पराजय को कभी नहीं स्वीकारा । और मेरा मन चौदह वर्ष तक लगभग वन-वन में भटकने वाले अपने स्वामी के प्रति करुणा से नहीं, स्नेह से भर आया । आंखे भीग गयी और लगा कि उत्साह से छाती और चौड़ी होती जा रही है । उसी क्षण मुझे याद आया–कलकत्ते में पन्द्रह रूपये प्रति घण्टे के हिसाब ये तीन घण्टे सबेरे और पच्चीस रुपया प्रति घण्टे के हिसाब से दो घण्टे शाम को ट्यूशन करके दिन में सिटी कॉलेज ज्वाइन करने वाला और प्रति मास पैतालिस रूपये अपने छोटे भाई और विधवा मां को भेजने वाला गाजीपुर जिले का दरिद्र विद्यार्थी जो अपने दुर्भाग्य रूपी रावण के मुंह पर तड़ाक से तमाचा मारने को उद्यत है और पी-एच. डी. का स्वप्न देख रहा है । जहाँ कहीं भी तेज है, दृढ़ता है, अपराजित हृदय है, पवित्रता और न्याय की रक्षा के लिए वह धनुष चढ़ा रहा है वहा मुझे शरसन्धान के उद्धत, उदात्त -शीर्ष के दर्शन होते हैं ।"

आगे चल कर साहित्यकारकार की सम्पाती से तुलना करते हुए आपने लिखा है–"पैगम्बर या साहित्यकार ऐसे सम्पाती हैं, जो पंखों के जल जाने पर भी हार नहीं मानते पछताते नहीं । चारों और पराजय है, निराशा है, रिक्तता है, दुर्गन्ध है, फिर भी कोई पश्चात्ताप नहीं । संघर्ष का रथ आगे बढ़ेगा । यदि पथ नहीं मिलता तो अपने इस एक एकाकी अकेले रथ की लीक ही पथ है । कोई चिन्ता नहीं । कोई परवाह नहीं । भविष्य के अजन्मे मनु के लिए सर्वस्व समर्पण ।"

श्री कुबरेनाथ राय उन गांवों से आये हैं जहां की मिट्टी में आज भी सोधीं गंध व्याप्त है और जहां की धूप भी गुनगुनाती और वायु में रंगो के दर्शन किये जाते हैं । इसी से आप की रचनाओं में इन सबके स्वर, इन सबके रंग उतर आये हैं ।

एक जगह आपने लिखा है , "जब उतरती संध्या के झुटपुट में पीपल और आम की डालियों पर शोर मचाते हुए हरे सुग्गे, बगुले कौवे और चिड़ियों के दल के दल उतरते हैं तो उनका सहगान ऐसा लगता है मानों पूरा पेड़ एक आर्केस्ट्रा बन गया हो ।"

एक जगह अमूर्त हवा के रंगों का वर्णन करते हुए लिखा है "जेठ-वैशाख में हवा का रंग सुबह-सुबह ठण्डा सुनहला रहता है । ६ बजे वह पीली पड़ने लगती है, बारह बजे आग की लपट बन जाती है । एक बजे हवा की लपट एकदम सफेद तप्त हो जाती है और भंयकर शाप की तरह उन खेतों पर दौड़ती चली जाती है फिर संध्या को बैगनी नीले रंग की शीतल हवा बयार बन कर बहने लगती है । ग्रीष्म में इतने रंग की हवा; इतने रंग तो वसन्त के पास भी नहीं है ।"

एक जगह फूलों का जिक्र करते हुए लिखा है, हिन्दुस्तान में कुछ फूल बड़े ही दबंग और अक्खड़ प्रकृति के हैं । जैसे धतूरा' और जावाकुसुम' मानों दिनकर की कविता हों, 'चम्पा', तपोरता उमा की तरह है जिसके पास भ्रमर फटकने का साहस

नहीं कर सकता । सफेद कचनार अज्ञेय जी के बुद्धिवादी प्यार का प्रतीक है । पारिजात सुमित्रानन्दन पन्त की कविता है और 'रसाल-मंजरी' प्रसाद जी का सौंदर्यबोध । निराला की रस-दृष्टि 'पीली-सरसों' का मुक्त विस्तार है । इसे अभिजात फूलों में सर्वथा अपंक्तिकेय रखा गया है । पर स्नेह का स्त्रोत, जिससे प्रकाश का जन्म होता है और प्राणों का पोषण होता है, धरती का श्रृंगार यही है ।"

भोजन में यदि निरा मधुर ही मधुर रहे, तिक्तता नहीं हो उसका स्वाद चला जाता है । श्री राय का लालित्य महज माधुर्य तक सीमित नहीं वरन् एक नये समाज की सृष्टि करने के लिए वे व्यंग्य की गहरी चुटकी काटने से भी नहीं चूके हैं । उनका कहना है कि मैं निवन्ध की एक नयी दिशा की खोज में हूँ, 'ललित; उद्धत ललित ।' एक जगह आपने लिखा है–

"यह विधाता भी अजीब फक्कड़ है । रस सबको बांट दिया । रुदन सबको बांट दिया । मनुष्य रहता तो मुंह-देखी करता, भाव चढ़ा देता, काला-बाजारी चला देता । रातों-रात रस के पीपे और रुदन की बोरियां गायब करा देता और शायद दिल्ली में भी रस और रुदन की वह सस्ताई नहीं होती जो आज है । लेकिन विधाता ऐसा-क्यों करे–वह तो कवि है । कवि को अपनी प्रत्येक कृति में अपना ही प्राण-रस जलाना पड़ता है । चाहे वह राम हो या रावण हो, सभी के अन्दर उसी का प्राण पिघल कर संचरित हो रहा है ।"

अन्त में आने वाले युग के नवीन देवता की चर्चा करते हुए आपने लिखा है–

"आज तो देवता कवि है, प्रेमी है । उसे कवि सम्राट और परम प्रियतम जीवन देवता मान कर उससे सहज संबंध स्थापित करना होगा । कवि से क्या मांगोगे । कवि से जाकर कहो–'हे कवि मुझे एक बीड़ी दो अथवा मुझे भारतवर्ष का राजा बना दो, अथवा मेरा मुकदमा जिता दो तो बेचारा कवि निरुत्तर मुंह ताकेगा या उठ कर-चल देगा । कवि प्रकाश देता है रस का आस्वादन कराता है । देवता से भी इसी की अपेक्षा करो अधिक नहीं ।"

"देवता की सबसे उपयुक्त उपासना होगी उसकी सहज साधना । सहजता, ज्ञान और विवेक पर आधारित नहीं है । वह स्वभाव का पुत्र है । आत्मा के अश्रुजल से स्वभाव को सींचने पर सहज साधना पल्लवित होती है । 'घर और वन' की मध्य स्थिति 'राम' की सहज साधना ही हमारी जीवन उपासना होगी । अब तक देवता का अवतरण व्यक्ति में होता रहा । परन्तु इस नयी सहज साधना से पूरे समूह में दिव्य अवतरण होगा । देवता को भी अब अवतार की नयी सामूहिक शैली ग्रहण करनी होगी ।

मैं अवतार वादी हूं और प्रतीक्षा कर रहा हूं ।

प्राचीन मिथकों की नयी व्याख्या वाले सांस्कृतिक निबन्ध

डा. परमानन्द श्रीवास्तव
पूर्व प्रोफेसर गोरखपुर विश्वविद्यालय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के वाद जिन निबन्धकारों ने ललित निबन्ध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उनमें कुवेरनाथ राय प्रमुख व्यक्ति हैं । विषादयोग, निषाद वांसुरी, किरातनदी में चन्द्रमधु जैसे निबन्ध संग्रह इस बात के प्रमाण हैं कि कुबेरनाथ राय ने सांस्कृतिक अनुभवों को व्यक्त करने के लिये अद्वितीय निवन्ध शैली विकसित की । उन्होंने प्राचीन मिथकों की नयी व्याख्या करते हुए एक गहरे सांस्कृतिक विवेक का प्रमाण दिया है ।

कुबेरनाथ राय की पाश्चात्य साहित्य में भी गहरी पैठ थी तथा उन्होंने इसका लाभ अपने निबन्धों में उठाया है वे बहुत समय तक असम क्षेत्रमें रहे और उन्होने वहां से लोकजीवन का गहरा राग अर्जित किया । इस प्रकार उनके निबन्ध भारतीय संस्कृति की एक अनोखी पहचान कराते हैं ।

●

ललित निबन्धों के माध्यम से काव्य का रसास्वादन

डॉ. चन्द्रकला पाण्डेय
साहित्यकार एवं संसद सदस्य

अध्ययन की गंभीरता और कथानायक की सरसता, स्वतंत्र और मौलिक विचार लिये कुबेरनाथ जी ने अपने ललित निबन्धों के माध्यम से एक साथ संस्मरण, रेखाचित्र और काव्य का रसास्वादन कराया । एक ओर प्रकृति से अनन्य प्रेम, दूसरी ओर सूक्ष्म अवलोकन और स्वस्थ मनन से हिन्दी निबंध जगत को उन्होंने 'गंधमादन' पर्वत की ऊंचाई दी तो दूसरी ओर 'प्रिया नीलकण्ठी' और महाकवि की तर्जनी' की गूंज । आज जब कि हिन्दी साहित्य में निबंध-लेखन में शुष्कता का साम्राज्य है, विचार बोझ बन रहे हैं, हम कुबेर नाथ राय के मर्मस्पर्शी निबन्धों का अभाव महसूस करते रहेंगे ।

●

गाँव की सर्जनशील माटी

डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र

प्रशासन-प्रपंच से निवृत्त होकर कुबेरनाथ राय अपने गांव लौट आये थे। कालावधि-विशेष की अपनी क्षति का दंश उनके मन में था। भार मुक्त मन से घर लौट कर क्षति-पूर्ति की चिन्ता से अपने धर्म धरातल पर पूरी तरह सक्रिय हो गये थे। पिछले दिनों पत्रिकाओं में उनके ताजा निबंध देखकर मन में प्रीतिकर सम्भावना जगी थी कि गंभीर पाठकों की अपेक्षा पूरी करने प्रातिभ ऊर्जा नये सिरे से सक्रिय हुई है। दुर्भाग्य हिन्दी का कि नियति ने एक बड़ी सर्जनशील सम्भावना पर यकायक पानी फेर दिया। और संवेदनहीनता की हद यह कि इतनी बड़ी त्रासद घटना की जानकारी कलकत्ता के हिन्दी समाज को एक सप्ताह बाद मिली। स्मरणीय हो कि कलकत्ता कुबेरनाथ राय की शिक्षा-भूमि और कर्मभूमि रहा है। ऐसे ही संवेदनहीन समाज में संस्कार-बीज रोपने में सक्रिय थी कुबेरनाथ राय की साधना। उपभोक्ता अंधड़ की मार से छीजते-टूटते सांस्कृतिक मूल्यों का दंश उनकी संवेदना पर गहरा था। अधोगामी प्रवाह के प्रतिरोध में केन्द्रित उनकी प्रतिभा ऊर्जा तमस का विकल्प रचने में एकांत भाव से संसक्त थी। उनके जागरूक विवेक ने मूल्यों के क्षरण का सटीक निदान खोज लिया था कि "सामूहिक शील का उन्नयन आर्थिक-सामाजिक संबंधों तक ही कारगर होता है। पर सामाजिक-आर्थिक अन्याय रोकने के सारे समाजवादी उपायों की सच्ची सफलता निर्भर करती है व्यक्तिगत आचरण के ऊपर, व्यक्तिगत शील के उन्नयन के ऊपर।" और इसी प्रत्यय के चलते लोक-कल्याण के मार्क्सवादी उपचार उन्हे अधूरे और पंगु लगते थे। गांधी व्यक्तिगत शील-संस्कार को लोक-संस्कार की बुनियादी शर्तें मानते थे, इसलिये गांधी की चिन्तन-सरणि मानव-संकट के समाधान की राह जान पड़ती थी। गांधीजी की स्वदेश-निष्ठा उस सर्जक संवेदना के लिये प्रेरक थी जो 'जम्बूद्वीपे भरतखण्डे' पर केन्द्रित थी। और यह अस्वाभाविक नहीं है कि उन्होने अपनी 'कामधेनु' भारतीय संस्कृति-सम्पदा के अप्रतिम मर्मज्ञ और उन्नायक 'सर आनन्द कुमार स्वामी की पुण्य स्मृति में' समर्पित की है। कदाचित् उनकी यह एकमात्र पुस्तक है जिसमें समर्पण-पृष्ठ है। उनकी मनोरचना और दृष्टि को समझने का यह महत्वपूर्ण कोण है।

गंवई संवेदना ही उनकी अपनी संवेदना थी। विद्यार्थी के रूप में कलकत्ता पहुँच कर और एक क्षीण कालावधि तक यहां अध्यापन-वृत्ति से जुड़कर भी महानगर-बोध की त्रासदी से उनका मानस अप्रभावित रहा। अपने छोटे कलकत्ता-प्रवास काल का उपयोग उन्होंने अपना विद्या-व्यक्तित्व रचने में किया। ठेठ भोजपुरी गांव का मन

था उनका जिसे कलकत्ता के भोजपुरी समाज से भरपूर भाव-पोषण मिलता था। अंग्रेजी के अध्यापक के लिये अर्थार्जन का आनुकूल्य और प्रलोभन था कलकत्ता में। पर अवसर मिलते ही सारे रंगीन प्रलोभनों से मुह मोड़कर वे गांव में भाग गये। अपने गांव-घर से बहुत दूर होते हुए नलबारी (असम) में उन्हें वह मिला जो कलकत्ता में भारी मूल्य चुकाने पर भी उपलब्ध न होता। मतसा की संवेदना नलबारी में पहुँच कर सर्जनशीलता के उत्कर्ष पर पहुँच गयी। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी के शान्तिनिकेतन प्रवास का जितना बड़ा अवदान है उनके सर्जक व्यक्तित्व के रूपायन में, उतना ही विधायक प्रस्थान सिद्ध हुआ, कुबेरनाथ राय के जीवन में! द्विवेदीजी को रवीन्द्रनाथ का पारस-संस्पर्श मिला था, जिसके प्रति वे आजीवन कृतज्ञता-विनत रहे। कुबेरनाथ राय को नलबारी में निसर्ग का समृद्ध आँगन और उनके मनस्वी मिजाज को सर्जक आयाम से जोड़नेवाला प्रपंचरहित सारस्वत वातावरण मिल गया। नलबारी के प्रकृति-परिसर में कितना गहरा आमंत्रण था उनकी संवेदना के लिये, कुबेरनाथ जी ने लिखा है,"अपना नलबारी तो व्यवहारतः एक गांव है। शैक्षणिक और औद्योगिक विकास में जरा उत्कण्ठ और उद्ग्रीव हो जाने के कारण उसकी आकृति कस्बे जैसी हो गयी है। पर हिन्दुस्तानी वसन्त अभी भी यहां पर विस्थापित नहीं। ग्राम-ग्राम की पुष्करिणी शैवाल से हरित हो उठी है वासना-आच्छन्न मन की तरह। 'शाथला' अर्थात् शैवालपुष्पों के वीच-वीच जल-पद्म भी दिखाई पड़ते हैं। स्थल-पद्म अभी एक मास वाद फूटेंगे। आम के माथे पर बौर झड़कर 'सरसोई' अर्थात् नन्हें-नन्हें दानों में बदलने जा रही है। शीशम के मस्तक पर नयी हरियाली फूट रही है वासन्ती फुहार के साथ-साथ। असम में फरवरी से ही वर्षा चालू हो जाती है और वसन्त तथा पावस दोनों ऋतुओं का रथ आगे-पीछे रहते हुए भी साथ-साथ चलता है और इस अन्धेर में ग्रीष्म खो जाता है। फलतः वह उत्तर भारत में प्रखर तप्त रूप धारण करके अपनी क्षतिपूर्ति करता है। इस समय नलबारी में पलाश-सेमल-मन्दार बाजी लगाकर चटक लाल अट्टहास कर रहे हैं। पेड़-पेड़ में आग-सी लगी ज्ञात हो रही है। घरेलू फूलों में कचनार, करबीर, जवाकुसुम (गुड़हल), गुलाब तो उत्तर भारत की ही तरह यहाँ भी प्रस्तुत है पर विशेषता में आते हैं नागकेशर और अशोक, जो अपने यहां बहुत ही कम दिखाई पड़ते हैं। नागकेशर इस समय पत्ते बदल रहा है। इसका पत्ता वदलना भी बड़ा अपूर्व है।" इसी ममत्व के साथ द्विवेदीजी ने शान्तिकितेन की वासन्तिक सुषमा का चित्र आंका हैं–'वसंत आ गया है' में। बड़ी बात यह है कि नलबारी प्रवास-काल में, गहरे आकर्षण और संसक्ति के बावजूद, एक क्षण के लिये अपनी संवेदना की माई–भोजपुरी धरती की श्यामली विभा को विसारते नहीं। मतसा की सुधि उन्हें अहर्निश हांक लगाती रहती थी। जन्म-भूमि का मोह ही था शायद कि नलबारी से नाता समेट कर वे अपने जनपद-नगर गाजीपुर प्राचार्य के पद पर आ गये थे और सेवा-निवृत्त होकर शहर में न बसकर अपने घर-आंगन-मतसा उसी सहजता और तोष के साथ लौट आये थे अपने पोथी-पत्रों का बोझ लादे जैसे कार्तिक में खेत जोत-बोकर अपने हल-बैलों के साथ किसान घर लौटता है या कि कोई गंवई आदमी तीर्थयात्रा पूरी कर, विशेष उपलब्धि-सुख से आपूरित होकर अपने सिवान में प्रवेश करता है। कुबेरनाथ राय जैसे पांक्तेय विद्याकर्मी और शीर्षस्थ लेखक का वानप्रस्थ-काल अपने गांव में व्यतीत करने का निर्णय आज के

सन्दर्भ में जब, गांव के प्रदूषित वातावरण से ऊब कर गांव के लोग पैतृक जमीन बेचकर शहर में बसने में संकोच नहीं कर रहें हैं नि:सन्देह एक साहसिक कदम था । गांवों की वर्तमान कूट-माया से कुबेरनाथ राय अपरिचित नहीं थे; शहर में बसने लायक साधन भी अपने समानधर्मा बुद्धिजीवियों की तरह उनके पास था, पर उनकी भावना को अपेक्षित पोषण अपनी माटी में ही मिलता था । और मुक्त मनस्थ होकर वे पूरी निष्ठा से अपनी साधना विद्या के साथ सक्रिय हो गये थे, इधर पत्रिकाओं में प्रकाशित उनके निबंध बड़ी उपलब्धि-सम्भावना का संकेत देते हैं । पिछले वर्ष उनके सम्मान में बोलते मैंने कहा था कि नलबारी से गाजीपुर प्राचार्य के पद पर कुबेरनाथ राय जैसे मनस्वी विद्या-साधक का आना हिन्दी साहित्य की एक दुर्घटना थी । सहज विनय के साथ उन्होंने स्वीकार किया था– पिछले दिनों जो कुछ प्रकाशित हुआ उसमें से अधिकांश सामग्री नलबारी में ही रची गयी थी । प्रशासन-प्रपंच के साथ रचना-कर्म की संगति नहीं बैठती । और क्षतिपूर्ति के लिये उन्होंने व्यवस्थित तैयारी की थी, किंचित् व्याकुल दीख रहे थे । गोष्ठी भीरु कुबेरनाथ राय हर प्रकार के प्रपंच से विरत रहना चाहते थे । इस नैसर्गिक स्वभाव के चलते करीब के लोग भी उनके बारे में भ्रम के शिकार हो जाते थे वे कि अहंकारी हैं; समाज से खुलकर जुड़ने में संकोच करते हैं । बेशक उन प्रसंगो में उनकी दिलचस्पी नहीं थी, जिससे आज के बुद्धिजीवियों का गहरा सरोकार है और जिसे लोग बड़ी उपलब्धि मानते हैं । उस उपलब्धि के प्रति वे सतृष्ण होते तो सरकारी गैर सरकारी समितियों की जटिल माया से अपने विद्या-व्यक्तित्व के बल पर आसानी से जुड़ सकते थे और आज के चालू परिसंवाद मंच पर उन्हें ऊँचा पीढ़ा मिल सकता था । पर उस प्रपंची पंचायत का भागीदार बनने के लिये जो रचनात्मक ऊर्जा गंवानी पड़ती उससे वे परिचित थे । वह धंधा यों भी उनके मनस्वी स्वभाव के लिये विजातीय था । इसलिये बड़े विवेक के साथ उन्होंने अपने को रचना-धर्म पर केन्द्रित रखा । एक प्रसंग याद आ रहा है डॉ. राम विलास शर्मा से सम्बन्धित । अमृत लाल नागर ने मुझे बताया था कि विक्रम विश्व विद्यालय के कुलपति आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी अंग्रेजी विभाग के आचार्य पीठ पर डॉ. रामविलास शर्मा को नियुक्त करने का आमंत्रण-आग्रह लेकर आगरा आये थे । पूरे सद्भाव के साथ रामविलास जी ने जवाब दिया था, 'वाजपेयीजी, प्रपंच से दूर रहकर मुझे कुछ काम करने दीजिये ।' आचार्य पीठ को उपलब्ध करने के लिये कैसी-कैसी घिनौनी रणनीति रची जाती है, जग जाहिर है । डॉ. रामविलास शर्मा और कुबेरनाथ राय को जो छोटे-बड़े सरकारी-गैरसरकारी पुरस्कार मिले वह उनके लोक-कौशल की उपलब्धि नहीं, प्रतिभा और साधना की लोक-स्वीकृति थी । और इस स्पृहणीय उपलब्धि का साक्ष्य पुरस्कार-निर्णायक समिति के सदस्य दे सकते हैं, उस प्रीतिकर आश्वासन का साक्ष्य कि सघन प्रदूषण के बावजूद विवेक अभी पूरी तरह मरा नहीं है ।

अंग्रेजी साहित्य के अध्यापक कुबेरनाथ राय ने प्राच्य विद्या-विशारद के रूप में भारतीय पुरा विद्या और मिथकों का मर्म खोला है । प्रत्येक पुरा प्रसंग और धारणा को उन्होंने अपने स्वकीय विचार-कोण से निरखा-परखा है । उनकी धारणा और निष्कर्ष से हर समय सहमत होना सम्भव न होते हुए भी उनके गंभीर अध्ययन तथा एक स्वतंत्र चिन्तन-दृष्टि की छाप जागरूक पाठक के मन पर सहज ही पड़ती है । भारत की सनातन चिन्तन-परम्परा के प्रति सहज विनीत और आस्थाशील होते हुए

कुबेरनाथ राय विवेक के आग्रह से, प्रायः प्रवाह से हट कर नयी स्थापना देते थे जैसे सारी दुनिया से अलग हटकर बड़े बल के साथ उन्होंने कहा है, "मैं कृष्ण को नहीं, राम को पूर्णावतार मानता हूँ ।" अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करते उन्होंने लिखा है,"कर्मलोक में समूहधर्म के लिये मर्यादित शृंगार (अर्थात् दाम्पत्य प्रेम) तथा मर्यादित विराग (अर्थात् त्याग और अपरिग्रह ही चल सकते हैं । इन दोनों की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति होती है राम के चरित्र में । इसी से मैं राम को एस्थेटिक, माइल और स्पिरिचुअल तीनों स्तरों की दृष्टि से पूर्ण पाता हूँ । धरती और कर्मलोक संतुलित पूर्णता को जितनी दूर तक अवसर दे सकते हैं उसके चरम विंदु तक राम पहुँच जाते हैं । इससे अधिक पूर्णता 'असंतुलित पूर्णता' होगी, तीनों स्तरों में से किसी न किसी स्तर को दबाकर और विकृत करके । असंतुलित पूर्णता पूर्णता नहीं, 'व्यक्तित्व का विस्फोट' भर है ।" यह दृष्टि सनातन भारतीय दृष्टि के विपरीत लग सकती है और रूढ़ संस्कार को चौंका सकती है, पर समाज-संस्कार के लिये व्यक्तिगत शील को वरीयता देने वाले चिन्तक की स्थापना इस से भिन्न नहीं हो सकती । हर अवधारणा और तर्क की काट हो सकती है । गंभीर अध्ययन, चिन्तन से निर्मित कुबेरनाथ राय के अपने पैने तर्क थे, जो उनके निजी संस्कार को द्योतित करते हैं ।

केवल एक विधा के माध्यम से साधना कर शीर्ष प्रतिष्ठा अर्जित करना निवंधकार विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय के सन्दर्भ में स्वीकृत तथ्य है । और तथ्य है कि अपनी प्रातिभ साधना से इन्होंने पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा को विशिष्ट समृद्धि दी; निबंध की ललित मुद्रा को ऊँचे सोपान पर पहुँचाया । पर कुबेरनाथ राय के ललित निबंधों के ऋण पक्षको भी आलोचकों ने रेखांकित किया कि अभिज्ञता के भार से निबंध की सहजता-उन्मुक्तता कमजोर हो जाती है और लालित्य दब जाता है । इस सम्बन्ध में कुबेरनाथ राय की अपनी कैफियत है, "मैंने सर्वत्र अपने लेखन में 'रस' और 'बोध' का समान भाव से वितरण किया है और 'बोध' की दुहाई देकर रस का पलड़ा हीन करने को मैं कहीं भी तैयार नहीं । .... मैंने 'बोध' और 'रस' के बीच अंश-भेद देखा है तत्त्व-भेद नहीं ।" और यह सच है कि उनके निबंध की मुद्रा द्विवेदी जी के लालित्य के निकट चलते-चलते वासुदेव शरण अग्रवाल की गंभीर चिन्तन-मुद्रा में रूपान्तरित हो जाती है । कुबेरनाथ राय की निबंध-शैली का यह स्वकीय वैशिष्ट्य है ।

इतनी समृद्ध सृजनशील यात्रा का यकायक हमेशा के लिये स्थगित हो जाना हिन्दी गद्य की असाधारण क्षति है । कलकत्ता की दायित्व-सजगता, समाचार पत्रों की उदासीनता के साथ ही, याद आ रही है कि यहां के हिन्दी समाज ने दो संस्थाओं–भारतीय भाषा परिषद और हनुमान मन्दिर न्यास–के माध्यम से कुबेरनाथ राय की साधना को यथासमय स्तरीय सम्मान दिया था । यह विवेक और संवेदनशीलता का ही प्रमाण है कि समय से हम कृती पुरुष को पहचान-पूज सके ।

●

निबन्ध के उत्तुंग शिखर : कुबेरनाथ राय

डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्त

कल ही मैंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की विज्ञप्ति में "विद्यावाचस्पति" की उपाधि से कुबेरनाथ राय को अलंकृत होने की सूचना पढ़कर उन्हें बधाई के साथ यह लिखा था कि इधर उन्होंने क्या लिखा है? क्योंकि बहुत दिनों से उनका कुछ पढ़ने को नही मिला था ।

और आज ही सुबह अखबार पर सरसरी निगाह डाली तो स्तब्ध रह गया- कुबेरनाथ राय के आकस्मिक निधन की सूचना से । ऐसा बेधक उत्तर मिल जायेगा एक दिन में ही, एक सहज औपचारिक प्रश्न का, किसे मालूम था? लेकिन इस सूचना ने भीतर से बाहर तक सारे स्मृति-तन्तुओं को झकझोर कर रख दिया । कुछ क्षणों के लिए ठगा-सा रह गया ।

पिछले तीन दशक से उनके निबन्धों के माध्यम से उनसे इतना जुड़ गया था कि उनकी कोई भी रचना सामने आते ही बिना पढ़े चैन नहीं पड़ता था । उंगलियों पर गिनने लायक जिन कुछ साहित्यकारों ने मुझे गहराई से प्रभावित किया था उनमें ताराशंकर वंद्योपाध्याय, विमल मित्र, महाश्वेता देवी, दुर्गा भागवत, हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा कुबेरनाथ राय का कृतित्व ही मुझे सर्वाधिक बाँधे हुए था ।

मेरे मानस में 'है' से 'था' बनने में लगा तो एक क्षण, लेकिन वह एक क्षण ऐसा था, जिसके लिए अभी तो कोई संज्ञा या विशेषण मेरे पास है नहीं ।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने "वसन्त आ गया है" से निबन्ध के जिस रूप की शुरूआत की थी, वह 'अशोक के फूल' में अपने पूरे प्राण प्रवेग से व्यक्त हुआ था और निबन्ध के इस प्रकार को "ललित" का विशेषण दे दिया गया था जल्दबाजी में ही सही, लेकिन इतना सटीक बैठा कि अन्य विशेषणों के कोलाहल में वह दबा नहीं और प्रखर से प्रखरतर होता हुआ, हजारीप्रसाद द्विवेदी से लेकर विद्यानिवासमिश्र को पार करता हुआ कुबेरनाथ राय में अपने पूर्ण वैभव को प्राप्त हुआ ।

इस वैभव की पूर्णता का आकार-प्रकार इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है –

फूल पत्तियों के माध्यम से प्राचीन-मध्यकालीन भारतीय सांस्कृतिक वैभव की जो भव्य एवं मार्मिक अभिव्यक्ति द्विवेदी जी ने की थी वह लोक-संस्कृति के सहज रस से सराबोर होकर विद्या निवास मिश्र में एक नये आयाम को छूती हुई कुबेरनाथ राय में व्यापक गंभीर विराट संस्कृति में लोकतत्वों के शाश्वत और सामयिक निकषों पर खरी उतरती गई । इन तत्वों के प्रतीकीकरण के द्वारा उनमें निहित

अदम्य जिजीविषा, व्यापक सौन्दर्य-बोध और सूक्ष्म शीलाचार का जो विश्लेषण, व्याख्या और विवेचना हुई, वह अपना उदाहरण आप ही बन गयी। ऋग्वेद से लगाकर अधुनातन भारतीय साहित्य के अध्ययन-मनन तक उनकी सृजनात्मकता फैली हुई थी। शास्त्रों की गूढ़ विवेचना से लेकर लोक-संस्कृति के जीवन्त सरस प्राणमय उपादानों तक जिसकी लेखन यात्रा होती थी उसका नाम कुवेर नाथ राय था। सरस्वती में प्रकाशित पहले ही निबन्ध 'डूबता हुआ देवयान' ने जागरूक और विद्वान पाठक-समीक्षकों को आकृष्ट किया था और जो लगातार विशिष्ट पाठका का प्रिय से प्रियतर बनता चला गया। वह हिन्दी निबन्ध के उस शिखर पर आरोहण करता गया जिसके आगे कई बार लगा कि राह है ही नहीं। लेकिन अगले ही निवन्ध में राह फिर फूटती दिखाई पड़ने लगती।

कुबेरनाथ राय का व्यक्तित्व मुझे हिमालय के शैल शृंगों जैसा ही लगता है। अशोक, शिरीष, छितवन (सप्तपर्णी) पर ललित निबन्ध लिखने में कुछ अधिक नहीं करना पड़ता, क्योंकि मैथिलीशरण गुप्त के अनुसार ये विषय–

राम तुम्हारा वृत स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है ॥

जैसे है। लेकिन गैंडे पर, नीम पर, चोर पर, कबूतर पर निबन्ध लिखना और वह भी ललित, वास्तव में लालित्य और सृजनात्मकता के लिए था चुनौती ही और दूसरों के लिए आज भी है। चाँदनी रात में नौका विहार या दिवसावसान के समय मेघमय आसमान से उतरती सन्ध्या परी की अलस गति का चित्रण तो कोई भी भावुक कर सकता है लेकिन जून की निचाट दुपहरी में असम के जंगलों में छाती-छाती भर घास में चलने का अनुभव, रात के तीसरे पहर में हुआँ हुआँ करते स्यारों के रुदन से काँपता हुआ श्मशान, शिशिर की मध्य रात्रि में कामातुर वाराहों और अन्य वनचरों का चीत्कार और इसमें से लालित्य खींचना, यह काम कुबेरनाथ राय का ही था। स्पष्ट है कि यह लालित्य मधु जैसा तो हो नहीं सकता था।

एक बार मेरे पूछने पर, 'क्या लिखा-छपा है आपका?'-उनका बड़ा व्यथा भरा पत्र आया–

"जो छपा है– उसी को लोग नहीं पढ़ते, जो लिखा है वही प्रकाशकों की दराज में वर्षों से बन्द पड़ा है, पद्म भूषण से अलंकृत पंडित बलदेव उपाध्यायसे भेंट हुई, उन्होंने कुछ लिखने की सलाह दी जबकि मेरे आठ निबन्ध-संकलन प्रतिष्ठित प्रकाशकों ने छाप दिये थे। ऐसी स्थिति में सोचता हूँ कि लिखना बन्द ही कर दूं।"

तब मैंने उन्हें एक लम्बा पत्र लिखा था–

"मुजफ्फरनगर जैसे छोटे और साहित्यिक दृष्टि से गुमनाम शहर में जब भी पढ़े-लिखे लोग मिलते हैं तो आपकी चर्चा के बिना उनका संवाद पूरा नहीं होता! हालांकि काव्यरसिक और उपन्यास प्रेमी लोग आपके निबंधो की सन्दर्भवहुलता को झेल नहीं पाते. क्योंकि वे उनकी रुचि और गति की सीमा का बुरी तरह अहसास

कराते हैं — समकालीन भारतीय लेखन में मेरी सीमित जानकारी के अनुसार केवल ताराशंकर वंद्योपाध्याय आपके समकक्ष हैं, इतने व्यापक साहित्यिक परिदृश्य और लोकप्रिय पठनीयता के कारण । दूसरा कोई साहित्यकार मुझे दिखाई नही पड़ता और न ही यह चुनौती सुनकर किसी ने कोई नाम बताया जिसका साहित्य इतने व्यापक विविधि क्षितजों का स्पर्श ही नहीं, आलोड़न और मंथन भी करता हो ।

लेकिन आप मुझे ताराशंकर वंद्योपाध्याय से अधिक समर्थ लगते हैं, क्योंकि वे कथाकार है और वंग साहित्य की लोकप्रिय पठनीयता उन्हें बंकिम, रवीन्द्र और शरत् से मिली है, जिसका उन्होंने विस्तार और परिष्कार भी किया है । कथा के मनोरंजन और लोकप्रियता तत्त्वों का उन्हें अतिरिक्त और भरपूर लाभ मिला है जिसे उन्होंने अपनी व्यापक सूक्ष्म रागात्मक दृष्टि से चरमसीमा तक पहुँचाया है, जब कि शुष्क तर्कपूर्ण विवेचना के कारण निबन्ध लोकप्रिय हुआ ही नहीं, हो भी नही सकता । कथा और संस्मरण का स्पर्श उसे कहां मिल पाता है ? तो ऐसी विधा को जिस चरम शिखर पर आपने पहुँचाया है, यदि उससे सामान्य क्या, पंडित बलदेव उपाध्याय जैसा विख्यात विद्वान अपरिचित है तो इसमें आपका दोष नहीं है । उनकी रुचि और पठन की सीमा ही इसके लिए उत्तरदायी होगी, और फिर कितने विद्वान ऐसे हैं जो अपने अलावा या अपने विशिष्ट क्षेत्र के अलावा भी पढ़ते हैं । डॉ. नगेन्द्र ने सहजतः स्वीकार किया है कि कुबेरनाथ 'राय' के विषय में मैंने सुना है, उन्हें पढ़ा नहीं । तो ऐसे विद्वानों की उदासीनता या उपेक्षा से आहत होकर न लिखने की बात मन में लाना आप जैसे व्यक्ति के लिए सहज तो है ही नहीं, उचित भी नहीं है । क्योंकि आपने तो रास्ता ही निबन्ध का चुना है जिसके साथ विवेचना अनिवार्यतः और मूलतः जुड़ी हुई है और फिर जिन बीहड़ विषयों पर आप कलम चलाते हैं वे अभिजात्य रूचि की परिधि में कहां आते हैं । अब बताइये, कबूतरों पर, नट-कंजड़ों पर, मल्लाहों पर, धोबियों पर, गैंडे और नीम जैसे विषयों पर आप लिखेगे तो सामान्य क्या विशिष्ट पाठक भी पनाह मांगेगा ।

और फिर आज जो धरती और आकाश इतने रंग बदल रहे हैं तब आप जैसे सूक्ष्म संवेदनशील लेखक का चीमटा उखाड़ कर और झोली समेट कर चल देना कहाँ तक उचित है ? रही बात पहचान और परख की, तो गुड़ या इमरती का स्वाद तो हर कोई ले सकता है लेकिन मोहन भोग या चूरमा जिन्होंने चखा ही नहीं, जिनकी जिह्वा आइसक्रीम या पेस्ट्री के अलावा कुछ जानती ही नही, उनके फतवे से आपका प्रभावित होना कहाँ तक ठीक है ?

सम्भवतः यह भी आपको याद दिलाना आवश्यक लग रहा है कि बी. ए. और आनर्स तथा एम. ए. में आपके निबन्ध और संकलन कई विश्वविद्यालयों में लगे हुए हैं बीसियों वर्षों से । शोध-ग्रन्थों में भी उनका उल्लेख होता है । हिन्दी में तो अधुतातन पढ़े लिखे होने का प्रमाण आपके साहित्य की चर्चा ही है ।

तो बंधु मेढकों की टर्राहट और कौवों की कांव-कांव में आपके गद्य कोकिल की आवाज खो रही है, तो यह दोष आपका नहीं है ।"

इस पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था कि यह रेयर एप्रिसियेशन–दुर्लभ प्रशंसा–है वैसे भाई लोग 'त्राहि माम्' ही करते रहते हैं । इसके उत्तर में मैंने उन्हें लिखा कि कस्तूरी की पहचान हरेक को नहीं होती और यह दोष कस्तूरी का तो नहीं । लेकिन कस्तूरी की पहचान होती है । वह अकेला ही पर्याप्त है उसकी ख्याति फैलाने के लिए ।

कुबेर नाथ रायकी भारतीय संस्कृति के विषय में एक सोच थी, जिसका उद्गम हजारी प्रसाद द्विवेदी में मिलता है कि भारतीय संस्कृति डेल्टा की तरह है जहाँ समुद्र में मिलने वाली नदियाँ अपनी मिट्टी छोड़ देती हैं । उसी को कुबेरनाथ राय ने अधिक तर्क संगत और प्रमाणपुष्ट बनाते हुए लिखा कि भारतीय संस्कृति चतुर्मुखी ब्रह्मा के समान है जिसका एक मुँह द्रविड़ है, दूसरा आर्य, तीसरा निषाद और चौथा किरात । यद्यपि आर्यीकरण का प्रवाह अधिक है फिर भी इन तीनों तत्वों के अवशेष आज भी मिलते हैं । भले ही उन्हें खोजना–पहचानना कठिन होता जा रहा है ।

इसी प्रकार कुबेरनाथ राय मनुष्य, ईश्वर और प्रकृति का त्रिक् मानते हैं । ईश्वर के विषय में किसी रूढ़ धारणा से वे नहीं चिपके । आध्यात्मिक-अलौकिक न होते हुए भी उन्होंने आस्था के एक केन्द्र के रूप में उसे व्याख्यायित किया है, जो हमारी जिजीविषा का दिशा-निर्देश कर सकता है । प्रकृति की विविध रूप-रंगमयी छवियाँ उन्हें केवल आकृष्ट ही नहीं करती रहती, अपितु उनके चिन्तन को उदबुद्ध कर गंभीर आलोड़न-विलोड़न को संचालित करती हुई उनके सांस्कृतिक मानवीय सौन्दर्य, शील और शक्ति विषयक आस्था को नित नये आयाम देती रही हैं ।

आधुनिक जीवन की यांत्रिकता, अमानवीयता, विभीषिका और विडम्बना के कारणों की जाँच करते हुए मानवीय संकट से उन्होंने कभी भी पलायन नहीं किया । प्राचीन-मध्यकालीन मानसिकता और आधुनिक मानसिकता में दिखाई पड़ने वाले अन्तर्विरोधों को उन्होने जाँचा-परखा है । उनके अशुभ-अवांछित तत्वों की भर्त्सना की है, लेकिन उनमें निहित क्षमताओं को उन्होंने बड़ें जतन से पाला-पोसा है ।

व्यवहारिक जीवन में लालित्य की खोज और प्रतिष्ठा से जो उनकी लेखन-यात्रा प्रारंभ हुई थी वह सांस्कृतिक चिंतन से पुष्ट होती हुई अपने चरम शिखर पर पहुँच गयी थी तो क्या इसीलिए उन्होंने चिर विश्राम लिया या यह एक केवल घटना है?

एक ऐसे सृजनशील, चिन्तनपरक रस आखेटक, सौन्दर्य प्रेमी रचनाकार का निधन स्तब्ध तो कर ही जाता है तथा एक गहरे और व्यापक सन्नाटे को भी प्राणों में भर देता है । किस वजह से? अभी तक सोच नहीं पाया हूँ क्योंकि व्यक्तिगत भेंट या परिचय के अभाव में भी कोई व्यक्ति लेखन और पत्राचार के माध्यम से इतना निकट हो सकता है, इसका अहसास मुझे पहली बार हो रहा है और बड़ी गहराई से हो रहा है ।

रस धर्मा ललित निबन्धकार

डॉ. विमला सिंहल
हिन्दी-विभाग
राजकीय महिला महाविद्यालय भीलवाड़ा (राजस्थान)

"हिन्दी आलोचना की विडम्बना है कि उसने सरलता की ऊँचाई ठीक से पहचानी, पर जटिलता की गहराई नहीं"– प्रखर आलोचक शम्भूनाथ के ये शब्द कुबेरनाथ राय के बारे में सटीक उतरते हैं। कुबेरनाथराय के वारे में आम धारणा है कि वे ललित निबन्धों को ललित के बजाय लदित कर देते हैं और गुरु-गंभीर हो जाते हैं। परन्तु एक बार जो इनके लालित्य की धारा में पड़ जाता है वह अपने बूंद व्यक्तित्व को समुद्र मं परिवर्तित होते हुए महसूस करता है । उसे 'मन पवन की नौका' पर सवार होकर द्वीपान्तर की यात्रा की मौज मिलती है, 'दृष्टि अभिसार' का आनन्द मिलता है, अपने मन की उत्तर दिशा की राह पहचान में आ जाती है। वास्तव में 'ललित' का अर्थ रसगुल्ला नहीं है वरन् विषय के साथ गहरी सम्पृक्ति है । "ललित निबन्धकार स्वाधिकार प्रमत्त होता है उसे शिव के सांड़ की भाँति विषय के आसपास मुक्त भाव से चरण और विचरण का अधिकार है । ललित निबन्ध को अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, भक्ति और स्वस्थ अट्टहास सब कुछ के प्रतिपादन का अधिकार है । उसे हर तरह से आकृति और हर किस्म की वचनभंगिमा धारण कर लेने का अधिकार है ।" ('दृष्टि अभिसार'-भूमिका)।

कुवेरनाथराय के ललित निबन्धों की रचना एक सीधी रेखा में नहीं है इसीलिए पत्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, यात्रावृत, मोनोलॉग, फैंटेसी, प्रबन्ध आदि के सहारे भी इन्होंने ललित निबन्ध लिखे हैं । लगभग २०० ललित निबन्धों का लेखन करने वाले कुवेरनाथराय के लिए लेखन कर्म आत्मधर्म के पालन जैसा रहा है ।

भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरों को आधुनिक जीवन-संदर्भ में व्याख्यायित करने वाले रसधर्मा ललित निबन्धकार के रूप में आपकी विशिष्ट पहचान बनी है। भारतीय जनजीवन के परम्परागत पैटर्न में जो रूपान्तरण आज हो रहा है उसकी समग्र अनुभूति 'प्रिया नीलकण्ठी' 'रस आखेटक' और 'गंध मादन' नामक प्रारम्भिक दौर की रचनाओं में है । इस दौर के निबन्धों में लालित्य का जबर्दस्त आकर्षण है। रचनाकार की 'मधु माधव' मनियारा सांप, सम्पाती के बेटे, निर्गुण नक्शे सबुज श्याम धरती, शमीवृक्ष पर लटकते शव, बहुरूपी, यायावर-रस, देह वल्कल, दर्पण

विश्वासी, कवि तेरा भोर आ गया' आदि इस दौर की महत्त्वपूर्ण रचनाएं है । इन रचनाओं में कल्पना, संवेदना, विचार और परिवेशगत निजी अनुभूतियों को विलक्षण ढंग से नियोजित किया गया है । 'भवति' के प्रवाह के मध्य 'अस्ति' को पाने की व्याकुलता है, एक विचार बोध है जो प्रश्नाकुलता पैदा करता है और हमारे मन को बदल देता है । इन निबन्धों में लेखक की अंगुली पकड़कर चलते-चलते पाठक का 'मैं' 'हम' में परिवर्तित हो जाता है और मैं से हम बना पाठक महसूस करता है कि मानव की सार्थकता उपयोगी और तथाकथित सार्थक के साथ जुड़ने में न होकर निरर्थक की उस साधना में है जहाँ अन्नमय और प्राणमय कोश के पशुतुल्य जीवन से ऊपर मन की मधुमती भूमिका को पाने के लिए 'स्व' के बद्ध कोटर से मुक्त होना है । आज मानव को अन्नमय और प्राणमय कोश तक सीमित रखने के लिए अर्थशास्त्र और राजनीति का जाल ताना गया है । इस जाल में फंसकर हम आदमी नहीं 'साँचे में कसे जीवमात्र' बने रह जाते हैं । आज का युगबोध देहाश्रयी साधनाओं तक सीमित है । रचनाकार को लगता है कि 'आसेतु हिमालय राजनीति का सभापर्व चालू है । ऐसे में कुछ कहना भी बंदर और बया की पुरानी कहानी का स्मरण करा देता है । (मन पवन की नौका, पृ. ११) ।

मनुष्य की सार्थकता मृण्मयी देहाश्रयी साधनाओं में नहीं वरन् चिन्मय उन्मुक्त चेतना को प्राप्त करने में है । उपयोगितावादी भौतिक तराजू पर तौलने पर यह चेतना-मार्ग निरर्थक कर्म प्रतीत होता है । परन्तु मनुष्य का यह कर्म सिस्युफस की तरह शाप बाधित नहीं है औद्योसियस की तरह गरिमाबोध से युक्त है । 'यायावर-रस' निबन्ध इसी मिथक के सहारे लिखा गया है । आज मनुष्य के आसपास का सिकंजा और मजबूत हुआ है 'ऊपर से चक्र का भार उठ गया है; पर उसकी जगह दूसरे अन्य क्रूर निर्मम चक्रों की रचना हो गयी है । मनुष्य स्वतंत्र कब रहा है और कब है? वृषभमांस, सुरापान और स्त्री की शय्या के अतिरिक्त और कौन-सी चौथी शरण है? इन तीन के लिए सार्थक कर्म करने वालों की उपेक्षा मेरे जैसों का निरर्थक कर्म अधिक महिमामय है । ताश के महल, बालू की भीत, साम्राज्यों के प्राचीर ये सार्थक कर्म केवल ऊपर की तीन कोटियों की स्वतत्रता के लिए हैं । लानत है ऐसे सार्थक कर्म पर । इससे मेरा निरर्थक ही भला '। मनुष्य की गरिमा इसी निरर्थक में निहित है । .... उपयोगिता में जीने वाले शूकर-कूकर सदृश पण्य-संस्कृति के मानव भले ही निरर्थक मानें ।

अपनी सम्पूर्ण युगचेतना को अनुभूत करते हुए कुबेरनाथराय कहते हैं 'राजनीतिज्ञ, प्रशासक, पत्रकार, उपद्रवकारी और अपराधी के बीच एक अलिखित अनुबन्ध (पैक्ट) है सारे देश की शेष जनता के खिलाफ । राजनीतिज्ञ को केन्द्र में

करके ये लोग एक तरफ हैं और शेष हिन्दुस्तान दूसरी तरफ ।' (दृष्टि अभिसार, पृ. १४९) । पूंजीवाद, प्रजातंत्र को माध्यम बनाकर स्वतंत्र मुक्त बाजार की माँग कर रहा है और इसका उद्देश्य मानव न होकर बाजार है । अन्ततः सब कुछ बिकाऊ हो उठेगा । कुबेरनाथ राय की मान्यता है कि आने वाला समय 'अर्थशास्त्र का अंधयुग' होगा । मनुष्य बौना हो जायेगा । वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष काम और अर्थ मनुष्य की तलाश और मंजिल नहीं हो सकते । हम 'विपथगा' बन गये हैं । हमें इस वंचना के दुर्ग को समझना चाहिए । 'आज ग्राम-संस्कृति के महल पर मध्यवर्गीय संस्कारों का महल खड़ा हो रहा है । वह अति वंचना का दुर्ग है । प्रजातांत्रिक पद्धति के द्वारा नायकों की मृत्यु हो जायेगी क्योंकि नायकत्व का मापदण्ड वीरगाथाकालीन हीरोइक या सामन्तवादी आदर्शों पर आधारित है पर उसके स्थान पर स्थापित व्यक्ति अपने को भूफोड़ और स्वतंत्र मानकर स्थिति भयावह कर देगा ।

कुबेरनाथ राय ने 'विषाद योग' में पश्चिम के नव्य मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, नव्यवाम चिंतन और हरबर्ट मारक्यूज सभी पर विचार किया है और उन्हें ये सभी अधूरे दर्शन लगते हैं क्योंकि ये कहीं न कहीं संघर्ष, भय और अलगाव को आधार बनाकर चलते हैं । भारतीय संदर्भ में परखने पर कुबेरनाथ राय इन सभी सिद्धान्तों को एकांगी पाते हैं । रचनाकार का कथन है कि 'सार्त्र के दर्शन में मानवीय स्वभाव के शान्तिकामी गुणों–यथा प्रेम, सौन्दर्यबोध, करुणा, सहानुभूति की घनघोर उपेक्षा की गय़ी है और भय को अत्यधिक महत्त्व दे दिया गया है । जीवन इतनी विमिश्र व उलझी और अनन्तमुखी सत्ता है कि किसी एक सपाट फार्मूले में बलपूर्वक कसने पर उसका अंगभंग हो जाता है ।' अतः ऐसे पथ जो पथ को ही मंजिल मानते हैं मानव को कहां ले जायेंगे ?

फिर मार्ग क्या है? इस प्रश्न के भीतर पैठकर कुबेरनाथराय को अपनी धरती, अपने परिवेश, अपने सनातन धर्म, अपने सम्पूर्ण वाङ्मय से जुड़कर एक तथ्य उपलब्ध हुआ और वह है मनुष्य अपनी प्रकृतमनोभूमि को समझकर ही अपने मनुष्यत्व को पा सकता है । इस तथ्य के मूल में है भारत की वह ज्ञानसाधना, समता का वह रंग जो पांच हजार वर्षों की निरन्तर काटछांट के बाद भारत ने उपलब्ध किया है । जहाँ 'नान्यत् अस्तीति वादिन' को हमेशा ललकारा गया है और निरन्तर प्रवहमान विचार के साथ जुड़कर मानव ने अपने स्वत्व को तलाशने का प्रयास किया है । जहाँ छोटे से छोटे की अपनी भूमिका है । अपनी गंगातीरी लोक-संस्कृति की गहरी परख तथा असम की किरात संस्कृति के सघन परिचय के

उपरान्त लेखक ने महसूस किया है कि भारत का भारत वाला मूल तत्व भारत की समन्वित संस्कृति में है । 'उत्तरकुरु' की भूमिका में रचनाकार कहता है कि 'भारतीय महाजाति की रचनात्मक वस्तुनिष्ठ व्याख्या में लिखे गये ललित निबन्धों की जो परम्परा 'निषाद बांसुरी' में मैंने प्रारम्भ की, उसी का अन्तिम छोर यह 'उत्तरकुरु' है । ये निबन्ध आर्य-आर्येतर समन्वय की ओर संकेत करते हैं जिसके फलस्वरूप एक भाषानिरपेक्ष, नस्लनिरपेक्ष, सर्वतंत्र स्वतंत्र भारतीय महाजाति का संभव होना घटित हुआ है ।"

भारतवर्ष में शत्रुभाव, आगंतुकभाव, बेगानापन और अपरिचय के स्थान पर मित्रभाव, अतिथि-भाव, अपनापन का भाव है । इसी स्वभाव ने निषाद, किरात, द्रविड़ और आर्य का ऐसा घुलामिला रूप उपस्थित कर दिया है कि आज अलग नाम देना गलत है । भारत ने सभ्यता का बाहरी विकास चाहे न किया हो पर सांस्कृतिक स्तर पर 'अन्तर्विकसित संस्कृति' का रूप यहां उभरा है । कामधेनु में कुबेरनाथराय की उद्‌बाहु घोषणा है, 'हमारी बाहरी सभ्यता में सिन्धुघाटी के अवशेष आज भी हैं परन्तु भारत का अन्तर्मन निरन्तर साधनारत रहा है और भारत ने अन्तर्विकसित संस्कृति का माप तैयार किया है । क्योंकि हमने आर्थिक कारण को ही सब कुछ नहीं माना (कामधेनु, पृ. ११२)

भारत की प्रकृत मनोभूमि को समझने का आमंत्रण देते हुए पीढ़ियों से विकासमान भारतीय मन के प्रति आकर्षण और निष्ठापूर्ण रसबोध जगाना इनके निबन्धों का उद्देश्य है । जब तक हम इस समन्वित योगदान को नहीं समझेंगे, आर्य-आर्य जपते रहेंगे और अन्दर ही अन्दर विष-वृक्ष पनपाते रहेंगे । नस्लपरस्ती का आईना विदेशी है । भारतीयता के असली रंग को असली रूप को पहचानना है तो हमें उत्तर दक्षिण या आर्य द्रविड़ की शैली पर नहीं, समन्वयकी भूमिका पर चलना होगा । हमारी धमनियों में जो रक्त प्रवाहित है वह अनार्या माँ का ही है । 'देववाणी' कहती है कि माता तो महज धारक पात्र है, पुत्र उत्पन्न करता है पिता ही । जनकपिता के लिए बीज स्थापित करने के लिए एक पात्र या कुंभ चाहिए, बस । कोई भी मृण्मयी देह इसका पात्र बनायी जा सकती है । ऐसा ही कुछ था आदिम विश्वास । इसी से नस्लों के रक्त-मिश्रण की बात एक आम तथ्य है और भारत में कोई भी नस्ल विशुद्ध नहीं । कुछ मिथों के अन्दर तो और स्पष्टतर संकेत हैं । अगस्त्य को कुंभज कहते हैं उनके पिता मित्रावरुण ने 'घट' में अपना वीर्य स्थापित कर दिया । परन्तु वह घट मिट्टी का नहीं रहा होगा । संस्कृत भाषा में 'कुंभा' शब्द का एक अर्थ वेश्या भी होता है ।' (उत्तरकुरु, पृ. २०)

इस समन्वय और साझेदारी पर चिंतन-अनुचिंतन करते हुए रचनाकार का मन एक अत्यन्त संवेदी रेडियोसेट वन जाता हैं और वह सृष्टि के प्रारम्भ विन्दु से लेकर आज तक के घटनाक्रम को प्रत्यक्षतः अनुभूत करने लगता है । वदलते परिवेश के साथ वदलती लय को सुनता हैं । उसका रूपान्तरण ऋषि-कवि के रूप में हो जाता है, उसका तादात्म्य अनाम महीदास के कण्ठ से निकली लोकगाथा से प्रारम्भ होकर 'अथातो व्रह्मजिज्ञासा' से होता हुआ संतों कवियों की वाणी की राह अंधा युग, उर्वशी तक निरन्तर प्रवहमान वाङ्मयी नदी धारा के घाटघाट का पानी अंजुरी भरभर पीता है . तव वह चण्डीदास को लेडी चैटरली से धीमी अस्पष्ट आवाज में वात करते हुए सुनता है, शुक्र तारे का संकेत समझता है, राम और सूर्यगाथा के मर्म को समझता है । इस रचनाकार का वैशिष्ट्य है नवीन लेखन के मुहावरे की रक्षा करते हुये भारतीय सनातन साधना के रहस्य को हृदयंगम करना । इसके अनुसार 'मिथ को संशोधन और पुर्नगठन करने का अधिकार किसी भी छोटे-वड़े साहित्यकार को है । मिथ न तो इतिहास है और न धर्मशास्त्र । अतः इसके संदर्भ में प्रामाणिकता का डंडा चमकाना व्यर्थ है । मिथ साहित्य है और कल्पनाप्रसूत हो सकता है । सावधानी यही रहनी चाहिए कि मिथ के अन्तर्गत आये तत्वों की गरिमा का सौन्दर्य नष्ट न हो ।' (कामधेनु, पृ. १२९)

जिस जाति के पास पांच हजार वर्षों से अधिक की स्मृतियां हैं वह अपने आदर्श पात्रों को इतिहाससम्मत नहीं, मिथकीय रूप में पुराण बना देती है । और जव-जव संस्कृति और जाति पर महासंकट होता है वह अपने मिथकों के पुनःसंयोजन से जीवनी-शक्ति पाती है । नटराज, शेषशायी, देवी, माया बीज, यमुना सांवरी जैसे ललित निबन्धों के मूल में यही मिथक संयोजना है । हमारे पूर्वजों ने कुछ भी छोड़ा नहीं । जहाँ भी कुछ शुभ और मंगलमय देखा उसे विष्णु या देवी के मिथकों के साथ जोड़ दिया । इसीलिए 'राम चाहे जो हों पर रामत्व विवादों से परे सनातन सत्य है । जैसे तथ्य को हृदयंगम किया जा सकता है । हमारे देवी-देवताओं का, उत्सवों का व्यक्तित्व और स्वरूप पर्त दर पर्त बहु-पहली और बहुरूपी है । इसीलिए कवि-रचनाकार भी एक शीर्ष नहीं, सहस्रशीर्ष है । बिना अपने अन्तराल में विश्वमन की उपलब्धि किये कोई भी श्रेष्ठ शिल्पी या साहित्यकार नहीं हो सकता ।' (कामधेनु, पृ. ८५) ।

कुवेरनाथराय को पढ़ते हुए हमें हमारा हिन्दी-व्यक्तित्व-स्वभाव, अपनी परम्परा, अपना परिवेश सब कुछ पकड़ में आता है तथा समझ में आता है कि भारत अतीत में एक मणियारा सांप था जिसकी मणि छिन गयी है और उसे पुनः प्राप्त करने के लिए आज उसकी संतानोंको प्रयत्न करना होगा ।

हम आज पूरे भारत के प्रति जो बेगानापन महसूस करते हैं उस विकृति की जड़ आधुनिक बुद्धिवाद में हैं । इस बुद्धिवाद ने पत्रकार, राजनेता, पूंजीपति का जामा पहना है और अपने स्वत्व को विश्वबाजार में बेचने का ठेका दे दिया है बिना पिच्चासी प्रतिशत की गवाही के । रचनाकार कुबेरनाथ राय की पीड़ा मूलतः उस गंगातीरी निषाद की पीड़ा है, चन्दर मांझी की पीड़ा है; जो गंगा की लहरों पर अपनी डोंगी ही नहीं चलाता था वरन् निसर्ग के साथ जुड़कर प्रकृत्ति के ऋतचक्र में मानवजीवन की सारी प्रक्रिया को समझने की चेष्टा करता था । जिसने रोपा धान का पृथ्वी पर अंकुरण किया था, महिष को पालतू बनाया था, वनस्पतियों के औषध-गुण को परखा था तथा उन्हें नाम दिया था . उसी निषाद की संतति आज स्टीमर के चालू होने पर भौचक्की है । भारतीय सनातन विश्वासी व्यक्ति मानता था 'हाथ को काम करना है, रसना को राम नाम जपना है।' और विकुण्ठ भाव से जीना है, पर आज बेरोजगारी के मध्य राजनीति को कोसना है और काम, क्रोध, लोभ, आर्ति, तृषा के मध्य कुण्ठाएं पालनी हैं । मार्क्सवाद, पूंजीवाद, लोकतंत्र, समाजवाद के बड़े-बड़े नारों के मध्य नरक में जीना है । 'बहुरूपी' व्यक्तित्व छिनकर एकरूपी होने को बाध्य हो रहा है ।

कुबेरनाथ राय ने विश्वास जगाया है कि यदि हमें अपने मन को विकुण्ठ रखना है, विश्व परिदृश्य में अपनी पहचान बचाये रखनी है तो गांधी द्वारा इंगित राह पर चलना होगा । ई. शूमाखर ने तीसरी दुनिया के देशों के लिए गांधी के अर्थशास्त्र को ही व्यावहारिक माना है । साथ ही हमें अपनी ईश्वरनिष्ठा को, आस्था को भी बचाये रखना है । तभी जापान की तरह हमारी पहचान बन सकेगी ।

इस रचनाकार की मान्यताओं से अभिधा के स्तर पर किसी का मतभेद हो सकता है पर लक्षणा और व्यंजना के धरातल पर जो गूँज और-अनुगूँज इन ललित निबन्धों से उठती है उससे असहमत होना असम्भव है । क्योंकि रचनाकार की रचना-क्षमता तो उसी अनुगूँज में व्याप्त है । सारे मिथक, सारे भाषायी प्रयोग आड़े तिरछे रूप तो उपादान हैं । मूल है वह गन्तव्य जहाँ लेखक सम्पूर्ण मृण्मय को चिन्मय चेतना में बदलना चाहता है ।

('मधुमती' से)

●

रसआखेटक कुबेरनाथ राय

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
यू. पी. कालेज वाराणसी

हिन्दी में केवल निबन्ध लिखकर प्रतिष्ठित होनेवालों में बालकृष्ण भट्ट, विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय उल्लेखनीय हैं । इनमें भी विद्यानिवास मिश्र तथा कुबेरनाथ राय अपने ललित निबन्धों के लिए प्रसिद्ध हैं । कुबेरनाथ राय का पहला निबन्ध संग्रह 'प्रिया नील कंठी' १९६८ में प्रकाशित हुआ । इसके निबन्धों के लालित्य ने लोगों को आकृष्ट किया । इसके बाद कुबेरनाथ राय की लोकप्रियता दिनोंदिन बढ़ती चली गई । कहने भर के लिए उन्होंने कुछ रिपोर्ताज और यात्रा-वृत्तान्त भी लिखे हैं । कुछ वैचारिक निबन्ध भी हैं । फिर भी उनके स्थायित्व का आधार ललित निबन्ध ही है । निबन्धों और निबन्ध-संग्रहों के ऐसे नाम हिन्दी के लिए नये थे । इनमें न छायावाद की रुझान थी और न नयी कविता का यथार्थ-बोध था । इस प्रकार के नामों के चयन में सौन्दर्यबोध था किन्तु वह छायावाद के आध्यात्मिक अथवा अतीन्द्रिय सौन्दर्य बोध से भिन्न था । इनमें जीवन को नये तरह से समझने का उपक्रम था लेकिन वह नयी कविता की यथार्थ दृष्टि से भिन्न था। इन शब्दों के चयन में कुबेरनाथ राय के रस आखेटक मन, मिथकीय दृष्टि, सांस्कृतिक चेतना तथा असम-बंगाल का वैष्णव प्रभाव था । रस आखेटक, दृष्टि अभिसार तथा मराल जैसे नाम उनके लालित्यपूर्ण मन का प्रतिबिम्बन करते हैं। 'गन्धमादन', 'विषाद योग', 'पर्णमुकुट', 'कामधेनु', 'त्रेता का वृहत् साम'–जैसे नाम कुबेरनाथ राय की मिथकीय दृष्टि को प्रकट करते हैं । 'निषाद बाँसुरी', 'किरात नदी में चन्द्रमधु'–जैसे नाम उनके सांस्कृतिक चिन्तन को प्रकट करते हैं । निबन्धों में 'एक महाश्वेता रात्रि', 'विरूपाक्ष', 'मधुमाधव', 'चण्डीथान' जैसे नामों पर पूर्व और उत्तर का प्रभाव है ।

कुबेरनाथ राय ने ललित निबन्ध को एक स्वतंत्र साहित्य विधा माना है । उनके अनुसार ललित निबन्ध और व्यक्तिपरक निबन्ध में भेद है- । पश्चिम के व्यक्तिपरक निबन्धों के केन्द्र में लेखक का निजी जीवन और व्यक्तित्व हुआ करता है । किसी व्यक्तिव्यंजक निबन्धकार के जीवन की खोज उसके निबन्धों में की जा सकती है। लेकिन ललित निबन्धों में लेखक की अपनी कथा नहीं होती है । "मैं सर्वदा समूह-

वाची होता है । वह शाश्वत 'मैं' है । उसका व्यक्तित्व तथ्य में नहीं, भंगिमा और शैली में पैदा होता है । जीवन की खोज सीमित अर्थ में की जा सकती है ।' (दृष्टि अभिसार) । कुबेरनाथ राय ने एक प्रकार से ललित निबन्ध और व्यक्तिव्यंजक निबन्ध को बाँटने की कोशिश की है । ऐसा बंटवारा ठीक नहीं है । न तो व्यक्ति व्यंजक निबन्ध का अर्थ है लेखक की स्वच्छन्दता और न निजी जीवन की बातों तक ही परिमित अथवा किसी विषय पर लेखक की टिप्पणी मात्र । व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में लेखक का निजत्व होता है । वह अपने व्यक्तित्व का प्रकाशन करता है । लेखक किसी विषय को उठाता है और उसके माध्यम से वह अपने को खोलने लगता है । इसमें लेखक की जिन्दगी के कुछ पन्ने खुल सकते हैं । उसका रस आखेटक मन खुल सकता है । उसकी मिथकीय दृष्टि झलक सकती है । उसका सांस्कृतिक चिन्तन व्यक्त हो सकता है । किसी एक विषय से बहक कर वह दूसरे पर और दूसरे से तीसरे पर जा सकता है । लेकिन सबको एक सूत्र में बाँधने वाली लेखक की आत्मव्यंजकता साथ में होती है ।

कुबेरनाथ राय रस आखेटक थे । रस आखेटक यानी रस लोलुप । प्रकृति के रस का लोभ, नारी के सौन्दर्य का लोभ, भारतीय जीवन दृष्टि के रस का लोभ । लेकिन फिर भी अपरिग्रही । एक खंजन या हंस की तरह यायावर–धरती के सगुण रूप पर मुग्ध, फिर भी देश-परदेश की घुमक्कड़ी । पूर्वोत्तर भारत यानी असम और बंगाल की प्रकृति का रस उन्होंने छक कर पिया था । यह रस उनके आरम्भिक निबन्धों में छलकता है । बीच-बीच में गंगा के कछार वाला उनका गाँव भी छलक जाता है । वे अपने रस आखेटक मन की वात करते हुए कहते हैं–'और इन वेड़ियों के कारण संन्यासी तो मैं नहीं बन सका पर मन से पक्का यायावर बन गया–खंजन, कोयल या बनैले हंस जैसा यायावर, जो धरती के सगुण रूप के मोह में आवद्ध होकर देश-परदेश घूमता है और यह हरीतिमा, यह रूपजाल, ये हवा-बधुएँ उसका लाख दिल तोड़ें, पर वह निरन्तर रस लोलुप, रस आखेटक की तरह उनका पीछा करता रहता है ।' (रस आखेटक) । 'विकल चैत्र रथी' नामक निबन्ध (गंध मादन) में वे अपनी सौन्दर्य चेतना को और साफ करते हुए कहते हैं–'ईश्वर, नारी और प्रकृति–इन तीनों में मेरी घोर आसक्ति है ।' यही कारण था कि वे अपने समय के बहुचर्चित सार्त्र और मार्क्स को नहीं स्वीकार कर सके थे । ये दोनों विचारक निरीश्वरवादी थे और कुबेरनाथ राय सार्त्र तथा मार्क्स दोनों के विचारों को अपूर्ण मानते थे । अपने समय के नव लेखन यानी नयी कविता में चर्चित आधुनिकता के बुद्धिवाद के वे विरोधी थे । उनके अनुसार आधुनिकता विषाद का युग है । नया कवि रूमानी या स्वच्छन्दतावादी तत्वों से भागता है । प्रकृति और नारी का सौन्दर्य

उस समय की नयी कविता के लिए अछूत था और कुबेरनाथ राय इसी रस के आखेटक थे । नयी कविता अपनी परम्पराओं से कटना चाह रही थी और कुबेरनाथ राय परम्परा से ही रस ग्रहण करना चाहते थे । नवचिन्तन में वैष्णवता, आनन्दवाद, शाक्त भाव आदि के सम्बन्ध में सोचा ही नहीं जा सकता था और कुबेरनाथ राय इसी की बात करते थे–'मेरी वैष्णवता का झुकाव आनन्दवादी शैव सिद्धान्त की ओर है । मेरा विश्वास आस्वादन और आनन्द में है । जब मेरे मन में शाक्त भाव जोर मारता है तब धरती को माँ कह कर पुकारता हूँ ।' (रस आखेटक) । यह भाव और विचार नव चिन्तन के बाहर का था । यहाँ यथार्थ वोध नहीं, बल्कि महाभाव वाला समर्पण है । यह मध्ययुगीन साधना का प्रकर्ष है । कुबेरनाथ राय मध्ययुगीन वैष्णव साधना और तंत्र या शाक्त साधना की महत्तम उपलब्धियों से अपने निबन्धों को मूल्यवान बना रहे थे । उनका रस आखेटक मन और विषादकारी बुद्धिवाद के विरोध में खड़ा हुआ चिन्तन एकदम अकेला दिखाई पड़ता है । उनकी यथार्थातीत चेतना किसी 'सुपर रियलिटी' को व्यक्त कर रही थी । वे अपने पाठकों की चेतना को समृद्ध बना रहे थे । उन्हें मानसिक ऋद्धि प्रदान कर रहे थे ।

कुबेरनाथ राय के कुछ चर्चित निबन्धों की पृष्ठभूमि प्रकृति सौन्दर्य है । यह सौन्दर्य उनके गाँव मतसा की प्रकृति से लेकर असम के नलबारी तक का है । उनके निबन्धों में पूर्वोत्तर भारत, दक्षिणी भारत तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश की प्राकृतिक छटा उभरती हैं । 'मृगशिरा' निबन्ध की शुरुआत जेठ की तपन से होती है । 'महाश्वेता रात्रि' में अपने गाँव के खलिहान का सौन्दर्य है । 'गौरी मार्ग और कामुक मेघ' की पृष्ठभूमि में आषाढ़ है । 'चित्र विचित्र' में ऋतु की निर्मलता, 'शरद बाँसुरी और विपन्न मराल' बसन्त की पूर्णिमा और विकल चैत्र रथी की शुरुवात अनामा नील विहंग के सन्दर्भ से होती है । इसी तरह से 'उत्तरा फाल्गुनी के आस-पास' में उत्तर फाल्गुनी की चर्चा, 'निषाद बाँसुरी' में सप्तमी के चन्द्रमा का सौन्दर्य, 'आधी रात का नवजातक' में क्षणदा यानी रात्रि का सन्दर्भ, 'सम्पाती के बेटे' में चित्रा के गमन और स्वाती के आगमन की बात, 'हेमन्त की सन्ध्या' में हेमन्त की संध्या का सौन्दर्य और 'मृगशिरा' में वर्षा का प्रभावशाली चित्र है । आर्द्रा नक्षत्र में बादलों के बरसने, बिजली के चमकने और मछलियों की चंचलता का एक चित्र कुबेर नाथ राय के अभिव्यक्ति कौशल को दिखाने के लिए काफी होगा । इस चित्र में एक ओर आर्द्रा की सम्पूर्ण सक्रियता प्रकट होती है, दूसरी ओर प्रस्तुत चित्र से अप्रस्तुत की ओर संकेत भी है । यह संकेत उपमा के अर्थ को दूर तक खोलकर किया गया है । चित्र केवल चित्र नहीं है । इसमें निबन्धकार की संवेदना भी है और इस संवेदना के बीच

से खुल रहा है उसका चिन्तन—'मेघ बरसते हैं, बिजली चमकती है, कमज़ोर मकान गिरते हैं, जल का चंचल प्रवाह बहता है और मौसम की तरह इसकी धारा में सृष्टि का मन मछलियाँ बनकर जी उठता है। मछली सा ही सदैव चंचल, सदैव नाचता हुआ।' (मृगशिरा)

कुबेरनाथ राय की सौन्दर्य-चेतना वस्तुओं के रूपगत सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं रहती है। वे प्रकृति में नारी का रूप देखते हैं। प्रकृति उनकी संवेदना का अंग बन जाती है। बाहर का सौन्दर्य उनके अन्तस् का अनुभव वन जाता है। वे सौन्दर्य का अनुभव करते हुए मौन हो जाते हैं। यह उनका आत्मार्पण है। प्रकृति के सौन्दर्य से एकाकार होना महापूजा है। अनुभव प्रसाद है और रचना के शब्द तुलसीदल हैं। इसे वे सब को बाँटना चाहते हैं। यही है उनका वैष्णवी रूप जिसे वे 'लोक संग्रह' कहते हैं। मध्यकाल की सगुणोपासना से लिए गये सन्दर्भ के द्वारा कुबेरनाथ राय ने अपनी बात कही है। सगुणोपासना और उसमें भी वैष्णवों की पूजाविधि तथा पूजा-सामग्री से अप्रस्तुत का चयन हुआ है। इसका कथ्य भी आधुनिकबोध के विपरीत है। आज की बौद्धिकता और यथार्थ की चेतना लोक संग्रह के लिए मौन और अनुभव को इस प्रकार से नहीं स्वीकार करेगी। वे कर्मयोग के लिए कोई स्थिर बिन्दु चाहते हैं। 'रस आखेटक' की भूमिका में सागर मंथन से पूर्व वासुकि कहता है—'पर जैसे कर्मयोग के लिए कोई स्थिर बिन्दु चाहिए वैसे मुझे भी कोई आधार चाहिए।' उनके कर्मयोग का आधार वैष्णवता है। इसमें समर्पण, मौन और करुणा है। उनके लिए आशीर्वाद ही अमृत है जो हृदय के अन्दर होता है। मन को मथने से चन्द्रमा पैदा होता है। यह चन्द्रमा रस है। कोई धीर, आस्थावान पुरुष ही यह मंथन कर सकता है। वे चैतन्य महाप्रभु के 'महाभाव' को स्वीकार करते थे। व्यक्ति-व्यक्ति में राधा है। यह राधा अपने को समर्पित करके महाभाव को प्राप्त कर लेती है। (मनियारा साँप—प्रिया नीलकंठी)। नयी कविता भाव का विरोध करती थी और कुबेरनाथ राय भाव ही नहीं, वैष्णव साधना के महाभाव की प्रतिष्ठा कर रहे थे। नव लेखन में माना गया कि भाव को स्वीकार करना रूमानियत है। कल्पना भी रुमानियत है। लेकिन रचना के लिए इन दोनों को कुबेरनाथ राय अनिवार्य मानते थे। उनका कहना है कि हर काल का रोमांस अलग होता है। भाव, सौन्दर्य की चेतना और रस बोध हर काल में होता है। अपने युग के अनुसार इनका रूप बदल जाता है। (मनियारा साँप)। वे कल्पना को कवि-कर्म के केन्द्र में रखने के लिए छटपटा रहे थे। प्रकृति और नारी के सम्मोहन से आहत होने के बाद ही किसी रचनाकार की रचना के केन्द्र में कल्पना प्रतिष्ठित हो सकती है। नयी कविता प्रकृति, नारी और कल्पना इन तीनों

को कम से कम रचना के केन्द्र में नहीं प्रतिष्ठित कर सकती थी । लेकिन कुबेरनाथ राय कहते हैं–'मूल समस्या है कल्पना को कवि-कर्म के केन्द्र में पुनः प्रतिष्ठित करने की । पर उसके लिए जरुरी है प्रकृति और नारी दोनों के सम्मोहन से आहत होने की क्षमता की ।' (तृषा तृषा–रस आखेटक) ।

कुबेरनाथ राय ने आधुनिक युग के बुद्धिवाद और यथार्थ को अस्वीकार करके भाव, संवेदना, महाभाव, पूजा, आशीर्वाद, आस्था, समर्पण, करुणा, कर्मयोग आदि को प्रतिष्ठित किया । ये सब भारतीय जीवन-साधना के सोपान हैं । बौद्धिकता ने इन्हें अस्वीकार कर दिया था । वैष्णवता के हल्के से प्रभाव के कारण बहुत दिनों तक नरेश मेहता को स्वीकृति ही नहीं मिल पाई । दूसरी ओर कुबेरनाथ राय सम्पूर्ण नव चिन्तन के विरोध में लिखते हुये भी स्वीकृत हुए । यह स्वीकृति किसी बड़े समीक्षक से नहीं मिली थी । मार्क्सवादी तो उन्हें कभी स्वीकार कर ही नहीं सकते थे । हिन्दी-भाषी जनता का एक वर्ग कुबेरनाथ राय के निबन्धों का रसिक पाठक है । उनके रस बोध, मिथकीय चिन्तन तथा सांस्कृतिक दृष्टि इस प्रकार के पाठकों के मन को छूती है । उनकी भाषा नये रंग की थी । उसने भी प्रभावित किया । उनके चिन्तन में भारतीय मनीषा का वह सब कुछ था जिसे वे मूल्यवान समझते थे । वैष्णवता और शैव सिद्धान्त का आनन्दवाद, शाक्त भाव की मातृपूजा और बौद्ध धर्म की करुणा उनके लेखन में एक साथ परिलक्षित होती है । उनके यहाँ ये एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं । वे वैष्णव साधना का प्रतीक लेकर कहते हैं कि मौन पूजा और अनुभव प्रसाद है । मिथक का सहारा लेते हैं तो कर्म को सागर मंथन और आशीर्वाद को अमृत मंथन कहते हैं । जब बौद्ध दर्शन का आधार लेते हैं तो प्रज्ञा को शून्यता तथा बुद्ध को कर्म प्रेरणा कहते हैं । इसी से विश्व करुणा की प्राप्ति होती है । चित्त की बोधि के यही साधन हैं–'प्रज्ञा शून्यता है और बुद्ध हैं कर्म प्रेरणा रूप विश्व करुणा । शून्यता और करुणा के युग्म समुदय से ही असली बोधि चित्त की प्राप्ति होती है ।' (एक महाश्वेता रात्रिरस, आखेटक) । भाव, महाभाव, संवेदना, पूजा, आशीर्वाद, शून्यता, करुणा आदि में कहीं कोई विरोध नहीं है । भारतीय चिन्तन के इस सामंजस्य को कुबेरनाथ राय ने अच्छी तरह से पहचाना है।

भावों में वे श्रृंगार को रसराज मानते हैं । रस आखेटक की भूमिका में समुद्र मंथन का प्रयोग एक मिथक के रूप में करते हुए वे कहते हैं कि मन को मथने से चंद्रमा पैदा होता है । 'यही रस और प्राण का सहचर है ।' मंथन से पहले पहल श्रृंगार रस पैदा हुआ । फिर वीर, भयानक, रौद्र आदि पैदा हुए । अन्त में करुण रस पैदा हुआ । व्यक्ति करुणा को वे आशीर्वाद मानते हैं । करुण रस का स्वरूप भी वे प्रभावशाली ढंग से उपस्थित करते हैं–'फिर मंथन । इस बार उदास कपोत

वर्ण रस का जन्म हुआ । वातावरण मेघाच्छन्न उदास हो गया । धूसरवर्णी अकेला कपोत, उसकी कोमल गर्दन, उसकी नरम पाँखें, उसके करुण दयनीय नेत्र आदि के दर्शन से घोर विषाद का अनुभव होता था । जन्म ही करुण है, प्रेम ही करुण है, विश्व का मूल ही करुण विषाद है–ऐसे भावों से अचानक मन भर गया । भीतर को अचाही कथा मरोड़ने लगी । भीतर जो कुछ ठूँठ था, स्थाणु था या शिला की तरह अभिमानी था, वह विगलित होकर बहने लगा । सारा वन सूखे पत्तों से भर गया । वे पत्ते करुण रव से रो रहे थे ।' (रस आखेटक–भूमिका) । यह बुद्ध का दुःखवाद और उनकी विश्व करुणा है । इसकी भाषा पर वैष्णवता की छाप है । कुबेरनाथ राय अनुभव की 'सुपर रियलिटी' को व्यक्त करने के लिए 'महाभाव', 'विश्व करुणा' जैसे शब्दों का सहारा लेते हैं ।

कुबेरनाथ राय के चिन्तन का फलक बहुत व्यापक है । भारतीय दर्शन और धर्म के विविध पक्ष और उनमें निहित शाश्वत मूल्यों को उन्होंने सहज ही स्वीकार कर लिया है । वैष्णवता, आनन्दवाद, राधाभाव-महाभाव, सहजसाधना आदि के अतिरिक्त आत्मा, पुनर्जन्म, शिव के साथ शक्ति का संयोग, अवतारवाद में विश्वास आदि भी उनके निबन्धों में जहाँ-तहाँ हैं । वे ईश्वर में गहन आस्था रखते थे । पुनर्जन्म के विश्वास को वे फन्तासी के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त करते हैं–'मुझे अपने उस आदि जन्म की बात याद नहीं जब मैं सृष्टि की तुषाराच्छादित अखण्ड मध्य रात्रि में देश काल प्रवाह के मध्य प्रथम बार ईश्वर की साँस, रूह या आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ था । पर इतना लगता है कि बार-बार मैं पितर-यान पर सवार होकर, आकाश का अमृत पी-पी कर लौट आया हूँ ।' ('जन्मान्तर के धूम्र सोपान'–रस आखेटक) । यहाँ लेखक की ईश्वर में गहन आस्था, पुनर्जन्म में विश्वास और मृत्यु से निर्भयता प्रकट होती है । आज का बुद्धिवादी और यथार्थजीवी चिन्तक आवागमन की इस फन्तासी को स्वीकार नहीं कर सकता है । लेकिन विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय दोनों निबन्धकार बौद्धिकता को एक सीमा तक ही स्वीकार करते हैं ।

उन्होंने सार्त्र के चिन्तन पर विचार करते हुए 'विषाद योग' में एक वैचारिक निबन्ध लिखा है–'ज्याँ पाल सार्त्र : नव्य मार्क्सवाद की ओर ।' सार्त्र के अस्तित्ववादी चिन्तन के अकेलेपन, अजनबीपन, विषाद आदि पर उन्होंने कई निबन्धों में अपने विचार रखे हैं । इस वैचारिक निबन्ध में वे कहते हैं कि सार्त्र का विचार व्यावहारिक नहीं है । इसकी दूसरी कमी यह है कि मानवीय स्वभाव के शान्ति कामी गुणों-प्रेम, सौन्दर्य, करुणा, सहानुभूति की इसमें घनघोर उपेक्षा हुई है । तीसरी कमी

यह है कि इसमें सनातन मूल्यों का चरम अर्थ में बहिष्कार है । (विषाद योग)। इसके प्रभाव के कारण पश्चिम में 'अपधर्म' विकसित हुआ । बुद्धिवाद आया । लोग विषाद से ग्रस्त हो गये । पश्चिमी साहित्य म्रियमाण हो गया । जव बौद्धिकता का अतिरेक होता है तो अपधर्म ही विकसित होता है । भाव का तिरोधान हो जाता है । वे आधुनिक युग को 'विषाद का युग' कहते हैं । व्यक्ति अपने में ही सिमट गया है । वह स्वयं संकीर्ण है और अकेलेपन तथा अजनबीपन की बातें कर रहा है- 'विषाद में सारे मूल्य अर्थहीन हो जाते हैं । आधुनिक युग को हम विषाद का युग कह सकते हैं । अन्धकार भींग गया है । पर गुंजलकबद्ध 'मैं' फन काढ़े वैठा हूँ । स्वयं केन्द्रित । नया मसीहा बोलता है–इस अकेलेपन पर इस, अजनवीपन पर ।' (हेमन्त की सन्ध्या–प्रिया नीलकंठी) । 'सब कुछ गड्ड मड्ड और बेतरतीब हो गया है। हमारी मूल्यवान संस्कृति के विरोध में प्रतिसंस्कृति पैदा हो गई है ।' (मधुमाधव-प्रिया नीलकंठी) । वैसे कुबेरनाथ राय मानते हैं कि किसी महासत्य की स्थापना के लिए 'ट्रेजडी' आवश्यक होती है । अजनबीपन और आत्मनिर्वासन किसी रचनाकार के लिए शाप नहीं होती है । राम का जीवन साक्षात् करुण रस है । तुलसीदास अपने नायक को यातनामय निवास और संघर्ष के बीच से शान्ति के विन्दु तक ले गये हैं । आज का बुद्धिवाद व्यक्ति को मनुष्य और सौन्दर्य से निर्वासित कर देता है । यह उसके लिए शाप है । (राघवः करुणोरसः–गन्धमादन) । वे मनुष्य के अस्तित्व को बचाने के लिए उसे पुराने मानसर की सीमा में बद्ध करके रखना चाहते थे । (विपन्न मराल–गंध मादन) । भाव को बचाने से पुराना मानसर वचा रहेगा । बुद्धिवाद के महिषासुर 'हमारे भावों की लहलहाती खेती' चर डालेंगे । आज का बुद्धिवादी मनुष्य भयग्रस्त लघु मानव है । (डूबता हुआ देवयान–प्रिया नील कंठी) ।

वे मार्क्स से भी सहमत नहीं थे । मार्क्स का यथार्थवाद उनके रस आखेटक मन के विपरीत था । वे भाव को महत्त्वपूर्ण मानते थे । उनका बँटवारे में विश्वास नहीं था । सार्त्र के चिन्तन को वे मार्क्स के आगे का चिन्तन मानते थे । लेकिन सार्त्र के चिन्तन में भी उन्हें बहुत सी कमियाँ दिखाई पड़ती थीं । उसके विषाद, अकेलेपन और आत्मनिर्वासन को वे संशोधित करके जीवन के लिए रचनात्मक बनाना चाहते थे । अस्तित्ववाद के क्षणवादी चिन्तन को भी उन्होंने अपने तरह से स्वीकार किया है । वे 'घने नुकीले प्रगाढ़ क्षण के अनुभव का आखेट' करना चाहते हैं । क्षण का जो अनुभव सरस हो वही उनके लिए सार्थक है–'मैं क्षण-भोग का विश्वासी हूँ । हवा, धरती और हरीतिमा ही मेरी नायिकायें हैं । मैंने काम रूपिणी की निरावरण कटि को देखा है, बंगाल की काल वैशाखी का फहराता आँचल पकड़ लिया है,

पक्वताल फलोपम स्तनों वाली कन्याकुमारी से परिचय किया है, कुंकुम देशी की केशर वर्णी मेखला के भीतर अथाह अथाह झीलों का और उसमें प्रस्फुटित रक्त कमल का देवताओं की शैली में आस्वादन किया है ।...मैं रस आखेटक हूँ । पर मैं क्षणों का आखेट करता हूँ ।' (रस-आखेटक) । प्रकृति और नारी दोनों का सौन्दर्य उनके क्षणों को आस्वादनीय बना रहा है । वे रस का क्या आखेट कर रहे हैं, रस उनका आखेट कर रहा है । पहले रस आस्वादनीय होता है, फिर आनन्द का विषय बन जाता है । सार्त्र ने क्षण को महत्वपूर्ण माना था और कुबेरनाथ राय क्षण प्रति क्षण मिलने वाले रस को महत्वपूर्ण मान रहे हैं ।

कुबेरनाथ राय के उत्तरवर्ती निबन्धों की अपेक्षा पूर्ववर्ती निबन्धों में अधिक लालित्य है । पहले लिखे हुए निबन्धों में लालित्य और चिन्तन एक साथ अग्रसर होते हैं । उनका रस-आखेटक मन वल्कि प्रधान है । विचार बिन्दु तो आधार मात्र है । बाद के अधिकांश निबन्ध चिन्तन से बोझिल हो गये हैं । किरात और निषाद-संस्कृति के विवेचन में वे अधिक शुष्क हो गये हैं । भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचारों और खोजों को वे निबधों का बाना पहनाने में शुष्क हो जाते हैं । 'निषाद बाँसुरी' में गंगा तीरी निषादों के सात कुलों, उनके रहन-सहन, भोजन-पान आदि का परिचय देने लगते हैं । फिर द्रविड़-संस्कृति और निषाद संस्कृति की तुलना करते हैं । द्रविड़ संचयवादी थे । इसलिए व्यापार किया । नगर संस्कृति की रचना की । लेकिन निषाद आरण्यक तबियत के थे । जो कमाया उसे संवत्सर में ही व्यय कर दिया । ऐसे निबन्धों में उनके विचार हैं, लालित्य नहीं है । 'विरजा नदी और मधुमय सूर्य' में वे भारतीय संस्कृति के दो रूपों की ओर लक्ष्य करते है–'देखने में नदी एक है पर उसके दो रूप हैं जलप्रवाह रूपा भागीरथी और दूसरी मानस लोक की चिन्मयी विरजा जो इसी नदी का घट व्यापी रूप है । यह भारतीय संस्कृति का शाश्वत प्रवाह और लोकप्रवाह है । वे मानते थे कि निषाद और किरात संस्कृति ने भारत के चिन्तन, दर्शन और सम्पूर्ण संस्कृति को प्रभावित किया है '। 'कामधेनु' में निषादों पर फिर विस्तार से विचार है । लेकिन यह भी लालित्य से हटकर चिन्तन और विचार से भर गया है ।

वे साहित्य में यथार्थ को अस्वीकार करते थे । उनके शब्दों में 'दर्पण विश्वासी साहित्य भीड़ का दर्पण नहीं है । साहित्य भीड़ और मैं से परे स्वतंत्र निजी सत्ता भी नहीं । साहित्य है इसी त्रिकोण के अन्तर्व्यापी क्रिया सूत्र का उद्‌घाटन ।' उनके अनुसार साहित्य यथार्थातीत मन को यानी 'सुपररियलिटी' को व्यक्त करता है । इस तरह से साहित्य में व्यक्ति का नहीं बल्कि सबका अनुभव होता है । वह यथार्थ से परे की सच्चाई व्यक्त करता है । उनका रस आखेटक मन यथार्थ को स्वीकार नहीं

कर पाता था। वे मन को मथकर चन्द्रमा को पैदा करने के कायल थे। यही उनके लिए रस और प्राण का सहचर था। साठोत्तरी कविता यथार्थवादी और बुद्धिवाद से प्रभावित है। इसलिए वे इस कविता को कुरम्य और कुरसपूर्ण कहते हैं। (सारंग)

कुवेरनाथ राय ने भी हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विद्यानिवास मिश्र के समान उद्धरणों का भरपूर उपयोग किया है। द्विवेदी जी संस्कृत के विद्वान् थे। कालिदास उनके प्रिय कवि थे। वे बात-बात में उन्हें तथा अन्य संस्कृत रचनाकारों को उद्धृत करते थे। वाद में यह परम्परा बन गई। लालित्य के लिए काव्य-पंक्तियों का उपयोग होने लगा। कुबेरनाथ राय ने कहीं-कहीं सीमा तोड़ दी है। वे अंग्रेजी के विद्वान थे। पाश्चात्य साहित्य का ज्ञान था। बाद में संस्कृत भी खूब पढ़ी। शैवागम, तंत्र-साहित्य, बंगला, असमिया, पालि, प्राकृत आदि का भी अध्ययन किया था। फलतः ऋग्वेद पुरुष सूक्त, श्रीमद्भागवत्, रामायण, महाभारत, कालिदास के ग्रंथों विशेषतः मेघदूत, गीत गोविन्द, रुद्राष्टाध्यायी, मधुसूदन सरस्वती, ईशावास्योपनिषद, अथर्ववेद, तैत्तरीय उपनिषद, छान्दोग्य उपनिषद, बौद्ध चर्यागान, चण्डीपाठ, रात्रिसूक्त, सौन्दर्य लहरी, तन्त्रशास्त्र, श्रीकंठ चरित (मम्वक), गाथा सप्तशती, आदि के अतिरिक्त बंगला के पद्मा पुराण, रवीन्द्रनाथ टैगोर, भूपेनदा तथा बंगला-असमिया के अन्य रचनाकारों की काव्य-पंक्तियाँ इनके निबन्धों मे बराबर मिल जाती हैं। हिन्दी के महाकवि तुलसीदास का इन्होंने बहुत उपयोग किया है। विहारी, हरिवंश राय वच्चन आदि रुमानी कवि भी हैं। उर्दू के बहादुरशाह जफर जैसे शायर भी हैं। फ्रांसीसी कवि पियरे इमैनुएल के उद्धरण हैं। सार्त्र, पाउण्ड, एच. डी., टामस और अवधी लोकक्षेत्र के घाघ, भड्डरी भी हैं। यह लम्बी सूची किसी रचनाकार के वहुपठित होने का प्रमाण है। लेकिन उद्धरणों से लालित्य उत्पन्न करने की परम्परा ठीक नहीं है। निबन्ध के गद्य यानी शैली और कथ्य में ही लालित्य होना चाहिए।

अधिकतर निवन्धों की शुरुआत प्राकृतिक सौन्दर्य से होती है। कुछ निबन्ध निजी जीवन की घटना, किसी के स्मरण आदि से आरम्भ होते हैं। कभी अपनी संस्कृति को समझने के लिए किसी शब्द पर भाषा वैज्ञानिक की तरह विचार करने लगते हैं। 'रस आखेटक' की शुरुआत वचपन की वातों से होती है। 'मोहमुद्गर' की शुरुआत वावा के कथन की स्मृति, चण्डीथान, पूर्वस्मृति, मुद्गलोद्गम अपने पुरोहित के स्मरण, 'यक्षरात्रि' पिता के पत्र की प्राप्ति, 'लोक सरस्वती' अपने गाँव की सरस्वती की मूर्ति के हरण के समाचार तथा 'कामधेनु' की शुरुआत मन के निभृत एकान्त में वहने वाली नदी की गूँज से होती है। 'देहवल्कल' में अपनी संस्कृति को समझने के लिए अर्थ की जिज्ञासा है। 'विरजा नदी और मधुमय सूर्य'

इस उद्धरण से आरम्भ होता है– 'ॐ मधु मधु मधु' । एक सनातनी मन हर जगह उपस्थित है । वह जाता तो बहुत जगह है किन्तु रस का आखेट अपने सन्दर्भों में ही करता है ।

कुबेरनाथ राय की शब्द-रचना और वाक्य-विन्यास समकालीन तथा पूर्ववर्ती गद्यकारों से भिन्न है । अधिकतरतत्सम पदावली है । उसमें उर्दू के शब्द बहुत कम हैं । अंग्रेजी के भी इने-गिने शब्द मिल जायेंगे । वैसे शब्द चयन पर बंगला और असमिया की छाप है । रस आखेटक, जन्मान्तर के धूम्र सोपान, महाश्वेता रात्रि, सारंग, मधुमाधव, निर्गुण नक्शे, विपन्न मराल, विषाद योग, विकल चैत्ररथी के अतिरिक्त विगलित पुष्प, अनिकेत यायावर, आदिम उदात्तता, वेणु कीचक, अरणी, संकर्षण, नीलकंठी प्रिया, बीजाक्षरा, किरण सप्तपदी जैसे शब्द हिन्दी के कुछ पाठकों को बहुत भाये । वे लोक से भी शब्द ले लेते थे जैसे प्रेत लुक्क, मनियरा साँप, चीन्हा, महुआरी आदि । वैसे वे शब्द चयन और और निजत्व की अभिव्यक्ति में भी रसजीवी ही थे । यथार्थ के करीब जाने पर वे चूक जाते थे । 'परास्त नरक लोक' (विषाद योग) में अपने गाँव के धोबी के जीवन का भोगाहुआ यथार्थ कहने में वे असफल हो जाते हैं । धोबी के 'छी छी' को वीजमंत्र कहते हैं । इससे बीजमंत्र का उपहास होता है और धोबी के जीवन की पीड़ा भी नहीं उभरती है । उसके गीत के लिए वे विशेषण रखते हैं 'विगलित कंठ संगीत' । कहाँ जीवन की व्यथा का गीत, कहाँ विगलित होना ? धोबी को 'पद्मपत्रमिवाम्भसा' कहकर वे धोबी की भोगी हुई पीड़ा को व्यक्त नहीं कर पाते हैं । इसी तरह गदहे को इस निबन्ध में 'वैशाखनन्दन' कहना उचित नहीं है । यह शब्द तो व्यंग्यका हो गया है । कहाँ धोबी का दुखी जीवन और कहाँ उसके साथी के लिए वैशाखनन्दन शब्द । इस तरह से कुबेरनाथ राय रस आखेटक निबन्धकार हैं । जीवन के संघर्षों से दूर रह कर रस से आप्याायित रचनाकार ने एक सरसभाषा और शैली भी दी है । वे अपने युग के चिन्तन से भी अलग हट कर मध्ययुगीन जीवन के मूल्यवान जीवन बिन्दुओं को आज के बुद्धिवादी युग को आशीर्वाद के रुप में दे रहे थे ।

●

साहित्य को ललित कलाओं से जोड़ने में समर्थ

नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

उनके पास न मोटर थी, न बंगला, न कोई आधुनिक आभिजात्य मगर फिर भी कुबेर थे क्योंकि उनके पास अक्षरों की असंख्य अशर्फियाँ थी, मनस्विता की मोहरें और साधना की संपन्नता। वे लक्ष्मीपति नहीं थे, एक समर्पित साधक थे साहित्य के, इसलिए उन्हें अपने निधन के बाद उस आभिजात्यवादी, कृत्रिम रूप से प्रदर्शित किये जाने वाले दुःख से तो वंचित होना ही था जो बिना किसी साधन के सिर्फ़ प्रचार के बल पर दीगर क्षेत्रों के लोंगों को हासिल हो जाता है, मगर इस संवेदनशून्य लेकिन अपनी जागरूकता का दावा करने वाले अवसरवादी प्रचारतंत्र से इतनी क्रूरता की भी उम्मीद नहीं थी जो इस महान् निबंधकार के निधन पर बरती गई।

कुबेरनाथ राय के निधन के साथ वह त्रयी भंग हो गई जिसने हजारीप्रसाद द्विवेदी के बाद ललित निबंध की परंपरा को आगे बढ़ाया। विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय और विवेकीराय में से अब कुबेरजी हमारे बीच नहीं हैं।

उनके निधन की जानकारी मिली तो मन बेहद उन्मन हुआ। उनका आखिरी पत्र मेरे सामने है। सीधा-सादा पोस्टकार्ड जिसमें मतसा के पते की सूचना है, मेरे नए संग्रह के बारे में तारीफ़ है "आप कंकर नहीं हैं, पर्याप्त दीप्ति है आपमें" फिर विरागी स्वर है जो आभास-सा करा देता है उनकी हताश मानसिकता का।

कुबेरजी अपने तरह के निराले सर्जक थे जिन्होंने अपनी अभिव्यक्ति की परवाह पाली। अपने पांडित्यपूर्ण लेखन को लेकर वे आजीवन आलोचनाओं के शिकार रहे लेकिन 'प्रिया नीलकंठी' से लेकर 'मराल' तक के उनके जो ललितनिबंधों के संग्रह हैं वे हमारी संस्कृति, उसके पुरुष, उसके काव्य और उसकी अद्भुत समग्रता की गहरी पड़ताल करते हैं, हमारी धरोहर से हमें परिचित कराते हैं और हमारी सांस्कृतिक चेतना के मूल स्वर का उद्घोष करते हैं।

विद्यानिवासजी के निबंधों में जहाँ भारतीयता, उसकी चिंतन-परंपरा, दर्शन और कलात्मकता का आख्यान है वहीं कुबेरजी के निबंध भारतीय संस्कृति की पड़ताल विश्व की अन्य समृद्ध संस्कृतियों से करते हैं, और इस मायने में उनका स्वर बड़ा उदात्त और वैश्विक है। विवेकीरायजी के निबंधों जैसी ग्राम्य गंध भी उनके निबंधों में है। उनकी भाषा क्लिष्ट है लेकिन यदि उसमें उतर जाएँ तो दृष्टि

इतनी संपन्न होती है कि सारा अँधेरा छँट जाता है । उनके लेखन की विशेषता रही ज्ञान से परिपूर्ण और प्रत्येक विधा को अपने-आपमें समेटने वाला ।

पत्रलेखन, रिपोर्ताज, फंतासी, फीचर लेखन और व्यक्ति-चित्रण, सभी कुछ उनके लेखन में आया ।

ललित निबंध के बारे में उनकी स्पष्ट अवधारणा थी, "ललित निवंध भी शुद्ध मौज, शौकिया, मात्र आनंद से जुड़ी विधा नहीं है । इसमें एक अव्यक्त जीवन-दृष्टि रहती है, यह शुद्ध गद्य काव्य न होकर, एक दृष्टि-संपन्न विधा है । इसी से यह एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है । ललित निबंध एक स्वयंपूर्ण एवं संपूर्ण वाङ्मय है । विषय के आसपास शिव के साँड़ की भाँति मुक्त चरण और विचरण ललित निबंध है ।" ('दृष्टि अभिसार' से)

अपने लेखन में उन्होंने इस अवधारणा को निभाया । यह जरूर है कि उनके बाद के ललित निबंधों में बदलाव आया लेकिन वे अपनी मूल अवधारणा से नहीं हटे । चौदहवें ललित निबंध-संग्रह 'मराल' की भूमिका में उन्होंने लिखा, "अब मैं ललित की जवाकुसुम जैसी चटक, लाल, उग्र और उत्तेजक भंगिमा पर मुग्ध नहीं होता । सरल, तेजस्वी और निष्पाप अब मुझे ज़्यादा आकर्षित करते हैं ।" यों शायद उन्हें अपने महाप्रस्थान का आभास हो गया था इसलिए अपने अंतिम संग्रह (उत्तर-कुरु) की भूमिका में उन्होंने लिखा, "उत्तर-कुरु संभवतः अपने ललित निबंधों का अंतिम से पूर्व वाला संग्रह है, इसके बाद एक और ललित निबन्ध संग्रह, बस । अब आगे नहीं । इसके बाद इस क्षेत्र की महाविद्या को शयन आरती ।" 'मराल' उनका अंतिम ललित निबंध–संग्रह है, यों वह छपा पहले लेकिन 'उत्तरकुरु' के निबंध पहले लिखे गए और संग्रह बाद में आया । यों वे छुटपुट निबंध अंत तक लिखते रहे । उनके कुल 15 ललित निबंध-संग्रह आएः उन्हें 'प्रिया नीलकंठी' से लेकर ' कामधेनु' तक पर कई पुरस्कार मिले । लेकिन पुरस्कारों से, सम्मानों से, अभिनंदन से उन्हें अरुचि ही रही । वे केवल अक्षर को समर्पित साधना पुरुष थे । नटराज, देवी और शेषशायी जैसे प्रणम्य प्रतीकों के बारे में जहाँ उन्होंने विस्तार से जानकारी दी वहीं हमारे आज के प्रसंगों पर भी सार्थक लेखन किया ।

कुबेरजी का इतनी जल्दी जाना न केवल ललित निबंध बल्कि समूचे हिंदी के रचनात्मक जगत् की अपूरणीय ऐसी क्षति है जिसे सहन कर पाना संभव नहीं हो पा रहा क्योंकि हिंदी में निबंध विधा वैसे ही हाशिए पर है । पूरे भारत में गिने-चुने निबंधकार हैं और उनमें से भी ऐसे बहुत कम जो साहित्य को ललित कलाओं से जोड़ने की सामर्थ्य रखते हों । यह कुबेरजी का ही कमाल हो सकता था कि वे आनंदकुमार स्वामी के 'डांस ऑफ शिवा' के दर्शन को ललित निबंध में ढाल सकते ।

ललित निबंध केवल साहित्य की एक विधा नहीं है वह ललित कला की भी सशक्त विधा है । इसलिए ललित कलाओं के गहरे ज्ञान के बिना, विभिन्न संस्कृतियों की अंतर्धाराओं की जानकारी के बिना इस विधा में सारवान और संप्रेषणीय ढंग से लिखा ही नहीं जा सकता और आज मुश्किल यह है कि इस विधा को भी सामयिक प्रसंगों के नाम पर हल्की राजनीति और उथले सरोकारों से जोड़ा जाने लगा है । यह कुबेरजी की ही सामर्थ्य थी कि जिस परंपरा की शुरुआत उन्होंने 'प्रिया नीलकंठी' से की उसे उन्होंने 'मराल' तक निभाया । यह निर्वाह बहुत कठिन है ।

उन्हें पढ़ने वाले बहुत कम मिलेंगे लेकिन जो मिलेंगे वे अक्षर की अशर्फियों के कुबेर होंगे । हमारी तमाम मतभिन्नताओं के होते हुए भी कुबेरनाथ राय को पढ़ना इसलिए जरूरी है क्योंकि हमें अपने समय, बीते समय और आने वाले समय की पहचान करना जरूरी है और यही ज़रूर किसी सच्चे लेखक की पहली ज़रूरत होती है ।

यह 'गंधमादन' चला गया । गंध का स्वभाव भी यही होता है कि वह कब आती है, कब चली जाती है, मालूम नहीं होता । हाँ, उसकी मधुरता समा जाती है, नाक के रंध्रों के रास्ते और फिरसदैव के लिए बसी रहती है । यह गंध जिसके मन-प्राणों में बस गई, उसे बसे रहना है सदैव के लिए । उसे कभी तिरोहित नहीं होना, उसे दीखने का मोह भी नहीं पालना । इन मायनों में समय ने कुबेरजी के साथ न्याय ही किया । वे गंधमादन थे ललित निबंध के और रहेंगे, जिनमें बसे हैं उनमें बसे रहकर उन्हें स्फूर्त करते रहेंगे, जो उन्हें बसाएँगे वे भी इस मधुर गंध में अकंठ डूबे रहेंगे, वे कभी देखे जाने के लिए लालायित भी नहीं होंगे क्योंकि गंध दीखती नहीं इसलिए उनके निधन के बाद यदि इस अक्षर-साधक को किसी ने अक्षर नहीं सौंपे तो कोई आश्चर्य नहीं । यह गंधमादन किसी दृश्य का मोहताज भी नहीं था । वह तो स्वयं दृष्टि था और दृष्टि गंध होती है, क्षणभंगुर कुछ मुद्रित शब्दों का अस्तित्व उसके सामने बहुत बौना होता है ।

(सुनो देवता से)

●

आधुनिकताबोध और परंपरा के प्रगतिशील तत्वों की पहचान वाले कवि

डॉ. जितेन्द्रनाथ पाठक

कुबेरनाथ राय के जीवन-काल में उनके एक दर्जन के ऊपर ललित निवन्ध संग्रह प्रकाशित हुए किन्तु कविताएँ आधी दर्जन ही। इनमें आधुनिकता बोध, परम्परा के प्रगतिशील तत्वों की पहचान तथा उत्तम कवित्व की विशिष्टताएँ भरपूर उभरी हैं।

'गंगा गोमती के कोणपर' (१९६९) (संपादक जितेन्द्रनाथ पाठक) संग्रह में उनकी तीन कविताएँ उनके दृष्टिकोण और कवित्व दोनों पर प्रकाश डालती हैं। उन्होंने हलायुध, कविता में नये कवियों के अपना सलीव ढोने के मुहावरे पर करारा व्यंग्य किया है :

मेरे मित्र, यह जो मेरे कंधे पर है वह सलीब नहीं।
प्यारे, हर काठ सलीब नहीं होता है।
हर आदमी मसीह नहीं होता है।
वह बताता है कि 'यह जो मेरे कंध पर है।
कर्ण के कवच सा जन्मजात
जन्म सहचर
कुल सहचर
पराक्रमी हल है
जो तोड़ता है—सहज बंध्या योनि,
सीता उत्पन्न करने को,
रावण नष्ट करने की।

बक्सर से १९८५-८६ में डॉ. आंजनेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'ज्ञान-तरंगिणी' में श्री राय की दार्शनिक कविता 'शाश्वती अंतः सलिला' छपी। इस कविता के दर्शन के बारे में कवि का स्पष्टीकरण है कि "नदी प्रतीक है त्रिकालव्यांपी व्यक्ति के चैतन्य के प्रवाह की। इसी व्यक्ति चैतन्य के भीतर लोक चैतन्य (कलेक्टिव कांशसनेस) भी प्रतिष्ठित है। मेरा भोग, मेरा आस्वादन वास्तव में एक प्रीतिभोज है, सारे समूह के भोग और आस्वादन से जुड़ा हुआ। यदि उस बाहर की नद के साथ भीतर की नदी का, जो वस्तुतः एक ही चैतन्य प्रवाह के दो रूप हैं अधिक अनुभव संवेद्य हो उठे तो मेरा संपूर्ण जीवन ही सारी सृष्टि के लिए एक प्रीतिभोज बन जाएगा। यह असाधारण साधना है। मैंने चेष्टा की है कि मेरा समस्त साहित्य इसी सर्वव्यापिनी नदी के साथ सहचर भाव से चलता रहे।"

कुबेरनाथ राय श्रेष्ठ निबंधकार के अतिरिक्त एक श्रेष्ठ कवि भी थे। उन्होंने और भी कविताएँ लिखी हैं जिनके शीघ्र प्रकाशित होने पर उपर्युक्त वातों की पुष्टि होगी।

●

ललित निबंधकारों के मुकुटमणि

रसिकेशकृष्ण शर्मा

'कामधेनु' के सेवक, संधान-सिद्ध 'रस-आखेटक', 'पर्णमुकुट' ही जिनके लिए स्वर्णमुकुट था, 'निषाद बाँसुरी' के स्वरों में खोये, 'विषाद योग' के योगी, 'महाकवि की तर्जनी' के इंगित के रहस्यान्वेषी, 'मन पवन की नौका' पर आरूढ़ होकर 'किरात नदी में चन्द्रमधु' का पान करते हुए, 'उत्तर कुरू' के दुर्गम क्षेत्र के धीर पथिक, अपने 'दृष्टि अभिसार' से 'त्रेता का बृहत्साम' जिसको हस्तामलकवत् हो उठा था, साहित्य-सरोवर के ऐसे 'मराल', श्री कुबेरनाथ राय अपनी 'प्रिया नीलकण्ठी' के पास से उड़कर, 'गन्धमादन' पहुँच गये । शायद वहाँ से 'मणिपुतुल के नाम' फिर कुछ लिख भेजें ! (उद्धरण-चिह्नों के अन्दर उनके प्रकाशित निवन्ध संग्रहों के नाम) लिखेंगे, अवश्यक लिखेंगे । लिखे बिना उन्हें चैन कहाँ ? अभी तो बहुत कुछ लिखना था । उनकी 'लौह मृदंग' की थाप तो अभी किसी ने सुनी ही नहीं ! 'गंगाजी' की धारा का प्रवाह तो हम अभी देख ही नहीं सके ! 'रामायण पर और रचना' शेष ही रह गई ! (उद्धरण-चिह्नों के अन्दर उन प्रकाश्य निबन्ध संग्रहों के नाम हैं, जिसका उल्लेख कुबेरजी ने विभिन्न स्थानों पर किया है ।)

१० जून ९६ । दोपहर फुरसत में दैनिक 'नयी दुनिया' के पृष्ठ उलट रहा हूँ । पृष्ठ आठ पर कॉलम तीन में मुद्रित एक छोटे से शीर्षक पर ध्यान जाता है–'वार्त्ता' द्वारा वाराणसी से प्रसारित समाचार है–'श्री कुबेरनाथ राय को, वाराणसी के साहित्यकारों, समालोचकों और बुद्धिजीवियों ने भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की ।' अर्थात् कुबेरनाथ राय की मृत्यु हो चुकी है ।

किन्तु मैं इतना व्याकुल क्यों हूँ? कुबेरनाथ को तो मैंने कभी देखा भी नहीं । न ही वे मुझे जानते थे । किसी प्रकार का कोई सम्पर्क प्रत्यक्षतः उनसे रहा ही नहीं । फिर ? फिर क्या ? तुमने तुलसी, कबीर, प्रेमचन्द, प्रसाद, पन्त, निराला आदि को प्रत्यक्ष देखा है ? नहीं तो । फिर इन सबसे तुम्हारा आदर-श्रद्धा-स्नेह भाव क्यों जुड़ा है ? क्योंकि उनका साहित्य तुम्हें अन्धेरे में राह दिखाता है, आशा का संबल प्रदान करता है । अवसाद के क्षणों में धैर्य प्रदान करता है । तुम्हारे ज्ञान की सीमा विस्तृत करता है । तुम्हें सामर्थ्य प्रदान करता है । विपरीत स्थितियों से जूझने की शक्ति देता है ।

हाँ-हाँ यही तो, ठीक यही तो कुबेरनाथराय के ललित निबन्ध करते हैं । तभी तो, मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि कुबेरनाथ के रूप में मैंने अपना एक आत्मीय स्वजन खो दिया है । एक अच्छा मित्र खो दिया है ।

कुबेरनाथ को मेरी चिन्ता थी । मेरे जैसे कोटि-कोटि जनों की चिन्ता थी । समूची मानवता की चिन्ता थी । प्रकृति की, जड़-चेतन सभी की चिन्ता थी । पर प्रमुख चिन्ता थी भारत राष्ट्र की, भारतीय संस्कृति की, भाषा की । इसीलिए वे भूत को वर्तमान से जोड़ कर भविष्य को देखते थे । जीवन से सम्बद्ध प्रत्येक विषय उनके चिन्तन का विषय था । फलतः वे आजीवन निर्भयतापूर्वक उन प्रवृत्तियों से लोहा लेते रहे जो जीवन को कलुषित करती हैं । इस संग्राम में उनका एकमात्र शास्त्र था, उनका आत्मरंजित, गहन-अध्ययन पूर्ण लेखन ।

उन्हें अपने लेखन से किसी के अप्रसन्न या असहमत होने की परवाह कभी नहीं रही । उन्हें परवाह थी केवल अपने अन्तर की–अन्तस्थ महासत्ता की ।

उन्हें वर्तमान युग के आचरण से शिकायत थी–'हमारा युग स्नेह और प्रीति से रिक्त तो है ही, करुणा में भी यह अति दरिद्र है ।'

उन्हें राम अत्यन्त प्रिय हैं । रोम-रोम में बसे हैं ।

वे जीवन में करुणा को प्रधानता देते हैं । किन्तु उनका मानना है कि वह करुणा ही क्या जो क्रोध उत्पन्न करे ।

भारतीयता की चिन्ता कुबेरनाथ को बहुत गहरी थी । भारत की वर्त्तमान विखंडनात्मक स्थिति उन्हें व्यथित किए रहती थी । वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, धार्मिक विश्वास, कर्मकाण्ड, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कारणों से उत्पन्न श्रेष्ठ और निम्न की भावना को मूलतः अययार्थ बताने की प्रक्रिया में ही वे भारत के ऐतिहासिक ही नहीं, प्रागैतिहासिक काल में प्रवेश करके अपनी उदात्तभावनाओं और तर्कों के द्वारा यह प्रतिपादित करते हैं कि नस्ल, वर्ण, जाति, धर्म और सम्प्रदाय-संबंधी हमारा अहं नितान्त व्यर्थ है । इस अहं से उत्पन्न श्रेष्ठता और हीनता की ग्रंथियाँ, विषग्रंथियाँ हैं, जो इस देशको टूटन की ओर ले जा रही हैं। वे कहते हैं, 'भारतीयता एक संयुक्त उत्तराधिकार है और इस उत्तराधिकार के रचयिता सिर्फ आर्य ही नहीं रहे हैं । वस्तुतः आर्यों के नेतृत्व में इस संयुक्त उत्तराधिकार की रचना द्रविड़-निषाद-किरात ने की है ।' –'निषाद बाँसुरी' ।

कुबेरनाथ की दृष्टि में आज के युग की समस्या धर्म-अधर्म या सत्य-असत्य की नहीं बल्कि धर्म के विरुद्ध प्रतिधर्म और सत्य के विरुद्ध प्रतिसत्य की है । –'विषाद योग' ('नारायण-प्रतिनारायण')

युग के इस प्रवाह के साथ बहना नहीं चाहते हैं । 'अतः मैं धार के साथ न बहकर अकेले-अकेले अपने अन्दर की अमृता कला का आविष्कार करने को कृत संकल्प हूँ ।'

उन्हें इस संकल्प को निबाहने की शक्ति 'राम' से प्राप्त होती है । राम उनके सर्वस्व हैं । वे कृष्ण को नहीं, राम को पूर्णावतार मानते हैं ।

रामकथा का आश्रय लेकर लिखे गये निबंधों में उनके द्वारा सौन्दर्यबोध और शीलबोध को एकाकार करने का प्रयत्न है । कुबेरजी शील के परम उपासक थे । मानव-जीवन का हर क्षण वे शीलयुक्त देखना चाहते थे । इसी दृष्टिकोण से उन्होंने वाल्मीकि कृत 'रामायण' और तुलसी कृत 'रामचरित मानस' का गहन अध्ययन किया था । इसी अध्ययन का निचोड़ उनके निवंध संग्रह 'महाकवि की तर्जनी' और 'त्रेताका वृहत् साम' में हमारे सामने आया है । वे कहते हैं–'जैसे-जैसे मैं रामकथा में डूबता गया, मैंने पुनः अनुभव किया कि क्रांतिकारी और रचनात्मक दोनों स्थितियों में इसकी सार्थक और कालजयी भूमिका है । 'महाकवि की तर्जनी'

निंश्चय ही कुबेरजी मूलतः कवि ही थे । यह अलग बात है कि उन्होंने अपनी कविता के लिए गद्य विधा–'ललित निबंध' को चुना । उनके निवंधों में सर्वत्र ही उनकी हृदयगत काव्यधारा प्रवहमान है । 'दृष्टि अभिसार' के एक निवंध में वे जव गंगा को महाकाव्य और यमुना को गीतकाव्य कहते हैं तो पढ़कर रोमांच हो आता है । यह उनके अंदर का कवि ही है जो 'महाभारत' के कवि व्यास कृष्ण द्वैपायन को, अपने एक निवंध में 'दावाग्नि का कवि' कह कर रूपायित करता है ।

कुबेरनाथ के निबंधों की अपनी एक विशिष्ट भाषा है । उन्हें भाषा–राष्ट्र भाषा–हिन्दी का यही स्वरूप परम प्रिय है । भाषा की भावगरिमा, अर्थवत्ता, रसवत्ता, प्रवाह तथा सुस्पष्टता का उन्हें बहुत गुमान है । 'भाषा बहता नीर' निवंध में अपने भाषा-संबंधी विचारों को उन्होंने बेलाग प्रकट किया है । वे कहते हैं, 'भाषा को अकारण कठिन या दुरूह नहीं बनाना चाहिए । परन्तु सकारण ऐसा करने में कोई दोष नहीं ।'

'त्रेता का वृहत् साम' निबंध-संग्रह में उन्होंने वाल्मीकि की रामायण के संबंध में लिखे गये छः निबंधों में एक नयी उद्भावना का प्रतिपादन किया है कि 'रामायण वस्तुतः एक सविता प्रधान महाकाव्य है ।' उनकी यह स्थापना अद्भुत और अपूर्व है जो उनके गहन अध्ययन-मनन-चिन्तन का ज्वलंत प्रमाण है । वे कहते हैं– 'रामकथा एक अभय हस्त रचती है प्रत्येक भारतीय के लिए । इस अभय हस्त का मर्म व्यक्त करते हैं सूर्य के वे व्यापार जो ऋत-चक्र के प्रतीक हैं । प्रकृति में जिसे ऋत कहते हैं, मनुष्य-समाज में वहीं चीज या उसी के समानांतर तथ्य है 'शील' या

'धर्म' । 'शील' शब्द का अर्थ स्वभाव और सहज धर्म तो होता ही है, मनुष्य के द्वारा वरण किये गये वे सारे नैतिक व्यापार भी इसके अन्तर्गत आ जाते हैं जिन्हें पौराणिक संस्कृति 'धर्म' की संज्ञा देती है । वस्तुतः 'शील' और 'धर्म तो जाते हैं जिन्हें पौराणिक संस्कृति 'धर्म' की संज्ञा देती है । वस्तुतः 'शील' और 'धर्म' व्यवहारतः एकार्थक हैं ।

अपने निबंध-संग्रह 'कामधेनु' की भूमिका में एक स्थान पर वे कहते हैं– 'कामधेनु' का दावा या सामने आने की युक्ति इसी आधार पर है कि यह साहित्य के मूल धर्म से जुड़ी हुई रचना है और इस मूलधर्म के एक कोण, पाठक की 'मानसिक ऋद्धि' से यह प्रत्यक्षभाव से जुड़ी है । निबंध या प्रबंध का लक्ष्य ही होता है पाठक की चेतना को समृद्ध करना, उसे 'मानसिक ऋद्धि' प्रदान करना । ....तो भी इस कार्य के लिए मुझे यदि अकारण ही असम्मान मिलता है तो इसे विशुद्ध 'स्वदेशी' व्यवहार मानकर माथे से लगाने के लिए प्रस्तुत हूँ ।'

कुबेरजी का निबंध-संग्रह 'उत्तर कुरु' अपने निबंधों के द्वारा लेखक की नृतत्व शास्त्र, पुरातत्व, भाषा शास्त्र, प्राचीन संस्कृत साहित्य और लोकायत धर्म के गंभीर अध्ययन की धैर्यशाली एवं मौलिक वृत्ति का प्रमाण है । वे स्वयं कहते हैं–'इन ललित निबंधों का उद्देश्य अपने साहित्य और लोक धर्म की मूल शक्ति की ओर संकेत कर देना भी रहा है ।'

'मराल' निबंध संग्रह के अधिकांश निबंध अपने में शब्दों और भावों के खण्ड काव्य हैं ।

अरे! मैं कहाँ खो गया ! पुनः अपनी बात पर आता हूँ कि, कुबेरनाथ राय को भारत, भारतीयता, संस्कृति-कार्य, साहित्य, भाषा, राजनीति की चिन्ता तो प्राथमिक रूप से थी ही किन्तु इसके साथ ही उनकी यह चिन्ता पूरे विश्व के लिये थी । वे सम्पूर्ण विश्व को एक हृदय देखना चाहते थे । इसीलिए वे अपने धर्म का स्वाभिमान रखते हुए भी, अन्य धर्मों की खूबियों के भी प्रशंसक थे ।

कुबेरनाथ का सारा लेखन सोद्देश्य है । वे 'कला केवल कला के लिए' इस मान्यता के विरुद्ध थे । वे जिन विचारों या मान्यताओं को ठीक नहीं समझते थे, दृढ़तापूर्वक उनका विरोध अपने लेखन में करते थे । स्वाभिमान, आत्मविश्वास और अनासक्ति उनके प्रत्येक वाक्य से प्रकट होती है । फिर भी आत्मश्लाघा या स्वप्रचार से वे कोसों दूर थे । इसीलिए आधुनिक समीक्षकों ने उन्हें हाशिये पर ही छोड़ रखा है ।

किन्तु फिर भी उनके गंभीर, शालीन और रंजक लेखन को अपने आप-पाठकों के द्वारा–साहित्य मर्मज्ञों द्वारा–उचित प्रतिष्ठा तो मिली ही ।

●

निबन्धको मिली नयी भंगिमा

डॉ. श्रद्धानन्द

महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

कुबेरनाथ राय हिन्दी के उन लेखकों में है जिन्होंने सच्चे अर्थों में निबंध कहे जाने वाले व्यक्ति व्यंजक निबंधको पूरे मनोयोग एवं ऐकान्तिक निष्ठाके साथ स्वीकार किया। गद्यकी इस सशक्त विधा की व्यक्तिनिष्ठतामें वह अपूर्व क्षमता है जिसमें रचनाकार स्ववंधता के द्वारा अपनी रागात्मिका वृत्तिका विचार एवं भाव के धरातल पर सहज एवं विराट उच्छलन कर पाठकके ज्ञानात्मक संवेदनाको उद्भासित करता है। जिसमें पाठकको जीवनकी गत्यात्मकता एवं रम्यता से साक्षात्कार कराने, जीवन मूल्योंसे बांधने, सांस्कृतिक तत्वोंसे संस्पर्शित कराने, मूल्यगत मीठा आक्रोश सृजित करने, व्यक्ति एवं समाजका मध्यस्थ ही नहीं, निर्णायक बनाने तथा लोक मंगल की संकल्पना रचने की अद्भुत क्षमता होती है। गद्यकी अन्य विधाओं की अपेक्षा इसमें कविता जीती है। यही कारण है गद्य की कसौटी कही जाने वाली इस विधा में वे व्यक्तिव्यंजक निबंधों की सतत रचनाकर साहित्य जीवन तथा मानवीय मूल्यको तलाशते और प्रतिष्ठापित करते रहे।

आधुनिक हिन्दी निबंध साहित्य को नयी दिशा तथा समृद्ध करने वाले आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के स्कूलके निबंधकारों में कुबेरनाथ राय का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनके 'प्रिया नीलकंठी' को निबंधके क्षेत्र में एक विशेष घटनाके रूपमें लोगोंने माना। कुबेरनाथ राय द्विवेदीसे पूर्ण रूप से प्रभावति होते हुए भी निबंधों को नयी भंगिमा प्रदान करनेके लिए प्रयत्नशील रहे जिसमें वे सफल भी रहे। वे हजारी प्रसाद द्विवेदी के इतिहासबोध की अपेक्षा सांस्कृतिक बोधसे अधिक जुड़े रहे। व्यक्तिव्यंजक निबंधकारों की शब्दखोजी प्रवृत्ति जातीय संवेदनाको ध्यान में रखकर जितनी द्विवेदी जी की रही, वह अन्य निबंधकारों में उतनी नहीं फली-फूली जितनी कि कुबेरनाथ रायके निबंधोंमें। इसी शब्द खोजी प्रवृत्तिके कारण इनके बहुतसे निबंध व्युत्पत्तिकोश बन गये हैं। जो विविध प्रसंगोंको लेकर उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण के परिचायक हैं।

कुबेरनाथ राय के व्यक्ति व्यंजक निबंध भारतीय सांस्कृतिक चेतना की धरोहर हैं। उनके सांस्कृतिक संदर्भों में जीवनके उतार-चढ़ावकी व्याख्या ही नहीं हुईहै अपितु जीवन के नव्य अर्थों के अंकुर का प्रस्फुटन भी हुआ है। जिसमें कड़ुवाहट भी

है और मिठास भी क्योंकि रचनाकार को 'स्व' की चिन्ता नहीं बल्कि समूहकी चिन्ता है । व्यष्टिमें समष्टि का सोच ही भारतीय चिन्तन का प्राण तत्व है । उनके निबंधोंमें भारतीय मनीषा जीवन्त हो उठी है । उन्होंने भारतीय चिन्तनको व्यापक एवं बहुमुखी बनानेका स्तुत्य प्रयास किया है ।

व्यक्तिव्यंजक निबंधकार कुबेरनाथ राय की संवेदनशीलता राष्ट्रीय चेतना से संपृक्त सामाजिकता है । इनके निबंधोंमें 'अहं भारतोऽस्मि' उद्घाटित हुआ है चाहे क्रोध के रूपमें हो या अंतरके हाहाकारके रूपमें ।

कुबेरनाथ रायके व्यक्ति व्यंजक निबंध गंगातीरी लोक संस्कृति संपृक्त है । उन्होंने निबंध-संग्रह 'निषाद बांसुरी' को तो गंगातीरी लोक संस्कृति की चित्रशाला तक कह दिया है । सांस्कृतिक पक्षोंकी प्रस्तुतिमें उनकी दृष्टिगवेषणात्मक एवं आलोचनात्मक रही है । आर्य एवं अनार्य संस्कृति के सन्दर्भ में उनकी दृष्टि व्यापक फलक पर उदात्तताके साथ पुनीत एवं मंगल आक्रोशसे युक्त रही है ।

लोकसंस्कृति एवं आभिजात्य संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए उनकी मान्यता रही है कि दोनों को मिलाकर ही आधुनिक संदर्भोंमें भारतीयता की खोज हो सकती है । उन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्थासे उत्पन्न राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि अव्यवस्था को व्यवस्थित करनेका पुनीत भाव संजोकर मानवीयता का पोषण किया है । इस पोषणमें ज्ञान संदर्भों का बहुत मात्रा में प्रयोग किया गया है । इनके व्यक्ति व्यंजक निबंध संदर्भकोश बन पड़े हैं । यही कारण है कि इनकी भावात्मक संवेदना पर ज्ञानात्मक संवेदना हावी है ।

इनके निबंधोंके केन्द्रमें प्रकृति की चिरन्तनता भी है । लोकचेतनाके कारण इनके निबंधों में वृक्ष, नदी आदि औपनिषदिक सारतत्वको निर्दिष्ट करते हैं । पाठकको आलौकिक भाव भूमि पर ले जाते है परंतु यह अलौकिकता जीवनसे पलायन का संदेश नहीं अपितु जीवन संदर्भोंमें लोकतत्व के विलयनके द्वारा जीवनराग का संदेश देती है । वे सर्वत्र वैयक्तिक रागबंधोको तोड़ कर वड़ी स्वच्छंदता और उन्मुक्तताके साथ ज्ञानके विविध लोकोंमें संचरण करते हैं ।

कुबेरनाथ राय निबंधोंमें पाठकों से आत्मीय संवादात्मक स्थिति बनाये रहते हैं । इस स्थिति के निर्माण में कहानी एवं संस्मरणों का समावेश करते हैं । निबंधों में सगी-संबंधी घटानाओं के द्वारा घरुपन पर आत्मीयता का विस्तार करते हैं ।

विषय प्रतिपादनमें वेद-पुराण, भूगोल, विज्ञान, ज्यामिति, ज्योतिष आदि अन्यान्य विषयों एवं देशी विदेशी विद्वानोंके कथनोंका शास्त्रीय आच्छादन अर्थगौरवके लिए करते हैं जो कभी-कभी इन्द्रजालीय जैसे हो गये हैं । निबंधों में उनके गहन अध्ययनका पाण्डित्य बढ़-चढ़कर बोलने लगता है । जो अपनी दुरूहता एवं शुष्कता

के कारण पाठकों पर कभी-कभी भारी पड़ने लगता हैं । वह ऊवने एवं थकने लगता है । उनके निबंधों के इस न्यून पक्ष तथा बौद्धिक व्यायामको साहित्य समीक्षामें काफी रेखांकित किया गया है ।

बौद्धिक व्यायाम की अपेक्षा वे निबंधों में बौद्धिक क्रीड़ा करते हैं । इस क्रीड़ा के द्वारा पाठकमें तात्कालिक जिज्ञासा को तो नहीं जगाते बल्कि 'स्व' की जिज्ञासा जिसे वे 'स्व' की नहीं अपितु समस्त रूप में लेते हैं, को विभिन्न संदर्भों में हल करते हैं । इस हलका परिणाम यह होता है कि पाठकों में निष्प्राणसे पड़े भाव जागते से हो जाते हैं । विचार वीथिका खुल जाते हैं । वर्तमान सामाजिक उतार चढ़ावमें जातीय संदर्भ नये मूल्य पाने लगते हैं । इन मूल्योंके प्रतिपक्ष खड़े हो सकते हैं परंतु सोच की एक नयी जमीन तैयार हो जाती है । सांस्कृतिक संदर्भोंमें भारतीय चिन्तनकी उदात्त व्याख्या करने की एक दिशा तैयार हो जाती है ।

कुबेरनाथ के व्यक्तिव्यंजक निबंध की भाषा-शैलीकी कारीगरी देखते ही वनती है । शब्द-चयनमें कंजूसी नहीं सदाशयता है । यद्यपि आंचलिक शव्दों के साथ उर्दू-फारसीके शब्दोंका भी उन्होंने प्रयोग किया है परंतु संस्कृतनिष्ठ शव्दावली पूरी तरहसे हावी है । निबंधों में काव्यात्मकताके गुण दृष्टिगोचर होते हैं । भारतीय उदात्त चिंतन की ललित प्रस्तुति करने वाले यशस्वी रचनाकार कुवेरनाथके व्यक्तिव्यंजक निबंध हिन्दी साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय वाङ्मय की अमूल्य निधि हैं ।

●

सूर्य की ऋचाएँ गाने वाला निबंधकार : कुबेरनाथ राय

डॉ. श्रीराम परिहार
हिन्दी-विभाग
नीलकंठेश्वर स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय
खण्डवा (म. प्र.)

कुबेरनाथ राय ने अपने निबंधों में सांस्कृतिक चिन्तन को सर्जन के स्तर पर जिया । बाहरी संसार की अराजकता को तोड़ने के लिए संस्कृति के ललितांश को औजार बनाया । पत्थर को काटने के लिए जलधार का इस्तेमाल किया । इस उपक्रम में देर जरूर लगती है, पर पत्थर को धारा काटती अवश्य है । कुबेरनाथ राय ने समय, मनुष्य और नैतिकता-सन्दर्भित प्रश्नों से जूझते हुए इनसे जुड़े उत्तरों की धरती के पक्ष में तलाश की है ।

भारतीय साहित्य के आस्थानपरक सन्दर्भों में जिस लालित्य की अन्तः सलिला का प्रवाह मिलता है, उसकी ठंडक की छुवन हिन्दी गद्य की ललित निवंध विधा में पूरी मरजाद के साथ हुई है । व्यक्ति की प्रतिभा और क्षमता का संसार के हित में प्रस्फुटन ही लालित्य है । बल्कि जीव मात्र या सृष्टि के तत्व-तत्व की क्षमता का प्रस्फुटन रचनात्मक स्तर पर होने से सृष्टि में उसके कर्म का सौन्दर्य निखरता है, वह ही लालित्य है । कुबेर नाथ राय ने इसी लालित्य तत्व की सर्जनात्मक तलाश और खंगाल अपने साहित्य में की है । बहुत व्यापक फलक पर उनकी यात्रा रेखांकित होती है । इस यात्रा में वे निरे भावुक नहीं हैं, निरंतर विचारात्मक सर्जनशीलता से नये मनुष्य और नये संसार का निर्माण करते हैं । उनका यह नया मनुष्य और नया संसार रस पुराने से ग्रहण करता है । प्रासंगिकता जैसे फालतू और उबाऊ विवादों के पचड़े में वे पड़े नहीं । एक रोशनी भरे दरिया को नंगे पांव पार करने की कोशिश की और सफल हुए ।

"प्रिया नीलकंठी" के निबंधों में कुबेरनाथ राय का रचनाकार अपनी धरती और मनुष्य के आसपास के सौन्दर्य के बचाव में चिन्तित था । यह रचना का शुरूआती दौर था । बाद के निबन्धों में यह चिन्ता सर्जनात्मक रचना-कर्म बन जाती है । प्रत्येक निबन्ध में वे अपनी सांस्कृतिक परम्परा के अंत पर क्षुब्ध होते हैं लेकिन तत्क्षण पूरी ताकत से उबरते भी हैं । मनुष्य की निराशा को उसके आत्ममोह से

उबरने और अपूरित को पूरित करने के अनुक्रम में रेखांकित करते हैं । इसीलिए कुबेरनाथ राय के निबंधों के केन्द्र में मनुष्य है । यह मनुष्य हजार मरण मरता है, और हजार जीवन जीता है । वह अंगार पर चढ़ती राख को झाड़कर पुनः आँच ग्रहण करता है । निबंधों के आरंभिक संसार से शुरू हुई यह यात्रा वैश्विक क्षितिज तक जाती है, विश्व-साहित्य तक जाती है । लेकिन कुबेरनाथ राय सम्पूर्ण निबंध-यात्रा में मनुष्य को स्वयं अपरिचित नहीं होने देते, बल्कि उसे अपनी वास्तविक पहचान दिलाने के लिए ही उसके वर्तमान में उगी हुई जड़गत सीमाओं को तोड़ते हैं ।·अपने जातीय अनुभवों में सम्पन्न, अपनी प्रतिक्रियाओं में प्रखर, अपने विचारों में जीवंत और अपनी स्पंदनशीलता में वसुधैव कुटुम्बकम् की प्रसरणशीलता लिये हुए कुबेरनाथ राय अपनी रचनाओं में आतुर-आकुल बंजारे की तरह चलते रहे । वे निबंधों में संस्कृति-सम्पन्न पूर्णतः स्वाधीन मनुष्य का स्वप्न साकार करते रहे ।

ललित्य केवल चाक्षुष नहीं होता । मात्र परिवेश का बाहरी सौंदर्य भी ललित्य नहीं होता । रचना के स्तर पर वाक्यगत या भाषा-शिल्पगत मसृणता अपने आसपास को मनभावन बनाती है । वह विचार या भाव जो अनुभूति को रचनात्मकता के स्तर तक ले जाकर निर्झर के रूप में निःसृत करता है । वृन्त पर फूल का खिलना या धरती पर नदी का बहना सौन्दर्य का कारक हो सकता है, परन्तु ललित तो इनके संदर्भ तब होंगे, जब फूल की पंखुरियों के रंग और पराग-कणों की सुगंध से पूरा मौसम जिजीविषा से भर जाए । नदी का सौन्दर्य ललित तब होगा जब उसके जल की शीतलता जीव मात्र के अंतर-बाहर की तपन बुझाने और धरती के सूखेपन को हरियाली देने हेतु धार-धार बहती हो । कर्म का सौन्दर्य ललित का कारक और प्रसारक होता है । कुबेरनाथ राय का साहित्य मनुष्य और भारतीय संस्कृति के इसी बीज तत्व और कर्म-सौन्दर्य की गहरी चैतसिक ऊर्जा–सम्पन्न आनुभूतिक काव्यमय अभिव्यक्ति है ।

कुबेरनाथ राय के रचनाकार का "नीलकंठ उदास" है । यह पाखी गंगा से ब्रह्मपुत्र तक का विकल चक्कर काटने वाले डैनों को बंद करके कुछ गुन रहा है । प्रार्थना कर रहा है । यह उदास है, क्योंकि सृष्टि की निर्मलता काली पड़ती जा रही है । सृष्टि के दुःख की कातरता को नीलकंठ अपने भीतर करुण कथा की तरह छुपाये बैठा है । उसके भीतर मोती के दाने की तरह पलती यह कान्त कथा ललित निबंधों की अमराई बनकर साहित्य की धरती पर हरियाई है । राय एक गंभीरतर दुःख की अनुभूति करते हैं । दुःख के भीतर से ही जीवन का बीज तलाशते हैं । उनके निबंधों में व्याप्त दुःख दो मीटर रेशम या मखमल न पाने का नहीं है, दाल रोटी न जुटा पाने का नहीं है । उनके दुःख का चेहरा सार्वकालिक और सार्वभौमिक

है । मनुष्य के "ऋत" में, उसकी निर्मलता में घाव हो जाने का दुख है । इसमें से ही वे जीवन और जन्म के उत्सव के प्रारम्भिक स्वप्न बिन्दु देखते हैं ।

पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी विषय के सूत्रों को पुराआख्यानकों से जोड़कर उसे वर्तमान की चिन्तना देते हैं । संस्कृति और सांस्कृतिक अवधारणाओं की पुनर्व्याख्या वर्तमान सन्दर्भों में वे ललित निबंधों में करते हैं । द्विवेदी जी हमारी सांस्कृतिक जीवन विधि को शंख रूप में पाते है और उसे अपनी ललित चिन्तना-शैली से चूर्ण बनाकर वर्तमान के अनुरूप नया शंख बनाते हैं । उसमें नये जीवन-निनाद की ध्वन्यात्मकता और अनुगूंज भरते हैं । प्रकृति और जीवन के रिश्ते वहां प्रकृत और संस्कारित रूप में होते हुए भी एक नवीन उजास भूमि पर खड़े हैं । कुबेरनाथ राय के निबंध अपने विषयों में धरती पर पसरी उन वस्तुओं के बीच जाते हैं, जिनसे व्यक्तित्व-वृक्ष खड़ा होता है । जहां से वह वृक्ष रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श की ताकत ग्रहण करता है । वे किसी भी विषय पर बात शुरू करें, उनकी भाव-विचारधारा दो दिशाओं को स्पर्श करती है –एक तो भारतीय साहित्य के उस पुरा काल से सूत्र तलाशती है, जिन गलियों की रोशन पीठिकाओं पर उन सूत्रों का निर्माण हुआ है और दूसरी महत्वपूर्ण दिशा है जहाँ लोक की मौलिकता से सीधे सुगंध प्राप्त होती है । यह सुगन्ध भारत की खाँटी धरती की है ।

कुबेरनाथ राय सूर्य की ऋचाएँ गाने वाले रचनाकार हैं । सूरज के ताप की गरमाहट उनके निबंधों में है । ज्योति का आराधक यह देश, उनके निबंधों में अपनी संपूर्णता में वर्णित हुआ है । मोटे तौर पर इस देश का भूगोल और उसका रेखांकन भले ही न हो पर विशेष बात यह कि निबंधों में शब्द की सत्ता उन तत्वों को बराबर पूरी अस्मिता के साथ साहित्यारूढ़ कर रही है, जिनसे इस देश का भूगोल बना है, प्रकृति बनी है, जीवन बना है, परम्पराओं और माटीगंधी अवधारणाओं से लोक संस्कृति बनी है ।

इतिहास की समझ और परम्परा-बोध में कुबेरनाथ कहीं गाफिल नहीं हैं । वृहत्तर भारत का इतिहास और उस इतिहास में फैला भारतीय लोक-समुद्र पार तक के मणि और शैवाल द्वीपों की प्रशान्त कथाएँ सुनते हैं । भारतवर्ष के अस्मिता-पुरुष के विस्तार का मूक दिक् उपस्थित किया है । भारतीय इतिहास के क्षीर-सागर में लहरों से बाहुयुद्ध करती मानव की जिजीविषा की चमक दिखाई देती है । उनके निबन्धों में अतीत के इस बोध को सम्मोहन या "नास्टेज्जिया" की संज्ञा नहीं दी जा सकती । यह स्मृति के माध्यम से उन अवशेषों की खोज है, जो हमसे दूर छिटक गये हैं, और आज भी हमारे लिए बेहद जरूरी हैं । सिमोन वेल कहता है "मनुष्य की आत्मा की जरूरतों में अतीत की जरूरत सबसे अधिक शक्तिशाली है ।" व्यक्ति

के पास का जब सब कुछ लुट जाता है, जीवन रस को नया बनाने के वर्तमान की मौत हो जाती है, तब हम अपनी स्मृति और परम्पराओं में संचित अतीत से रस ग्रहण करते हैं । उस अतीत को आत्मसात करवे नया जीवन शुरू करते हैं । भारत वर्ष के माथे की चिन्तामणि खो गयी है । नयी और वर्तमान में युगानुरूप पहचान बनाने के लिए कच्चा माल तो अतीत से ही लेना होगा । कुबेरनाथ राय सर्जन की नयी प्रक्रिया के स्रोत-रूप में ही अतीत-बोध को निबंधों में ललित प्रस्तुति देतें हैं । लेखक के "मन पवन की नौका" ने दिक्-काल की राशि-राशि फैली. लहरियों पर संतरण किया है ।

परम्पराएँ बंधन नहीं, विकास की शक्तिशाली स्रोत हैं । परम्पराएँ वे जो अपने समृद्ध अनुभव संसार के खजाने से जीवन को आत्मावरण देती है । ललित निबन्ध के संस्कृति-पुरुष विद्यानिवास मिश्र जीवन को परम्परा संदर्भित संस्कृति के बीच अखण्ड रूप में देखते हैं । उसे पूर्णता में तलाशते हैं । कुबेरनाथ राय अपने ललित निबन्धों में इन्हीं परम्पराओं के जल की सतह की काई को हटाते हुए उनके तल तक जाते हैं । कमल नाल को पकड़कर सृष्टि-पुरूष की नाभि तक जाते हैं । एक गहराई के भीतर आकुल-अकुलाहट निबंधों की भीतरी तहों में घुमड़ती रहती है । उस आलोड़न में वे शंख-सीपी और मूँगे-मोती लेकर लौटते हैं । उत्स की खोज के परिणाम में एक अनुभव से खचाखच और रमणीय यात्रा के साथ-साथ स्वयं की क्षमता-ग्रहणशीलता का मूल्यांकन भी होता है । इसलिए कुबेरनाथ राय के निबंधों में हम स्वयं को जांचते भी हैं । आत्मावलोकन और आत्मपरीक्षण के क्षणों से साक्षात्कार भी करते हैं । अपने बोध को उधर मोड़ते हैं, जहां से उसे असली ताकत मिल रही है । विडम्बना यह कि हम अपने बोध में उस केन्द्र को ही भूले बैठे हैं । ये निबंध हमें उस ओर जाने हेतु एक धक्का देते हैं जिधर से मनुष्य और सृष्टि की पवित्र आवाज की प्रतिध्वनियां आ रही हैं ।

कुबेरनाथ राय मनुष्य के मर्मशील, संवेदनमय और मूल्यवान अनुभवों की सहेज करते हैं जिन मूल्यों के बिना मनुष्य आत्महीन है । आहत कुररी की भांति उसकी चीख आकाश के शून्य को चीरती रहती है । वे उस चीख में कान्त करुणा और सरल आशा की मर्मान्तक पीड़ा बोध का अहसास करते हैं, कराते हैं । मनुष्य के महत्वपूर्ण मूल्य उसकी जातीय परम्परा में और जीवन-विधि में बिखरे पड़े हैं । वे मृगशिरा, आर्द्रा, स्वाति नक्षत्रों के बहाने हमारे इन्हीं धरतीस्पर्शित मूल्यों की निष्ठाओं को दृश्यता देते हैं । समूची भारतीयता को अखंडित सत्य की तरह स्वीकार करते हैं । खेतिहर और नदियों की पापहरा संस्कृति के मानचित्र में वे वार-बार वैश्विक चेतना के रंग भरते हैं । मनुष्य को लेकर उनमें एक अखण्ड-बोध

लहराता रहता है । गंगा और मिसीसिपी तथा वोल्गा के जल और इनके किनारों की धरती की मसृणता और उर्वरता में भी वे बहुत विशेष भेदक दृष्टि नहीं रखते । उन्हें एतराज है नदी के जल और धरती की मिट्टी के उपयोग के तरीकों से । मनुष्य यदि दमित और बांझ इच्छाओं के साथ इनका उपयोग करता है तो परिणाम भी शून्य ही निकलेगा । इसलिये मनुष्य को इनसे वह संबंध बनाना है, जो उसने नियमों की बजाय निष्ठाओं से खींचे हैं । मनुष्य और प्रकृति के रिश्तों के संदर्भ में उनके निबंध दर्शन की भाषा नहीं बोलते । ये रिश्ते लोक व्यवहार और मनुष्य के अपने देश की जातीय परम्पराओं में अभिव्यक्त हुए हैं । ऋतुओं, पर्ण मुकुटों, निषाद अवधारणों, वंशी-रव, किसान-संस्कृति और दिवा-रात्रि के चढ़ते-ढलते प्रहरों में प्रकृति और पुरूष को साथ-साथ चलते, गलबाहियाँ डाले बतियाते लेखक ने सुना है, देखा है ।

मिथकों की उज्ज्वलता में से कुबेरनाथ राय निबंधों के कथ्य को स्वायत्तता देते हैं । एक दुर्गम, अंतहीन और यातनामय समय की चुनौतियों को स्वीकारते हुए उनके हल मिथकों की उज्ज्वल चरित्रावली में पाते हैं । राम, कृष्ण, या वेद, इतिहास, पुराण का कोई मिथक उनके पास आकर केवल प्राचीन जंग लगी पर्तों वाली कथा भर नहीं रह जाता, बल्कि वह वर्तमान के मानुष को विटामिन देता है । एक तार्किक परिणति देते हुए मनुष्य को मूलगामी अर्थ में नैतिक बनाता है । यह नैतिकता धार्मिक किस्म की न होकर, मनुष्य को धरती के विशुद्ध विवेकशील जीवंत जीव के रूप में परिभाषित करने वाली होती हैं । "चण्डीथान का नीम" हो या "सनातम" "नीम" या फिर बरगद, पीपल, ये निबंधों में सिर्फ वृक्ष भर नहीं हैं । एक-एक वृक्ष के पास लोक-विश्वासों और लोक-शक्तियों का अपरिमित खज़ाना है । निबंधकार इस दृष्टि से मनुष्य के साथ-साथ उसके समूचे युग और मनुष्य की जातीयता को अखण्ड देखता है । यह सब लेखक ने ललित निबन्धों में अद्‌भुत सन्तुलन के क्षणों के सर्जन के स्तर पर किया है ।

ललित निबंध साहित्य में कुबेरनाथ राय की भाषा दूर्वादल की महनीयता और मसृणता लिये हुए है । इतनी अर्थगर्भी भाषा अभी तक हमारे पास दूसरे ललित निबंधकार की नहीं है । उनकी भाषा हमसे, पाठक से अनुभूति का साझा, विवेकशीलता और गंभीरता के स्तर से नीचे उतरकर करना पसंद नहीं करती है । यह भाषा साहित्य का विश्वास, मनुष्य का विवेक और शब्द की गरिमा प्रतिष्ठित करती हैं । वे अपनी कहन और बनक में अकेले हैं, सिर्फ अकेले ।

●

गंधमादन का प्रतिवेशी

डॉ. कन्हैया सिंह
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय आजमगढ़

गंधमादन पर्वत पर सुगंधित तरु-गुल्मों पर गुंजार करने वाले भ्रमर तो होंगे ही, देव-प्राप्त उस सुगंधि के सहचर इन भँवरों का प्रतिवेशी कोई कवि, कलाकार या ललित रचनाकार ही हो सकता है । देवकक्षा में कुबेर का अपना ही स्थान है । समृद्धि, वैभव और संपदा का स्वामी कुबेर, संभव है गंधमादन की महक से बीतराग हो । संभव है देवबालाओं के ललित-कलित तारुण्य के मोहन आकर्षण, उनके नूपुरों की मादक झंकृति, उनकी तन्वंगी लता सी लचकने वाली देहयष्टि और विश्वामित्र के रुक्ष, कठोर, पाषाण-हृदय को भी पानी-पानी करने वाले उनके कटाक्ष-पात से धनाध्यक्ष कुबेर अलग-थलग अपने बही-खाते और खजाने की थैली संभालने में ही व्यस्त हों । उन्हें कल्प-नदी के कल-कल को सुनने की फुर्सत कहाँ? उसमें हाथ डालकर वांछित फल-प्राप्ति की न उन्हें जरूरत है और न कामना । पास में कल्पवृक्ष जैसी नित्य सुहागवती वनस्पति है । यह भी ध्वनि गुंजरित मनोरम तरुअभिमत फल का दाता है । पर कुबेर इच्छा-तृप्त हैं । पूर्णकाम हैं । वही कामधेनु भी हैं उन्हीं गुणों से मंडित, समुद्र-मंथन से निःसृत एक रत्न । उसका रँभाना कुबेर ने सुना या नहीं । उसने उनके तन-मन के आहत क्षणों को सहलाया या नहीं, यह ज्ञात नहीं है । पर हमारे बीच में जो 'कुबेर' थे या अपने कृतित्व में आज भी हैं, वे इन सारे रसों के स्वप्नजीवी भोक्ता और अपने भावलोक की नयी सृष्टि से 'सरग' को धरती पर उतारने वाले ललित रचनाकार थे ।

जो कल्पना की नदी है, जो कल्पना का पेड़ है और कल्पना की गाय है, उसे जीवन के यथार्थ में परिभाषित करने वाले भावों के कुबेर स्वयं एक यथार्थलोक के प्राणी थे । मेरे ही आग्रह पर ६-७ वर्ष पूर्व मऊ नगर में पूर्वांचल हिन्दी परिषद के अधिवेशन में वे जबरन लाए गये थे, मेरे मित्र डॉ. मान्धाता राय द्वारा । डॉ. राय ने परिचय कराया - 'ये हैं कुबेरनाथ राय ।' साधारण खादी की धोती, कुर्त्ता और खादी-भंडार वाली रुक्ष मंकी कैप । सहज ही विश्वास नहीं हुआ कि ये वही हैं । फिर ध्यान आया कि यह आदमी तो जो जीता है, वही लिखता है । इसकी निबंध पंक्तियाँ इसके व्यक्तित्व में चरितार्थ हैं । जब वह गाय और गांधी को अपना आदर्श मानता है तो उसे गाय और गांधी की 'शान्ति, निष्कपटता, विनय, सेवाधर्म, महिमा और त्याग का वरण करना ही होगा ।' वह स्वयं स्वीकारता है: "यह (गाय) मुझे मूर्तिमान वैष्णवता या गांधीवाद लगती है । नेताओं में गांधी, किताबों में रामचरितमानस, वनस्पतियों में हरी-हरी दूब, पशुओं में गाय, रसों में करुण-रस, ये सब मुझे एक ही किस्म के भाव-संकुल या बोध प्रदान करते हैं ।" वे बाहर-भीतर

दोनों से गांधीवादी थे । विराट् के विश्वासी, अपनी धरती के प्रति संपूर्ण निष्ठावान, किसान के सहोदर-सहचर, निरभिमानी, निष्कामकर्मयोगी, भारतीय संस्कृति के अनन्य भक्त और उसके ललित मनोहर-व्याख्याता निबंधकार कुबेरनाथ राय के लेख उनके जीवन-रस से प्लावित, उनके विचारों की भट्ठी के परिपक्व रसामृत से वेष्ठित और भावों के आकाशलोक में पहुंचकर स्वानुभूति के मेघ से निर्झरित 'अक्षर' हैं ।

कुबेर आभूषणों से अलंकृत उन्नतोदर विशाल वपु देवता हैं । और कुबेरनाथ अतिसाधारण आदमी और रोग-जर्जर वपुके इंसान । पर कुबेर की गति जहाँ नहीं हो सकी, वहाँ तक कुबेरनाथ पहुंच गये । गंधमादन के निकट, कल्प के तट के वासी, कल्पवृक्ष के छाया-सहचर और कामधेनु के समीप रहकर कुबेर उनकी गंध, प्रवाह, सघनता और अमृतपय से वंचित ही रहे, पर कुबेरनाथ ने अपने मानस लोक में इनको भोगा और उस भोग को हमारे जैसे शुष्क जीवों को परसकर हमारा उपकार किया । जायसी ने ऐसे ही रस-गंध-प्रेमी रसिकों के लिए कहा :

भँवर आइ बनखंड ते लेइ कवँल पर बास ।
दादुर बास न पावई भलेहि सो आसहि पास ॥

भारतीय वाङ्मय के सहस्रार कमल पर मँडराने वाले रसिक भ्रमर की तरह कवि कुबेरनाथ ने उसके स्वाद का छककर पान किया और उसे अपनी गुंजार के द्वारा लोक के लिए सुलभ भी किया । भारतीय संस्कृति के कामदुहा स्रोत का आलोड़न करके उन्होंने मधुसंचय किया है । समुद्रमंथन की भांति अपने अन्तर्मंथन से जो रत्न निकाले उससे हमारी प्रतीकाछन्न संस्कृति के तार-तार मुखर हो गये । वे लिखते हैं "मेरे माथे में ही मंदराचल है, वासुकि है, सौम्यकान्त मुख-छवि वाले देवता हैं और रक्तचक्षु कृष्णकाय असुर भी हैं । मेरे माथे में तो लगातार मंथन चालू है । रत्न पर रत्न, हलाहल पर हलाहल, मेरी भी उपलब्धियाँ है । शायद यह मंथन तव तक चलता रहेगा जब तक अमृत न मिल जाय । हो सकता है कि न भी मिले । हो सकता है कि मैं वारुणी या हलाहल का पान करके इतना विमत्त हो जाऊँ कि वह मंथन ही रुक जाय पर जिस कामधेनु की बात मैं कर रहा हूँ वह मानस-समुद्र की बेटी है और प्रत्येक मानस-समुद्र में यह एक अरुण रत्न की तरह स्थित है । इस धेनु के अस्तित्व का अनुभव तब होता है, जब मन समुद्र का आधार लेने लगता है ।"

कामधेनु के माध्यम से रचनाकार समस्त भारतीय साधना का निचोड़ प्रस्तुत करता है पर यह व्याख्या नहीं, मीमांसा नहीं, साधना का घनचक्कर नहीं, यह है शुद्ध रसोद्गार, भावोच्छल मानस तरंग जिसमें ज्ञान, भक्ति, योग तीनों के चरम लक्ष्य एक साथ रुपायित हैं । यह कामधेनु सब में है पर पहचान ले, वही इसका रस ले सकता है, "कामधेनु अर्थात् इच्छाधेनु । यह धेनु खड़ी है, दिव्य अनुभवों की नाभि में, काल के उस विन्दु पर जहाँ इतिहास की इकाइयों का लोप हो जाता है । वह काल जो सर्ग के प्रस्थान विन्दु का भी समकालीन है और जो सारे भूत, भविष्य, वर्तमान का भी समकालीन काल है । इस काल के स्थिर शाश्वत बिन्दु पर पहुँचकर कुछ भी पाना असंभव नहीं रह जाता ।"

यह एक भावदशा है जो भक्त को भक्ति की पराकाष्ठा में, ज्ञानी को ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति में और योगी को साधना की चरमावस्था में प्राप्त होती है । किसी भी साधन से इस दशा को पाया जा सकता है । इसी दशा में पहुँचकर कबीर कहते

हैं–जिनको कछू न चाहिए सो साहन को साह' । तुलसी को इसी स्थिति में अनुभव होता है–'तथा मोंक्ष सुख सुनु खगराई । अनइच्छित आवै बरिआई ।।" इस भावदशा को कामधेनु और कल्प नदी के प्रतीकार्थ के रूप में लेते हुए कुबेरनाथ जी लिखते हैं: 'भावलोक का वह थल जहाँ कामधेनु खड़ी है, हमारे व्यक्तित्व की कोई सीमा नहीं, प्रत्येक व्यक्ति ही महाकाल का अंश हो जाता है, प्रत्येक व्यक्ति ही सर्ग के आदि विन्दु का समकालीन हो जाता है, उस काल के विन्दु पर एक नदी बहती है 'कामधुनी', या 'कल्प नदी' । उस मधुमती नदी में जो चाहो बस हाथ डालकर निकाल लो । वहाँ पर एक वृक्ष है– कल्पवृक्ष । उस उदार वृक्ष से जो चाहो हाथ बढ़ाकर तोड़ लो । वहाँ एक गाय है कामधेनु, उससे जो सुख, जो उपलब्धि चाहो दुह लो ।"

भावलोक की यह परमावस्था कपोल कल्पना नहीं है ।" कई चक्षुमान पुरुष इन्हें देख चुके हैं । जो मानस-जगत् का शिखर-विन्दु है, जो योगियों का शान्त विन्दु है, जो काल की नाभि है, जहाँ सात पग चलते हुए तथागत बुद्ध पहुँच गये थे और उन्होंने सबकों पुकारकर कहा था–'देखों मैं जगती के शिखर पर खड़ा हूँ ।' वही है सृष्टि की नाभि ।——अतः कामधेनु स्थिति है इसी मानस लोक के शिखर विन्दु पर–ब्रह्मान्ध्र में शांत विन्दु में । वस्तुतः इसके निकट तो योगी जन ही जा पाते हैं, परन्तु इसके परिवेश में यानी शिखर के उपकंठ में, गंधमादन वन में .... कविगण और उनके संगी-साथी भी चेष्टा करने पर विचरण कर लेते हैं ।" और ऐसे कवियों में कुबेरनाथ जी भी एक थे ।

यह निबंधकार भावुक भी है और विचारों के परिपक्व अमृत कलश का संवाहक भी है । उसके जीवन में राग का बड़ा स्थान है । वह रूप-रस का प्रेमी है, पर उसकी घोषणा है कि इस प्रेम में वह कहीं फिसलने से आजीवन बच ही गया था । भारतीय संस्कृति ने कभी काम का, राग और रीति का तिरस्कार नहीं किया । अपितु राग-विराग के समन्वय और उनके सहयोजन, समायोजन में पूर्ण जीवन को विकसित किया है ।

यदि हमारी संस्कृति में श्रृंगार, काम, रति की कोई वर्जना होती तो आदि कवि से लेकर कालिदास, भारवि, माघ आदि साहित्य और संस्कृति से बहिष्कृत हो जाते, पर ऐसा नहीं हुआ । कुबेरनाथ जी का मत है कि रचना में रति-चक्र के खंडित होने की वेदना तो व्यक्त होती है, पर वह सहज वेदना है । ऋत्-चक्र के खंडित होने की वेदना चरम वेदना है । अतः ऋतू-चक्र के खंडित न होने की दिशा इंगित करने वाली रचना वस्तुतः शाश्वत महत्व की रचना होती है, पर रति-चक्र की परिधि में घूमने वाली रचना का भी अपना विशिष्ट महत्व है ।

कुबेरनाथ राय ने अपने ललित निबंधों में भारतीय संस्कृति के तार-तार को ढूँढ कर सजाया है और तारों के योग से अपनी संस्कृति का एक मनोरम चित्र प्रस्तुत किया है । जब वे अपने निबंध में सहज ही कहते हैं– 'यह जाति प्रत्येक कर्म के पूर्व स्नान करतीहै और प्रत्येक कर्म के पीछे दार्शनिक युक्ति खोजती है, तो हिन्दुओं की शौच और अध्यात्म की आस्था को प्रकट करते हैं । स्नान तो बहुत

प्रकार के होते हैं, पर काशी के दशाश्वमेध घाट के भीड़ भरे स्नान में उनका मन ज्यादा ही रमता है । उन्हीं के शब्दों में "हड़कम्प और हुड़दंग भरा स्नानोत्सव । लगता है सहस्रशीर्ष शिव ही उतर आये हैं स्नान करने,......विदेशी यात्रियों को भले ही यह भयानक और वीभत्स लगे, परन्तु मुझे तो वीर रस ही जो शान्त का सहोदर है, इसमें दिखाई देता है । मैं हिन्दू हूँ और हिन्दू में भी सोमताती (सोमनाथ का उपासक) ।

भीड़ भरे पर्व पर स्नान का उनका अनुभव एक आस्तिक भारतीय मन का अनुभव है जिसमें 'संगच्छध्वं, संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्' की भावना भी है और अपनी संस्कृति के प्रतीकों की साक्षात् अनुभूति भी–"हजार-हजार के बीच स्नान करते हुए मुझे लगता है कि मैं ही हजार-हजार होकर स्नान कर रहा हूँ, मैं ही सहस्रशीर्ष हो गया हूँ ।....मैं कभी उज्जयिनी में स्थित हो जाता हूँ, कभी रामेश्वरम् तट पर और कभी देवगिरी पर । कभी कोई प्रेमिका, कभी कोई गुरु, कभी कोई कवि मेरा हाथ पकड़ मुझे ले चलते हैं, उस मानव-वर्जित अनुभव-लोक में ।"

भारतीय संस्कृति की उनकी समझ बड़ी ही समावेशी है । वे जानते हैं कि आर्य, द्रविड़, निषाद और किरात सभी के समावेश से इस पावन संस्कृति की गंगाधारा का निर्माण हुआ है । उनके अनुसार "आर्यों की अग्निउपासना अर्थात् यज्ञ का रूपान्तर हुआ हवन । निषादों और द्रविड़ों का स्नान प्रेम बना तीर्थ, द्रविड़ों की भाव-साधना बनी कीर्तन या भजन और आर्यों की चिन्ताशीलता बनी दर्शन । इस प्रकार हवन-तीर्थ-कीर्तन-दर्शन के चार पहियों पर हिन्दू धर्म की वैलगाड़ी चल पड़ी और चलती रहेगी निरन्तर ।" इतना आत्मविश्वास है इस ललित निबंधकार के मन में हिन्दू धर्म की यह बैलगाड़ी निरन्तर चलती रहेगी क्योंकि "लम्बी बंद श्मशान जैसी कि उदास भयावह मालगाड़ी की अपेक्षा गुलजार, मनसायन और सजीव बैलगाड़ी ईश्वर और मनुष्य के अधिक निकट लगती है ।" आज का विश्व, हिन्दू धर्म की इस सहजता, प्रकृति की निकटता, मानव प्रेम की भावना और ईश्वर में आस्था के प्रति कायल है ।

हिन्दू-संस्कृति का एक तत्त्व है–संतोषवृत्ति । राग में भी यही केन्द्र बिन्दु है और विराग में भी । अपने निबंध' महाश्रमण –'इतना विराग असह्य है', में वे धनियगोप (धन्नी अहीर) के बारे में लिखते हैं–धनिय गोप के पास वह सब कुछ है जो एक हिन्दुस्तानी मन का स्वर्ग रचता है । उस स्वर्ग को कालांतर में एक कवि ने परिभाषित किया है, अरहर की दाल, जड़हन का मीठा भात, सरस नीबू और ताजी 'सजाव' दही के साथ एक महत्वपूर्ण शर्त बाँके नयन परोसे जो ।' बुद्ध और धनिय गोप के संवाद में धनिय कहता है–" भिक्षु, मेरे पास न चूने वाली मड़ैया है, गोले में धान भरा है, दुधारू गायें हैं, उनके लिए पर्याप्त चारा है, आज्ञाकारिणी धरनी (स्त्री) है, सुन्दर बच्चे हैं । भिक्षु मुझे न तो कोई चिन्ता है, न आर्ति है, न तृषा है ।" इसके उत्तर में बुद्ध का कथन है, "मैं क्रोध से मुक्त हूँ, खंडित मन या ग्रन्थि से मुक्त हूँ । खुला आकाश ही मेरा कुटीर है । सारी आग या मानस-ज्वालाएँ शान्त हैं ।" इस संवाद में गृहस्थ गोप अपने अल्प साधन से संतुष्ट है और वुद्ध

अपने अपरिग्रह या सर्वस्व त्याग से । हमारी संस्कृतिमें ये दोनों ही पक्ष है । श्रमण भी है, गृहस्थ भी है । पर दोनों ही संतुष्ट हैं । दोनों की ही तृषा शान्त है, आग शान्त है । यही आदर्श है । यथार्थ यदि इसके विपरीत है तो वह वर्ज्य है, वरेण्य नहीं ।

कवि-निबंधकार कुबेरनाथ राय कुंठाओं से मुक्त थे । अहं से रहित और शुद्ध ग्राम-संस्कृति के रस में रचे-बसे थे । गाँव उन्हें प्यारा था । सहजानन्द महाविद्यालय गाजीपुर में प्रिंसिपली करते हुए वे अपने गाँव पर ही निवास करते थे और लिखने के लिए गंगा-तट पर एक मचान (मंच) था, वहीं बैठकर निबंध रचते थे । उन्हें गंगा प्यारी थी, लहलहाते खेत गुदगुदाते थे, थिरकते वन्य वशु-पक्षी उनके भावों में थिरकन भरते थे । सब मिलाकर वे गाँव के किसान अधिक थे । शहरी मानुष की गंध उनमें प्रायः नहीं थी । तभी तो वे बेबाक कहते हैं: "मैं अमुक हूँ । अमुक किसान का लड़का हूँ और मेरी असल पहचान कवि-कलाकार न होकर किसान की है ।" यह तो रही उनकी पहचान की बात । उनकी निगाह में यही भारत और भारतीयता की भी पहचान है : "असल भारत है 'किसान भारत' । असली संस्कृति है किसान संस्कृति । किसान दाता है । वाकी सब या तो 'पवनी' हैं या नहीं तो चोर हैं ।" सचमुच आज अपनी संस्कृति का जो रूप मिलता है वह गाँव और किसान के यहाँ ही मिलता है । अन्यत्र तो हमने पश्चिम की संस्कृति को चुरा लिया और उसे ही अपनाकर हम 'सभ्य' और 'आधुनिक' (?) होने का ढोंग रच रहे हैं ।

निबंधकार कुबेरनाथ राय ने भारतीय और हिन्दुत्व की महासागरी गहराइयों में गोता लगाया है । इस सागर से उन्होंने बहुत से शब्द-रत्नों को निकाला है, उन्हें खराद पर चढ़ाकर तराशकर चमकाया है और उनमें वह आभा मंडित की है कि वे हमारे अतीत का दर्पण बनकर हमारे प्राग्वैदिक, वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, जैन से लेकर आज तक की हिन्दू-संस्कृति को आलोकित कर सकें । इस महान निबंधकार की विशेषता को एक शब्द में यदि व्यक्त करने को कहा जाय तो दावे के साथ कह सकता हूं कि वह शब्द है–'हिन्दू–त्व' । यह शब्द अपने पूर्ण वैभव, विस्तार और विशिष्टताओं के साथ उनके निबंधों में परस गया है । उसकी वैश्विकता, वैष्णवता, समावेशिता, समन्वयात्मकता, शुचिता और संतुष्टि सभी का समावेश इनमें मिलता है ।

●

"कुबेरनाथ राय को पढ़ते हुए"

डॉ. महेन्द्र नाथ राय
प्रोफेसर, हिन्दी–विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री कुबेरनाथ राय हिन्दी की ललित निबंध-परंपरा के सर्वमान्य विशिष्ट हस्ताक्षर हैं । उन्हें अतिविशिष्टता प्रदान करने में किसी नामवर आलोचक का वरदहस्त कभी नहीं रहा बल्कि इसे उन्होंने स्वयं के अध्यवसाय, तलस्पर्शी अध्ययन, चिंतन-मनन, सुचिंतित सांस्कृतिक अन्तर्दृष्टि, मूल्यपरक साहित्य विवेक आदि के माध्यम से अर्जित किया । उन्होंने संस्कृत और अंग्रेजी के मानक, आर्षग्रंथों को मूल रूप में पढ़ा था और इन्हें पढ़ते हुए उनके भाव जगत, अभिव्यक्ति सौष्ठव और प्रतिपाद्य का सर्जनात्मक स्तर पर मूल्यांकन किया था । साहित्य-समीक्षा के भारतीय और पाश्चात्य मानदण्डों की व्याप्ति और सीमा का उन्होंने आकलन किया था, विभिन्न मतवादों और विचारसरणियों की सर्वथा निजी ढंग से परीक्षा की थी । अंग्रेजी और हिन्दी साहित्य और समीक्षा में जो भी मूल्यवान और महत्वपूर्ण बनकर स्थिर हुआ, उस पर अपनी सार्थक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रायः सभी अहम् समकालीन सृजन एवं विश्लेषण को गंभीरता से लेते हुए उन पर अपनी टिप्पणियाँ की । उनकी ये टिप्पणियाँ उनके अधिकांश पुरस्कृत ललित एवं वैचारिक निबंध संग्रहों में हैं और ये उनके बहुपठित, अधीत सर्जनशील व्यक्तित्व का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं ।

इनके निबंध जहाँ एक ओर भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति के विलक्षण मिथकों का पुनरन्वेषण करते हैं वहीं दूसरी ओर सत्साहित्य के प्रतिमानों का निर्धारण भी । मार्क्सवादी विचार दृष्टि हो अथवा अस्तित्ववादी विचारधारा, दोनों का वे तात्विक विश्लेषण करते हैं और भारतीय साहित्य और संस्कृति के लिए इन्हें धनात्मक कम, ऋणात्मक ही अधिक पाते हैं । ऐसा पाने का कारण है–"मार्क्सवाद ने व्यक्ति की सत्ता अस्वीकृत कर दी और अस्तित्ववाद ने समुदाय की । दोनों ही ईश्वर की सत्ता से इन्कार करते हैं जो सनातन मूल्यों का आधार है । मार्क्सवाद एक नई आस्था की सृष्टि करता है–जन-शक्ति और इतिहास-चक्र पर आस्था । नास्तिक अस्तित्ववाद खुलेआम आस्था हीन है और मार्क्सवाद छिपे तौर पर । मार्क्सवाद के पास आस्था का आधार है तो सही पर वह आधार अभी तक जनसंस्कारों में प्रतिष्ठित नहीं हो सका–इसका कारण है रूसी और चीनी मार्क्सवादियों का चरित्र । विचार और कर्म

की एकता के बिना कोई सत्य प्रतिष्ठित नहीं हो सकता । भारतीय संदर्भ में वामपंथ अल्प परिश्रम से विपुल कीर्ति, धन, लाभ और क्षमता का राजमार्ग बन गया है । एक तरह का सुविधावाद बन गया है ।"मार्क्सवाद एक ऐसा विचारदर्शन है जिसने विश्वमनीषा को अपनी वैज्ञानिकता, तर्कप्रणाली और ऐतिहासिक समझ की प्रामाणिकता के कारण प्रेरित और प्रभावित किया है । भारतीय साहित्यकार और समाजशास्त्री उसके ऐतिहासिक और वैश्विक महत्व को बिना किसी द्विधा के स्वीकृति देते हैं । राय साहब की आपत्ति इस विचारदृष्टि से कम, इसे गलत ढंग से भुनाने वालों और उनके तरीकों से अधिक रही है । उन्हीं के शब्दों में "एक जमाने में मार्क्सवादी होना साहसपूर्ण अभियान था–आज वामपंथ का समर्थन सुविधावाद है । आज मार्क्सवाद सबसे बड़ा नाधर्मी जीवनदर्शन बन गया है । यह हमारे हाथों में रोटी बनकर आया था– पर बन गया है धारदार लौहचक्र ।...... भारतीय मार्क्सवादियों का मार्क्सवादी चिंता के विकास में क्या योगदान है, मुझे इसका उत्तर कहीं नहीं मिला ।...... शुद्ध बामपंथी तो अपनी बुद्धि गिरवी रख ही चुके हैं किंतु समाजवादियों से यह अपेक्षा थी कि वे मार्क्सवादी चिंतन का पुनर्परीक्षण करते ।" कुबेरनाथ राय के आरंभिक निबंधों की भावप्रवणता और लालित्यबोधीय चेतना युग के दबाव में उनके बाद के निबंध-संग्रहों में क्षोभ और आक्रोश में परिणत हों गई है । 'विषादयोग' तक आते-आते रसबोध का स्थान वैचारिक आक्रामकता ने ले लिया है । आकस्मिक नही है कि निबंधकार को श्रीमद्‌भागवत की भावभूमि से उतर कर महाभारत की 'विषादभूमि' पर अवस्थित होना पड़ा है और इस अधिष्ठान के आस-पास द्वन्द्व और द्विधा का साक्षात्कार करते-करते वे सामाजिक असंगतियों को तार-तार करने कीं साहसिक मुद्रा अपनाने से नहीं चूके । उन्होंने पूरे साहस के साथ मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद की सीमाओं का बेलाग ढंग से दिग्दर्शन कराया है । उन्होंने एक हद तक जोखिम उठाते हुए मौलिक अन्तर्दृष्टि–शून्य वामपंथियों को मर्कट वामपंथी तक कह दिया । कोई भी विचार दर्शन जो व्यक्तित्व के निजत्व, उसकी अस्मिता और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को ही जकड़ ले–निबंधकार के लिए कभी ग्राहय नहीं । सामाजिक असंगति, अन्याय-अनाचार का खुलकर प्रतिरोध न करने वाले अतिशय मिठबोल सर्वोदयवादियों की वह शैली भी उन्हें कभी नहीं भायी जिसमें किसी को सीधे भ्रष्ट न कहकर, साधारणीकृत भाषा को इस्तेमाल करते हुए 'भष्टाचार बुरा है' जैसा सूक्ति वाक्य प्रयुक्त कर सुविधा पा ली जाती है ।

अस्तित्ववाद और उसकी स्थापनाओं से उन्होंने अपनी भरपूर असहमति जताई जिसके पीछे उनका तर्क है–"इसमें प्रेम, सौन्दर्य बोध, करुणा, सहानुभूति आदि की एकांत रूप से उपेक्षा करते हुए भय को अत्यधिक महत्व दिया गया है ।" इसी तरह नवलेखन की सीमाओं और रिक्तियों पर भी रोशनी डालते हुए उन्होंने पाया–"आज हम कर्मोन्माद से पीड़ित हैं । कर्म-अपकर्म-हिंसा-बलात्कार–सभी हमें स्वादिष्ट लगते हैं । अभाव को सहन करने की मानसिक क्षमता हम खोते जा रहे हैं । नए कवियों

में हम वह तीव्रतर बोध या क्षुरधार सजग दृष्टि नहीं पाते जो निराला, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, नागार्जुन आदि में हमें प्राप्त होती है। नव लेखन निगेटिव है–ना धर्मी है– जो तुरंत चुक जाता है। उसमें भाषा के स्तर पर अति वायवीयता है, दुःसाध्य प्रेषणीयता है, निष्पक्षता एवं सच्चाई का अभाव है। इसमें संघर्षशीलता और अदम्य साहस का उतना आग्रह नहीं, जितना अवदमन और रमणतृषा का है। इसमें रसी-बसी उत्तरदायित्व हीनता, हताशा, कामचोरी और झूठे विद्रोह के भाव–कोई मायने नहीं रखते। इसमें रस और बोध का अभाव है। आंतरिक क्षय, विरूपता, क्रमहीनता, बेतरतीबपन, फूहड़पन, अश्लीलता – आधुनिक जीवन शैली से संभूत हैं। इसमें उस बौने व्यक्तित्व की सृष्टि हुई है जो अपनी बुद्धि, प्रज्ञा को वधिया करा चुका है।" कुबेरनाथ राय को विद्रोह और प्रगति से जुड़े नव–लेखन में क्रोध, लोभ और काम की ही अभिव्यक्ति ज्यादातर दिखी। उसमें उन्हें प्रीति और विश्वास का अभाव दिखाई पड़ा। उनका प्रबल विश्वास था कि सारी शक्तियों के बावजूद जो शिव-समर्पित नहीं होता, वह ब्रह्म-राक्षस ही बनता है। उन्होंने सर्वदा लक्षित किया कि आज पश्चिमी विचारक जहाँ मानव-जाति के सामने उपस्थित आस्था और विश्वास के संकट को लेकर चिंतित हैं, वहाँ हम पश्चिमी प्रभाव में इन्द्रिय सत्य को ही सबसे बड़ा सत्य मानते जा रहे हैं जब कि हमारे बहुत सारे अहम प्रश्नों का उत्तर मनुष्य की सीमाबद्ध क्षुद्र बुद्धि के पास नहीं है। इनका समाधान भावना, कल्पना और अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही हो सकता है।

उपर्युक्त उद्धरणों को साभिप्राय इस आलेख में समाविष्ट किया गया है। इनके आधार पर हम कुबेरनाथ की मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद एवं नवलेखन-सम्बन्धी मानसिकता का अंदाज ही नहीं लगाते बल्कि उनके साहित्य संबंधी दृष्टिकोण, नैतिक-सांस्कृतिक स्तर पर साहित्यकार के दायित्व बोध तथा वर्तमान विषम सामाजिक-सांस्कृतिक संक्रमण के युग में सर्जनशीलता के संकट की उनकी चिंता से भी अवगत होते हैं। ये उद्धरण उनकी मानसिक बनावट, सत्साहित्य संबंधी उनकी अवधारणा तथा साहित्यकार के विधायक एवं दिशानिर्देशक व्यक्तित्व की अनेक अपेक्षाओं का भी प्रकारान्तर से साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।

ध्यातव्य है कि कुबेरनाथ राय को अपने वंश-परिवार से कुलशील और उन्नत संस्कारों की विरासत मिली, विद्यार्थी जीवन में उनके भीतर उन्नत संस्कारों का बीजवपन करने वाले व्यक्तित्व-सम्पन्न आचार्य मिले, हिन्दू विश्वविद्यालय के यशस्वी प्राध्यापकों का निकटतम साहचर्य, स्नेह और आर्शीवाद मिला, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का भारत विश्रुत अध्यापन, मौलिक उद्‌भावना-शक्ति एवं अन्तर्दृष्टि सम्पन्न प्रशिक्षा मिली और इन सबके विनियोग से उनका वैचारिक व्यक्तित्व बना। अंग्रेजी भाषा और साहित्य से वे सीधे-सीधे जुड़े थे और उसके वैशिष्ट्य से भलीभाँति परिचित थे। इसके साथ ही संस्कृत और हिन्दी की महत्वपूर्ण कृतियों और उनके कृतिकारों के सर्जनशील व्यक्तित्व की बारीकियों का उन्हें पूर्णज्ञान था। संस्कृत साहित्य के आर्षग्रंथों को उन्होंने उनके मूल रूप में पढ़ा था और अपने सारे

पढ़े-लिखे ग्रंथों के बल पर एक तुलनात्मक साहित्य-दृष्टि विकसित की थी। पढ़ते-लिखते तो बहुत हैं किंतु उस पढ़े-लिखे के बल पर एक सर्जनात्मक अन्तर्दृष्टि का उन्मेष कम लोगों में हो पाता है। कलकत्ता से नलबारी तक के प्रवास में उनके इसी सर्जनशील व्यक्तित्व का विकास क्रमशः होता गया। अपने गृह नगर की मिट्टी उस मिट्टी से जुड़े संस्कार, रीति-रिवाज और उनकी स्मृतियाँ उनमें इस दूरी के कारण और प्रबलत्तर होती गईं और उनके समूचे लेखन में ये किसी न किसी रूप में उपस्थित हैं। साहित्य, साहित्यकार के दायित्व, उसके प्रदेय और प्रशिक्षा पर उन्होंने भरपूर मंथन किया था। उनकी मानसिकता के निर्माण में उपर्युक्त परिवेश के साथ ही आध्यात्मिक-सांस्कृतिक मनोभूमि का विशिष्ट योगदान था। उनके निबंध जीवन-जगत को देखने की जो दृष्टि देते हैं उसका गहरा संबंध हमारी सांस्कृतिक विरासत से है। इस सांस्कृतिक विरासत के विस्मरण से हमारे जातीय जीवन में जो ऋणात्मक परिवर्तन हुए हैं हमारे स्वत्व, अस्मिता और आत्मिक शक्ति का जिस रूप में क्षय हुआ है– इन सबकी तस्वीर स्पष्ट रूप में उनके निबंधों में अंकित है।

कुबेरनाथ राय को पढ़ते हुए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मार्क्सवादी विचारधारा हो या अस्तित्ववादी चिंतन–कोई भी उनकी सृजनशील प्रतिबद्धता के लिए आतंककारी नहीं साबित होता क्योंकि भारतीय वाङ्मय से जुड़े ग्रंथों के निहितार्थ में उनकी अटल निष्ठा है और आर्षग्रंथों के निष्ठापूर्ण पठन-पाठन ने हमेशा उन्हें चिन्मय व्यक्तित्व एवं इस व्यक्तित्व को रचने वाले उदात्त मानवीय मूल्यों में एकांत रूप से जागरूक बनाए रखा है। इसी जागरूपकता के चलते उनके निबंध संग्रहों के शीर्षकों का चयन हो अथवा उनमें प्रतिपादित विचार, भावबोध एवं अभिव्यक्ति का तरीका-सभी उनके तत्सम व्यक्तित्व के समानांतर है। अक्सर हम देखते हैं कि उनके निबंध अपनी प्रकृति एवं प्रतिपाद्य में बहुधा अकादमिक हैं। उन्हें देखकर सहज ही अंदाज लग जाता है कि इनका लेखक सामान्य अभिरुचि एवं संस्कारों से अलग थलग, परिष्कृत अभिरुचि, विचारशीलता एवं गहन सांस्कृतिक दृष्टि-सम्पन्न, मन-मस्तिष्क का धनी है और जो अविचल भाव से जनमानस में स्वस्थ दृष्टिकोण और उन्नत संस्कारों का बीज बोने के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध है। उसकी यही प्रतिबद्धता उसे सहज ही भक्तिकालीन साहित्य की प्रशिक्षा और शीलाचार की ओर उन्मुख करती है।

कुबेरनाथ राय जीवन पर्यन्त एक ही विधा से जुड़े रहे। शुरुआती दौर में उन्होंने अधिकतर ललित निबंध लिखे, बाद में वैचारिक निबंधों की ओर प्रवृत्त हुए। सामूहिक शील के उन्नयन का उन्होंने एक तरह से व्रत ले लिया। व्यक्तिगत शीलसंस्कार को उन्होंने लोक कल्याण की आवश्यक शर्त माना। उच्चतर मूल्यों एवं आदर्शों के निमित्त वे बार-बार क्लासिकल साहित्य की ओर गए जो जनमानस को विकलता, उत्तेजना, भय और निराशा से उबारने वाला, अभयता, प्रीति, निरुजता

एवं मानसिक ऋद्धि का प्रदाता तथा मनुष्य को ईश्वरोपम बनाने की क्षमता वाला है । इसके पीछे उनका तर्क था कि कालिदास और शेक्सपीयर को अस्वीकार करने का अर्थ होगा – मनुष्य की मानसिक विशिष्टता को अस्वीकार करना । उनके अनुसार– "रसबोध, सौन्दर्यबोध, साहित्य-कला आदि को अस्वीकार करना, मनुष्य के चिन्मय व्यक्तित्व को ही अस्वीकार करना है । सत्साहित्य हमारे मन की चिकित्सा करता है, उससे हमें मानसिक समृद्धि प्राप्त होती है । वह हमारी सप्राणता को जाग्रत करता है । व्यक्ति को स्वस्थ, सबल और सहज बनाना ही हमारे क्लासिकल साहित्य की हाँधर्मी (पॉजिटिव) भूमिका है । लोकजीवन और लोकपरंपरा के मंथन के पश्चात् ही हमे मूल्यबोध की प्राप्ति होती है । "कुबेरनाथ राय का दृढ़ विश्वास था कि आधुनिकतावादियों ने अपने प्राचीन वाङ्मय को गंभीर ढंग से नहीं परखा, यदि परखा होता तो सारा प्राचीन उन्हें फालतू नहीं प्रतीत होता क्योंकि मनुष्य का मनुष्यत्व आज भी कुरान, गीता, बाइबिल पर ही टिका हुआ है । आधुनिकता ने आज तक कोई ऐसी दीर्घजीवी रचना नहीं दी जिसे पुराने क्लासिकों के मुकाबले में रखा जाए । " राय साहब का मानना था कि जब जीवन में काम-क्रोध जैसी वृत्तियों का स्थान है तो साहित्य में हम इन्हें अस्वीकार कैसे कर सकते हैं? जैसे भोजन में एक मात्रा में लवण और मिर्च का प्रयोग उसे स्वादिष्ट और रुचिकर बनाता है वैसे ही जीवन के प्रतिबिम्ब साहित्य में इनका विनियोग होना चाहिये । सत् के साथ रज-तम की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ेगी, इनका एकांत रुप से निषेध संभव नहीं ।

कुबेरनाथ राय को बाप-दादों से जो आध्यात्मिक और सांस्कृतिकबोधसम्पन्न मन और मस्तिष्क मिला था वह भारतीय संस्कृति, दर्शन और काव्य की खुराक पाकर क्रमशः निरंतर पुष्ट बनता गया, उनके वैष्णव संस्कार विषम युगीन परिवेश में दुर्बल बनने की जगह और सबल होते गए क्योंकि उनकी जड़ें अपनी मिट्टी में बहुत गहरी थीं । टूटते परिवार, दुर्बल पड़ते कुल-संस्कार, खत्म होते आत्मीय रिश्ते, विस्मृत होती जातीय विरासत और शून्य होते इतिहास-बोध को अपने आस-पास के समाज और गांव घर में उन्होंनें बहुत नजदीक से देखा; नैतिकता, मर्यादा, मूल्य और आदर्श से हीन बनते जानमानस का साक्षात्कार कर वे भीतर से हिल गये । पश्चिमी प्रभाव और आधुनिकता की नकल में संलग्न देहाश्रयीचेतना वाले तथाकथित बुद्धिवादी वर्ग की व्यक्तित्वहीनता उन्हें पूरी तरह से संत्रस्त कर गई - इस कंपन और संत्रास का जिक्र उन्होंने अपने अनेक निबंधों में किया । यही वजह है कि विलुप्त होती संस्कृति और क्षरित होते विश्वास को लेकर एक गहरी तड़प उनके निबंधों में है । उनकी सृजनशील मानसिकता का नियमन सांस्कृतिक स्मृति और लोकजीवन के व्यापक अनुभवों से होता है । संस्कृति, इतिहास और लोकजीवन की अतल गहराइयों में पैठकर वे प्राचीन और अर्वाचीन के मध्य के

अंतराल की खोज करते हैं । साहित्य और साहित्यकार के सरोकार पर लिखने में उन्हें विशेष सुख मिला है । इसी क्रम में कभी वे वैदिक शब्दों की व्याख्या एवं उनके नए अर्थायन की दिशा में प्रवृत्त होते हैं, कभी संपूर्ण चर-अचर में व्याप्त परासन्ता की व्याप्ति पर रोशनी डालते हैं । उनके वे निबंध हमारा अवधान विशेष रूप से आकृष्ट करने वाले हैं जहाँ उन्होंने हर-तरह से शोषित-संतप्त किसानों के दुख-दाह और दैन्य का चित्रण किया है, क्रमशः प्रदूषित बनती ग्रामीण संस्कृति और शीलशून्य बनते ग्रामीण मन का रेखांकन किया है एवं गांव घर में समाई कूटपूर्ण राजनीति का खाका प्रस्तुत किया है । उन्होंने उस भारतीय कृषक के महत्व को पुनर्स्थापित किया है जिसकी हर तरह से अवज्ञा की जाती रही है । अवज्ञा और अनादर करने वालों को चेताते हुए उन्होंने भविष्यवाणी की है– "छोटे-छोटे किसान ही संस्कृति के शेषनाग हैं– सबका भार वहन करने का इनका उत्तरदायित्व है । जो शेषनाग पृथ्वी का समस्त भार अपने फन पर लिए हुए हैं – उनकी एक ही करवट सबकी धड़कन बंद कर सकती है ।" कहना न होगा कि यह चेतावनी वस्तुतः क्रांतिबीज का उद्घोष ही है । इस उद्घोषका आधार किसानों की दिनोदिन दुर्वह और विपन्न बनती स्थिति है और इस स्थिति तक उन्हें पहुँचाने वालों को कभी माफ नहीं किया जा सकता । राय साहब ने बार-बार लक्षित किया है कि प्रगति के महापर्व में सर्वाधिक दुर्गति किसानों की ही हुई है । उनके खुद के संस्कार किसान संस्कृति की ही देन हैं । उन्होंने स्वीकार भी किया है, "मेरा समस्त सामाजिक-सांस्कृतिक बोध माटी से जुड़ा है और वह माटी मात्र अपने जिले तक सीमित नहीं है । मेरे भीतर क्षेत्रीय और वैश्विक का रचनात्मक संतुलन है । ...आदमी की सही पहचान धरती और ईश्वर से जुड़कर होती है । ईश्वर से तात्पर्य उस सांस्कृतिक साधना से है जिसे सामान्य भाषा में धर्म और संस्कृति कहते हैं । मैं अपनी धरती, उससे जुड़े सांस्कृतिक चिंतन का ऋणी हूँ । गंगातीरी भोजपुरी संस्कृति में मेरा जन्म हुआ है और मेरे चिंतन का बहुलांश इसी से जुड़ा है, इसी के सांस्कृतिक प्रवाह में मेरा निजी मन विकसित हुआ है ।"

कुबेरनाथ राय को पढ़ते हुए हम पाते हैं कि एक ओर यदि वे संस्कृति, इतिहास, दर्शन तथा साहित्य के मर्म को विलक्षण ढंग से खोलते हैं तो दूसरी ओर लोकजीवन में इनकी व्याप्ति और विस्तार का संश्लेष भी दिखाते हैं । आशय यह है कि उनका अध्ययन-मनन और चिंतन केवल अकादमिक बन कर नहीं रह जाता बल्कि इनकी राह से, इनसे प्राप्त अन्तदृष्टि के सहारे वे लोकजीवन के धनात्मक और ऋणात्मक पहलुओं को उजागर भी करते हैं । भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास-दर्शन के गंभीर अध्येता होने के कारण इनके भीरत का शोधकर्त्ता पर्याप्त सक्षम बनता है और उसके शोध परिणाम तर्कसम्मत और विश्वसनीय सिद्ध होते हैं । अभिनवचिंतन एवं विधायक कल्पना शक्ति के सहारे वे अक्सर प्राचीन प्रसंगों का नए ढंग से अर्थायन करते हैं, प्राच्य विद्या-

विशारद बनकर पुराने मिथकों का आधुनिक संदर्भ में रहस्यभेदन करते हैं। उन्होंने पुराप्रसंगों और अवधारणाओं की सार्थकता की जांच भी की है। भारत की सनातन चिंतन परंपरा के प्रति वे अति विनीत एवं आस्थावान दीखते हैं। इस संदर्भ में उनका निजत्व इस रूप में उभरता है कि प्रवाह से हटकर वे पुरानी अवधारणाओं का नए कोण से उपस्थापन करते हैं। इस उपस्थापन के लिए उनके निजी तर्क हैं, नई निष्पत्तियाँ हैं। उनके सर्जनात्मक व्यक्तित्व में एक साथ ही पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं वासुदेव शरण अग्रवाल की रचनाशीलता और अनुसंधानवृत्ति समाहित है। 'रामायण' और 'महाभारत' के प्रतिपाद्य और मिथकीय चेतना के विश्लेषण में इस समाहार की कुछ रेखाएँ चटक रूप में उभरी हैं–" दोनों का नाभि चक्रहै – देवासुर संग्राम। दुर्योधन साक्षात् कलि है। 'महाभारत' क्रोध की ट्रेजेडी है– 'रामायण' काम की। 'महाभारत' में द्वन्द्व धर्म और अधर्म के बीच है, 'रामायण' में धर्म और प्रतिधर्म के बीच। रावण का सारा बल उपासनासंभूत है, इसके विपरीत दुर्योधन, शकुनि-अधर्म, असत्य और छल पर आश्रित हैं। कौरवों का चरित्र दीन और क्षुद्र है जब कि रावण के चरित्र में अति मानवीय गरिमा है। भीष्म और कर्ण को छोड़कर सारे कौरव मामूलीपन से आक्रांत हैं। वस्तुतः राम-रावण का द्वन्द्व प्रत्यभिज्ञा और अस्तित्व का द्वन्द्व है। रावण शक्तियों का उपयोग चाहता है, माया का स्वामी बनाना चाहता है, इन्द्रियों को जीतकर फिर उन्हीं का दास हो जाता है जब कि राम प्रकृति के भीतर रहते हुए भी उसके गुणों से असंपृक्त रहते हैं। लंका का संघर्ष धर्म और प्रतिधर्म के बीच था जब कि कुरुक्षेत्र का धर्म और अधर्म के बीच।"[1] 'रामायण' और 'महाभारत' के संघर्ष को आधुनिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हुए उनकी टिप्पणी है– "भौतिक सुखवाद, नास्तिकता आदि प्रति धर्म हैं शोषण, अन्याय, भ्रष्टाचारआदि अधर्म हैं। जो हीन होता है, वह प्रतिधर्म नहीं होता। आज विश्वगत ऐतिहासिक स्थिति में मानव-जाति के अन्दर जो संघर्ष चल रहा है, वह धर्म-अधर्म का संघर्ष नहीं–धर्म और प्रतिधर्म का है। प्रतिधर्म के चेहरे हैं –नई राजनीति, औद्योगिक क्रांति और विज्ञान। इन तीनों के पीछे शताब्दियों की तपस्या, बौद्धिक संघर्ष और आदर्श साधना है, परन्तु इनका उपजीव्य भौतिक सुखवाद है।"

ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि कुबेरनाथ राय धर्म-अधर्म के समानांतर प्रतिधर्म की संकल्पना करके भी उसके प्रति रंचमात्र अवज्ञा या अनादर का भाव व्यक्त नहीं करते, उससे जुड़े सामाजिक विकास और श्रम-संघर्ष के महत्व को अनदेखा नहीं करते और उनके जैसे आधुनिकबोध और दृष्टि सम्पन्न व्यक्तित्व से हम ऐसी अपेक्षा भी नहीं कर सकते– सबसे अहं और ध्यातव्य मुद्दा उनके चिंतन का यह है कि अतिशय भौतिकता और इहलौकिक दृष्टिकोण उन्हे रास नहीं आता। अंततः यह रुझान उन्हें प्राचीन ऋषि-परंपरा के आस्तिक चिंतन के निकट पहुँचा देती है। पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और उसके ज्ञान-विज्ञान के प्रामाणिकर परिचय और अधिकृत चिंतन-मनन के बावजूद भारतीय मनीषा की सार्वभौम स्थापनाओं में उनकी आस्था अक्षय और अशोष बनी रहती है। पश्चिम का सारा बुद्धिवाद और तर्क

प्रणाली कहीं भीं उनके लिये आतंक का विषय नहीं बनती । वे बार-बार अपनी सर्जनात्मक शक्ति की खोज में भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिक चिंतन के मूल स्रोत की ओर लौटते हैं । इस स्तर पर उन्हें कोई प्रगतिशील माने या न माने, कोई फर्क नहीं पड़ता । अपनी सांस्कृतिक विरासत, धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण की तेजस्विता पर उन्हे गर्व है । मनुष्य की अन्तर्निहित शक्ति और संभावनाओं में उनका वैसे ही अटूट विश्वास है जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी में हैं । जहाँ भी अवसर मिला है, वे आचार्य पं. रामचन्द्र शुक्ल और द्विवेदी जी के प्रति अपना प्रणति भाव व्यक्त करते हुए अपने को उनका अनुगामी मानते हैं । अपनी पूर्ववर्ती आचार्य-परंपरा के प्रति उनका यह समादर भाव उन्हें अपेक्षित बड़प्पन देता है । उनकी सर्जना का एक मात्र लक्ष्य अपने सांस्कृतिक-आध्यात्मिक, दार्शनिक-साहित्यिक रिक्थ और मूल्यधर्मिता का मूल्यहीन आदर्शशून्य और व्यक्तित्वविहीन समकालीन परिवेश में, नए ढंग से दिशानिर्देशक रूप में स्मरण हैं । उन्हें पढ़ते हुए हम उस मनुष्यता के मान-मूल्यों की स्मृति वापस पाते हैं जिन्हें मिटा देने के उपक्रम में आज अनेक दुरभि-संधियाँ और षड्यंत्र वैश्विक स्तर पर सक्रिय है । उनके निबंधों के पढ़ने के पुरस्कार स्वरूप हम नैतिक-शीलाचार से जुड़ी मानसिक समृद्धि पाते हैं, व्यक्तित्व के खोखलेपन से उबरने की दिशा में अग्रसर होते हैं, हमोर भीतर की बहुत सारी रिक्तताएँ मिटती हैं । हताशा और अनास्था की जो अमावस्या हमारे मन-प्राणों पर पूरी तरह पसरी हुई है– कुछ क्षणों के लिए हम उससे उपराम हो जाते हैं ।

राय साहब ने हिन्दुस्तानी मन को विश्वचित्त से अलग करके नहीं देखा । उन्होनें संपूर्ण मानवता के संकट को अपने चिंतन के घेरे में लिया । भारतीय ऋषियों के स्वर से स्वर मिलाते हुए उन्होंने कामनाओं के अनंत विकास को हितकारी न मानते हुए तितिक्षा और संयम पर बल दिया । उनका मानना था कि आज सारी मनुष्य-जाति इकहरे व्यक्तित्व के बढ़ते प्रसार के कारण परादृष्टि और ध्यानक्षमता के उत्तराधिकार से वंचित हो गई है । पशु ध्यानक्षमता के अभाव में एक विकल ऐन्द्रिक जीवन जीता है । ध्यानस्थ होने की क्षमता केवल मनुष्य में है । यह ध्यान ही हमें सहज बनाता है, हमारी आत्मिक शून्यता को भरता है । वह पलायन या आत्मप्रवंचना नहीं बल्कि सुचिंतित, सुगठित, संशोधित और सम्बर्द्धित होने की दिशा में हमें अग्रसर करता है । यह मनोजगत की सूक्ष्म 'हाँ'-धर्मी (पॉजिटिव) क्रिया है । टूटने और बिखरने से बचने के लिए इस क्षमता की वापसी संपूर्ण मानव जाति के लिये कल्याणकारी है ।

समाज में साहित्य और साहित्यकार की भूमिका को लेकर उनके बहुत ऊँचे खयाल थे । साहित्य को उन्होंने उपयोगितावादी दृष्टिकोण से कभी मूल्यांकित नहीं किया । उनका मानना था, "साहित्य आलू-गोभी भले न हो किंतु निश्चय ही तुलसी

की गांछ है ।"मानसिक स्वास्थ्य और समृद्धि को उन्होंने साहित्य का प्रदेय माना । जैसे दाल-रोटी शरीर के लिए अपरिहार्य है वैसे ही साहित्य मन की खुराक है । मनुष्य के भीतर की कल्पनाशक्ति, सैन्दर्यबोध एवं शील-संस्कृति आदि के क्षीण को उन्होंने सबसे अधिक त्रासक एवं भयावह माना । साहित्य के स्वरूप विवेचन तथा प्रयोजन निर्धारण में वे शुभ, सत्य, ऋत, ऋद्धि, समृद्धि, संस्कृति निरुजता आप्तकामता, निर्वैयक्तिकता, भव्यता, दिव्यता, लालित्य, चिति, चिन्मय जैसे आलोकधर्मी शब्दों का बार-बार प्रयोग करते हैं और ये प्रयोग उनके अभिजात शीलसंस्कार और सृजन के प्रति उदात्त दृष्टिकोण के परिचायक हैं । व्यवस्थाकामी बनकर, अपना दीन और ईमान तक गिरवी रख चुके आज के तथाकथित बुद्धिजीवी रचनाकारों को संबोधित करते हुए कुछ क्षण के लिए वे कटु भी हो जाते हैं क्योंकि उनका नाई-बारी, भाँट-पवनी बनना उन्हें कभी नहीं सोहाता । वे साहित्यकारों को किसी भी राजनीतिक पार्टी की जमीन पर खड़ा होने से वरजते हैं । वे चाहते हैं कि आज का रचनाकार अपनी मेधा, प्रतिभा और तेजस्विती की जमीन पर खड़ा होकर उच्चगामी स्वस्थ मानसिक वृत्ति और उन्नत संस्कारों को जाग्रत करने की दिशा में सृजनशील बनें ।

कुबेरनाथ राय को ग्रामीण संस्कृति और प्रकृति के चित्रांकन में महारत हासिल है । नदी-निर्झर, लता-पुष्प संबंधी उनका ज्ञान इस चित्रांकन में विलक्षण ढंग से प्रकट हुआ है । सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति के वे धनी हैं । भारतीय संस्कृति का वैविध्य बड़े चटक रूप में उनके निबंधों में प्रकट हुआ है । व्यक्ति के जरिए वे समूहगत मूल्यों एवं आदर्शों का प्रायः मुद्दा उठाते हैं । इस प्रक्रिया में वे अपने निबंधों में कहानियों और संस्मरणों का रचनात्मक उपयोग करते हैं । वेद-पुराण, इतिहास, धर्म-दर्शन, भूगोल, गणित, ज्योतिष आदि के अपने तलस्पर्शी ज्ञान के साथ ही वे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से जुड़ी विचारधाराओं के परिप्रेक्ष्य में लोकचित्त के विभिन्न घात-प्रतिघातों पर ध्यान केन्द्रित करते हैं । बहुत सारे जातीय विश्वासों और अवधारणाओं का नए संदर्भो में पुनराख्यान करते हैं । उनके निबंधों में परंपरा, ग्राम्य संवेदना और आधुनिक जीवन-बोध का सहज सामंजस्य दिखाई पड़ता है । गांव-घर से बहुत दूर रहने के कारण अपनी माटी की मोहक स्मृतियाँ बार-बार उनके निबंधों में कौंधती है । गांवो को वे भारत की आत्मा के रूप में देखते हैं और उनके सौन्दर्य को राष्ट्रीय मानस के सौन्दर्य से एकाकार पाते हैं । गाँव-गाँव में उन्हें भारतवर्ष मूर्तिमान मिलता है । अपने गांवो से भारत, कुबेरनाथ राय के निबंधों में वैसे ही जुड़ा दिखाई पड़ता है जैसे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों में भारतीय संस्कृति से विश्व संस्कृति । वे अपनी धरती, उससे जुड़े सामाजिक, बोध एवं सांस्कृतिक चिंतन के लिए अपने को ऋणी मानते हैं । उन्होंनें स्वीकार किया है कि गंगातीरी और भोजपुरी संस्कृति में उनका जन्म हुआ है । उनके सामाजिक बोध

और चिंतन का बहुलांश उसी माटी से जुड़ा है । जिस समाज के वे अंग है, वह एक अखिल भारतीय समाज है । जिस सामाजिक-सांस्कृतिक प्रवाह में उनका निजी मन विकसित हुआ है, उसकी परंपरा बहुत पुरानी है । भोजपुरी होते हुए भी क्षेत्रीय एवं वैदिक का उनके भीतर एक संरचनात्मक संतुलन है । उन्होंने अपने समस्त ललित लेखन को भी ऐसा आद्यर्त्तद माना है जिससे उनके 'मैं' का जन्म हुआ है, एक ऐसे समूह का आर्त्तनाद जिसके सामने उसका मनोमय गांव (मानसिक सकूनत और नाम-धाम) समाप्त हो रहा है और एक अलिखित दबाव के कारण वे उसका प्रतिवाद भी नहीं कर पाते । उत्तर भारतीय गंगातीरी किसानों के दुख-दर्द की अनेक तस्वीरें उनके निबंधों में उत्कीर्ण हुई हैं ।

निष्कर्ष यह कि कुबेरनाथ राय के लेखन का वैशिष्ट्य परंपरा और आधुनिकता के मध्य एक सार्थक संवाद बनाने में है । उनका सारा चिंतन राष्ट्रीय अथवा वैश्विक संदर्भों से सम्पृक्त है । आज विश्व-मानवता के समक्ष उपस्थित संकट का समाधान उनके मूल्य और आदर्श-केन्द्रित सर्जनशील चिंतन में है । उनके चिंतन-मनन का सम्बन्ध मनुष्यता के बुनियादी सरोकारों से है । परंपरा के प्रगतिशील तत्वों की उनमें गहरी पहचान है । उनमें आर्षग्रन्थों में निहित सार्वभौम सत्य और दर्शन की तेजस्विता की परख ही नहीं बल्कि उनके क्रिया पक्ष और साधना पक्ष के प्रति हार्दिक समादर का भाव भी है । उनके लिए रावण से अधिक भयावह रावणीवृत्ति और उसके द्वारा प्रवर्तित जीवन-पद्धति है । वे भारत के पुण्यादर्श और उसकी उच्चतर संस्कृति की वापसी की चिंता से आद्यन्त ग्रस्त दीखते हैं । अपनी अद्वितीय निबंध-शैली में भारतीय संस्कृति और साहित्य के जिन मूल्यों को प्रतिष्ठित करने का उन्होंने व्रत लिया है, अनास्था और विघटन के इस संक्रांति-काल में उनकी प्रासंगिकता स्वतः सिद्ध है । उनके निबंधों में मानवीय रागात्मकता का सौन्दर्य सुरक्षित है जो हमारी वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी बनाता है । आज बुद्धिवाद के चपेट में, उसके खोखले विद्रोहभाव में जब सारे विश्वास, सिद्धांत और विचार-दर्शन संदिग्ध बनते जा रहे हैं, अनास्था, भय और संत्रास जब मानवता की नियति बनते जा रहे हैं – ऐसी विषम परिस्थिति में राय साहब के निबंध जीवन के नए अर्थ और अभिप्राय की खोज करते हैं । वे भारतीय संस्कृति और साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं क्योंकि इनमें विघटन और संत्रास को मनुष्य की नियति और निगति न मानकर उसके सुषुप्त आत्मविश्वास को जाग्रत करने का प्रयत्न है, द्वैतजन्य प्रमाद को उन्मूलित करते हुए मानवीयता की विजय में अटूट विश्वास है ।

●

ठीकरों में हीरे तराशने वाले शिल्पी : कुबेरनाथ राय

डॉ. संजय राय

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि रस की शास्त्रीयता जब अधिक गम्भीर और भारी होने लगती है तो साहित्य रस-निष्पत्ति के सरल आयाम अपने आप ढूँढ़ लेता है। वैसे भी साहित्य की सामाजिक पहचान इसी में है कि वह कितना जनसुगम है। हिन्दी गद्य में निबन्ध-रचना की शुरुआत ही इसी सर्वसुगमता के आधार पर की गयी है। हिन्दी गद्य में निबन्ध शब्द की व्याख्या इस रूप में की जाने लगी थी कि निबन्ध गद्य की वह विधा है जिसमें चिन्तन की अभिव्यक्ति सीधी, सपाट और निर्बन्ध हो। सामान्य जन का ही चिन्तन एक सार्थक दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत कर देना 'निबन्ध का बन्धनरहित' शास्त्र है। किन्तु इस विधा की निर्बन्धता को भी कालान्तर में शास्त्रीयता का मर्यादाबन्धन झेलना पड़ा। निबन्धों में लालित्य की कल्पना निबन्ध से कोई अलग की विषय-वस्तु नहीं है, बल्कि उसकी निपट स्वाभाविकता है। किन्तु कालान्तर में कभी-कभी गम्भीर शास्त्रीयता के सापेक्ष यह सहज लालित्य और सौन्दर्य भी निबन्ध का कोई नया रूप जान पड़ने लगता है।

छायावाद और छायावादोत्तर साहित्य विषयवस्तु की अपनी गम्भीरता के लिए जगविदित है। किन्तु सन् ६० के बाद जिस तरह कविता ने गम्भीरता और त्रासद अनुभवों का साथ छोड़कर जीवन के मृदुल और चुटीले प्रसंगों पर दृष्टि केन्द्रित की, उसी तरह साठोत्तर गद्य में भी लालित्य का समावेश एक स्वाभाविक गतिविधि बन गया। ललित निबन्धों का यह सिलसिला बहुत कुछ भारतेन्दु और द्विवेदी-युगीन निबन्धकारों से मेल खाता है। किन्तु साठोत्तर दशक के इन नये ललित निबन्धकारों में पीड़ा भरे व्यंग्य की जगह छोटे-छोटे मीठे और ललित अनुभव प्राप्त होते हैं। यह अनुभव जीवन के उन अति व्यस्त उपेक्षित क्षणों से चुरा लिये गये होते हैं जिनसे गुजरकर भी दृष्टि उन पर नहीं पड़ती। इन उपेक्षित सन्दर्भों में भी जीवन के शाश्वत सन्दर्भ ढूंढ लेना, और उन्हें इस तरह एक जीवन्त रुपाकार दे देना कि माटी भी देखते-देखते सोना नजर आने लगे, कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में आसानी से महसूस किया जा सकता है।

कुबेरनाथ राय ने अपने निबन्धों में जिन सन्दर्भों को अपना विषय बनाया है वे बड़ी आसानी से बिना खोजे पूर्वांचल की मिट्टी के किसी भी टुकड़े में मिल जाएँगे।

लेकिन इन अति सामान्य विषयों में भी लेखक जिन विशिष्टताओं का संकेत कर देता है, वह पीढ़ियों तक को सुसंस्कृत कर देने के लिए काफी जान पड़ती हैं। उनकी 'निषाद बाँसुरी' की भूमिका कोई गम्भीर लेखकीय वक्तव्य नहीं है बल्कि इसी तरह की एक सहज आत्मकथा है, जहाँ लेखक स्वयं यह स्वीकार करता है कि "देवी मुझे आदेश देती हुई ज्ञात होती हैं – 'मेरे वत्स, तू इतिहास-प्रवाह की नदी में गोता लगाकर देश की मिट्टी को ला और मेरे चरणों में अर्पित कर। मैं उसमें प्राण, रूप और सौरभ डाल दूँगी, तेरी तपस्या या योग्यता के अनुसार" । रोमांचित कर देने वाली इस समर्पित रचनाधर्मिता का प्रतिदर्श राय साहब का शायद ही कोई ऐसा निबन्ध हो जिसमें न दिखायी देता हो। अपने पूरे रचनाकर्म में राय साहब ने कहीं किसी आप्त सन्दर्भ को सीधे-सीधे विषय नहीं बनाया, कभी किसी भव्य कथानक को नहीं चुना, और न ही किसी ऐतिहासिक विशालता का आश्रय लिया। बल्कि इन सबकी जगह उन्होंने कहीं ताल के किनारे की सरस्वती की मूर्ति, गंगा का निपट निश्छल ग्रामीण सौन्दर्य, चन्दर माँझी की निषाद बाँसुरी, फागुन डोम और इसी तरह के अनेक उन जीवन्त सन्दर्भों को चुना है, जो कीच भरी मिट्टी से उठकर अचानक विशाल ओर नयनाभिराम भव्यता के पर्याय बन जाते हैं। कदाचित् ऐसा इसलिए भी है कि राय साहब ने स्वयं पूर्वांचल के पिछड़े और उपेक्षित गाँवों की अभावग्रस्त जीवनशैली को बड़े नजदीक से देखा है तथा यह पाया है कि इस अभावग्रस्त जीवन मे भी एक सम्पन्न संस्कारशीलता है, जो कहीं बहुत गहरे इस ग्रामीण जीवन में गंगा की शान्त धारा की तरह निश्चल बहती रहती है।

जिस प्रकार कुबेरनाथ राय के निबन्धों में सामान्य की चर्चा अति विशिष्ट का प्रतिपादन बन जाती है, उसी प्रकार यह निष्ठा अपने विपरीत प्रवाह में भी समान अर्थ देती दीखती है। कुबेरनाथ राय भारतीय संस्कारशीलता के उन्नायक रचनाकार है। इसीलिए गाँव के निपट, अनगढ़ सन्दर्भ भी उनकी व्याख्याओं में सुसंस्कृत विषयों की परिभाषा बन जाते हैं और कभी-कभी चिन्तन-सरणि जब इसके विपरीत किसी शास्त्रीय सन्दर्भ से शुरू होती है, तो उसका भी समाहार अत्यन्त सामान्य सन्दर्भों में ही होता है। त्रेता का वृहत्साम, महाकवि की तर्जनी, गन्ध मादन आदि संकलनों में इस रोचक विपर्यय के उदाहरण निबन्धों के रूप में देखे जा सकते हैं।

राय साहब के रचनाकर्म का सबसे सुन्दर पक्ष उनके निबन्धों की चित्रात्मकता है। कहा जा सकता है कि उनकी पूरी निबन्ध-शैली ही रेखाचित्रात्मक है जिसमें न तो कथा का कथानक है और न ही किसी विवेचन की एकरसता। बल्कि इन सब के स्थान प्रर प्रदर्शन की एक ऐसी योजना है, जिसमें किसी अनगढ़ पत्थर को कई कोनों से तराश कर उसे चमकदार हीरे में तब्दील कर दिया गया हो। कभी-कभी

ऐसा लगता है कि प्रायः राय साहब ने इन हीरों की तलाश किसी अन्धेरी खान से नहीं की है, बल्कि सहजता से जमीन पर बिखरे अनुभव के ठीकरों को ही बड़े प्यार से तराश कर हीरा बना दिया है । सामान्य जन के प्रति इतना ममता भरा और प्रेमिल आग्रह किसी प्रगतिशील चिन्तन या इस तरह की किसी स्वघोषित प्रगतिशील रचना प्रक्रिया में इतनी सहजता से नहीं प्राप्त हो सकता । ऐसा लगता है कि सामान्य ही नहीं,एक अतिसामान्य जीवन के प्रति भी राय साहब की रचनाधर्मिता किसी सामाजिक बदलाव के नारे नहीं लगाती बल्कि उसकी उसी स्थिति में उसे एक ऐसी ऊँचाई दे देती है, जो दूसरों के लिए सहज स्पृहा का विषय बना जाये । उनके चन्दर माँझी और फागुन डोम किसी प्रगतिशील कथाकार के नायक नहीं बनते तथा किसी सामाजिक विषमता का रेखांकन नहीं करते बल्कि एक सहज सामाजिक संपृक्ति के प्रबल आधार बनते हैं और अपनी उपेक्षित जीवन-शैली में भी कुछ ऐसे दीखते हैं, जो बहुत संपन्न और सुंस्कृत जीवन के लिये भी काम्य और स्पृहणीय लगता है ।

पारिभाषिक शब्दों मे तो यह भी कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती प्रगतिशील साहित्य जिनके समर्थन में केवल नारे लगाये गये हैं, उन्हें राय साहब ने बिना कुछ कहे अपने हृदय में रख लिया है । यह एक ईमानदार रचनाधर्मिता का सबूत है जो और कुछ करे या न करे किन्तु राय साहब के पाठकों को कलम पकड़ने के संकल्प की बुनियादी शर्तें हमेशा याद दिलाता रहेगा ।

●

ललित निबंध का महाप्राज्ञ शिखर-पुरुष

डॉ. बरमेश्वरनाथ राय
हिन्दी-विभाग
नेहरू कालेज छिबरामऊ, फर्रुखाबाद

'हिन्दी में चिन्तन और अनुभूति में पगे ललित निबंधों की परंपरा में एक सर्वथा नया हस्ताक्षर'– इस संपादकीय टिप्पणी के साथ 'धर्मयुग' के 15 मार्च , 1964 के अंक में कुबेरनाथ राय का पहला ललित निबंध प्रकाशित हुआ था जिसका नाम था ' हेमंत की संध्या' । यों सचेत भाव से लिखना प्रारंभ कर दिया था उन्होंने 1962 से ही, किन्तु, वे सारी रचनाएँ मूलतः वैचारिक निबंधों के रूपमें थीं । ललित निबंध की विधा में लिखी गयी उनकी प्रथम रचना है 'हेमंत की संध्या' ही, और तबसे लेकर अबतक इस विद्या में उनकी सोलह कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जबकि तीन उनके मरणोपरान्त, प्रकाशन की प्रक्रिया से गुजर रही हैं । अपने लेखकीय जीवन के प्रस्थानविन्दु को रेखांकित करते हुए । वे लिखते हैं: "सन् 1962 में प्रोफेसर हुमायूँ कबीर की इतिहास-संबंधी ऊलजलूल मान्यताओं पर मेरे एक तर्कपूर्ण और क्रोधपूर्ण निबंध को पढ़कर पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी नें मुझे घसीट कर मैदान में खड़ा कर दिया और हाथ में धनुष-बाण पकड़ा दिया । अब में अपने राष्ट्रीय और साहित्यिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग था ।"[1] अन्तिम वाक्य को, बीज़गणित की शब्दावली में, लेखक की 'साधारण प्रतिज्ञा' के रूप में देखा जाना चाहिए ।

1969 में भारतीय ज्ञानपीठ से कुबेरनाथ राय का प्रथम निबंध संग्रह छपा 'प्रिया नीलकण्ठी' जिसकी भूमिका में उन्होंनें लिखा : "मुझे किसी भाई के श्रेय की पत्तल नहीं छीननी है क्योंकि न तो मैं कवि हूँ और न कहानीकार । निबंधकार की महत्वाकांक्षाएँ सीमित होती हैं । ××× अब ×× एक किनारे मैं भी जम रहा हूँ ।"[2] यह है 'मुख्य प्रतिज्ञा' । इस प्रथम कृति को पढ़ने के बाद हरिवंश राय 'बच्चन' के मुख से बरबस यह निकल पड़ा था, "शायद ही किसी उपन्यास को भी इतनी रुचि से पढ़ा हो । किसी समय फिर पढ़ने की इच्छा है ।" 'प्रियानीलकण्ठी'

---

1. प्रिया नीलकण्ठी : प्रथम संस्करण की भूमिका (अंत में), पृष्ठ : १६३
2. वही, पृष्ठ : १६६

को हिन्दी-साहित्य की एक 'महत्वपूर्ण घटना' के रूप में रेखांकित किया गया । पहली कृति होने के बावजूद यह उत्तर प्रदेश शासन द्वारा 'आचार्य रामचन्द्रशुक्ल पुरस्कार' से सम्मानित हुई । महत्वपूर्ण यह भी है कि उस जमाने में निबंध के क्षेत्र में विशिष्ट उपलब्धि अर्जित करने वाले साहित्यकारों के हिस्से में मात्र यही एक महत्वपूर्ण पुरस्कार आता था अर्थात् अपने प्रथम रचनात्मक प्रयास में ही वे चोटी के निबंधकारों की पंक्ति में सबसे आगे खड़े दिखायी देने लगे और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्नातक (हिन्दी) का जब अगला पाठ्यक्रम निर्धारित किया गया तो इस संग्रह के एक निबंध 'संपाती के बेटे' को भी उसमें सम्मिलित किया गया ।

पहली कृति 'प्रिया नीलकण्ठी' से लेकर बारहवीं कृति 'त्रेता का वृहत्साम' तक कुबेरनाथ राय की 'रचना-प्रक्रिया' (बीजगणितीय शब्दावली में ही) चलती है । रचना-प्रक्रिया चलती तो है बारहवीं पुस्तक तक, किन्तु लेखक में इतनी ऊर्जा और इतना आवेग है कि 'प्रियानीलकण्ठी' और फिर 'रस आखेटक' के बाद की अपनी तीसरी कृति 'गंधमादन' में ही वह 'उपपत्ति' तक पहुँच जाता है । वह चिन्तन और अनुभूति के गहन कान्तार को पार करता हुआ 'गंधमादन' की उस दिगन्तभूमि पर खड़ा हो जाता है जिसके आगे किसी भी गद्यकार के लिये कोई राह है ही नहीं । लेखक के ही शब्दों में :"गंधमादन को मैं मानवीय कल्पना के मध्य उपलब्ध रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द की चरम सीमा या दिगन्तभूमि मानता हूँ । इसके आगे निषेध की लक्ष्मण-रेखा है । ××× जब मैं इन निबंधों को लिख रहा था तो मुझे कभी -कभी ऐसा लगा कि मैं भी भीमसेन की तरह गद्य की भारी भरकम गदा लगाये कल्पना और अनुभूति के 'गंधमादन' में प्रवेश कर रहा हूँ और इसके आगे कोई सव्यसाँची, कोई धनुर्धर वन्धु, कोई कवि भले चला जाए, किन्तु किसी गदापाणि गद्य-लेखक के लिये इसके आगे जाना निषिद्ध है ।"[1] इस तथ्य को प्रमाणित करती है 'दिनमान' के तत्कालीन अंक में प्रकाशित रघुवीर सहाय की यह प्रतिक्रिया "यदि संस्कार परंपरावादी हों तो क्या दृष्टि आधुनिक हो सकती है? यानी आप अपने प्राचीन को आत्मसात कर, पचाकर कुछ ऐसा कह सकें जो वर्तमान से इतना समानधर्मी लगे कि आप उसकी बाँह थामकर भविष्य की ओर बढ़ सकें – इस प्रश्न का जितना साफ उत्तर कुबेरनाथ राय के निबंध पढ़ कर मिलता है, उतना हिन्दी में लिखी गयी किसी कृति को पढ़कर नहीं मिलता । इन निबंधों का पढ़ना एक नया अनुभव पाना है ।"

1. गन्धमादन : अपनी बात, पृष्ठः ३१९

कुबेरनाथ राय एक मनीषी साहित्य-साधक थे । उनका गरिमामय व्यक्तित्व स्वीकृति-अस्वीकृति के द्वन्द्व से परे था । वे अखण्डता के आराधक थे –अखण्ड ईश्वर, अखण्ड धरती और अखण्ड मनुष्यत्व । उनके साहित्य के प्रस्थान-विन्दु भी यही थे और चरम लक्ष्य भी । फिर अखण्डता के साधक की उपलब्धि खण्डित कैसे रह सकती थी? उनके लेखन की अद्वितीयता को अखण्ड स्वीकृति मिली सन् १९९२ में, जब उनकी तेरहवीं कृति 'कामधेनु के लिये उन्हे भारतीय ज्ञानपीठ के अतिविशिष्ट 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' से सम्मानित करने की घोषणा की गयी ।

जिस लेखक ने 'एक किनारे मैं भी जम रहा हूँ' - कहकर सन् १९६९ में अपनी प्रविष्टि दर्ज करायी थी, "वह हिन्दी-निबंध के उस शिखर पर आरोहण करता गया जिसके बाद कई बार लगा कि राह है ही नहीं । लेकिन अगले ही निबन्ध में राह फिर फूटती हुई दिखायी देने लगती ।"[1] कुबेरनाथ राय के विषयगत और विधागत क्षेत्र में कोई ऐसा कीर्तिमान रहा ही नहीं जिसे तोड़कर उन्होंने नया कीर्तिमान न बनाया हो । अब तो उनके सामने अपने ही कीर्तिमान थे जिन्हें तोड़कर वे नये पर नये कीर्तिमान गढ़ते जा रहे थे । इस क्रम में वे अपने क्षेत्र का अतिक्रमण भी करते गये और हिन्दी -निबन्ध, फिर हिन्दी के पूरे समकालीन साहित्य की सीमाओं को लाँघते हुए उस चरम ऊँचाई पर पहुँच गये जिस ऊँचाई पर अन्य भारतीय भाषाओं का भी शायद ही कोई समकालीन साहित्य-साधक पहुँच पाया हो । एक बार फिर डॉ. कृष्णचन्द्र गुप्तः "समकालीन भारतीय लेखन में, मेरी सीमित जानकारी के अनुसार, केवल ताराशंकर वन्द्योपाध्याय आपके समकक्ष हैं, इतने व्यापक साहित्यिक परिदृश्य और लोकप्रिय पठनीयता के कारण । दूसरा कोई साहित्यकार मुझे दिखायी नहीं पड़ता, और न ही यह चुनौती सुनकर किसी ने कोई नाम बताया जिसका साहित्य इतने व्यापक विविध-क्षितिजों का स्पर्श ही नहीं, आलोड़न और मंथन भी करता हो । लेकिन आप ताराशंकर वन्द्योपाध्याय से भी अधिक समर्थ लगते हैं क्योंकि वे कथाकार हैं और वंग-साहित्य की लोकप्रिय पठनीयता उन्हें बंकिम, रवीन्द्र और शरत से मिली है .... जबकि शुष्क तर्कपूर्ण विवेचना के कारण निबन्ध लोकप्रिय हुआ ही नहीं, हो भी नहीं सकता । कथा और संस्मरण कास्पर्श उसे कहाँ मिल पाता है ? तो ऐसी विधा को आपने चरम शिखर पर पहुँचाया है ।"[2]

---

1. डॉ. कृष्ण चन्द्र गुप्त : धर्मयुग, अगस्त १९९६, पृष्ठ : ६0
2. वही, पृष्ठ : ६0-६१

: २ :

हिन्दी साहित्य में ललित निबन्ध की परम्परा का श्रीगणेश तब हुआ था जब भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध अपने शिखर पर पहुँच चुके थे सरदार पूर्ण सिंह और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की लेखनी का संबल पाकर । यह अपेक्षाकृत एक नयी विधा है जिसके पुरोधा हैं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी । कहना न होगा कि आज यही विधा हिन्दी -निबन्ध का शीर्ष-किरीट बन गयी है । इस किरीट का ढाँचा तैयार किया था हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ही । अपनी कल्पना में कोई आकृति तैयार करना और फिर भौतिक रूपाकार में उसका ढाँचा भी खड़ा कर देना प्राथमिक महत्व की चीज है और इतने भर से आचार्य द्विवेदी अग्रपूज्य होने के अधिकारी बन जाते हैं, किन्तु, यह कहना कि आचार्य द्विवेदी ने ललित निबन्ध का मात्र ढाँचा तैयार किया था, उनकी प्रतिभा और उनके अवदान के प्रति घोर अन्याय होगा । प्राचीन भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, तन्त्र-साधना, संस्कृत-साहित्य और काव्यशास्त्र से सम्बन्धित गूढ़ और नीरस--रुक्ष विषयों को अनुभूति और कल्पना के रंग में रँगकर रंम्य-रोचक बना देने की कला का आविष्कार उन्होंने ही किया था । यह प्रयोग इतना सार्थक रहा कि इन निबंधों को पढ़नेवाला एक विशिष्ट पाठक-वर्ग तैयार हो गया और अगली खेवा के साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग इस पद्धति का आश्रय लेकर निबन्ध-लेखन में प्रवृत्त हो गया । और आज यह विधा हिन्दी निबंध का शीर्षकिरीट बन गयी है इस किरीट के लिये मणि-माणिक्य और हीरे-मोती जुटाने तथा उन्हें तराशने, पिरोने और टाँकी मारने का काम किया है विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय ने । शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, विवेकी राय, प्रभाकर माचवे और उमाकान्त मालवीय-जैसे कुशल शिल्पियों ने भी इसे सजाने-सँवारने में भरपूर सहयोग किया है, किन्तु द्विवेदी जी के बाद ललित निबन्ध के लिये सबसे अधिक खून-पसीना बहाया है , विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय ने ही ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी , विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय ललित निबन्ध के परिप्रेक्ष्य में एक वृहत् -त्रयी रचते हैं, ठीक वैसे ही जैसे छायावादी कविता के परिप्रेक्ष्य में पन्त, प्रसाद और निराला; और जैसे छायावादी कविता की चर्चा आते ही पन्त, प्रसाद और निराला का नाम स्वतः ही स्मृति में उभर आता है, वैसे ही ललित निबन्ध की चर्चा आते ही हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय स्मृति में कौंध जाते हैं । आचार्य द्विवेदी ने अपने ललित निबन्धों के माध्यम से प्राचीन भारतीय संस्कृति की विरासत और उसके अंगभूत इतिहास, धर्म, दर्शन, साहित्य और काव्यशास्त्र की गहन मीमांसा प्रस्तुत की है । वे मूलतः अतीतमुखी हैं । विद्यानिवास मिश्र की दृष्टि वर्तमान पर अधिक केन्द्रित रही है ।

उन्होंनें द्विवेदी जी के विषय-क्षेत्र का समाहार करते हुए अपने निबन्धों को वर्तमान लोक-जीवन और लोक-परम्पराओं से संयुक्त करके व्यापक फलक प्रदान किया है। कुबेरनाथ राय ने प्राचीन भारत, वर्तमान लोकजीवन और आधुनिक चिन्तन से समन्वित करके अपने निबंधों को भविष्योन्मुख शिखर तक पहुँचाया है। इसे रूपक की शैली में यों कहा जा सकता है - आचार्य द्विवेदी ललित निबंध की भव्य इमारत की नींव हैं जो धरती के अन्दर (अतीत में) अवस्थित होकर इमारत के संपूर्ण अस्तित्व को धारण करती है। विद्यानिवास मिश्र इस इमारत की भित्ति हैं जो धरती के ऊपर (वर्तमान में) होते हुए भी नींव से अनिवार्यतः जुड़ी होती है। कुबेरनाथ राय इसके भव्य और दिव्य शिखर हैं जिनके सम्मुख अनंत आकाश (भविष्य) का मुक्त विस्तार होता है और जिसका एक छोर भित्ति से होता हुआ नींव तक पहुँच जाता है। कुबेरनाथ राय ने शाश्वत और समयातीत का मार्ग चुना है। उनका रस-आखेटक मन कभी वैदिक साहित्य, भारतीय तंत्र-साधना, वैष्णव रस-परम्परा, राम-कथा, महाभारत-कथा और प्राचीन भारतीय इतिहास में गोते मारता है तो कभी भारतीय संस्कृति की बनावट और बुनावट में आर्य-किरात-निषाद-द्रविड़ महाजातियों के अवदान और कायस्थ, अहीर, धोबी, डोम आदि जातियों के मूल उत्स और उनकी परंपराओं की तलस्पर्शी छानबीन करता है ; कभी भारतीय साहित्य की रसवादी परम्परा के कजरी वन में डूबकी लगाता है तो कभी विश्व-साहित्य और विश्व-राजनीति के भीतर गहरे प्रवेश करके आधुनिक चिन्तन की विविध सरणियों का मन्थन करता है ; कभी अपने आस-पास के देशी लोक-जीवन और लोक-संस्कृति में डूबकर तन्मय भाव से गंगा-गीत, होली-गीत, चैता, घाँटो, विरहा, लोरकी, धोबी-गीत और डोम-गीत सुनता है तो कभी भारतीयता के सन्दर्भ में गांधी-दर्शन की महिमा से अभिभूत होकर 'मणिपुतुल' (अनुज-वधू) के नाम पाती लिखने बैठ जाता है। प्रचीन और नवीन का जैसा सुन्दर समन्वय कुबेरनाथ राय में परिलक्षित होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

'ललित निबन्ध' अर्थात् ऐसा निबंध जिससे 'लालित्य टप्-टप् चू रहा हो। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि अन्य तरह के निबंध लालित्य से सर्वथा रहित होते हैं। निबंध क्या, साहित्य की कोई भी विधा लालित्य से सर्वथा शून्य नहीं हो सकती। जिस दिन ऐसा हो जायगा, उस दिन साहित्य, संग़ीत और कला की बगल में बैठने का अधिकारी भी नहीं रहेगा। इनकी पारस्परिकता की धुरी बिखर जायेगी और 'तंत्रीनाद कबित्त-रस सरस राग रति रंग' उक्ति अपनी सार्थकता खो देगी। 'लालित्य' और 'साहित्य' का साथ मात्र ध्वनि-साम्य तक ही सीमित नहीं। साहित्य के हृदय में लालित्य की अवस्थिति वैसे ही स्थायी है जैसे अग्नि के हृदय में तेज की।

साहित्यकार लालित्य-पुरुष का रसोइया है । अपनी रूचि, अपने वोध और अपनी कला-क्षमता के अनुसार वह चाहे जिस विधा में व्यंजन तैयार करे, किन्तु, इस अनंग देवता की पसन्द का ध्यान उसे रखना ही पड़ता है । यह देवता है बड़ा मायावी । यदि कोई अक्खड़ रसोइया बुद्धिवाद की दुहाई देकर इसकी तावेदारी करने से इन्कार कर दे और लोहा-लक्कड़ गलाकर अभिनव व्यंजन तैयार करने पर उतारू हो जाय तो भी यह हार नहीं मानता और रस बनकर उसमें अनुप्रवेश कर जाता है । आधुनिक हिन्दी-साहित्य, खासकर कविता में ऐसा कई बार घटित हो चुका है । 'सूखे काठ' की उपाधि पाने वाला निबंध भी इसके प्रसाद से कभी वंचित नहीं रहा । आखिर, अज्ञेय के निबंधों को पढ़ने पर भी 'रस' तो मिलता ही है । 'रस' अर्थात् 'लालित्य', बहुत दूर तो उसका सहोदर भ्राता साहित्य में लालित्य की अवस्थिति अनिवार्य है—दूध में मलाई की तरह । लालित्य की मात्रा कम या अधिक हो सकती है, पर रहेगी अवश्य । परंपरित निबन्ध (भावात्मक, विचारात्मक आदि) कच्चा दूध होता है जिसमें मलाई ऊपर से नीचे तक ऐसे घुली-मिली होती है कि उसे अलग से पहचानना कठिन होता है । जब निबंधकार वैयक्तिकता की आँच देकर उस मलाई को सतह पर ला देता है तब ऐसे निबंध की संज्ञा हो जाती है 'ललित निबंध' ।

कहा जाता है कि ललित निबंध के लिये कथ्य और शिल्प, दोनों का ललित होना आवश्यक है । कथन भी ललित; अभिव्यक्ति-भंगिमा भी ललित; कुबेरनाथ राय के अवतरण से पहले प्रायः इसी तरह के ललित निबंध लिखे जाते थे । ऐसे निबंधों की एक बहुत बड़ी सीमा यह थी कि अपनी लक्ष्मण-रेखा के भीतर ये भारतीय साहित्य की आर्ष परंपरा और आधुनिक चिन्तन के जटिल और पेचीदे विषयों को समाविष्ट कर पाने में असमर्थ थे । लालित्य के क्षरण का खतरा जो था । तब यह मान लिया गया था कि ललित निबंध के लिये अन्तरंग और बहिरंग, दोनों का ललित होना आवश्यक है । मात्र शैली-शिल्प के जोर से किसी निबन्ध को 'ललित' नहीं बनाया जा सकता । इस बद्धमूल धारणा को तोड़-पाना एक चुनौती थी । इसे दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया कुबेरनाथ राय ने । दाएँ-बाएँ से नहीं, ठीक सामने से; यह कहते हुए: "ललित निबंध एक ऐसी विधा है जो एक ही साथ शास्त्र और काव्य दोनों है । एक ही साथ, आगे-पीछे के क्रम में नहीं ।xxxx बिना अन्तर्निहित शास्त्र के काव्य रीढ़हीन केंचुआ जैसा लिजलिजा हो जाता है । यह शास्त्र-बल ही है जो काव्य की हड्डी रचता है, उसके अस्थि-पिंजर का निर्माण करता है, उसका मेरुदण्ड रचता है । 'श्रेष्ठ' एवं 'असल' (प्रामाणिक) काव्य में एड़ी से लेकर कपाल तक शास्त्र अन्तर्निहित रहता है; परन्तु भीतर-भीतर । बाहर-बाहर जो दृश्यमान

है वह तो मसृण गात कुसुम कोमल शरीर है, खंजन नयन है ।[1] ललित निबंध एक 'लालित्य-बोध' या 'रसबोध' पर आधारित होता है । भले ही यह रस 'नीमपाक' या 'करेला पाक' हो । 'रम्य' अर्थात् 'रमणीय' सदैव मधुर के अर्थ में ही नहीं गृहीत होता है । xxxxx कोई जरूरी नहीं कि काव्य में भी सर्वदा मीठा-मीठा ही हो । xxxx ललित निबंध को अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष-भक्ति और स्वस्थ अट्टहास, सब कुछ के प्रतिपादन का अधिकार है, उसे हर तरह की आकृति और हर किस्म की वचन-भंगिमा धारण कर लेने का अधिकार है ।"[2]

श्रीराय ने अपने निबंधों में अपने उक्त दावे का खुल कर प्रयोग किया है । वे उत्तरोत्तर चिन्तन के ऊर्ध्वगामी शिखर की ओर आरोहण करते गये हैं, फिर भी उन्होंने लालित्य का पलड़ा कहीं हीन नहीं होने दिया है । प्रारंभिक कृतियों–'प्रिया नीलकण्ठी', 'रस आखेटक' और 'गंधमादन' में सौन्दर्यबोध की प्रधानता है । इनके विषय भी ललित हैं और भंगिमा भी । अतः लालित्य-योजना के लिये इनमें विशेष आयास नहीं करना पड़ा है, किन्तु, परवर्ती कृतियों में वे संस्कृति-बोध, समाज-बोध, इतिहास-बोध, शास्त्र-बोध, शील-बोध और आधुनिक चिन्तन से प्रगाढ़ रूप में जुड़ते चले गये हैं । यह जुड़ाव जितना ही गहन होता गया है, कथ्य में लालित्य के लिये गुंजाइश उतनी ही कम होती गयी है और यह गुंजाइश जितनी कम होती गयी है, शैली-शिल्प और कथन भंगिभा के ऊपर लालित्य-सृजन का दबाव उतना ही बढ़ता गया है । इतने बड़े दबाव को तोड़कर लालित्य को साधने में कुबेरनाथ राय सफल इसलिये रहे हैं कि वे अपनी प्रथम रचना से ही प्रयोग शील रहे । इस बात को एक उदाहरण के द्वारा सहजता से समझा जा सकता है । उनकी द्वितीय कृति 'रस आखेटक' में नाम के अनुरूप रसबोध और सौन्दर्यबोध के प्रति प्रबल आकर्षण है, किन्तु शास्त्र-चिन्तन की मनीषी भूमिका से उन्होंने यहाँ भी स्वयं को च्युत नहीं होने दिया है । 'व्याकरण' की परिभाषा निर्धारित करते हुए वे कहते हैं, "व्याकरण भाषा का पुलिसमैन है । जब कोई शब्द वाक्य के भीतर कुमार्गगामी होता है तो उसकी आवारागर्दी को ठीक करने के लिये व्याकरण उस पर लाठीचार्ज करता है ।[3] देखा जा सकता है कि यहाँ एक अतिनीरस विषय के प्रतिपादन में मात्र कथन-भंगिमा के जोर से चामत्कारिक लालित्य की किस तरह सृष्टि की गयी है ।

1. दृष्टि अभिसार : भूमिका, पृष्ठः v-vi
2. वही, पृष्ठ : viii
3. रस आखेटक, पृष्ठ : 6 (Seven)

ललित निबन्ध की परिभाषा से 'शिव के साँड़' का भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती । पर, तब क्या किया जाय जब कोई ललित निबंधकार ही अपने को, और साथ ही अपने जाति-गोत्र के लोगों को भी 'शिव का साँड़' घोषित करके छुट्टा विचरण करने लगे । ललित निबंध को परिभाषित करते हुए कुबेरनाथ राय ने लिखा है : "विषय के आसपास शिव के साँड़ की भाँति मुक्त चरण और विचरण 'ललित निबंध है ।' अवश्य ही शुक्ल जी जैसे गंभीर आचार्य इसी बात को इस तरह कहते, 'शास्त्र-वृषभ की आनंद-जुगाली का नाम है ललित निबन्ध ।'[1]

'शिव का साँड़' तो आगे नाथ न पीछे पगहा' परम स्वतंत्र है, इच्छाचारी महामत्त गवेन्द्र है । एक तो साँड़, वह भी शिव अर्थात् देवाधिदेव महादेव का । है किसी की हिम्मत जो उसे किसी खेत में चरने से रोक दे ? वह मस्त भाव से सिवान-मथार में हँकड़ता फिर रहा है । जिस खेत में चाहा, दो गाल मार लिया । फिर अपनी खुरों और सींगो से जुट गया धरती का शील-हरण करने में । 'ललित निबंधकार' की 'शिव के साँड़' के रूप में कल्पना कितनी मौलिक और कितनी सटीक है । व्यंजना यह कि विचारात्मक निबंध-लेखक विषय के खूँटे से बँधा होता है । विषय से बाहर जाने के लिये उसे बहुत अवकाश नहीं मिलता । इसके विपरीत ललित निबंध-लेखक विषय में सीधे प्रवेश नहीं करता और जब करता है तो उसी में बँधकर रह नहीं जाता । वह विषय में नहीं, उसकी परिधि पर चरण-विचरण करता है—कभी बाहर तो कभी भीतर । परम स्वच्छन्द और परम मुक्त ।

कुबेरनाथ राय ऋषि-परंपरा के साहित्यकार हैं; उस परंपरा के जो व्यास, वाल्मीकि, कालिदास और रवीन्द्रनाथ से होते हुए तुलसीदास तक आती है । जब वे कहते हैं, "मेरा जन्म तुलसीदास की भूमि पर हुआ है । उनके द्वारा दिये गये उत्तराधिकार का मैं भी भागीदार हूँ । इसका मुझे औसत से ज्यादा घमंड रहता है,[2]" तो प्रकारान्तर से वे यही बात कहते हैं । उनके संपूर्ण साहित्य में मनीषी-धर्म का कहीं भी क्षरण नहीं होने पाया है । मनीषी साहित्यकार वह है जिसकी दृष्टि शाश्वत और सनातन पर टिकी है, जो आस्था और जीवन के आन्तरिक धरातल को स्वस्थ और ऊर्ध्वमुखी बनाने के निमित्त चिन्तन की उदात्त मनोभूमि में प्रवेश कर नये-नये सूत्रों और मूल्यों का संधान और प्रतिपादन करता है; जिसकी सृजनशीलता के केन्द्र में तप, अहिंसा, स्वाध्याय, सत्य, शुचिता, संयम, सहिष्णुता,

---

1. दृष्टि अभिसार : भूमिका (अपनी बात : 'ललित निबंध के बारे में'), पृष्ठ : v-vi
2. प्रिया नीलकण्ठी : 'मनियारा साँप'; पृष्ठ : ४४

अपरिग्रह, सन्तोष, साहस, प्रेम, त्याग, तल्लीनता, सहानुभूति, करुणा, दानशीलता, परोपकार, सौन्दर्यबोध और विश्वास-जैसे उच्चमानवीय-मूल्य प्रतिष्ठित हैं । इस मूल्य-समुच्चय की ही एक संज्ञा शील है । ये मूल्य सार्वभौम एवं सार्वजनीन होते हैं । देश और काल के अनुसार इनकी आकृति बदल सकती है । इनके ऊपर काई-कर्दम चढ़ सकता है, लेकिन अपने मौलिक रूप में ये अपनी चमक कभी नहीं खो सकते । मनीषी साहित्यकार की एक महत्वपूर्ण पहचान यह भी है कि जब वह समाधिस्थ चिन्तन की अवस्था में पहुँचता है तो उसकी वाणी सूत्रात्मक हो जाती है । ये सूत्रात्मक वाक्य जीवनगत सत्य से अत्यन्त प्रगाढ़ रूप से जुड़े होने के कारण अपना शाश्वत महत्व रखते हैं और कालान्तर में ये सूक्ति-रूप में व्यवहृत होने लगते हैं । इस दृष्टि से श्रीराय के कुछ सूक्तिपरक वाक्य द्रष्टव्य हैं :

1. 'चित्त की अविकल, शान्त और समाहित अवस्था ही शिवत्व या बुद्धत्व है ।'
2. 'साहित्य मनोमय पुरुष का अखाड़ा है ।'
3. 'शास्त्र-वृषभ की आनन्द-जुगाली का नाम है ललित निबन्ध ।'
4. 'तरल इच्छा भाव कहलाती है, ठोस घनीभूत इच्छा संकल्प ।'
5. 'असत्य सदैव वाक्पटु होता है ।'
6. 'लक्ष्य की चिन्ता ही सारे दुःखों की विशल्यकरणी है ।'
7. 'व्यवस्था की गुलामी का ही दूसरा नाम मर्यादा है ।'
8. 'जीवन में प्रसन्नता के क्षण बहुत मँहगे होते हैं ।'
9. 'धरती और नारी को असुन्दर औ कुरूप कहने वाला मनुष्य-जाति का सबसे बड़ा द्रोही है ।'

शीलबोध की एक मात्र आधार-भूमि है मनुष्य; अतः वह आर्ष-चिन्तन की केन्द्रीय धुरी अपने आप बन जाता है । शीलबोध और चिन्तन ही हैं जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं । कुबेरनाथ राय की मान्यता है कि धरती और ईश्वर से जुड़कर ही मनुष्य दिव्यताबोध से संपन्न होता है और उसके अन्दर विनयशीलता आती है । इस 'त्रिक' के बिखर जाने पर वह क्षुद्रता से आविष्ट होकर अहंकार और छल-छद्म की भाषा बोलने लगता है ।

कुबेरनाथ राय जिस कालखण्ड के रचनाकार है, उस कालखण्ड में मनुष्य, धरती और ईश्वर का यह सामंजस्य पूरी तरह से बिखर गया है । इसका प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा है । जीवन के शाश्वत मूल्यों को तिरस्कृत कर देने के कारण न तो उसमें सच्चाई रह गयी है, न निष्पक्षता । लेखक के अनुसार आज का साहित्यकार फूहड़ता, अश्लीलता और दुस्साध्य प्रेषणीयता को ही नवबोध मान बैठा

है, गो कि मनुष्य और समाज के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को वह कण्ठ फाड़कर विज्ञापित करता है । उसमें बहुकालीन और सुदूरप्रसारी तत्वों का अभाव है और उसकी सारी ताकत गाली-गलौज में ही चुक जाती है । "आज की क्षमतालोभी राजनीति असत्य और हिंसा को धुरी बनाकर खेल रही है । साहित्यकार भी क्षमता की सींग न सही, पूँछ बनकर ही सही, जीना चाहता है । - - - - अपने कुटिल आचरण को वह 'बौद्धिक पक्षधरता' कहता है और शीलबोध के तिरस्कार को मोहभंग । वह यदा कदा नीतिशास्त्र की बातें न करता हो, ऐसी बात नहीं । परन्तु उसका नीतिशास्त्र यानी एथिक्स वस्तुतः क्षमता के राजनीतिशास्त्र का ही रूपान्तर है । वह व्यक्तिगत शील या नीतिबोध को 'बूर्ज्वा विलास' मानकर 'नयी नैतिकता' का प्रश्न उठाता है और इसलिये वह 'ग्रुप एथिक्स' या 'सामूहिक शील' को नया शील मानकर प्रस्तावित करता है परन्तु यह सामूहिक शील वाली बात क्षमतावादी राजनीति का मुखोश मात्र है ।"[1]

सत्य को सत्य कहना आसान नहीं होता, वह भी इतनी निर्भीकता और दृढ़ता के साथ । आज जबकि 'हिन्दू' और हिदुत्व' शब्दों को ही साम्प्रदायिक मान लिया गया है, और इनको चर्चा में लाना भी अक्षम्य अपराध है, ऐसे में लेखक यह तूर्यनाद करता है, "और हिन्दू तो है ही, हूँ । अपने बाप को कैसे कह दूँ कि यह मेरा बाप नहीं । और यदि ऐसा कहूँ तो मुझसे बढ़कर कमीना कौन होगा ?"[2] यदि कोई हिन्दूवादी राजनेता अथवा ऐसी राजनीति से जुड़ा कोई साहित्यकार ऐसा कहता तो कम आश्चर्य होता; किन्तु, जो लेखक साहित्यकार को राजनीति का 'नाई-बारी-चारण-भाट' मानने का घोर प्रतिवाद करता है यदि वह ऐसा कहता है, तो एक बड़ी बात हो जाती है । कुबेरनाथ राय में ऐसी निर्भीकता और दृढ़ता आयी कहाँ से ? उत्तर साफ है । अपने 'आत्मिक मूलाधार' और 'भारतीयता की जमीन' पर खड़े होने के कारण ही वे ऐसी दो टूक बातें कह सके हैं ।

वैष्णव कवि चंडीदास ने जब मनुष्य की सर्वोच्चता का उद्घोष करते हुए यह कहा था; "सुनो रे मानुष भाइ, सबार ऊपरे मानुष सत्य ताहार ऊपरे नाइ,' तो उन्होंने उसके दिव्यता-बोध को ही सर्वोच्च स्वीकृति दी थी, उसे ईश्वर और पृथ्वी से संयुक्त करके ही ऐसा कहा था । किन्तु बाद में वह ज्यों-ज्यों अपने को ईश्वर और पृथ्वी से विच्छिन्न करता गया, त्यों-त्यों अपनी महिमा और गरिमा से च्युत होता गया । रही सही कसर पूरीकर दी राजनीति ने । आज 'मनुष्य', 'मनुष्यता' और

1. दृष्टि अभिसार : 'प्रजागरं पर्व में साहित्यकार', पृष्ठ : १६१
2. प्रिया नीलकंठी : 'अंत में' (प्रथम संस्करण की भूमिका), पृष्ठ : १६५

'मानववाद' का अस्तित्व केवल नारे के रूप में रह गया है । इन शब्दों के भीतर से 'अर्थ' तत्व का लोप हो गया है, मात्र बहिरंग ही बचा है । अर्थतत्व के लुप्त हो जाने पर शब्द की सत्ता स्वयमेव समाप्त हो जाती है । आज के सन्दर्भ में 'मनुष्य' और 'मानववाद' खोखले शब्द हैं । कुबेरनाथ राय के ही शब्दों में : "एक जिन्दा आदमी सड़क पर देखते देखते लाश का ढेर बना दिया गया, एक अबोध बालिका दिन-दहाड़े धर्षित कर दी गयी, एक गरीब की झोपड़ी सर्वजन सक्षम भस्मीभूत कर दी गयी और इन अभागों की प्राप्य करुणा-दया-सहानुभूति का 'कोटा' राजनीति वर्ग, वर्ण, जाति और संप्रदाय के आधार पर करती है । इसे युक्तिसंगत करने का व्यभिचार इसके अनुचर साहित्यकार और पत्रकार करते हैं । मैं इसे 'सिद्धान्तवाद' नहीं, 'सिद्धान्तबाजी' कहता हूँ । मैं राजनीति द्वारा प्रस्तावित और प्रचारित इस अपमानवीकरण और अपसंस्कृति का विरोध करता हूँ और साहित्यकार को चालू राजनीति का नाई-बारी-भाँट-चारण और अनुचर मानना मुझे स्वीकार नहीं ।"

लेखक को पता है कि मनुष्य और मनुष्यता के प्रति अपनी इस निष्ठा के कारण उसे इन सत्तालोलुप राजनीतिज्ञों और सुविधाभोगी साहित्यकारों का कोप-भाजन बनना पड़ेगा । यदि बन्दर को दर्पण दिखाया जाय तो वह अपनी विरूपताजन्य खीझ दर्पण के ऊपर उतारेगा ही । वह यह मानने के लिये कत्तई तैयार नहीं होगा कि उसकी आकृति ही चपटी और बेडौल है । इसमें दर्पण का कोई दोष नहीं । अतः समाज के इन कर्णधारों का उसके ऊपर नाराज होना स्वाभाविक है । किन्तु, वह यह भी जानता है कि साहित्यकार ही लोक-चक्षु और लोक-जिह्वा है । यदि भयवश आँखें देखना छोड़ दें और जीभ बोलना छोड़ दे तो अन्याय और अत्याचार का प्रतिवाद कौन करेगा ? अतः वह सारे खतरे मोल लेकर अपनी प्रतिबद्धता को और दृढ़ता के साथ दो टूक शब्दों में व्यक्त करता है, "मनुष्य की मनुष्यता के प्रति मेरी इस प्रतिबद्धता को कोई गाली देना चाहे तो दे, परन्तु मैं मनुष्य को (और उसकी अपनी ही प्रतिमा के रूप में 'ईश्वर' और 'प्रकृति' को भी) छोड़कर अन्य किसी के प्रति साहित्य को प्रतिबद्ध नहीं मानता । शेष अन्य प्रकार की प्रतिबद्धताएँ अधूरी हैं, चाहे वह प्रतिबद्धता बहुविज्ञापित समाजवाद के ही प्रति क्यों न हो ।[1] लेखक देखता है कि देहाश्रयी युग-चेतना में जी रहा आज का मनुष्य-अपने चिन्मय व्यक्तित्व को पहचानने में निरन्तर अक्षम और असमर्थ होता जा रहा है । उन मूल्यों का निरन्तर क्षरण होता जा रहा है जिनसे मनुष्यत्व परिभाषित होता

1. गंधमादन : 'अपनी बात', पृष्ठ : ३२१-२२

आया है । उसे साफ दिखाई देता है कि विज्ञान, पूँजीवाद, उद्योग और मार्क्सवाद की अतिशय बौद्धिकता और इसके प्रति प्रबल आग्रह के कारण मनुष्य की कैसी दुर्दशा होने वाली है ? वह भविष्यवाणी करता है, "मुझे दिखायी दे रहा है, भविष्य में मृत्यु भी स्वाभाविक नहीं होगी, जीवन की कौन कहे ! मृत्यु के दो ही मार्ग शेष रह जाएँगे : आत्मघात और हत्या ?"[1]

आज साफ दिखायी दे रहा है कि मनुष्य उस दिशा में काफी आगे बढ़ चुका है । सभ्यता हाथ में एटम बम लेकर खड़ी हो गयी है । हत्या और आत्महत्या की घटनाएँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं । अपने 'आत्मिक मूलाधार' से विच्छिन्न होने के कारण मनुष्य आज विक्षिप्ति की दशा में पहुँच चुका है । वह दिग्भ्रमित हो चुका है । अतः आवश्यकता है उस औषधि के सन्धान की जो उसे मानसिक और बौद्धिक निरुजता प्रदान कर सके; आवश्यकता है उस मणि-दीप की जो उसके मन के घनान्धकार को विदीर्ण करके अपने प्रकाश से उसके जीवन-पथ को आलोकित और निर्देशित कर सके । कुबेरनाथ राय के निबंधों का लक्ष्य है उसी औषधि और उसी मणिदीप की तलाश करना–"आज हम सब मानवीय चरित्र के अमानवीयकरण की प्रक्रिया में पुनर्जन्म लेते ज्ञात होते हैं । ऐसी अवस्था में साहित्य के भीतर कहीं कोई 'गंधमादन' खोजना, जिसके क्रोड़ में तमसाच्छन्न रात्रि को विदीर्ण करता हुआ चार औषधियों का प्रकाश दहक रहा हो, मेरा आदर्श है, मेरी चेष्टा का लक्ष्य-बिन्दु है।"[2]

कुबेरनाथ राय अपने निबंधों की सोद्देश्यता के सन्दर्भ में बार-बार कहते हैं कि उनके लेखन का लक्ष्य है 'पाठकों की चित्त-ऋद्धि का विस्तार करना और उसे एक परिमार्जित भव्यता देना ।' दूसरे शब्दों में, 'पाठकों के मानसिक और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना ।' भारतीय साहित्य की क्लासिकल परंपरा, शाक्त-वैष्णव मनोभूमि, भारत का चिन्मय व्यक्तित्व और आधुनिक चिन्तन उनकी वैचारिक पृष्ठभूमि रचते हैं, परन्तु ये सभी परस्पर संग्रथित हैं पूरक-रूप में ही । विषय-प्रतिपादन में उनकी दृष्टि सर्वत्र समन्वय पर ही केन्द्रित रही है । अपने लेखन के उद्देश्य की ओर इंगित करते हुए वे लिखते हैं, "मेरा उद्देश्य रहा है हिन्दी-पाठक के हिन्दुस्तानी मन को विश्वचित्त से जोड़ना और उनको मानसिक ऋद्धि प्रदान करना । मेरे निबंध 'भारतीय मन और विश्वमन' के बीच एक सामंजस्य उपस्थित करते हैं ।"[3] आश्चर्य होता है उनकी संदर्भ-बहुलता को देखकर ! उनकी

---

1. प्रिया नीलकण्ठी : 'डूबता हुआ देवयान', पृष्ठ : ४८
2. गंधमादन : 'अपनी बात', पृष्ठ : २२१
3. मराल : 'अपने लेखन के बारे में', पृष्ठ १५७

सुदूरप्रसारी अन्वेषक दृष्टि एक तरफ भारतीय भाषाओं–वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, हिन्दी, बँगला, असमिया, उड़िया, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगु, मलयालम,कन्नड़ आदि से अपना उपजीव्य खींचती है तो दूसरी तरफ ग्रीक, फ्रेंच, अंग्रेजी, जर्मन, अमेरिकन, रूसी, डच, स्पेनिश, पोलिश, अल्जीरियन, चीनी, पुर्तगाली आदि से । एक तरफ वह वैदिक ग्रंथों, उपनिषदों और पुराणों के साथ-साथ व्यास, वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भास, भवभूति, भारवि, माघ, वाणभट्ट, विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी, रवीन्द्रनाथ, काज़ी नज़रुल इस्लाम, सुब्रह्मण्य भारती, प्रसाद, निराला, दिनकर आदि भारतीय महाकवियों के साहित्य में डूबकर रस का आहरण करती है तो दूसरी तरफ पाश्चात्य साहित्यकारों–गेटे, इलियट, एच. जी. वेल्स, दान्ते, होमर, वर्जिल, मिल्टन, डिलन टामस, जार्ज बर्नार्ड शा, यीट्स, शेक्सपीयर, वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन, कीट्स अलेक्जेण्डर सॉलेत्सीन आदि के साहित्य से; एत तरफ वह भरत मुनि, आचार्य विश्वनाथ, मम्मट, भामह, वामन, दण्डी, जयदेव, आनंदवर्द्धन, अभिनव गुप्त, भट्ट लोल्लट, भट्टनायक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि भारतीय आचार्यों के काव्य-सिद्धान्तों की पारदर्शी मीमांसा प्रस्तुत करती है तो दूसरी तरफ अरस्तू,प्लेटो, क्रोचे, आई. ए. रिचर्ड्स, टी. एस. इलियट, डी. एच. लारेंस, लौंजाइनस, कार्लमार्क्स आदि पाश्चात्य चिन्तकों के साहित्य-सिद्धान्तों की; एक तरफ भारतीय रस-साधना, तंत्रविद्या, वैष्णव-शैव-शाक्त-परंपरा, सांख्य दर्शन-योगदर्शन, भक्तियोग, ज्ञान योग, कर्मयोग तथा एकेश्वरवाद, प्रतिबिम्बवाद, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद आदि का आलोड़न-विलोड़न करती है तो दूसरी तरफ विश्व की आधुनिक विचारधाराओं–प्रत्ययवाद, भौतिकवाद, साम्यवाद, लेनिनवाद, मार्क्सवाद, समाजवाद, अस्तित्ववाद और उसकी दोनों शाखाओं आस्तिक अस्तित्ववाद एवं नास्तिक अस्तित्ववाद, स्टालिनवाद, फासीवाद, नाजीवाद, यथार्थवाद, मानववाद, व्यक्तिवाद, प्रतीकवाद, शैलीवाद आदि का; एक तरफ वह प्राचीन भारतीय दार्शनिकों–शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामानंद, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्का-चार्य आदि के दार्शनिक सिद्धान्तों का मन्थन करती है तो दूसरी तरफ आधुनिक विश्व के प्रमुख चिन्तकों–अरस्तू, प्लेटो, डार्विन, नीत्से, हीडेग्गर, कार्ल यास्पर्स, मार्सेल, लेनिन, कार्ल मार्क्स, एंगेल्स, माओत्से तुंग, येल, रबी-बिना-इज्रा, ज्याँ पॉल सार्त्र, अल्वेयर कामू, बोरिस पास्तरनाक, फ्रायड, युंग, बाँदलेयर, मलार्मे, हरबर्ट मारक्यूस आदि के आधुनिक विचारों का ।

लेखक ने कहाँ-कहाँ से मधुकरी ग्रहण की है और कितनी विनम्रता तथा समर्पण के साथ, इसको रेखांकित करती हैं ये पंक्तियाँ: "मैं अपने गाँव की धरती के हृदय से एक जीवित परंपरा का चयन करने चला हूँ । परंतु अतिशय विनय और अतिशय प्रीति के साथ । बिना किसी रोब, भड़ंग या उच्चताबोध की ग्रंथि

के । मैं सरल और सहज भाव से चलने का संकल्प धारण करके चल रहा हूँ । वैसे ही सहजभाव से जैसे कि चिड़िया खेत से दाना चुग जाती है विना किसी स्वामित्व का रोब झाड़े; ...... सबके प्रति कृतंज्ञता के साथ और सबके प्रति नतमस्तक होते हुए । मैंने क्लासिकल शिल्प, लोक-संस्कृति और आधुनिक चिन्तन तीनों से मधुकरी ग्रहण की है परन्तु उनके सहजस्वाभाविक 'मुख' को ही स्वीकारा है । मैं न तो प्राचीनों के 'मुखकमल' के पीछे भटका हूँ और न नवीनों के 'मुखोश' का ही गर्व किया है । बाजारू क्लासिकल बोध, बाजारू लोकसंग्रह और वाजारू आधुनिकता, तीनों से बस, 'शत हस्तेन वाजिनाम्' । अन्यथा दुलत्ती की चपेट में आ जाना होगा ।[1]

कुबेरनाथ राय साहित्य-साधना के लिये एकान्त को आवश्यक मानते हैं और यह विश्वास करके चलते हैं कि मंच, माइक और प्रचार ट्रैक्ट इस एकान्त को खंडित करते हैं । यही कारण है कि वे जीवनपर्यन्त मंचों, सभाओं और प्रचार-माध्यमों से दूर रहकर एकनिष्ठ भाव से अपनी अनुभूति और चिन्तन को निश्छल अभिव्यक्ति देते रहे । इन माध्यमों से जुड़े साहित्य को वे 'साहित्य' मानते ही नहीं । अधिक से अधिक इसे पत्रकारिता की श्रेणी में रखते हैं । अपने विशाल अध्ययन, अगाध पांडित्य और अपने अन्तर्यामी के प्रति अचल निष्ठा के कारण उनमें अखण्ड आत्म-विश्वास है । अतः वे अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन दृढ़ता के साथ करते हैं, इस द्वन्द्व में नहीं पड़ते कि इसके लिये कोई क्या कहेगा ? पुष्टि के लिये एक प्रमाण ही काफी होगा । वैष्णव संस्कारों में पले-बढ़े कुबेरनाथ राय में भाव-साधना के प्रति प्रबल आकर्षण है । आकर्षण क्या, कभी-कभी तो अतिशय तन्मन्यता में वे महाभाव की दशा में पहुँच जाते हैं । वे जानते हैं कि आज की बौद्धिकता उनकी बात का विश्वास नहीं करेगी फिर भी वे अपने अनुभूत सत्य को पाठकों के सम्मुख ईमानदारी के साथ रख देते हैं : "कभी-कभी अकेले में ऐसा लगता है कि राधा पीछे से कुंकुम मलकर भाग गयी है । मैं उसकी हँसी स्पष्ट सुनता हूँ । देवत्व के ये क्षण सदैव नहीं आते । पर कभी-कभी आते हैं । देवता स्वयं प्यार का भूखा है । वह सबके पास जाता है । कपाट को आवृत देखकर निराश मन चला जाता है । भाग्यवश कभी-कभी भूल से मेरे अन्तर्पट खुले रह जाते हैं तो देवता अन्दर आ जाता है । स्नेहपूर्वक पूछता है : 'कैसे हो ? बहुत दिन वाद मिले हो ?"[2]

---

1. दृष्टि अभिसार : 'पाकड़ बोली रात भर', पृष्ठ ७५
2. प्रिया नीलकण्ठी : 'मनियारा साँप,' पृष्ठ : ४४-४५

सामान्य जन भला इस रहस्य को कैसे जान सकता है ? 'नया साहित्य' लिखने वाले और 'नया साहित्य' पढ़ने वाले आधुनिक बुद्धिजीवी का तो कहना ही क्या ? वह तो ईश्वर की सत्ता को ही नकार चुका है । लेखक जानता है कि ऐसे साहित्यकार 'रूमानी' और 'भावुक' कहकर उसका उपहास करेंगे फिर भी अपने मत को वह दृढ़ता के साथ प्रतिस्थापित करता है, किन्तु कितनी विनयशीलता और बेचारगी के साथ, "व्यक्ति-व्यक्ति में राधा है । जब वह हँसकर उत्तरीय में रंग लगा देती है तो श्रीकृष्ण बनना ही पड़ता है । तुम मानो या न मानो । सारा जग वंचना और व्यंग्य करे, पर शीश उठाकर कवीन्द्र रवीन्द्र की भाँति स्वीकार करना पड़ता है : 'मैं तो जन्म से रोमांटिक हूँ ।.... आमि 'जन्मे रोमांटिक ।'"[1]

यदि कोई व्यक्ति अपनी बात कहे और उस बात को कोई समझ ही न पाए या समझना ही न चाहे; समाज के भीतर रहते हुए भी वह उस समाज के लिये 'आउट साइडर' (अजनबी) बना रहे तो यह स्थिति कितनी त्रासद और भयावह होती है । साधारणतया ऐसे में आदमी टूट जाता है । कुबेरनाथ राय के यन्त्रणा-भोग को भला कौन समझ सकता है जो 'माघे-मेघे गतं वयः' अथवा 'काव्य-शास्त्र-विनोदेन' के आदर्श के अनुपालन में जीवनपर्यन्त सद्साहित्य पढ़कर और सद्साहित्य लिखकर 'भारत के चिन्मय व्यक्तित्व' को महिमामंडित करते रहे, 'मनुष्य' और 'मनुष्यता' का जयघोष करते रहे, किन्तु, प्रबुद्ध पाठक और समानधर्मी सह-भोगी न मिल पाने की दशा में वे अपने को वैसे ही अकेला महसूस करते रहे जैसे कोई ईमानदार अधिकारी 'लूटो और खाओ'–धर्म पर चलने वाले कर्मचारियों के बीच अपने को अकेला पाता है क्योंकि उसके दृष्टिकोण को कोई समझ ही नहीं पाता और उल्टे उसे ही बेईमान घोषित कर दिया जाता है । इस बात पर लोग विश्वास भी कर लेते हैं क्योंकि समाज में ऐसे ही लोगों की संख्या ज्यादा है । किन्तु वे क्या करें ? वे तो 'पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देने' और उसकी 'चित्त-ऋद्धि का विस्तार करने' की अपनी भीष्म-प्रतिज्ञा में बँधे हुए हैं । उधर साठोत्तरी का आधुनिकतावादी कवि और लेखक विकृत चिन्तन,गलित रूमान, नकारात्मक दृष्टि, अनगढ़ फूहड़ता, अश्लीलता और दुस्साध्य प्रेषणीयता के प्रति घोर आसक्ति को ही नवबोध मान बैठा है । उसकी दृष्टि में जो फूहड़ नहीं है, अश्लील नहीं है, जिसमें विकृत चिन्तन और नकारात्मक दृष्टि का अभाव है, वह पुनरुत्थानवाद और प्रतिक्रियावाद है । फिर भी अपनी प्रकृति और अपने स्वभाव के अनुरूप कुबेरनाथ राय ने 'भुज उठाइ पन कीन्ह' की शैली में चुनाव किया "मैंने निश्चय किया है कि

---

1. प्रिया नीलकंठी : 'मनियारा साँप', पृष्ठ :४७

चाहे मुझे स्थापित पुनरुत्थानवादी या प्रतिक्रियावादी या जो कुछ कहा जाय, मैं साहित्य को तिरस्कृत करके हैंडबिल और विज्ञापन के स्तर की पत्रकारितापरक सामग्री को पढ़ने को तैयार नहीं। (लिखने की तो बात ही क्या ?) इससे अच्छा है 'मेघदूत' और 'टेम्पेस्ट' पढ़कर अकेले-अकेले शेष वयस काट देना। .... आनंद की शोभायात्रा या जुलूस तो सर्वदा निर्जन एकान्त का पथ पकड़कर चलता रहा है। अतः मैं भी अकेले ही सही—चिल्लाऊँगा : 'मेघदूत-कामायनी जिन्दाबाद ! मानव-मन जिन्दाबाद ! मानसिक संस्कृति जिन्दाबाद !' मैं अकेले-अकेले सारे नरक को परास्त करूँगा। मैं अकेले-अकेले इस कसाईखाने में बैठकर यज्ञीय पायस का रंधन करूँगा।[1] मैं उपहास का पात्र बनने की संभावना होते हुए शाश्वत और सनातन का मार्ग चुनता हूँ, मैं 'सम्पूर्ण' मनुष्य का और आत्मा (चिन्मय व्यक्तित्व) का मार्ग चुनता हूँ; मैं सौन्दर्यबोध, रसबोध, रति-तृषा-आर्ति और आस्वादन का मार्ग चुनता हूँ, मैं उस संपूर्ण शोभायात्रा का अंग बनकर चलना चाहता हूँ जो अग्नि के आविष्कार से प्रारंभ होकर 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' और 'उर्वशी' तक आती है।"[2]

राजनीति-आविष्ट आज के घोर अन्धकार-युग में लेखक की कृतियों का चाहे जो मूल्य निर्धारित किया जाय, किन्तु उसे इस बात का सन्तोष है कि वह आजीवन साहित्य के मूल धर्म से जुड़ा रहा। उसकी रचनाएँ पाठकों की चेतना को समृद्ध और ऊर्ध्वमुखी बनाने में उसी प्रकार सहायक हैं जैसे गीता और उपनिषद। 'कामधेनु' की भूमिका में वे लिखते हैं, "यह निश्चय ही गीता-उपनिषद आदि के टक्कर की चीज नहीं है। उतनी बड़ी उपलब्धि मेरे जैसे 'जीव' की क्षमता के बाहर है। परंतु जो कुछ मैं इसके माध्यम से दे रहा हूँ या अन्य रचनाओं के माध्यम से दिया है वह उपर्युक्त घोषित लक्ष्य का सोलह आना नहीं तो इकन्नी-दुअन्नी की पूर्ति तो निश्चय ही करता है।"[3]

भौतिक सन्तुष्टि कुछ और होती है और आत्मिक सन्तुष्टि कुछ और। दैहिक समृद्धि से अधिक महत्वपूर्ण है मानसिक और आत्मिक समृद्धि। अतः कुबेरनाथ राय यश, मान और प्रचार-प्रसार पाने वाले उन साहित्यकारों के सम्मुख एक प्रस्ताव रखते हैं—जवाबदेही का प्रस्ताव, "इस कोलाहल में 'हीरो' बनने के उत्सुक कुछ साहित्यकारों से भी एक निवेदन करना चाहूँगा। सुना जाता है कि नागालैण्ड के

---

1. विषाद योग : 'विपथगा', पृष्ठ : २१९
2. वही, पृष्ठ : २२०
3. कामधेनु : द्वितीय संस्करण की 'भूमिका', पृष्ठ : x

कुछ कबीलों में, और अन्यत्र चीन-जापान में भी, कभी रिवाज था कि पूरा खानदान अथवा कबीला साल में एक बार अपने पूर्वजों के समाधिस्थल पर जाकर अपने वर्ष भर के कारनामों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता था और अपने अपकर्मों की जवाबदेही प्रस्तुत करता था। मेरी समझ में यह बड़ी ही सुन्दर रस्म थी। हिन्दी के ये 'हीरो' लोग भी अपने अन्तःकरण को एक बार, साल भर में कम से कम एक वार टटोलें और अपने कर्मों की जवाबदेही तुलसी-कबीर प्रेमचन्द आदि की स्मृति में मन ही मन स्वयं को दे। वे उस उत्तरदायित्व के प्रति भी सोचें कि मानवता के इस विशाल खण्ड का प्रतिनिधि होने के कारण उनकी नियति ने उनके कंधों पर कितने बड़े उत्तरदायित्व का बोझ डाला है। .....आधे देश की मानसिक संरचना हिन्दी के साहित्यकारों के जिम्मे है। हिन्दी साहित्य के सर्वांगीण विकास का अर्थ होता है देश की आधी जनता के मानस का सर्वांगीण विकास। यह केवल अखबारबाजी से नहीं हो सकता।"[1] यदि उनकी पुकार सुनकर कोई आ जाता है तो अच्छी बात। नहीं आता है तो कोई बात नहीं। उन्हें तो 'एकला चलो रे' मन्त्र का जाप करते हुए आगे बढ़ना ही है। पुकार लगाने का उद्देश्य तो मात्र इतना ही था कि कोई यह न कहे कि उसे समय रहते 'चेताया' नहीं गया।

कुबेरनाथ राय का संपूर्ण साहित्य 'भारत' और 'भारतीयता' से निबिड़रूप से जुड़ा हुआ है। उसमें जिस गंगातीरी लोकजीवन, रामकथा और गाँधी-दर्शन की मीमांसा हुई है, उसका उद्देश्य ही है भारतीयता का प्रत्यभिज्ञान कराना। किन्तु, लेखक को इस बात की मर्मान्तक पीड़ा है कि आधुनिकता के दबाव में आज का भारत अपने 'आत्मिक मूलाधार' से विच्छिन्न होकर अपराध-प्रवण, कुटिल और अहंकारग्रस्त होता जा रहा है। स्वार्थ-लोलुप राजनीतिज्ञ उसकी पहचान हो निरन्तर भोथर और चपटी बनाते जा रहे हैं। राजनीतिज्ञ को केन्द्र में रखकर प्रशासक, पत्रकार, अपराधी और उपद्रवकारी एक अलिखित एवं अघोषित अनुबंध के तहत देश की जनता के खिलाफ मोर्चा खोल दिये हैं। ऐसी दशा में सामान्य जन भकुआ बना हक्का-बक्का खड़ा है। लेखक के निबंध इस स्थिति के प्रत्याख्यान में लिखे गये हैं। उसी के शब्दों में, "सच तो यह है कि मेरा संपूर्ण साहित्य या तो क्रोध है, नहीं तो अन्तर का हाहाकार, पर इस क्रोध और इस आर्त्तनाद को मैंने सारे हिन्दुस्तान के क्रोध और आर्त्तनाद के रूप में देखा है। इन निबंधों को लिखते समय मुझे सदैव अनुभव होता रहा : 'अहं भारतोऽस्मि।"[2]

---

1. वही, पृष्ठ : x
2. रस आखेटक : ..... 'और अंत में' (भूमिका), पृष्ठ : २

एक बार इन पंक्तियों के लेखक ने जब इस 'आर्त्तनाद' की व्याख्या करने का अनुरोध किया था तो कुबेरनाथ राय ने बताया था, "यह आर्त्तनाद उन प्रमूल्यों के निरन्तर क्षीण होने के सन्दर्भ में है जिससे इस हिन्दुस्तान का 'मनुष्यत्व' परिभाषित होता आया है। समाज-व्यवस्था और कर्मकाण्ड ने इसे तेजहीन और स्थविर बना दिया, परन्तु इसे अस्वीकृत कभी नहीं किया। वह इन्हें प्राणहीन पत्थर का देवता बनाकर भी पूज्य मानता ही रहा। परन्तु राजनीति इन्हें अस्वीकृत कर रही है और उसके स्थान पर एक अमानुषिक विकल्प थोपने जा रही है। राजनीति, जो 'जीवन्त' है उसे भी मुर्दा घोषित करके 'म्यूजियम पीस' बनाकर रखना चाहती है। यही विडम्बना मुझे पीड़ित करती है। इस विडम्बना के प्रतिरोध में मैंने अपने ललित निबंधों को लिखा है। 'आर्त्तनाद' से मेरा तात्पर्य यही है। मैं मनुष्य को पृथ्वी और ईश्वर से जोड़कर एक त्रिक (ट्रिनिटी) के रूप में नहीं बल्कि इससे भी घनिष्टतर एक इकाई (यूनिटी) के रूप में देखना चाहता हूँ।"[1]

कुबेरनाथ राय के साहित्य में जिस भारत की पुनर्प्रतिष्ठा और पुनराविष्कार हुआ है, वह 'मृण्मय भारत' नहीं है। 'मृण्मय भारत' अर्थात् नदी, समुद्र, पर्वत, मैदान आदि से समन्वित एक भौतिक और भौगोलिक भू-खण्ड, जिसकी सीमा घटती-बढ़ती रही है, घट-बढ़ सकती है और जिसका अस्तित्व देह के स्तर पर ही है। उनकी आराधना का केन्द्र वह भारत है जिसे 'दिनकर' ने अपनी एक कविता में 'गंध निकेतन' और 'अदृश्य उपवन' कहकर अभिनन्दित और वन्दित किया है, यह भारत 'दिव्य मनोभूमि' और 'दिव्य अनुभवलोक' का पर्याय है। इसे उन्होंने चिन्मय भारत कहा है।

इसी क्रम में 'शाश्वत भारत'और 'चिन्मय भारत' के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कुबेरनाथ राय लिखते हैं : "मेरा विश्वास है कि जीवन में कुछ ऐसे मूल्य हैं जो अचल हैं, ध्रुव हैं और प्रत्येक युग-धर्म में उनकी महिमा स्थिर रहती है। इन अचल मूल्यों के समवाय को ही भारतीय सन्दर्भ में 'चिन्मय भारत' कहा जा सकता है। दूसरी ओर कुछ मूल्य हैं जो निरन्तर युग-धर्म के परिवर्तन के साथ-साथ बदलते हैं और उस विकासमान प्रक्रिया को हम भारतीय सन्दर्भ में 'शाश्वत भारत' कहते हैं।"[2] उनके साहित्य में जिस भारत की चर्चा बार-बार आयी है उसका खुलासा करते हुए वे पुनः लिखते हैं : "जिस 'भारत' की बात मेरे संपूर्ण साहित्य में आती गयी है वह है इस देश का 'चिन्मय' और 'मनोमय' संस्करण। वह चिन्मय और

1. 'श्री कुबेरनाथ राय-संक्षिप्त परिचय' : डॉ. बरमेश्वरनाथ राय (दशम मूर्ति देवी पुरस्कार की स्मारिका, पृष्ठः ८.
2. कामधेनु : 'जम्बूद्वीपे- भरतखण्डे.... ', पृष्ठः ९७

मनोमय रूप किसी प्रकार की क्षुद्रता और संकीर्णता से ऊपर है । शिवत्व, बुद्धत्व और रामत्व ही इसके प्रतीक हैं । .... ऐसे भारत से जुड़ने का तात्पर्य ही होता है मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर से जुड़ना ।" 1

: ३ :

कुबेरनाथ राय ने 'साहित्य' और 'साहित्यकार के दायित्व' से संबंधित एक दर्जन से अधिक निबंध लिखे हैं जिन्हें एकत्र कर दिया जाय तो एक स्वतन्त्र पुस्तक बन सकती है । इनमें से आठ निबन्ध तो अकेले 'विषादयोग' में है जिनमें से 'साहित्यकार की उत्तरकालीन दिशा–समाजवाद?; 'समाजवादी सिसृक्षा और अभिव्यक्ति-संकट', श्रमिक संस्कृति और सिसृक्षातोष' तथा 'समाजवाद, अमलातंत्र और साहित्यकार' अनुचिन्तन के रूपमें लिखे गये हैं जबकि 'माघे मेघे गतं वयः' 'विपथगा', 'कविर्मनीषी परिभू स्वंयभू' एवं 'देहाश्रयी युग-चेतना और साहित्य ' टिप्पणियों के रूपमें । ये टिप्पणियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं । लेखक के ही शब्दों में : "ये मेरे अपने साहित्यिक विश्वासों की संहिता उपस्थित करती हैं । इनके आधार पर ही मेरे सम्पूर्ण साहित्य को समझा जा सकता है।"2 एक निबंध है दृष्टि अभिसार' में जिसका शीर्षक है 'प्रजागर पर्व में साहित्यकार' । यह निबंध 'वास्तविक' और 'प्रामाणिक' साहित्य के स्वरूप, उसकी भूमिका, उसके उत्स और उसके लक्ष्य की गहन मीमांसा करता है । सिद्धान्त-प्रतिपादन की दृष्टि से यह निबंध सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । एक निबंध 'आधुनिक संदर्भ में साहित्यकार की भूमिका' 'मराल' में है । 'साहित्य में सामाजिक चेतना और इतिहास बोध', 'लोकचित्त, हिंसा और साहित्यकार, ' 'भारतीय वाङ्मय के सन्दर्भ में आर्ष चिन्तन-पद्धति ' आदि तीन-चार निबंध विश्वविद्यालय प्रकाशंन, वाराणसी से शीघ्र प्रकाश्य 'वाणी का क्षीरसागर' में आ रहे हैं ।

यहाँ इन निबंधों की विस्तृत मीमांसा करने के लिये बहुत अवकाश नहीं है । किन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो कुबेरनाथ राय के सिद्धान्त-पक्ष से जुड़ी हैं और उन्हीं सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रतिफलन है उनका सम्पूर्ण साहित्य । अतः उनकी चर्चा करना आवश्यक है । आखिर यह भी तो महत्वपूर्ण है कि अकूत प्रतिभा और अपार क्षमता से संपन्न होते हुए भी कुबेरनाथ राय साढ़े तीन दशकों के लम्बे साहित्यिक जीवन में ललित निबन्ध की एकरेखीय दिशा में ही क्यो लेखन करते

---

1. मराल : 'अपने लेखन के बारे में ' पृषअठः १६८
2. विषाद योग : 'अन्त में अपनी बात', पृष्ठ : २५०

रहे ? ललित निबंध के अतिरिक्त उन्होनें कुछ लिखा तो मात्र-कविताएँ, जिनकी संख्या ४५-५० के लगभग हैं और जो 'कंथा-मणि' में संग्रहीत हैं । उक्त रहस्य को जानने में उनके दो उद्धरण काफी सहायक होंगे :

1. "साहित्य का स्वर्णपाद है काव्य, जिसके एक-एक दोहे पर कभी एक-एक दीनार कटती थीं; एक-एक श्लोक पर एक-एक तालुका निछावर होता था । इसका रजतपाद है गद्य अर्थात् निबंध-प्रबंध, दर्शन-इतिहास का टकसाली साहित्य, जिसमें खोटे सिक्के ज्यादा दिन नहीं चल सकते । ताम्रपाद है पैसे सेर बिकने वाला विपुलकाय कथा-साहित्य और लौहपाद है पत्रकारिता, जिसके अस्थि-पिंजर की रचना हिंसा-प्रतिहिंसा से होती है ।"[1]

२. "किसी भी जाति की मूल प्रकृति का सच्चा थर्मामीटर है उस जाति का काव्य-साहित्य और उसकी बौद्धिक गंभीरता तथा उदात्तता का परिचायक है निबंध साहित्य । यह मंत्र मुझे छात्रावस्था में स्वर्गीय काका कालेलकर के मुख से पहली बार सुनने को मिला था और इसमें मेरा विश्वास तभी से निरन्तर बना हुआ है । निबन्ध ही किसी जाति के 'ब्रह्मतेज' को व्यक्त करता है ।"[2]

मेरी समझ में, यही दो कारण रहे जिनके चलते कुबेरनाथ राय ने केवल ललित निबंध और कविताएँ लिखीं । उनकी दृष्टि में साहित्य के शिखर हैं कविता और निबंध ही । कविता से किसी देश या जाति की आंतरिक ऋद्धि की व्यंजना होती है और निबंध से बौद्धिक समृद्धि और चिन्तन के औदात्य की । उन्होंने कविताएँ लिखी हैं भारत की आन्तरिक ऋद्धि को ऊँचाईं देने के लिये और ललित निबंध लिखे हैं भारत की आन्तरिक ऋद्धि और उसके बौद्धिक औदात्य–दोनों को ऊँचाई देने के लिये, क्योंकि ये निबन्ध नहीं, ललित निबन्ध हैं । ललित निबंध हृदय और बुद्धि दोनों की महिमा को एक साथ स्वीकार करके चलते हैं ।.

साहित्य-चतुष्पाद की अवधारणा कुबेरनाथ राय के साहित्य-चिन्तन की एक विशिष्ट उपलब्धि है । इससे भी महत्वपूर्ण उपलब्धि है 'पंचीकरण' का सिद्धान्त । उनके अनुसार जिस तरह यह भौतिक जगत क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर का पंचीकृत रूप है वैसे ही वैचारिक जगत भी व्यक्ति, समूह, देश (भूगोल), काल (इतिहास) और कालातीत (शाश्वत) का 'पंचीकरण' है । सत्ता के ये पाँचों समकेन्द्रिक वृत्त हैं । केन्द्र में है 'व्यक्ति' । इसे वृत्ताकार घेरे हुए है 'समूह' । समूह

---

1. विषाद योग : 'विपथगा', पृष्ठ : २१३
2. मशलः अपने लेखन के बारे में ; पृष्ठ : १५८

को घेरे हुए है 'देश' अर्थात् 'भूगोल' । भूगोल के ऊपर वृत्ताकार छल्ला है 'काल' अर्थात् 'इतिहास' का । इतिहास-चेतना या युगबोध का सम्बन्ध इस चौथे वृत्त से ही है । यह इतिहास भूत, वर्तमान और भविष्य में विभक्त है । इस चौथे वृन्त को घेरे हुए है 'महाकाल' या 'शाश्वती' का असीम-अनंत महावृत्त, जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य में विभक्त नहीं किया जा सकता और जिस के भीतर जीवन के स्थायी मूल्य करुणा, सहानुभूति, प्रेम, उदारता, साहस, त्याग, दृढ़ता , सत्य, अहिंसा आदि अवस्थित हैं । ये मूल्य समाज, देश और काल के साथ बदलते नहीं । इनका चरम प्रतीक है 'ईश्वर' या 'महाचैतन्य' । व्यक्ति, समूह, देश (भूगोल), काल (इतिहास) और महाकाल (शाश्वत) – इन पाँचों सत्ताओं में इन पाँचों का अस्तित्व हैं । हमें जो कुछ अनुभव होता है वह है इनका पंचीकृत रूप । यह सही है कि इन पाँचों वृत्तों पर जोर सर्वदा समान नहीं पड़ता । कभी किसी वृत्त की प्रधानता होती है तो कभी किसी और वृत्त की । किन्तु परोक्ष रूप में शेष चारों की भी स्थिति होती है । अतः प्रामाणिक और कालजयी साहित्य का सृजन न तो केवल व्यक्ति-सत्ता को केन्द्र में रखकर किया जा सकता है, न केवल समाज, देश, इतिहास-बोध (युग-बोध) या शाश्वत को केन्द्र में रखकर । इनके पंचीकृत रूप को लेकर अर्थात 'भवति' ('हो रहा है' या परिवर्तनशील) के भीतर 'अस्ति' ('है', या शाश्वत) को प्रतिष्ठित करके ही महत्वपूर्ण और प्रामाणिक साहित्य लिखा जा सकता है ।

लेखक ने साहित्य की तीन भूमिकाएँ निर्धारित की हैं । ये हैं : मारक, धारक और उत्प्रेरक । युद्ध और संक्रमण-काल में साहित्य की भूमिका'मारक' की होती है । स्थिरीकरण या सर्जन के काल में वही उत्प्रेरक बन जाती है । ये दोनों, साहित्य की गतिशील भूमिकाएँ हैं । धारक भूमिका का संबंध सत्य, दया, प्रेम, अहिंसा, करुणा, सहिष्णुता, तप, स्वाध्याय, शुचिता आदि जीवन-मूल्यों से है जिनकी अवस्थिति पंचीकृत सत्ता के 'शाश्वत'वृत्त में होती है । देश और काल के अनुसार इन मूल्यों का स्वरूप बदल सकता है किन्तु ये सर्वथा त्याज्य कभी नहीं हो सकते । प्रामाणिक साहित्य वह है जो इन तीनों भूमिकाओं से जुड़ा हुआ हो ।

कुबेरनाथ राय के अधिकांश लेखन की उपजीव्य-भूमि और प्रेरणा-भूमि है भारतीय साहित्य, विशेषतः वैष्णव-शाक्त-साहित्य-परंपरा । इसकी व्याप्ति उनकी प्रथम कृति 'प्रियानीलकण्ठी' ले लेकर शीघ्र प्रकाश्य उनकी बीसवीं कृति 'वाणी का क्षीरसागर' तक सर्वत्र है, बीच की कुछ कृतियों को छोड़कर जिनकी प्रकृति और दिशा भिन्न है । 'प्रिया नीलकण्ठी', रस आखेटक', 'गंधमादन' और 'पर्ण मुकुट' को अभिव्यक्ति और चिन्तन-परिपार्श्व की दृष्टि से लेखक ने एक वर्ग में रखा है । इनमें

वह विशुद्ध रूप से ललित निबंधकार है । इनमें उसकी दृष्टि प्रायः रस-बोध और सौन्दर्य-बोध पर केन्द्रित है । ये रचनाएँ लेखक के बोध और शैली के क्रमिक विकास को सूचित करती हैं । इनकी वैचारिक पृष्ठभूमि में प्रमुखता है भारतीय साहित्य की रसवादी परंपरा और वैष्णव-शाक्त मनोभूमि की, परन्तु, विषय का चुनाव हुआ है प्रायः आस-पास के लोक-जीवन से ही । इनमें वैष्णवता का रंग कुछ अधिक चटक है । इस परंपरा की अगली कृतियों 'महाकवि की तर्जनी', 'त्रेता का वृहत्साम' और 'रामायण-महातीर्थम्' में वैष्णव रस-दृष्टि का विशेषीकरण हो गया है 'रामकथा' में । 'चंडीथान', 'पुनः चंडीथान', 'चंडीथान; पुनः चंडीथान !' 'एक बार फिर वही चंडीथान' (ये चार अलग-अलग निबंध हैं) 'मायाबीज', 'देवी', 'श्री तत्वः लोक और वेद में' 'आगम की नाव और देवी का जलयान', 'वत्स, मैं निरन्तर युद्ध करती हूँ' आदि निबंध भारत की शाक्त परंपरा और तांत्रिक साधना को केन्द्र में रखकर लिखे गये हैं ।

कुबेरनाथ राय के लेखन का दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र है आर्येतर भारतवर्ष । इस दिक् का प्रथमतः उद्घाटन हुआ था 'पर्णमुकुट' के 'आभीरिका' (अहीर जाति से संबंधित) और 'मैं तालपत्र, मैं भोजपत्र' ('कायस्थ' जाति से संबंधित) निबंधों में । 'निषाद बाँसुरी', 'मनपवन की नौका', 'किरातनदी में चन्द्रमधु' और 'उत्तरकुरु' ये चार निबंध-संग्रह इसी परंपरा के विस्तार हैं जो भारतवर्ष की संरचना में निषाद-किरात-द्रविड़ और आर्य महाजातियों के अवदान को रेखांकित करते हैं । पहली दोनों कृतियों का सम्बन्ध निषाद नस्ल से है । 'निषाद बाँसुरी' गंगातीरी लोकसंस्कृति के निर्माण में निषादों के योगदान की महिमा का आख्यान करती है तो 'मनपवन की नौका' इंडोनेशिया, वर्मा, स्याम, कंपूचिया, जावा, सुमात्रा, बालीद्वीप, वियतनाम आदि देशों अर्थात् दक्षिण पूर्व एशिया के 'वृहत्तर भारत, की संस्कृति एवं उसकी बनावट-बुनावट में निषाद नस्ल केअवदान की प्रतिष्ठा करती है । 'किरात नदी में चन्द्र मधु' का संबंध भारत की किरात संस्कृति से है जिसका अस्तिव आज भी पूर्वीभारत में है । इसके अधिकांश निबंध कामाख्या-पीठ की शाक्त-साधना तथा असमीया लोकजीवन से प्रगाढ़ रूप से जुड़े हुए हैं । 'उत्तरकुरु' में चन्द्रवंशी आर्यों तथा यक्ष-गंधर्व-किन्नर जातियों के समन्वय की कथा है । लेखक के अनुसार जिन्हें प्राचीन साहित्य में 'यक्ष' कहा गया है वे पौराणिक 'नाग' या 'निषाद' जाति के दिव्य प्रारूप हैं । इसीतरह 'गंधर्व' और 'किन्नर' आदिम किरात नस्ल के दिव्य प्रारूप हैं । 'भारतीय आर्य' और 'भारतीय संस्कृति' के संबंध में लेखक की स्थापना है, "भारतीय आर्य वस्तुतः 'नव्य आर्य' है जिसकी संरचना इतिहास-विधाता ने चार

तत्वों–आर्य-द्राविड़–निषाद–किरात से की है, और दूसरी बात यह कि जिसे आज हम भारतीय संस्कृति कहते हैं,वह आर्य और आर्येतर दोनों की 'संयुक्त निधि' (कामनवेल्थ) है और इसकी संरचना में हमारे आर्येतर पितरों का भी समान योगदान है । अतः इन चारों पुस्तकों का विषय है–भारतीयता के ढाँचे और 'आत्मिक मूलाधार' की खोज ।"[1]

रामकथा श्री राय की अत्यन्त प्रिय विषय-भूमि रही है । इस पर केन्द्रित उनके तीन संग्रह हैं : 'महाकवि की तर्जनी', 'त्रेता का वृहत्साम' और 'रामायणमहातीर्थम्' । 'गंधमादन', 'विषाद योग' और 'कामधेनु' में भी कुछ स्फुट निबंध हैं । रामकथा पर आधारित पहली स्वतंत्र पुस्तक है 'महाकवि की तर्जनी' । इसमें रसबोध, बौद्धिकता और शील-बोध का त्रिकोण उपस्थित हुआ है रामकथा का आश्रय लेकर । इसके प्रथम भाग में वाल्मीकि-समस्या से संदर्भित निबंध हैं । द्वितीय भाग में शील-तत्व का विवेचन किया गया है । तृतीय भाग में 'रामचरित मानस' के प्रारंभिक श्लोकांशों 'वंदे वाणीविनायकौ', 'भवानीशंकरौ वन्दे', 'कवीश्वरकपीश्वरौ', 'वंदे बोधमयं नित्यं' पर आधारित चार निबंध एवं पाँचवाँ 'युग-संदर्भ में मानस' है । दूसरी पुस्तक है 'त्रेता का वृहत्साम' । इसमें इस स्थापना के साथ कि 'वाल्मीकि-रामायण की मूल प्रकृति सूर्यात्मक है, अतः यह एक सूर्यगाथा है,' इस महाकाव्य की अंतर्भूमि के भीतर निहित सूर्य-प्रतीकों एवं सूर्योपासना के तत्वों का विवेचन-विश्लेषण किया गया है । इसके साथ ही तप, संकल्प, पुरुषार्थ, त्याग, तेज आदि महागुणों से दीप्त राम के तेजस्वी सौन्दर्य का उद्‌घाटन भी किया गया है । 'रामायण-महातीर्थम्' नामक तीसरी कृति लेखक के जीवन-काल में यथेष्ट रूप में प्रकाशित नहीं हो सकी, अतः यह कहना कठिन है कि लेखक की कल्पना में इसका क्या रूप था ? फिर भी इसका वर्तमान स्वरूप कम महार्घ नहीं । वस्तुतः, यह कृति रामकथा के आरोहण-पथ का चरम शिखर है । इस कृति की दो महत्वपूर्ण विशेषताएँ हैं–पहली यह कि इसके माध्यम से रामकथा और उसके प्रमुख पात्रों–राम, लक्ष्मण आदि के बीज-तत्व को वैदिक साहित्य और वैदिक देवता–इन्द्र, पूषन् आदि में तलाशने की चेष्टा की गयी है । हिन्दी-साहित्य को लेखक का यह एक अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व प्रदेय है । दूसरी यह कि इसमें प्राचीन भारत की वानर, राक्षस और यक्ष-संस्कृतियों से संदर्भित सात-आठ ऐसे निबंध संकलित हैं जो इन जातियों के मूल उत्स, उनकी सांस्कृतिक विशिष्टता, ऐतिहासिकता और उनके पारस्परिक संबंधों की अनुसंधान-परक सामग्री प्रस्तुत करते हैं ।

---

1. मराल : ' अपने लेखन के बारे में', पृष्ठ : १५९

चौथी दिशा है गाँधी-चिन्तन की । यद्यपि लेखक ने गाँधीजी के अनेक सिद्धान्तों और स्थापनाओं से अपनी असहमति व्यक्त की है, फिर भी उसकी मान्यता है कि गाँधी-दर्शन में अनेक ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र हैं जो भारतीयता के सन्दर्भ में उन्हें राम और बुद्ध से जोड़ते हैं और जो हर देश-काल के व्यक्ति के लिए ग्राह्य और वरणीय हैं, विशेषतः, उनका 'शांत, सहजं सुंदरम्' का सूत्र । गाँधी-दर्शन की पृष्ठभूमि पर पत्र-शैली में लिखी गयी पुस्तक है 'पत्र मणिपुतुल के नाम' । इसका पहला निबंध 'पाँत का आखिरी आदमी' पारिवारिक पत्र होते हुए भी लक्ष्य की दृष्टि से गाँधी-वादी चिन्ता की व्याख्या–विवेचना करता है जिसे लेखक ने अपनी उच्चशिक्षिता अनुज-वधू श्रीमती हीरामणि राय के लिये लिखा है । शेष निबंधों अथवा पत्र कह लीजिये, में 'मणिपुतुल' नयी और पढ़ी-लिखी युवा पीढ़ी का प्रतीक है ।

पाँचवी दिशा, आधुनिक विश्व-चिन्तन की है । विश्व की आधुनिक विचार-धाराओं, खासकर अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद, नव्य मार्क्सवाद, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद, यथार्थवाद, समाजवाद, श्रमिक-संस्कृति, आधुनिकता आदि पर कुबेरनाथ राय ने पर्याप्त चिन्तन किया है । देशी-संस्कारों की जमीन पर खड़े होने और पंरपरावादी संस्कारों से निबिड़ रूप में जुड़े होने के बावजूद उनका आधुनिक-चिन्तन पूर्वाग्रह से सर्वथा मुक्त है । तटस्थता, उनके चितंक व्यक्तित्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है । फलतः 'दूध को दूध' और 'पानी को पानी' कहने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती । कुछ लोगों का आरोप है कि वामपंथ के प्रति उनकी दृष्टि पूर्णतः नकारात्मक है । लेकिन ऐसा कहने वाले उन्हें पढ़ें तो सही । यह भी तो कुबेरनाथ राय ने ही लिखा है : १."श्रेष्ठ शास्त्र 'लक्ष्य' शास्त्र ही होता है और उनके सर्वोत्तम उदाहरण हैं गीता, धम्मपद, कुर्रान, बाइबिल और 'कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो' । .... इसका (कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो का) यदि शैलीगत विश्लेषण किया जाय तो इसकी नस-नस में काव्य का नशा प्रवाहित होता है । पढ़ते समय ऐसा लगता है कि इसके भीतर काव्य सुलग रहा है और कहीं-कहीं पर भक् से गाँजे की चिलम की तरह जल भी उठता है । ...... 'कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टो' तो मनुष्य जाति के एक सुखद स्वप्न, एक रूमानी 'यूटोपिया' पर खड़ा है । उसे काव्य का दर्जा क्यों नहीं प्राप्त होगा ? वैष्णवता की तरह कम्यूनिज्म भी मनुष्य-मन की एक सुन्दर कविता है । अवश्य ही अपने मूल रूप में ।"[1]

२. "इस शताब्दी में कोई भी बुद्धिजीवी, यदि वह किसी निहित स्वार्थ से नहीं जुड़ा है,तो मार्क्सवादी प्रमूल्यों से थोड़ा-बहुत प्रभावित है ही । 'प्रमूल्य और होते हैं

1. दृष्टि अभिसार : 'भूमिका (अपनी बात : 'ललित निबंध के बारे में'), पृष्ठः vi-vii

और सिद्धान्तवाद' कुछ और होता है । जब प्रमूल्य 'वाद' के लौह ढाँचे में एक खास डिजाइन में बाँध दिये जाते हैं तो वे 'सिद्धान्तवाद' कहे जाते हैं ।"[1]

वस्तुतः कुबेरनाथ राय आधुनिकता और मार्क्सवाद के नकारात्मक पक्षों, खासकर बाद में जोड़े गये क्षेपकों अथवा गलत व्याख्याओं के ही आलोचक हैं और चूँकि चोट पड़ती है इनके अन्ध समर्थकों एवं नीम हकीमों पर,अतः वे यह कहकर अपनी 'भड़ास' निकालते हैं कि कुबेरनाथ राय को 'मार्क्सवाद' अथवा 'वामपंथ' का क, ख, ग भी ज्ञात नहीं । जो व्यक्ति इनका क, ख, ग भी न जानता हो, उसमें इतना आत्मबल कहाँ से आ सकता है कि वह पूरे जमाने को ललकारते हुए इस तरह कह सके :

> "भारत में एक भी वामपंथी नहीं जनमा, जिसके पास पढ़ी हुई किताब से एक कदम आगे सही सजीव सत्य को देखने की क्षमता हो । भारतीय संदर्भ में मार्क्सवाद की आकृति क्या होगी, यह किसी वामपंथी की चिन्तन-क्षमता के बाहर है । भारतीय मार्क्सवादी का, मार्क्सवादी चिन्ता के विकास में क्या योगदान है, मुझे इसका उत्तर कहीं नहीं मिला । .....शुद्ध वामपंथियों (कम्यूनिष्टों) से तो यह आशा ही नहीं, क्योंकि वे अपनी बुद्धि और आँखें गिरवी रख चुके हैं ।[2]

मार्क्सवाद के आचार्य और उसके शीर्ष नेता नम्बूद्रीपाद के मार्क्सवाद-ज्ञान की तो उन्होंने धूल ही उड़ा दी है एक फौजदारी मुकदमे–'श्री ई. एम. एस. नम्बूद्रीपाद बनाम टी. नाम्बियार' (अपील नं. 56, 1968 ई., 31-7-70) का हवाला देते हुए जो 'आल इंडियारिपोर्टर' (1970, दिसंम्बर, पृष्ठ-2015, पैरा 31, 33) में छपा है और जिसमें नम्बूद्रीपाद और कृष्ण मेनन द्वारा मार्क्सवाद की की गयी अपव्याख्या पर विद्वान जजों–चीफ जस्टिस हिदयातुल्ला, जस्टिस मित्तर एवं जस्टिस ए. एन. राय ने निष्कर्ष देते हुए लिखा है : "हमें शंका है कि इन्होंने (नम्बूद्रीपाद और श्री कृष्ण मेनन ने) मार्क्सवादी साहित्य को ठीक से समझा है अथवा कभी भी पढ़ा है ।...... या तो ये मार्क्स के बारे में कुछ जानते नहीं, अन्यथा जानबूझ कर मार्क्स, ऐंगिल्स एवं लेनिन की रचनाओं की अपव्याख्या कर रहे हैं ।"[3]

---

1. सहजानंद समग्र (खण्ड-4) की भूमिका (हस्तलिखित प्रति), पृष्ठः 54
2. विषाद योग : 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' पृष्ठः 227
3. विषाद योगः 'अन्त में अपनी बात', पृष्ठ : 249

ललित निबन्ध की विधागत और शिल्पगत (भाषा, शैली, बिम्ब,प्रतीक आदि से संबद्ध) सामर्थ्य को जो विस्तार और ऊँचाई कुबेरनाथ राय ने दी है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं । कथ्य की स्वाभाविक, सटीक और स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिये लेखक को भाषा के किन-किन मूर्त और अर्मूत रूपों की आवश्यकता पड़ी है और संस्कृत, हिन्दी, उनकी बोलियों एवं प्रांतीय भाषाओं से ऐसे शब्दों को चुनने में उसे आसेतु हिमाचल कहाँ-कहाँ भटकना पड़ा है, इसके संबंध में लेखक के ही एक लम्बे उद्धरण को प्रस्तुत करते हुए इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ :

"मैं गाँव-गाँव, नदी-नदी, वन-वन घूम रहा हूँ । मुझे दरकार है भाषा की । मुझे धातु जैसी 'ठन-ठन गोपाल' टकसाली भाषा नहीं चाहिए । वह प्रेमचन्द और महावीर प्रसाद द्विवेदी को ही मुबारक हो । मुझे तो कुछ और चाहिए । कुछ अधिक प्राण-संपन्न, कुछ अधिक सजीव चाहिए । मुझे चाहिए नदी जैसी निर्मल झिर झिर भाषा, मुझे चाहिए हवा-जैसी अरूप भाषा, मुझे चाहिए उड़ते डैनों जैसी साहसी भाषा, मुझे चाहिए काक-चक्षु जैसी सजग भाषा, मुझे चाहिए गोली खाकर चट्टान पर गिरे, गुर्राते हुए शेर जैसी भाषा, मुझे चाहिए भागते हुए चकित-भीत मृग जैसी ताल-प्रमाण झंप लेती हुई भाषा, मुझे चाहिए वृषभ के हुंकार जैसी गर्वोन्नत भाषा, मुझे चाहिए भैंसे की हँकड़ती डकार जैसी भाषा, मुझे चाहिए शरदकालीन ज्योत्स्ना में समवेत जम्बुकों के मंत्र-पाठ जैसी विफरती हुई भाषा, मुझे चाहिए सूर के 'भ्रमरगीत', गोसाईंजी के 'अयोध्याकांड' और कबीर की 'साखी' जैसी भाषा, मुझे चाहिए गंगा-यमुना-सरस्वती जैसी त्रिगुणात्मिका भाषा, ...जिसे हम हिन्दी कहते हैं उस परम उदार बहुमुखी बहुरूपी महावाणी के ये सहज रूप यत्र-तत्र-सर्वत्र गोपन-गोपन या मुक्त-विमुक्त दोनों भंगिमाओं में बिखरे पड़े हैं । इस भाषा की कुंडलिनी का संचार-पथ महासेतु से हिमाचल तक है । गंगा-यमुना की घाटी तो इसका हृदय मात्र है, पूरा शरीर नहीं । मैं मात्र हृदय का ही नहीं, संपूर्ण नख-शिख की आराधना करना चाहता हूँ ।"[1]

सारांश यह कि कुबेरनाथ राय ऋषि-परंपरा के एक मनीषी रचनाकार हैं; ऐसे रचनाकार जिन्होंने भारतीय चिन्तन और हिन्दी ललित निबन्ध, दोनों को एक नयी ऊँचाई एवं नया आयाम दिया है । उनका समग्र वाङ्मय 'महत्' की उपासना एवं लोकमंगल की साधना का साहित्यिक अनुष्ठान है । उनके सम्पूर्ण लेखन का उद्देश्य है मनुष्य, पृथ्वी और ईश्वर को परस्पर संयुक्त सत्ता के रूप में देखने का आह्वान, और यह आह्वान उन्होंने विशुद्ध रूप से देशी प्रज्ञा अर्थात् भारतीयता की जमीन पर

1. दृष्टि अभिसार : 'पाकड़ बोली रात भर', पृष्ठ : 75-76

खड़े होकर किया है । उनके ललित निबंध भारतीय मनीषा के ब्रह्मतेज को व्यक्त करते हैं, भारत के 'चिन्मय' व्यक्तित्व का पुनराविष्कार एवं पुनराख्यान करते हैं तथा उसकी दिव्यता का अभिज्ञान कराते हैं । उनके साहित्य में जिस 'भारत' की चर्चा आयी है, वह किसी भी तरह की क्षुद्रता एवं संकीर्णता से ऊपर है । लेखक की मान्यता है कि इस भारत की संरचना आर्यों औ आर्येतर महाजातियों– निषाद-किरात -द्रविड़, ने संयुक्त रूप से की है । उनका संपूर्ण लेखन 'मूल-संश्लिष्ट' रहा है और विषय-वस्तु किसी न किसी रूप में भारतवर्ष से जुड़ी रही है । उनकी प्रारंभिक कृतियों में सौन्दर्यबोध और रसबोध का पलड़ा भारी रहा है, अतः इनमें लालित्य की स्थिति कथ्य और शिल्प, दोनों में है जबकि परवर्ती कृतियों में बलाघात शीलबोध और आधुनिक चिन्तन पर है, अतः लालित्य की स्थिति प्रायः कथन-भंगिमा में है । उनकी स्थापनाएँ मौलिक, स्वस्थ, तर्कसंगत एवं स्पष्ट है तथा इनका प्रतिपादन उन्होंने दो टूक शब्दों में दृढ़ता के साथ किया है ।

कुबेरनाथ राय प्रकृति से शुद्ध ललित निबंधकार हैं । गद्य की अन्य विधाओं को उन्होंने अपवाद-रूप में ही ग्रहण किया है । उनके शैली-शिल्प की विशिष्टता इस बात में निहित है कि उन्होंने रिपोर्ताज, संस्मरण, आत्मकथ्य (मोनोलाग), लघुकथा, बोधकथा, पत्र, संवाद आदि विधाओं को परंपरित रूप में ग्रहण न कर इन समाहार ललित निबंध के अन्तर्गत ही कर दिया है,उसकी एक शैली के रूप में । शैली और विस्तार की दृष्टि से ललित निबन्ध को कुबेरनाथ राय का यह एक बहुत बड़ा अवदान है । अपनी भाषा का आविष्कार उन्होंने स्वयं किया है । बँधी-बँधाई लीक और फार्मूले, उनकी अनुभूति की गहराई और चिन्तन के विस्तार को सही और सटीक अभिव्यक्ति नहीं दे सकते थे, अतः उन्होंने संस्कृत, लोकभाषा, प्रांतीय भाषाओं (असमिया, बंगला आदि) और अंग्रेजी के शब्दों के समन्वय से एक सर्वथा नये भाषिक मुहावरे का सृजन किया है । इसका उद्देश्य है पाठक के हिन्दुस्तानी मन को विश्व-मन के साथ संयुक्त करना, उसके मानसिक और बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना तथा उसे अपनी भाषिक संस्कृति से जोड़ना ।

●

अपनी माटी और संस्कृति से आबद्ध निबन्धकार

डॉ. देवेन्द्र कुमार राय
अधिष्ठाता, विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कुबेरनाथ जी अपने उत्कृष्ट लेखन से हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट योगदान के कारण सदैव स्मरणीय तथा प्रशंसनीय रहेंगे । उनके निबंधों के लालित्य, विचार-गाम्भीर्य तथा लेखन-शिल्प की उत्कृष्टता को ठीक-ठीक आंक पाना दुष्कर है । मैं कृतकृत्य हूं कि जिस भूमि पर उनके जैसे मनीषी और शीर्षस्थानीय साहित्यकार का जन्म हुआ और जिस चिरन्तन आस्था और संस्कृति को उन्होंने, अपने अन्तःकरण में आत्मसात् किया, उसी भूमि पर और उसी परिवेश में मुझे भी जन्म मिला – भले ही उस भूमि का सतत सान्निध्य अल्पकाल का रहा हो ।

प्रतिष्ठानपुर (प्रयाग) में गंगा-यमुना के संगम से आरम्भ कर पाटलिपुत्र (पटना) में गंगा-शोण के संगम स्थल तक की भूमि तथा उसके उत्तर-दक्षिण की संबद्ध भूमि और उसके निवासी जो प्रायः भोजपुरी या पुरबिया के नाम से प्रसिद्ध हैं–अपने आप में कुछ विशिष्टता तथा पहचान रखते हैं । यहां की भूमि की उर्वरा शक्ति भारत के किसी भी उर्वरभूमि से कम नहीं है । जहां तक मैंने देखा है मेहनत की क्षमता भी यहां के निवासियों में कम नहीं है । तभी तो चाहे त्रिनीदाद और टुबैगो हो, या ब्रिटिश गुयाना, दक्षिणी अफ्रीका, मारीशस और फिजी, यहां के निवासी अच्छी संख्या में वहाँ मिलेंगे । अंग्रेज शासकों ने यहां की निर्धनता, सरलता और परिश्रमशीलता को पहचान कर यहाँ के लोगों को निर्यात की वस्तु बना दिया । आधुनिक सभ्यता के किसी भी मानदण्ड से देखा जाय तो यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि यह क्षेत्र अविकसित और निर्धन है । किन्तु कला-संस्कृति तथा जीवन-जगत् के प्रति आस्था और उत्साह की दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यन्त धनी एवं सबल रहा है । गंगा के सूने कछार की मनसाहट जिसमें व्यक्ति को एक संतोषप्रद विश्राम तथा शान्ति की अनुभूति होती है यहां के निवासियों में ओतप्रोत है । इस स्थिति का कुबेरनाथ जी ने बड़ा ही मनोहारी तथा आकर्षक चित्र अंकित किया है ।

श्री कुबेरनाथ राय ने अपने निबन्धों में इस बात की चर्चा की है कि वे एक विशिष्ट क्षेत्र एवं संस्कृति की उपज हैं । अपनी माटी के प्रति उनकी यह सहृदयता कहीं बाहर से लादी गई नहीं है अपितु वह स्वतः उद्भूत है । अपनी भूमि और

संस्कृति के प्रति उनका यह लगाव उनके लेखन में सर्वत्र अनुस्यूत है और इस स्वाभाविक लगाव ने उनके लेखन को एक अद्भुत भाव-शक्ति प्रदान किया है। उनका लेखन किसी वाद से कथमपि आबद्ध नहीं हो पाता। यह वैशिष्ट्य बहुत कुछ उनकी अपनी भूमि से आबद्धता के कारण ही है। सरलता और आजकल के अर्थ में मूर्खता से परिपूर्ण इस भोजपुरी क्षेत्र का जीवन अत्यन्त भावना-प्रधान है। विचार एवं तर्क का स्थान यहां गौण है। यहां का व्यक्ति जीवन्त है क्योंकि वह भावना – अनुभूति से ओतप्रोत है। वह बातों को समझता नहीं, अनुभव करता है। वह व्यक्ति से, जीव-जगत् से, प्रकृति से भावनात्मक तादात्म्य रखता है। यह संतों की वृत्ति है, यह दर्शन की पराकाष्ठा है। लौकिक दृष्टि से मूर्खतम व्यक्ति में भी यह भावशक्ति, दूसरों के सुख-दुख से तादात्म्य, इस क्षेत्र की अपनी विशेषता है।

एक दूसरी बात भी कि यदि स्वाभिमान को किसी प्रकार ठेस लग जाये तो तुरन्त मरनेमारने को तैयार। आपसी समझ के अभाव के चलते बस इतनी सी बात से इस क्षेत्र को सार्वकालिक पिछड़ा क्षेत्र होने का वरदान मिल गया। उर्वरा भूमि होने के बावजूद गरीबी और अशिक्षा में यह क्षेत्र भारत में शायद प्रथम दो तीन क्षेत्रों में होगा। स्वास्थ्य संबंधी सुविधाओं की बात हो या संचार सेवाओं की, सभी में यह क्षेत्र अधिकतर अछूता ही रहा है। डा. विवेकी राय ने कभी इस विषय पर अपना मत व्यक्त किया था कि कुंवरसिंह के विद्रोह के बाद से ब्रिटिश शासन ने इस क्षेत्र को बागी करार दिया और इसमें केवल वही सुविधाएँ प्रदान की जिसके विना उसके काम काज का चलना असंभव होता। सन् १९४२ के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने शासकों की इस धारणा को और पुष्ट किया। स्वाधीनता के बाद भी इस स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया है। विश्वनाथ सिंह गहमरी के लोकसभा में मर्मस्पर्शी भाषण के प्रभाव से इस क्षेत्र के विकास को गति देने के लिये बनाये गये पटेल आयोग की सिफारिशें लगभग ४० वर्षों से फाइलों में बन्द हैं।

इस विषम परिस्थिति का वास्तविक कारण तो शिक्षा का अभाव एवं जमीन पर जनसंख्या का अधिक घनत्व ही मुख्यतः है। स्वाधीनता के बाद से जब से शैक्षणिक सुविधाओं के प्रसार के द्वार खुले, उसके कुछ ही दिनों बाद सन् १९६५-६६ के वाद पूरे उत्तरी भारत में शिक्षा के क्षेत्र में जो गिरावट का सिलसिला शुरू हुआ उसने इस क्षेत्र में शिक्षा को जनजीवन का महत्वपूर्ण अंग बनने ही नहीं दिया। अब तो अधिकतर स्कूलों-कालेजों से जो अर्धशिक्षित युवा एवं युवतियों की फौज निकल रही है उनके सामाजिक व्यवहार एवं संस्कारों को देखकर यह लगता है कि इससे तो अच्छे हम तभी थे जब हमारे पास शिक्षा प्राप्त करने की कोई

सुविधा नहीं थी । यह सत्य है कि इन युवाओं का शाब्दिक या यांत्रिक ज्ञान कुछ हद तक विकसित हुआ हो पर शिक्षा के वास्तविक अर्थों से वे सर्वथा अछूते रहते हैं । अपनी समृद्धि के लिये घृणित से घृणित कार्य करने में भी उन्हें कोई झिझक रहती हो ऐसा नहीं लगता । उनके आचरण या व्यवहार से किसी अन्य को कितना कष्ट होगा, इस पर विचार करने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं महसूस होती, उनको अपने बुजुर्गों के साथ घर-गृहस्थी का कार्य करना असम्भव या असम्मानसूचक अवश्य हो जाता है । पढ़ने-लिखने के कारण धोती, मिर्जई (कुर्ते) के स्थान पर पैण्ट-सर्ट, सफारी सूट इत्यादि, कबड्डी के स्थान पर क्रिकेट, नाटक के स्थान पर सिनेमा या नाइटक्लब, हरिकीर्तन के स्थान पर पाप संगीत अवश्य हो जाता है । अमेरिका, इंगलैण्ड के युवक-युवतियों का रहन-सहन, व्यवहार उनका आदर्श वन जाता है परन्तु वह केवल सतह पर ही । विकसित देशों में जो युवक विश्वविद्यालयों में पढ़ते हैं उनमें से अधिकांश में पढ़ने के प्रति गंभीर रुचि होती है और वे अपनी कक्षाओं एवं प्रयोगशालाओं में ध्यान केन्द्रित करके काम करते हैं । उनमें अपने कार्यों के प्रति एक हद तक ईमानदारी बरतने की आदत सी होती है और परोपकार की प्रवृत्ति में भी वे आगे होते हैं । हमारे यहां इन अच्छी बातों का पूर्ण अभाव न भी हो तो कमी तो अवश्य ही दिखाई देती है । किसी ने कहा है कि जिस समाज के युवावर्ग में दूसरों के प्रति करुणा एवं सहिष्णुता का भाव न हो उस समाज का भविष्य अंधकारमय है । शायद हमारे समाज के लिये यह स्थिति आने में अधिक देर नहीं है ।

शिक्षा एवं साहित्य के क्षेत्र में प्रसिद्धि पाने के लिये कार्य-कुशलता, मौलिकता एवं सृजनात्मकता आवश्यक हो सकते हैं पर कम से कम भारतवर्ष में ये गुण ही पर्याप्त नहीं है । वैसे तो इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं पर कुबेरनाथ राय हिन्दी निबंध के क्षेत्र में इस स्थिति के अन्यतम उदाहरण थे । अपने जीवन की संध्या में 'मूर्ति देवी' पुरस्कार से सम्मानित होने से भी उपर्युक्त तथ्य में कोई विशेष अंतर नहीं ज्ञात होता । जिन्होंनें भी श्री राय के ललित निबंधों में से किसी एक का भी अध्ययन एवं मनन किया होगा उसे इस बात से विरोध नहीं हो सकता कि श्री राय अनेकानेक सम्मानों के उचित पात्र थे जो उन्हे नहीं दिये गये ।

श्री राय ने अपने कार्य-काल का अधिकतर समय हिन्दी भाषी क्षेत्रों से दूर असम के नलवारी में बिताया था और अपने जनपद में वापस लौटने के वाद वे अधिक दिनों तक क्रियाशील नहीं रहे । किसी महाविद्यालय का सफल प्राचार्य बनना आजकल एक मुश्किल कार्य है । वह भी गाजीपुर जैसे शहर में, जहाँ शिक्षा के प्रति

अनुराग शायद ही कभी अधिक रहा हो। आजकल सामाजिक न्याय की जो विकृत मानसिकता हमारे देश में व्याप्त है वह तो किसी भी प्रकार के प्रशासनिक कार्य में बाधा उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त है। शिक्षा के क्षेत्र में उसका प्रभाव कुछ अधिक ही तीव्र होता है क्योंक छात्र अपनी वय के अनुसार अधिक कल्पनाशील एवं सहज ही भावावेश में आने वाले होते हैं। इन सब कठिनाइयों के बावजूद अपनी सृजनात्मकता बनाये रखना अपने आप में एक महान् कार्य है। कुबेर नाथ राय जी इसमें सफल रहे।

शिक्षा के क्षेत्र में उत्पन्न इन विसंगतियों की चर्चा इसलिये की गई है किं स्व. कुबेरनाथ राय की प्रकृति इनसे मेल नहीं खाती। उन्हीं के शब्दों में "वस्तुतः 'पुर्वांचल' के महाविद्यालयों के परिसर और अन्तराल की प्रकृति ही कुछ ऐसी बन गई है कि यहां पर प्राचार्य या कुलपति के आसन पर बैठकर शान्त एवं शिष्ट प्रकृति वाले का गुजर नहीं है।"

पिछले साल ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका 'प्रज्ञा' के एक विशेष अंक के लिये हमने राय साहब से एक लेख की प्रार्थना की थी। मेरे अनुजतुल्य डॉ. महेन्द्रनाथ राय, प्रोफेसर, हिन्दी-विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय ने इसमें रुचि ली और यह निबंध राय साहब से उनकी हस्तलिपि में लाकर मुझे दिया। लेख को पढ़कर मुझे आनन्द आया। साथ ही अभिमान भी कि कोई अपने गांव-जवार का व्यक्ति इस प्रकार का लेखन करता है।

स्वर्गीय कुबेरनाथ राय जी के साहित्य का मूल उत्स उनकी वह मानसिक दृढ़ आस्था है जिसमें वे उग्र काम और उग्र क्रोध को सामाजिक पतन का मूल बिन्दु मानते हैं। आज की राजनीति और उपभोक्तावादी संस्कृति इन दोनों 'अतियों' को न केवल प्रोत्साहित करती है अपितु उन्हें संरक्षण भी प्रदान करती है। इच्छाशक्ति के विकृत होने से ज्ञान निष्प्रभावी तथा क्रियायें विकृत हो जाती हैं। वे 'शान्त-सुन्दर' में आस्था रखने वाले साहित्यकार थे। वे प्रकृति से मनुष्य के तादात्म्य वाले रचनाकार थे। उन्हीं के शब्दों में "प्रकृति भोग्या नहीं धात्री है। प्रकृति मनुष्य को मनुष्य से, मनुष्य को समस्त प्राणि-जगत् से एवं मनुष्य को ईश्वर से जोड़ती है।" इसी विराट् मानसिक और वैचारिक परिवेश में सर्वभूत हितकारिणी उनकी साहित्य सृष्टि है।

●

उच्च भावभूमि के साहित्य-स्रष्टा

डा. गंगासागर राय

सरल, सौम्य, सतर्क, तथा शान्त कुबेरनाथ जी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। वे सतत चिन्तन, मनन तथा कल्पनाशील थे जिसकी परिणति उनके विपुल साहित्य के रूप में हुई है। इस शताब्दी के प्रारम्भ से ही गाजीपुर जनपद में अच्छे विद्वान्, न्यायविद्, विचारक, उपन्यासकार तथा कवि उत्पन्न होते आये हैं और उस श्रृंखला में इस शती के उत्तरार्ध में कुबेरनाथ जी ने उस साहित्य नक्षत्र मण्डल को अपनी मसृण आभा से प्रखर तथा भास्वर बनाया है। साहित्यिक क्षेत्र में कुबेरनाथ जी का अवदान निश्चित रूप से जनपद या प्रदेश की सीमा को पारकर संपूर्ण हिन्दी वाङ्मय में अपनी महत्त्वपूर्ण अवस्थिति को स्थापित करता है। रचनाकारों के विषय में प्राचीनकाल से यह आभाणक प्रसिद्ध है :

> जयन्ति ते सुकृतिनः रससिद्धाः कवीश्वराः ।
> नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ॥

कुबेरनाथ जी ने किसी प्रबंध की रचना नहीं की। उन्होंने निबंधों की सृष्टि की। ये निबंध आर्ष काव्यों, आगम-तन्त्रसाहित्य, इतिहास, नृतत्वशास्त्र, भाषाशास्त्र तथा लोकसाहित्य के उनके विस्तृत आलोड़न, मनन-चिन्तन और अन्वेषण से अनुप्राणित हैं। रामायण और महाभारत अधिकांश उत्तरवर्ती लौकिक काव्यों और साहित्य के उपजीव्य हैं। इन्हीं के आधार पर बाद का वृहद् वाङ्मय प्रकट हुआ है। श्री कुबेरनाथ जी इन आर्ष काव्यों के ताने-बाने से प्रभावित ही नहीं हैं अपितु उनके साहित्य में उनकी उपजीव्यता भी अक्षुण्ण है। 'महाकवि की तर्जनी, उनके रामायण के प्रति गाढ़ानुराग का द्योतक है।

कुबेरनाथ जी ने अपने असम प्रदेश में निवास को तन्त्र-आगम और उपासना से समृद्ध किया है। उनके निबन्धों में तन्त्र-आगमों—विशेषतः शक्ति उपासना की बड़ी ही कमनीय आकृति स्फुट होती है।

विचार-विमर्श तथा चिन्तनशील श्री रायने तन्त्र-आगम की उपासना को अपने निबन्धों में तर्क-सम्मत तथा लोकग्राह्य रूप में उपस्थापित किया है। विचारशील मानव आगम-तन्त्र की गुह्य और अव्याख्येय बातों का समाधान भी चाहता ही है।

कुवेरनाथ जी के निवन्धों में शोध-समाधान की भी बात वड़ी प्रांजलता से प्रस्फुट हुई है। भारत के सम्पूर्ण उत्तरवर्ती प्रदेशों में पहाड़ी लोगों का अपना अलग समुदाय है। वे काश्मीर से लेकर असम तक व्याप्त हैं। ये मंगोलियन मूल के माने गये हैं। संस्कृत की शब्दावली में ये किरात नाम से अभिहित हैं। इनकी श्रृंखला विन्ध्य श्रेणी-संथाल आदि में भी प्रसृत है। बहुत पहले से इतिहासविदों में दीर्घशिर (Long Head) और लघु शिर (Short Head) में उत्तर भारतीयों को विभक्त किया जाता रहा है। ये लघु शिर वाले मंगोलीय मूल के माने जाते रहे हैं और असम ही क्या, वंग और पूर्व विहार तक के भारतीयों में इस प्रभाव को परिलक्षित करने की परिपाटी नृतत्ववेत्ता ऐतिहासकिों में अल्पाधिक रूप से इंगित होती रही है।

श्री राय के दीर्घ असम प्रवास ने इन ऐतिहासिक बिन्दुओं को एकत्रित कर उसका एक तर्क सम्मत वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक रूप प्रस्तुत कर अपने निबन्धों के माध्यम से व्यक्त किया है। इन सभी सामग्रियों का अपके निबंधों में समन्वय कर तर्कसंगत रूप एकत्रित किया है। इस संस्कृति में कामरूप की देवी से लेकर उमा हैमवती तक को समाहित करने का आपने स्तुत्य प्रयास किया है। उद्दाम काम के विनाश के लिये सच्चिदानंदरूपा हैमवती या कौशिकी का प्रतिष्ठापित रूप आपकी विचारश्रृंखला की महती उद्भूति है।

पूर्वोल्लिखित किरात संस्कृति का ही एक अंग नैषादी या नादेय संस्कृति भी है। पर्वतीय श्रेणी ही क्या, प्रशस्त गांगेय घाटी में भी नदियों की संस्कृति निषादों पर ही आधृत थी। नदियों से संबद्ध सभी क्रियाओं में इनकी पुरोभागिता थी और कुछ नदीतट के धार्मिक कृत्यों में इनका आचार्यत्व भी अक्षुण्ण है। अतः इस नैषादी संस्कृति का गांगेय प्रदेश के वासियों पर प्रभाव और दोनों संस्कृतियों का आदान-प्रदान सहज ही अनुमेय है। रामायण, महाभारत तथा अन्य धार्मिक साहित्य में निषाद की अवस्थिति सुतरां ध्यातव्य है। इस संदर्भ में प्राचीन भारतीय या वैदिक परम्परा का उल्लेख भी अप्रासंगिक नहीं होगा। वैदिक साहित्य में अगस्त्य तथा वशिष्ठ, ये दो ऋषि जल से विशेष संबंध रखते हैं। इन दोनों ऋषियों को मैत्रावरुण कहा जाता है अर्थात् मित्र (सूर्य) तथा वरुण की संतानें। अगस्त्य ने जहां उच्च विन्ध्य को विनम्र कर सुगम्य बनाकर आर्य संस्कृति को सुदूर दक्षिण में प्रसारित किया, वहीं उन्होंने समुद्र का चुलुक से पान भी कर लिया और इस प्रकार पर्वत और जल दोनों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। वेद में वशिष्ठ दृष्ट जल की स्तुति सुतरां प्रसिद्ध है। धर्मशास्त्र में जल या नदी पार करते समय वशिष्ठ का मंत्र ही प्लव या नौका बनाने का विधान है। वशिष्ठ की सरस्वती स्तुति भी पौराणिक वाङ्मय में प्रचुर प्रशस्त है। निषादों की उत्पत्ति तथा उनके स्वरूप का निदर्शन भी

पौराणिक सृष्टिप्रक्रिया में समाहित है । सारांशतः नादेय संस्कृति की अपनी वैदिक परम्परा भी रही है । और यह परम्परा पुराणों में पुष्कल रूप में नदी माहात्म्य के रूप में परिलक्षित होती है । गंगा, यमुना, नर्मदा, सरस्वती आदि का माहात्म्य पौराणिक साहित्य में अत्यन्त व्यापक है ।

कुबेर नाथ जी ने नाना संस्कृतियों के परस्पर आदान-प्रदान और विकास का मार्मिक तथा सूक्ष्मता से अध्ययन किया है तथा उनके प्रति सच्ची सहानुभूति से विचार किया है । उनके असम-प्रवास ने इस दिशा में उन्हें सहानुभूतिपूर्वक सोचने का अवसर दिया । असम का नलबारी कालेज न केवल उसमी परम्परा अपितु संस्कृत-साहित्य का भी एक यशस्वी केन्द्र रहा है । राय जी ने यहां रहकर संस्कृति की मूल समस्याओं पर विचार किया और कल्पना तथा मेधा से उन्हें वोधगम्य रूप से इन निबन्धों द्वारा हिन्दी जनता के सम्मुख रखा । इन निबंधों में न केवल साहित्य का लालित्यं ही है अपितु उनका साहित्य विशद् विविधरूपी संस्कृतियों का विकास और परस्पर प्रभाव भी दिग्दर्शित करता है ।

कुबेरनाथ जी अन्तिम वर्षों में अपने गृह जनपद गाजीपुर में स्वामी सहजानन्द जी की स्मृति में स्थापित महाविद्यालय के प्राचार्य होकर चले आये । कहीं उन्होंने लिखा है कि उनकी कुण्डली के अनुसार किसी पण्डित ने कहा कि कहीं सुदूर में जाकर रहो । पता नहीं गाजीपुर आगमन उनकी साहित्यिक श्रीवृद्धि में कितना योगदान कर सका ? विधाता ने लगभग २५ वर्ष का समय ही साहित्यिक रचनाओं के लिये उन्हें दिया । प्रतिभा दीर्घजीवी भी कम ही होती है । काश, यह मनीषी रचनाकार कुछ वर्ष और साहित्य सेवा कर सका होता तो साहित्य और संस्कृति कितनी संपन्न हुई होती । पर, जितना भी समय मिला, राय जी ने निष्ठा और ईमानदारी से उसका उपयोग कर कबीरदास की शब्दावली में 'बिना कालिमा के चादर ज्यों की त्यों' रख दी ।

श्री कुबेरनाथ राय ने अपनी कृतियों और गुणों से अपने क्षेत्र, अपने वंश, अपने समाज, अपनी भाषा तथा अपने देश की मर्यादा में श्रीवृद्धि की है । एक श्लोक है कि दीपक तो रखी गई वस्तु (वर्तमान) को प्रकाशित करता है परन्तु सतुरुष कुलदीप तो स्वर्गीय पूर्वजों को प्रकाशित करते हैं–

दीपाः स्थिरं वस्तु विभावयन्ति कुलप्रदीपास्तु भवन्ति केचित् ।
चिरं व्यतीतानपि पूर्वजान्‌ ये प्रकाशयन्ति स्वगुणप्रकर्षात्‌ ॥

ऐसे महनीय रचनाकार सत्पुरुष के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ ।

●

बीसवीं सदी का रसलोलुप यायावर

डॉ. चन्द्रदेव यादव
हिन्दी विभाग
जामिया मिल्लिया इस्लामिया
नयी दिल्ली

"मेरी वैष्णवता का झुकाव आनन्दवादी शैव सिद्धान्त की ओर है । मेरा विश्वास आस्वादन और आनन्द में है । जब मेरे मन में शाक्त भाव जोर मारता है तो धरती को 'माँ' कह कर पुकारता हूँ...पर जब मैं वैष्णव भावापन्न होता हूँ तो रूप-जय-यश और शत्रुभाव से परे ऊपर उठकर शुद्ध आस्वादन खोजता हूँ और यह धरती 'प्रिया' रूप में नज़र आती है । मैं इसके सम्मुख भिक्षापात्र लेकर खड़ा हूँ और यह मेरे सम्मुख अँजुरी-भर रूप-रस-गन्ध लेकर खड़ी है । इसकी नज़र मेरे भिक्षापात्र पर नहीं, मेरे चेहरे पर टिकी है और मेरी नज़र उसकी अँजुरी पर न जाकर उसकी नाभि-मण्डल की ओर है ।"

–कुबेरनाथ राय

इन पंक्तियों को पढ़ते वक़्त ऐसा प्रतीत होता है कि इनका लेखक रसभोग और आनन्द का चिर आग्रही है । यह रस और आनन्द चाहे धरती से मिले चाहे प्रस्तर-मूर्तियों की निरावरण कटि से या पक्वताल फलोपम स्तनों या आँखों से–वह सबका सगुण रसोपभोग का आकांक्षी है । यद्यपि वह क्षण-भोग का विश्वासी है और हवा, धरती और हरीतिमा ही उसकी नायिकाएँ हैं, फिर भी वह निरन्तर एक प्रगाढ़, किन्तु हल्की मादकता, चेहरे की चाँदनी जैसी प्रसन्नता, वेणी-पुष्पों की तरल गन्ध और रेशमी नरम स्पर्श–सबका रसास्वादन लेना चाहता है । उसकी दृष्टि जयदेव और विद्यापति की तरह शरीर के वल्कलों को परत-दर-परत भेदती हुई सम्मोहन के द्वार पर पहुँच जाती है जहाँ रस का मूल स्रोत है । उसके जीवन का यही पाथेय है । यही उसका श्रेय और प्रेय है । वस्तुतः वह एक रस-आखेटक है–बीसवीं सदी का रसलोलुप यायावर । उसकी वैष्णवता सगुण की उपासना और रस-रूप-गंध के आस्वादन के लिए ही है ।

निबंधकार कुबेरनाथ राय इसी सिद्धान्त और दर्शन के मानने वाले हैं । वे रस के प्रत्यक्ष आस्वादक हैं । इसीलिए उन्होंने अपने को रस आखेटक कहा है । रस आखेटक का मतलब रस का शिकारी है, किन्तु साहित्य में रस आखेटक का मतलब

निसर्ग-सुन्दर प्रकृति में रस की तलाश है । ध्यातव्य है कि आखेट पशु-पक्षियों का किया जाता है, रस या रस को धारण करने वाली वस्तुओं का नहीं । रस तो एक भाव है । यह अलग बात है कि क्षीण कटि, पीन पयोधरा और बिम्बाधरोष्ठी रूपसियाँ और कामिनियाँ अपने काननचारी नैनों से नागरों–चतुर पुरुषों–का शिकार करती हैं । वैसे इस भौतिक जगत में कामोद्दीपक और समस्त जीवों को यथासमय काम-क्रीड़ा की अमूर्त रूप से शिक्षा देने वाला रस-रूप कामदेव स्वयं एक शिकारी है । शिकार मूर्त का होता है, अमूर्त का नहीं । मूर्त के आखेट से स्वतः रस की प्राप्ति हो जाती है । कुबेरनाथ राय जब रस आखेट की बात करते हुए स्वयं को रस आखेटक घोषित करते हैं तो उनका मंतव्य इसी अमूर्त रसोपभोग और रसास्वाद से है । यही उनकी वैष्णव रसवादी और आनन्दवादी शैव दृष्टि है ।

भारतीय दर्शन और साहित्य रस और आनन्द की विशिष्ट सत्ता पर जोर देते हैं । हालांकि निराकार ब्रह्म के उपासकों की एक धारा विशुद्ध ज्ञान को ही जीवन का परम लक्ष्य मानती है, किन्तु वे भी अन्ततः ज्ञानामृत अर्थात् साधना के उपरान्त ब्रह्म से अद्वैत की स्थिति में असीम आनन्द का उपभोग करते हैं । एक श्रेष्ठ साहित्यकार के लिए तो रस ही श्रेयस्कर होता है । संस्कृत के रस सम्प्रदाय के आचार्य तो साहित्य में रस की सत्ता को ही परम तत्व मानते थे । इसीलिए वे रसविहीन साहित्य को साहित्य ही नहीं मानते थे । हिन्दी आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की आलोचना भी मूलतः रसवादी सिद्धान्तों का ही अनुसरण करती है । वाल्मीकि, कालिदास, बाणभट्ट, जयदेव, विद्यापति, सूरदास, तुलसीदास, बिहारी, प्रसाद आदि भारतीय कवि रस और आनन्द की धारा के ही उपासक थे । रस के बिना जीवन नीरस है । रस से ही जीवन में गतिशीलता बनी रहती है । बुद्धि, चेतना और तर्क रसास्वादन में बाधक हैं । भारतीय जीवन और दर्शन का मूल मंत्र सत्य और शिव के अलावा सुन्दर को भी समाहित किये हुए है । हालांकि इस दर्शन के अनुसार जो सत्य और कल्याणकारी है, वही सुन्दर है, फिर भी सौंदर्य निस्संदेह जीवन का अनिवार्य अंग है । तात्पर्य यह है कि मनुष्य रसान्वेषी है, रसोपासक है और कुबेरनाथ राय के अनुसार रस आखेटक है–यह रस चाहे पतझर में मिले, चाहे तम में, तरुणी में मिले चाहे वारुणी में, पत्नी में मिले या परकीया स्त्री में–रस तो रस है । वस्तुतः मनुष्य के संवेग और उसके हृदय में उठनेवाली भावलहरियां ही रस का विग्रह रूप लेती हैं और मनुष्य विशेष मनःस्थिति में इन्हीं भावरूपों को रसरूप में परिवर्तित कर आनन्द का भोक्ता बनता है । दूसरे शब्दों में रस एक भाव है और यह भाव ही जीवन का परम लक्ष्य है, जीवन की तुष्टि है । जयशंकर प्रसाद कश्मीरी शैवागम की आनन्दवादी धारा का अनुसरण करते हुए इसी महाभाव को

जीवन का परम तत्व मानते हैं । उनका समरसता का दर्शन और आनन्दवाद इसी महाभाव पर आधृत है । कुबेरनाथ राय भी इसी भाव के, किन्तु सगुण रसास्वाद के उपासक हैं, आखेटक हैं । इसीलिए वे रस के साक्षात् भौतिक रूप रतिक्रिया को अध्यात्म सुख मानते हैं । लिखा है–'रतिक्रिया मात्र एक पाशविक व्यापार नहीं, कामाध्यात्म है । यह सुन्दर है, यह अपूर्व है । इसके स्पर्श से कुरूप लोहा एक क्षण के लिए सोना बन जाता है ।' (सारंग) 'जिन्हें कामेच्छा ही नहीं होती वे क्रूर और नीरस हो जाते हैं । अतः सृष्टि तभी तक सुन्दर और कोमल है जब तक हम रति-समर्थ हैं । जिस दिन हम रतिसंवेदन भूल जाएंगे उस दिन से समस्त सृष्टि असुन्दर, क्रूर और कुरूप हो जाएगी; उस दिन से ये रंग, ये फूल, ये छवियाँ, ये हवाओं के गान शव हो जाएंगे ।' (सारंग)

कुबेरनाथ राय नये साहित्य की धुरी अनुभूति के नये अध्यात्म को मानते हैं । वह आंगिक स्पर्श की क्षण अनुभूति जो अनिवर्चनीयता की सृष्टि करती है तथा जहाँ सद्यता के मध्य सनातनतां का अन्तर्भोग होता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्द और भाषा अक्षम हो जाते हैं । कुबेरनाथ राय किस नये साहित्य की बात कर रहे हैं, यहाँ यह अस्पष्ट है । यदि उनका आशय आधुनिक युग के साहित्य से है तो यह सिद्धान्त पूर्णतः निर्विवाद नहीं है । आधुनिक साहित्य ने कभी आंगिक अनुभूति या आंगिक स्पर्श को श्रेयस्कर नहीं माना है । (आंगिक अनुभूति तो सभी अनुभूतियां होती हैं और अनुभव का कार्य केवल दिल करता है । इसलिए वह आंगिक अनुभूति जो केवल रति-संवेदनों और कामविगलित मनोदशाओं से संबंधित है, जीवन का परम ध्येय नहीं हो सकती । आधुनिक काल में इसीलिए रीतिकालीन मानसिकता से साहित्य को मुक्त किया गया ।) लेकिन जहाँ कुबेरनाथ राय निर्गुण सत्ता की अपेक्षा सगुण सत्ता पर जोर देते हुए रसोपभोग की बात करते हैं वहाँ वे निस्संदेह तर्क से परे हैं, क्योंकि आदि पुरुष में कामना का प्रवेश और पुरुष-प्रकृति के रूप में उसके द्वारा स्वयं का स्वयं विभाजन यह संकेत देता है कि नारायण या आदि पुरुष भौतिक और चैतन्य दोनों का स्रोत है । मनुष्य में आदिम कामभावना इसी का प्रमाण है । ईश्वर या मूल भाव अपने मूल या आदिम रूप में मनुष्य के भीतर मौजूद हैं । काम इसीलिए मनसिज है । इसीलिए शंकराचार्य, कबीर आदि निर्गुणियों का विशुद्ध ज्ञान व्यर्थ है । छान्दोग्य उपनिषद् की यह उक्ति कि "जो पिच्छल, रोहित वर्ण, बिना दाँतों के ही पुरुष का सारा पुण्य खा जाने वाला नारी का अंग विशेष है, उसमें मैं पुनः प्रवेश न करूँ" निरर्थक है, क्योंकि असली सुखलीला रस में है, ज्ञान में नहीं । चीनी दार्शनिक जिस कर्महीन, बन्धहीन जैन दर्शन के द्वारा चरम स्वाद की प्राप्ति चाहते थे, वह स्वाद भी नीरस है, क्योंकि

कर्महीन-बन्धहीन चरम स्वाद तो शून्य में ही मिल सकता है । चूंकि यह शून्यता निर्वाण है, इसलिए उसमें रसास्वाद संभव नहीं है । रसोपभोग का अर्थ केवल काम-क्रीड़ा नहीं । पहले कहा जा चुका है कि रस ही जीवन है और यह जीवन को गतिशील बनाता है, इसलिए रसोपभोग के लिए कर्म जरूरी है । यही प्रसाद का 'कर्म का भोग भोग का कर्म' है । बिना कर्म की दीवार के जीवन का गेह नहीं बन पाता । वह खाली अवकाश तो महाशून्य का अंग बन जाता है । उसका स्वाद मृत्यु के स्वाद की तरह खट्टा भले ही न हो पर अस्तित्व के स्वाद की तरह नीरस अवश्य हो जाता है । अतः आस्वादन और अवकाश में मिठास की शर्त है कठोर कर्म का घेरा । कर्म की परिधि से घिरा अवकाश ही मीठा होता है ।' (मोह-मुद्गर)

कुबेरनाथ राय सौंदर्य के उपासक हैं । सौंदर्य का उपासक तो हर युग का मनुष्य रहा है । सौंदर्य प्रेमी मनुष्य इसीलिए सृष्टि के अन्य जीवों से भिन्न रसग्राही और चेतन है । जिसमें रसोपभोग की क्षमता नहीं वह सुन्दर-असुन्दर का भेद नहीं जान सकता । लेकिन सौंदर्य मूर्त होते हुए भी मन का एक भाव है । 'जिस तरह तपने के बाद ही कोई सौंदर्य गरम रोटी की तरह स्वादिष्ट बन जाता है, रस और प्राण का स्रोत एवं जन्म और जीवन का आधार बन जाता है' उसी तरह परिपक्व भावबोध युक्त मन ही सौंदर्य का रसास्वाद कर पाता है । मनुष्य अपनी मनःस्थिति के अनुसार ही, अर्थात् चित्त और चैसिसिक दशाओं के अनुरूप सुख-दुख और सुन्दर-असुन्दर का अनुभव करता है । ज़ाहिर है सौंदर्य का केन्द्र नारी और निसर्ग ही हैं । यदि मनुष्य नारी और निसर्ग सुन्दर प्रकृति से कट जाय तो उसका जीवन कैसा होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है । एक समय था जब पश्चिमी साहित्य से नारी का निष्कासन कर दिया गया । काफ्का, टामस मान, कामू, सार्त्र आदि के नारी पात्रों में नारीत्व की सहज और स्वस्थ 'श्री' का अभाव है । बालेरी और मलार्मे प्रेम की कविता को बेवकूफी मानते थे । नारी सौंदर्य और नारीप्रेम से विरक्ति किसी भी मनुष्य के स्वस्थ जीवन का पर्याय नहीं हो सकती । ज़ाहिर है पश्चिम में श्रीयुक्त नारी या नारीत्व के विरोधी अपने अस्तित्ववाद या क्षण-भोग को सर्वोपरि मानने के कारण नारी प्रेम और सौंदर्य से विमुख हुए । हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युग में भी नारी विषयक कविताएँ तो लिखी गयीं, किन्तु उनमें प्रेम सिरे से गायब कर दिया गया । इसीलिए द्विवेदी युगीन नारी हाड़-मांस युक्त रसविवर्जित नारी हो गयी है । वस्तुतः नारी रस, प्राण और जीवन का स्रोत है । "जो धरती और नारी को असुन्दर और कुरूप कहता है वह मनुष्य जाति का सबसे बड़ा द्रोही है । विधाता की सम्पूर्ण सृष्टि में चरम आकर्षण का केन्द्र नारी देह का छन्द ही है । नारी रहस्य का सिन्धु है । बिना उसे प्यार किये पराशक्ति और अपराशक्ति दोनों

जागरित नहीं हो सकतीं । पाल इल्यार के अनुसार सारी स्वाधीनता और विश्वप्रेम की पहली सीढ़ी है किसी लड़की को प्यार ।" (तृषा, तृषा, अमृत तृषा) अतः जिसने नारी देह के छन्द को नहीं पढ़ा, उसका रसोपभोग नहीं किया, उसका जीवन नीरस और शुष्क है । रामकृष्ण परमहंस इसीलिए कहा करते थे-"मुझे नीरस उकठा काठ-संन्यासी मत बना माँ ! मुझे सदैव रसार्द्र रख ।" दरअसल रामकृष्ण परमहंस जानते थे कि निवृत्ति प्रवृत्ति को शुद्ध पावन रखती है और प्रवृत्ति निवृत्ति को समृद्ध और संपृक्त । रसार्द्र होकर ही ईश्वर का या आराध्य का सहज बोध हो सकता है, नीरस और शुष्क होकर नहीं । रसमय दृष्टि से ही परमसत्ता का रसमय आस्वाद मिल सकता है । निर्गुनियां साधक भी 'रस गगन गुफा से अजर झरें' कहकर अन्ततः रसाग्रही हो उठते हैं । फिर रसास्वाद का तिरस्कार कैसा !

कुबेरनाथ राय का रस-भाव-बोध युक्त चिन्तन मनुष्य और धरती से जुड़ा है, इसीलिए उसमें लोक संपृक्ति है । इसमें लोक चिन्तन और श्रेष्ठ साहित्यचिन्तन का अद्भुत समन्वय है । लेखक वाल्मीकि-कालिदास, टैगोर, निराला, होमर-वर्जिल और सार्त्र-कामू-काफ्का के चिन्तन से लेकर अमेरिका के बीटनिक आन्दोलन, दादावाद और हिन्दी के अकविता आन्दोलन की तार्किक व्याख्या तो करता ही है, नरेस मिस्त्री, ग्रामसेवक उपाध्याय और चन्दर मांझी के ठेठ-अनगढ़, किन्तु रससिक्त जीवन को भी एक हल्का स्पर्श देकर लोकजीवन के अनेक तन्तुओं को झंकृत कर देता है । इसीलिए इन निबंधों में कथा जैसी सरसता और कविता जैसी भावभंगी है । यही कारण है कि लेखक पारंपरिक मिथकों और अवधारणाओं को तोड़ता है जिससे इनमें निहित भ्रांतियों का निवारण हो सके । उनकी प्रस्ताविक उक्ति कि "सचराचर अग-जग में पुरुष ही सुन्दर है । नारी विधाता की निम्नतर सृष्टि है, मानव जाति को छोड़कर शेष जगत में । शेष जगत में न गन्ध है, न मान है, न रंग, न चित्र-विचित्र श्रृंगार है ।" इस उक्ति का मूल आधार कस्तूरी मृग, कोयल और मोर आदि पशु-पक्षी हैं । कस्तूरी नर मृग में होती है जिसकी सुगंध से आकर्षित होकर कामार्त मृगी उसके पास आती है । इसी तरह मयूर और कोयल भी हैं । मानवीय सृष्टि में यह फार्मूला उल्टा है । पुरुष में शक्ति और अकेलापन है और नारी में रूप-रस-गंध और गान । कुबेरनाथ राय के अनुसार पुरुष सदैव अकेला है जैसे ईश्वर अकेले हैं । पर नारी माया है, सत-रज-तम का जाल आठ पहर पसारे हुए है और सारी धरती ही 'पद्मिनीवन' या 'कजरी वन' है । इस कजरी वन में नारी माया शबरी है, नारी संसार है, नारी भवजाल है, नारी जन्म-मरण तीर्थ हैं । पर उसी नारी के ललाट पर ईश्वर का पता-ठिकाना लिखा है । कुबेरनाथ राय की पुरुष और स्त्री विषयक विवेचना पूर्णतः सही नहीं है । दरअसल

नारी इस सृष्टि की सर्वोत्कृष्ट रचना है और उसका प्रेम-वात्सल्य इस सृष्टि का सुन्दर वरदान। पुरुष परुष है और नारी कोमल। उनकी कोमलता ही उसके सौंदर्य और आकर्षण का केन्द्र और उसके अबला होने का कारण है। मार्दव कभी भी परुषता का समानधर्मी नहीं है। किन्तु दोनों एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। मृदुता और परुषता के संयुक्त होने से ही सृष्टि का विकास होता है। दूसरे शब्दों में विरुद्धों में सामंजस्य से ही जीवन में गतिशीलता आती है। भारतीय दर्शन में अर्द्धनारीश्वर की कल्पना इसीलिए की गयी। इसीलिए नर-नारी अयुत होकर अपूर्ण हैं। उनकी पूर्णता एक दूसरे में रत होने में ही है।

कुबेरनाथ राय ललित निबंधकार हैं, हालांकि ललित निबंधकार कहना उनका अधूरा परिचय है। वे अपने निबंधों को 'क्रुद्ध ललित' निबंध कहते हैं। इनमें धरती के क्रोध, धरती की त्राहि और धरती की करुणा का समावेश हो गया है। कुबेरनाथ राय ने स्वयं के बारे में लिखा है–"मेरे जैसे तमोगुणी वैष्णव के लिए शुद्ध बारहबानी ललित-ललाम बन उठना-बैठना–चलना कठिन है। यह मेरे स्वभाव के प्रतिकूल होगा। यह मेरी धरती और मेरे युग के प्रतिकूल होगा। .....इस क्रोध और आर्तनाद को मैंने समष्टिगत अनुभव बनाकर इन्हें 'रस' में परिणत करना चाहा है साहित्य या तो क्रोध है नहीं तो अन्तर का हाहाकार। इस क्रोध और इस आर्त्तनाद को मैंने सारे हिन्दुस्तान के क्रोध और आर्त्तनाद के रूप में देखा है।"

कुबेरनाथ राय के इस वक्तव्य को गौर से देखने पर साफ़ पता चलता है कि उनकी सारी व्यथा, उनका सारा क्रोध और आर्तनाद या कि अन्तर का हाहाकार युग सापेक्ष है। लेखक की पीड़ा व्यष्टि की पीड़ा नहीं, समष्टि की पीड़ा है। लेखक खुद 'भारत' है। और इसी क्रम में उसके समस्त चिन्तन आकार लेते हैं, जिसकी परिणति 'रस आखेटक' के सभी निबंध हैं। इन निबंधों में परम्परा का मूलोच्छेदन भी किया गया है और साहित्य के वाग्जाल को दूर कर एक नवीन दृष्टि भी विकसित करने की कोशिश की गयी है। इसीलिए निबंधकार प्रतिपाद्य विषय से दूर जाकर दर्शन, साहित्य, परम्परा, कवि-समय का मूल्यांकन करता है और क्लैसिक साहित्य–चाहे मेघदूत हो अथवा होमर, वर्जिल और शेक्सपियर के महाकाव्य-नाटक, पर पुनर्विचार करता है। रोहिणी निबंध में रोहिणी का वर्णन करते करते लेखक मेघदूत की पुनर्विवेचना के क्रम में कुछ नयी प्रतिपत्तियां भी देता है, जैसे वाल्मीकि को कालिदास से बड़ा कवि घोषित करना आदि। ललित निबंद में विषय को स्पष्ट, रोचक, संप्रेषणीय और ललित बनाने के लिए कुछ अवान्तर प्रसंगों को भी शामिल किया जाता है, किन्तु अवान्तर प्रसंगों को जरूरत से ज्यादा स्थान देने से मुख्य विषय गौण हो जाता है। एक लम्बी अवान्तर कथा या विषय क्रम में साहित्य की

विस्तृत आलोचना से रस-भाव में बाधा पड़ती है । कुबेरनाथ राय के निबंधों की यह खूबी भी है और कमजोरी भी । उनके निबंधों की एक और विशेषता तथा कमजोरी यह भी है कि उनमें सन् साठ के बाद के हिन्दी काव्यान्दोलनों के साथ-साथ पश्चिमी काव्यान्दोलनों की भी खबर ली गयी है । इन प्रयोगों को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक का मुख्य ध्येय निबंध लिखना नहीं, बल्कि आलोचना करना है । निबंध के माध्यम से आलोचना करना गलत नहीं है, किन्तु अनावश्यक रूप से आलोचना में रस लेना उचित नहीं जान पड़ता । हाँ, होमर, वर्जिल और शेक्सपियर के साहित्य पर आधारित उनके आलोचनात्मक निबंध अलबत्ता श्रेष्ठ हैं । मोनोलॉग शैली में लिखे गये ये निबंध निस्संदेह एक ऐसे वातावरण का सृजन करते हैं जहाँ पाठक होमर, वर्जिल या शेक्सपियर युग का रसास्वादन करने लगता है । निबंधकार ने भूमिका में जो आठ वोध कथाएं दी हैं वे सभी मिथ हैं, किन्तु निबंधकार ने उन्हें अपनी दुर्भेद्य तार्किकता से नया आयाम देने की कोशिश की है । कुबेरनाथ राय ने मिथकों की नयी व्याख्या करके पौराणिक कथाओं के पुनर्विवेचन का मार्ग प्रशस्त किया है । 'शापमोचन' और 'मायाशबरी' नामक बोधकथाएँ इसके प्रमाण हैं । लेखक के अनुसार अहल्या का उद्धार त्रेता में नहीं, बल्कि द्वापर में कृष्ण के द्वारा हुआ और अहिल्या के साथ इन्द्र ने रति कर्म नहीं बल्कि मानस रमण किया था । इसी तरह विश्वामित्र का व्रतभंग मेनका ने नहीं, एक शबर कन्या ने किया था । तात्पर्य यह है कि मिथकों का यह नवीन प्रयोग लेखक की तार्किक और बौद्धिक क्षमता की परिणति है ।

कुबेरनाथ राय के निबंधों का विषय जाना-पहचाना और सबका अपना विषय है । वे कचरस जैसे मीठे भी हैं और नारुन जैसे कटु-तिक्त भी । भोजपुरी शब्दों के प्रयोग से इनकी सरसता और व्यंजकता और बढ़ गयी है । दूसरे शब्दों में, उनके निबंधों में काव्य रस भी है और आलोचना की तल्खी भी । इन दोनों साहित्य रूपों के कारण ये 'क्रुद्ध ललित' निबंध आलोचनात्मक ललित निबंध बन गये हैं । इसलिए सरस, लालित्ययुक्त और आलोचनात्मक होने के कारण हिन्दी साहित्य में इनका स्थायी महत्व है ।

●

कुबेरनाथ राय की निबन्ध-शैली

डॉ. मान्धाता राय

हिन्दी साहित्य में कुबेरनाथ के निबन्धों की उपलब्धि भारतीय संस्कृति के आर्येतर तत्वों पर प्रकाश डालने तथा रामकथा सम्बन्धी अनेक प्रसंगों की नयी व्याख्या प्रस्तुत करने में है । इसके साथ-साथ गांधीवादी जीवन दर्शन तथा शास्त्रीय विवेचन भी उनके निबन्धों का विषय है। नृतत्वशास्त्र की नवीन शैली उनकी देन है । कुबेरनाथ राय ने निबन्ध को मन की मौज या मनोरंजन की विधा न मानकर उसे जीवन दृष्टि से युक्त शास्त्र बतलाया । दूसरी ओर उन्होंने ललित निबन्ध को गद्य में प्रस्तुत रम्य रचना माना है । इस तरह निबंध के भीतर वे काव्य तत्व को भी आवश्यक समझते हैं । ललित निबंध को उन्होंने एक साथ काव्य और शास्त्र दोनों बतलाया है । जिसमें प्रधानता काव्य तत्व की है । उनकी मान्यता है कि निबंध में अनुभव के विविध खण्डों का स्वतन्त्र महत्व न होकर उन खण्डों के संयोग से बने हुये समग्र अनुभव का महत्व होता है । वस्तुतः निबन्धकार इस सामग्रिक अनुभव को स्पष्ट रूप में अथवा संकेत के द्वारा प्रस्तुत करते हुए सूत्रधार की भूमिका का निर्वाह करता है । उन्होंने निबंध में उन्मुक्तता, लालित्य, आत्मव्यंजकता, आंतरिक लयबद्धता, वैयक्तिकता, बौद्धिक रसमयता, वैचारिकता, केद्रीय विषय से जुड़कर भी उन्मुक्त विचरण और सांस्कृतिक बोध को आवश्यक बतलाया है ।

निबन्ध में रचनाकार की स्वच्छन्दता को श्री. राय ने उच्छृंखलता या कमजोरी न मानकर उसका मेरूदण्ड माना है । इस संबंध में उनका कहना है कि निबंधकार विषय से इधर-उधर होकर भी केंद्रीय विधा से जुड़ा होता है । इस रूप में निबंध को उन्होंने 'विषय के आसपास शिव के साँड़ की भांति मुक्त चरण और विचरण, बतलाया है ।' वे निबंध का उद्देश्य पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार करना मानते हैं । यही कारण है कि उनके निबंधों में सन्दर्भ की बहुलता और विषयगत विविधता एवं विस्तार है । इस रूप में उन्होंने निबंध को बौद्धिकता की रसमय प्रस्तुति तथा स्वयं में संपूर्ण और स्वयं पूर्ण वाङ्मय बतलाया है ।

कुबेरनाथ राय के निबंधों को तीन श्रेणी में रखा जा सकता है । (१) ललित निबन्ध (२) प्रबंध और (३) रिपोर्ताज । हिंदी ललित निबंधों में लेखक का निजीपन (में) अंग्रेजी निबंधों की तरह स्वतन्त्र न होकर सार्वजनीन बन कर आया है । निबंधों में प्रकृति और मानव जीवन की प्रस्तुति की यही चरितार्थता है । सामान्य में विशेष की तलाश, अखण्ड विश्व दृष्टि और फक्कड़पन इन निबंधों की उपलब्धि है । गंभीर विवेचन वाले निबंधों को उन्होंने प्रबन्ध की संज्ञा दी है । ऐसे निबंधों में

जीवन दृष्टि की व्यापकता और सन्दर्भों की विविधता के साथ-साथ गंभीर चिंतन भी विद्यमान है । यद्यपि इसके चलते कुछ लोग उनके निबन्धों को क्लिष्ट कहते हैं, किन्तु, यही उनके निबंधों की विशिष्ट पहचान है । इस संबंध में उनका कहना था कि साधारण पाठकों को ध्यान में रखकर लिखे गये निबन्ध अखबारी साम्रगी हो जायेंगे जबकि ये निबन्ध पाठकों की मानसिक ऋद्धि के लक्ष्य से जुड़े हैं अतएव उपयोगी है । समय के साथ उनकी सार्थकता प्रमाणिक हो जायेगी ।

विषय के अनुसार उसके निबन्धों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है–(१) भारतीय संस्कृति, प्रकृति और सामयिक चिंतनपरक निबंध (२) आर्येतर भारत और गंगातीरी लोक जीवन से जुड़े निबंध, (३) रामकथा पर आधारित निबंध, (४) गांधीवादी जीवन दृष्टि पर आधारित निबंध । प्रथम वर्ग में आरंभिक कृतियां 'प्रिया नीलकण्ठी', 'रसआखेटक', 'गंधमादन', 'पर्णमुकुट' और 'कामधेनु' के निबन्ध आते हैं । दूसरे वर्ग में 'निषाद बांसुरी' 'किरात नदी में चन्द्र मधु', 'मन पवन की नौका' और 'उत्तर कुरु' के निबन्ध आते हैं । श्री. राय की प्रसिद्धि के आधार यही निबन्ध हैं । इन निबंधों में भारतीय संस्कृति में आर्येतर तत्वों के योगदान को रेखांकित किया गया है । इन निबंधों के बीज आचार्य हजारी द्विवेदी के निबंध 'अशोक के फूल' में मिलते हैं । तीसरे वर्ग में 'महाकवि की तर्जनी', 'त्रेता का वृहत्साम' और 'रामायण महातीर्थम्' के निबंध आते हैं । भगवान राम को वे भारतीयता का प्रतीक मानते हैं । 'विषादयोग' तथा 'पत्र मणि पुतुल के नाम' पुस्तकों के निबंध चौथे वर्ग के अन्तर्गत आते हैं । श्री. राय की मान्यता है कि सर्वोदय, सादगी, अहिंसा, उदारता जैसे गांधीवादी विचार वर्तमान उग्र समाज को शांति दे सकते हैं ।

श्री राय के विवेचन में विषय के अनुरूप गंभीरता और सरलता का मणिकांचन योग है । वे एक बहुश्रुत एवं बहुपठिन निबंधकार हैं । संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला, असमिया, हिंदी और उर्दू के श्रेष्ठ साहित्य का उन्होंने भरपूर अध्ययन और मनन किया था । मूलतः वे भोजपुरी भाषा क्षेत्र के निवासी थे किन्तु अध्ययन और अध्यापन के संबंध में बंगाल और असम में उन्होंने लम्बे समय तक प्रवास किया था । अतः उनके विश्लेषणों में आर्य और आर्येतर संस्कृति का समग्र रूप एक विशिष्ट भंगिमा के साथ प्रस्तुत हुआ है । भारतीय संस्कृति का वर्तमान स्वरूप आर्य और आर्येतर दोनों तत्वों के मेल से निर्मित हुआ है । इसी टोन को उन्होंने अपने निबंधों में प्रस्तुत किया है । इसके चलते विवेचन में कहीं गम्भीर चिंतन और भाषा का संश्लिष्ट रूप उभरा है तो कहीं लोक जीवन का प्रवाह एवं सरलता है । सभी निबंधों में उनका उद्देश्य रहा है मानव को पृथ्वी और ईश्वर से जोड़ कर प्रस्तुत करना । इसे उन्होंने अविभाजित 'त्रिक' कहा है । उनकी मान्यता है कि ईश्वर से जुड़कर ही मनुष्य अहंकार और स्वार्थ से ऊपर उठ सकता है । उनका सम्पूर्ण लेखन इन तीनों के समायोजन और सामंजस्य की ओर इंगित करता है ।

पौराणिक बातों की संगति लोकमत से बैठाने की कला इनकी विशिष्ट शैली है। जैसे, 'कामधेनु' निबंध में लोक जीवन में प्रचलित कथा 'आसमान के तारे राम जी की गायें है और चन्द्रमा उनका चारवाहा', की संगति उन्होंने वैदिक शब्द 'धेनु' का अर्थ 'तारागण' और दुग्ध का अर्थ 'सोमकला' से बैठाकर प्रसंग को रोचक और ग्राह्य बना दिया है। जहाँ गम्भीर विश्लेषण हुआ है, भाषा का प्रवाह थम गया है। ऐसे निबंध सामान्य पाठक के लिए गरिष्ठ हो गये हैं किन्तु इन निबंधों में भी आत्मीयता का निर्वाह हुआ है।

अंग्रेजी साहित्य का अध्येता होने के कारण श्री. राय के निबन्धों पर लैम्ब और हक्सले के गद्य की भंगिमा का प्रभाव है। उनकी निबंध-शैली पर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्पष्ट प्रभाव दीखता है। अतीत के विवेचन को आज की समस्या से जोड़ने का शिल्प आचार्य द्विवेदी की देन है। कुबेरनाथ राय के निबन्धों में भी जहां-तहां इसका उपयोग किया गया है। भारतीय संस्कृति, मानववाद, आस्तिकता, किसान और ग्राम-जीवन के प्रति निबन्धकार के मन में गहरी आस्था रही है जो किसी न किसी रूप में निबन्धों में व्यक्त हुई है।

कुबेरनाथ राय के हर निबन्ध का आरम्भ निजी जीवन की किसी घटना के उल्लेख से नहीं हुआ है जैसा अधिकतर लोगों ने किया है। चिंतनपरक निबंधों का आरम्भ विषय की गम्भीरता के अनुरूप हुआ है। सन्दर्भों की बहुलता उनकी उपलब्धि है। जिस विषय की चर्चा वे करते हैं उसके विविध पक्षों से जुड़े नाना प्रकार के सन्दर्भो की झड़ी लग जाती है। लोक जीवन से शास्त्रों तक तथा अंग्रेजी से लेकर बंगला और असमिया साहित्य के विभिन्न सन्दर्भ उनके निबन्धों में आये हैं। साहित्य का अध्येता उसमें डुबकी लगाकर रस से सराबोर हो जाता है। निबंधकार की ईमानदारी इस बात में है कि उसने जिन सन्दर्भों को उद्धृत किया है उसे चुराया या छिपाया नहीं है। हिन्दीं शब्दों के समानांतर अंग्रेजी के शब्दों और रोमन लिपि का प्रयोग करके प्रसंग को और स्पष्ट किया है।

विविध संदर्भों और शब्दों के प्रयोग के चलते क्लिष्टता आने के संबंध में उनका मत है कि जिस शब्द के प्रयोग से भाव पूरी तरह स्पष्ट हो, वहां उसी शब्द का प्रयोग करना उचित होता है। केवल सरलता के आग्रह से निबंध सारहीन हो जाता है। विचारों की उत्कृष्टता के चलते उनके निबंधों में महाकाव्यात्मक गरिमा और कहानी जैसी रोचकता साथ-साथ मिलती है। निबंधों में पैनापन लाने के लिए उन्होंने विभिन्न प्रतीकों का प्रयोग किया है। लोक-जीवन संबंधी विवेचन में लाक्षणिकता और बिंब-योजना का निर्वाह सफलतापूर्वक हुआ है। श्री. राय ने यह स्वीकार किया है कि उनके लेखन में फीचर, स्केच, रिपोर्ताज जैसी विधाओं का प्रयोग स्थान-स्थान पर हुआ है। लोकोक्तियों, मुहावरों और लोक जीवन में प्रचलित शब्दावली का सटीक प्रयोग 'निषाद बांसुरी' के निबंधों में अधिक हुआ है। जिस

प्रकार उन्होंने विषय की दृष्टि से गद्य के विविध पक्षों को अपनाया है उसी प्रकार उनके शिल्प में भी विविधता है । शास्त्र और लोक के विविध रूपों का विलक्षण समन्वय उनके निबंधों में हुआ है ।

श्री. राय ने अपने निबन्धों में कही-कहीं संवादशैली का भी प्रयोग किया है । 'निषाद बांसुरी' निबन्ध में दो काल्पनिक पात्रों—चन्दर मांझी और रामदेवा जी के संवाद के सहारे निषाद संस्कृति के रागात्मक तत्वों को प्रस्तुत किया गया है । यही तत्व वर्तमान भोजपुरी संस्कृति के केंद्रीय लय और आंतरिक भावात्मक बुनावट के अंग बन गये हैं । लालित्य के आस्वाद के कारण बोझिल और शुष्क बातें भी सरसता का खण्डन नहीं कर पाती हैं । बीच-बीच में शालीन हास्य का प्रयोग भी निबंधकार ने किया है । इसके चलते लेखक का पाठकों के साथ स्थापित सख्यभाव प्रगाढ़तर हो गया है ।

कुबेरनाथ राय की निबन्धशैली की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि प्रबन्धात्मक गठन और कसाव है । आचार्य शुक्ल ने निबंध को गद्य की कसौटी कहा है जिसमें विचार दबाकर प्रस्तुत किए गए हों । स्व. राय के निबंधों में कोई भी शब्द फालतू या अलंकरण के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है । वाक्यों की संक्षिप्तता, सटीक प्रयोग और चुस्ती के कारण उनके निबंधों में गद्य की प्रकृति क्लासिकल हो गई है । बीच-बीच में पिरोये गये भावनात्मक स्थलों के सहारे लालित्य की योजना हुई है । अधिकांश निबंधों की भाषा तत्सम प्रधान है जबकि लोक-संस्कृति से जुड़े निबंधों में लोकजीवन में प्रचलित शब्दों का प्रयोग किया गया है ।

भारतीय संस्कृति के आर्य और आर्येतर के मिश्रण के संबंध में उनका मत है कि भारतीय संस्कृति का मधु निषादों की देन है तो इसका तेज आर्यों की देन है । इसी प्रकार उनके निबंधों में रसमयता आर्येतर संस्कृति पर आधारित निबंधों में है तो पाण्डित्य आर्य संस्कृति प्रधान निबंधों में । लोकजीवन से जुड़े निबंधों में दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ हो जाने के कारण वे अधिक आस्वाद्य हो गये हैं । उन्होंने अपने ललित निबंधों में आत्मीयता को बौद्धिकता से जोड़कर प्रस्तुत किया है । वे साहित्य को राजनीति का अनुचर मानने के पक्षधर नहीं हैं । इसी कारण निबन्धों का स्तर बनाए रखा । फिर भी उनके निबन्धों में आये विभिन्न संदर्भ और विवेंचन आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की तरह निबंध के सहज अंग नहीं बन पाये हैं । यह उनकी सीमा है और पहचान भी । हां, लोक तत्वों पर आधारित निबंधो तथा बाद के निबंधो में यह सहजता प्रायः मिलती है ।

●

कुबेरनाथराय की मूल्य-दृष्टि

बालकृष्ण राय (एम. फिल.)

कुबेरनाथ राय के समस्त ललित वाङ्मय का मूल स्वर है – सांस्कृतिक एवं सौन्दर्यमूलक मानव-मूल्यों का निदर्शन । सन् साठ और साठ के बाद की समस्त कृतियों में उन्होंने भारतीय मूल्यों को प्रभावित करने वाले समस्त पाश्चात्य मूल्यों का खंडन किया और अनास्थावादी समस्त दर्शनों के स्थान पर भारतीय-मूल्यों की स्थापना की । उन्होंने साठोत्तरी साहित्य की मूल्य-हीनता का सर्वत्र निरसन किया है– साठोत्तरी के कवि में जबान से चाहे वामपंथ हो, युयुत्सा पंथ हो, प्रतिमा भंजक पंथ हो, कबीर-पंथ हो या श्मशान पंथ हो, कृतित्व के हिसाब से ये सभी व्यक्तिवादी, रूपवादी, विधावादी, प्रयोगवादी और मिला-जुलाकर दक्षिण पंथ की मुहावरेबाजीका ही एक उच्छृंखल संस्करण निकलते हैं, उनमें किसी भी "पाजिटिव मूल्य का अभाव है । एक ओर तो वे ललित को प्रतिक्रियावाद मानने लगे हैं, उत्तमता, लालित्य, संस्कृति, सारगर्भिता उनकी नजरों में पुरानापन है । वे शाश्वत शब्द का मखौल उड़ाते हैं, ये पहाड़, ये तारागण, यह आकाश, यह सूरज, यह नारीके प्रति आकर्षण, यह मृत्यु और जन्म का सहभोग और यह देश– सब कुछ रोज देखते हैं पर इनकार करते हैं कि ये शाश्वत के चेहरे नहीं ।" (रस आखेटक-पृ. २२१)

इस प्रकार उन्होंने 'क्रुद्ध पीढ़ी' के क्रोध की भर्त्सना की क्योंकि उनके 'क्रोध' में भी साहस और संकल्पका अभाव था । "मैं उस क्रोध के काव्य को सही मानने के लिए तैयार नहीं जिसमें साहस और संकल्प का अवसर न हो, और संकल्प तब तक नहीं आ सकता जब तक भविष्य का कोई मूल्य बोध सामने न हो और भविष्य का मूल्य-बोध (यूटोपिया) तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता जब तक कि वर्तमान क्रोध का कारण स्पष्ट न हो ।" वे इस क्रुद्ध पीढ़ी के पीछे केवल भावावेश-जनित विश्रृंखलता मानते हैं । उनकी धारणा है कि "समस्त साहित्यिक सृजन के मूल में कवि का ध्यान योग रहता है, बिना इसकी यंत्रणा को झेले साहित्य लिखा नहीं जा सकता । इस ध्यान-योग की यंत्रणा से ही उदात्त मानव-मूल्यों की उद्भावना होती है ।"

प्रश्न है कि 'मूल्य' या 'मानव मूल्य' क्या है? 'मूल्य' शब्द मूलतः अर्थशास्त्र का है, परन्तु वर्तमान काल में इसका अर्थ–विस्तार हो गया है । यह अर्थशास्त्र या वाणिज्यशास्त्र की सीमा से निकलकर नीतिशास्त्र, दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाज-शास्त्र और अन्य सामाजिक विज्ञानों का विषय तो बन ही गया है, यहाँ तक कि

आज साहित्य और आलोचना में भी इसे स्वीकृति मिल चुकी है । मूल्य शब्द मूल+यत् से बना है जिसका अर्थ है, किसी वस्तु के विनिमय में दिया जानेवाला धन, दाम, बाजार भाव आदि । अंग्रेजी में इस शब्द के लिए 'वैल्यू' ग्रीकमें 'एक्सियोज', जर्मन में 'कैट' और फ्रान्सीसी में 'वाह्बोर' का प्रयोग होता है । (मूल्य-मीमांसा–गो. चं. पाण्डेय) । मूल्य को किसी सुनिश्चित और ऐकांतिक परिभाषा में बाँधना कठिन है । कारण, इसका विषय श्रेत्र अत्यंत व्यापक है । कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं–

"मूल्य वे मानदण्ड हैं जो संपूर्ण संस्कृति और समाज को अभिप्राय और सार्थकता प्रदान करते हैं।" (सोशियोलाजी-पृ. २९४ जोसेफ एच. फिचर)

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खण्ड २२, पृ. १७२) के अनुसार "जो जीवन को अस्तित्व और गति प्रदान करें वही मूल्य हैं ।"

भारतीय चिन्तन और सांस्कृतिक धारा के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि हमारे यहाँ मूल्यों के साथ अध्यात्म की स्वीकृति किसी न किसी रूप में अवश्य रही है । रामायण और महाभारत युग तक आते-आते पुरुषार्थों को व्यापक मान्यता मिल चुकती है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ चतुष्ट्य की संज्ञा दी गई । और वास्तव में ये ही चरम मानव मूल्य हैं । इनके बिना किसी भी काल में मूल्य की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती । दूसरे शब्दों में ये सार्वजनीन,सार्वकालिक मूल्य हैं जिनकी भित्ति पर भारतीय संस्कृति प्रतिष्ठित हैं । धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का संबंध भौतिक मूल्यों से है, काम में सौन्दर्य और कला संवंधी सभी मूल्य सम्मिलित हैं और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं ।

आज साहित्य और मानव मूल्य गहरे दबाव से गुजर रहे हैं । दोनों अवमूल्यन के शिकार हैं । विज्ञान के समक्ष दोनों की अर्थवत्ता को नकारने की कोशिश की जा रही है । ऐसे जमाने में जबकि मानव की गरिमा ही बड़ी सीमा तक क्षत हुई हैं, उसका तकनीकीकरण इतना अधिक हो गया है कि उसकी अस्मिता तिरोहित हो गई है । कदाचित् मूल्यों का प्रश्न अधिक उलझनपूर्ण और जटिल बन गया है । तथापि साहित्य का प्रयोजन तो मनुष्य और मनुष्य के मूल्य को लेकर है । वे ही न हों तो साहित्य का क्या प्रजोजन ? (डा. विद्यानिवासमिश्र) सा. हि. (3 अक्टू. 1982)

आचार्य कुबेरनाथ राय ने भी साहित्य का मूल प्रयोजन उदात्त मूल्यों की स्थापना ही स्वीकार की है । उन्होंने 'दृष्टि-अभिसार' में संकलित 'प्रजागर पर्व में साहित्यकार' में साहित्य के पंचीकरण सिद्धान्त की मीमांसा की है और उसी में शाश्वतमूल्यों से विरहित साहित्य की भर्त्सना की है । उनकी दृष्टि में "जिस प्रकार भौतिक जगत पाँच प्रकार की सत्ताओं (पृथ्वी, जल, पवन, अग्नि और व्योम) का पंचीकरण है, वैसे ही वैचारिक जगत भी पाँच प्रकार की सत्ताओं का पंचीकरण है ।

वे सत्ताएँ हैं–व्यक्ति, समूह, देश (भूगोल), काल (इतिहास) और कालतीत(शाश्वत) । सत्ता के ये पाँच समकेन्द्रिक वृत्त हैं । केन्द्रमें हैं व्यक्ति या अस्मिता आत्मा या पुरुष, जो कहें । वैचारिक जगत का केन्द्र यही है । इसका दूसरा छल्ला है 'समूह' जिसे वर्ग, जाति,गोत्र, कुटुम्ब अनेक छोटे-छोटे रूपों में हम संदर्भ के अनुसार देखते हैं । व्यक्ति के मन की संरचना में उसकी समूह सत्ता का ही सर्वाधिक योगदान रहता है । प्रत्येक व्यक्ति के 'व्यष्टि मन' में समष्टि मन या 'समूह मन' के रूप में यह समूह सत्ता अस्तित्वमान है । इस समूह सत्ता की गति, मति, आकृति, प्राकृति की सीमा बँधते हुए स्थित हैं तीसरा वृत्त देश या भूगोल । इस भूगोल को बाहर से घेरे हुए हैं चौथा वृत्त इतिहास या काल का । यही सत्ताका वह वृत्त हैं जिससे इतिहास चेतना या युग बोध का संबंध है । यह इतिहास या कालका भूत-वर्तमान भविष्य में विभाजित रूप है ।"

कुबेरनाथ राय इतिहास वृत्त पर ही सत्ता की समाप्ति नहीं मानते "हम सब आखिर में अपने-अपने इतिहास से बँधे है । इतिहास हमारी अस्मिता और इयत्ता की सीमा और रूप की बाह्य रूप रेखा खींच देता है, परन्तु हमारा शब्द कुछ इसी सीमा पर खतम नहीं होता, इस सीमा के बाद भी इसे चारों ओर से घेरे हुए है एक असीम अनन्त महावृत्त, शाश्वती का शाश्वत काल या महाकाल का जिसके भीतर जीवन के स्थायी मूल्य स्थित हैं और जो बदलते हुए इतिहास भूगोल-समूह के साथ बदलता नहीं, सर्वत्र एक रहता है ।"

"इस शाश्वत के मूल्यों को जिनका चरम प्रतीक ईश्वर (महाचैतन्य) है, इसे झुठलाने की चेष्टा, राजनीति या संप्रदाय के द्वारा समय-समय पर लाठी के जोर से या अवास्तविक भावों के दुराग्रही प्रचार से की जाती है । हम ईश्वर को मानें या न मानें, इससे ईश्वर का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, पर ईश्वरत्व से जुड़े, सद् से जुड़े कुछ मूल्य या प्रत्यय (भाव) है जिनके बिना मनुष्यत्व का अस्तित्व संभव नही हैं ।

उन्होनें शाश्वत मूल्यो को स्पष्ट करते हुए लिखा है– "मनुष्यत्व के सारे मूल्य–प्रेम, करुणा,साहस, त्याग, भूमा, उच्चगामिता आदि जिस शाश्वत सत्तामें स्थित है, वह 'जड़' या यंत्रवत नहीं, बल्कि चिन्मय है और उसी चिन्मय (महाचैतन्य) को चालू भाषा में ईश्वर कहा जाता है । मनुष्यत्व के ये मूल्य किसी भी देश-काल समूह में नहीं बदलते हैं । ये 'सद्' और 'चिद्' से युक्त मूल्य हैं । (दृष्टि अभिसार पाद-टिप्पणी पृ. १५२)

श्री राय ने इतिहास चेतना को ही सर्वस्व मानने वाले प्रगतिवादियों के मत की आलोचना करते हुए इस मत की स्थापना की है कि प्रेमचंद का 'साहित्य मनुष्यत्व के शाश्वत मूल्यों के कारण ही कालजयी बन सका है । उन्होंने लिखा है– "इधर

एक बड़ा भारी भ्रम फैलाया जा रहा है कि शाश्वत मूल्य तो बुर्ज्वा स्टंट भर है और प्रेमचंद जैसे प्रगतिशील लेखक का उनसे क्या ताल्लुक ? परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि बिना शाश्वत से जुड़े कोई भी इतिहास चेतना महज पत्रकारिता बनकर रह जाती है, श्रेष्ठ साहित्य के स्तर तक उठ नहीं पाती और प्रेमचंद का लेखन पत्रकारिता नहीं, सुखी पढ़कर फेंक देनेकी चीज नहीं बल्कि, प्रामाणिक साहित्य है। मानवीय करुणा, सहानुभूति, प्रेम, उदारता, साहस, दृढ़ता, अहिंसक जीवन दृष्टि, सच्चाई और कर्त्तव्यनिष्ठा की सर्वोच्च श्रेयस् के रूप में प्रतिष्ठा, ये सब प्रेमचन्द के साहित्य के भीतर उसके अनुभावों द्वारा व्यक्त होते हैं और प्रेमचंद इन्हीं सब मूल्यों के कारण ही महत्वपूर्ण और कालजयी लेखक हैं तथा ये सारे के सारे मूल्य मनुष्यत्व के शाश्वत मूल्य हैं जो निरंतर परिवर्तनशील इतिहास-चेतना पर निर्भर नहीं है।" (दृष्टि अभिसार, पृ. १५३)

इस प्रकार साहित्य में मानव-मूल्यों (शाश्वत) के प्रतिष्ठापक श्री कुबेरनाथ राय ने प्रियानीलकण्ठी (१९६९) से लेकर अपने अन्तिम ललित निबंध संग्रह 'मराल (१९९३) तक समर्थ भाषा में यही सिद्ध, किया है कि, हम जिस कालखंड में जी रहे हैं वह भावान्तर-युगांतर का कालखंड है, द्वापरकी अंतिम लहर है और यह लहर कुछ सही, सजीव और अनिर्वायतः आवश्यक मूल्य-बीजों को भी बहाकर न ले जाय, इसे भी देखना है–" ये ही मूल्य हैं जिन्हें पुरानी भाषा में 'धर्म' या 'शील' कहा जाता था। लोकशक्ति की प्राणवत्ता इन्हीं मूल्यों पर टिकी रहती हैं। ये मूल्य इतिहास के बदलते प्रभावों से निरपेक्ष रहते हैं और सार्वभौम और सार्वकालिक हैं। युग-युगांतर के इतिहास बदलते प्रभावों प्रवाह के मध्य बदलता हुआ मनुष्य प्रत्येक काल में इन मूल्यों से जुड़कर ही जीता है। वे मूल्य हैं–सत्य, दया, तप, शुचिता, तितिक्षा (सहनशक्ति), ईक्षा (प्रत्येक कोण से सम्यक् विचार करना), अहिंसा, संयम, स्वाध्याय, अपरिग्रह, आर्जव (सीधापन), संतोष, समदर्शित्व, ग्राम्य सुखों से मात्र सहज और स्वस्थ भाव से ही अनुराग, अवदमनहीनता, साहस, त्याग आत्मचिंतन, तल्लीनता, साम्ययोग (सबको समुचित भाग देना) और सर्वभूत स्थित प्रभुमें विश्वास दानशीलता, सौन्दर्यबोध, वफादारी, परिश्रम-निष्ठा, प्रेम, करुणाबोध, परोपकार आदि। किसी भी काल में ये सारे मूल्य स्वीकार्य हैं। अवश्य ही इनकी आकृति देश-काल के अनुसार बदल सकती है।" (दृष्टि अभिसार-पृ. 156)

निष्कर्ष यह कि कुबेरनाथ राय की मूल्यदृष्टि भारतीय परंपरा में स्वीकृत मूल्य-दृष्टि है। इन्होंने आधुनिक युग में मूल्यविघटनकारी मान्यताओं का प्रमाण-पुरस्सर खंडन किया है और साहित्य की रचना प्रक्रिया की मौलिक व्याख्या कर शाश्वत मूल्यों की संस्तुति की है। साहित्य की ललित विधा में मानव मूल्यों का ऐसा तत्वाभिनिवेशी विवेचक, जिसने 'श्रेयस्' की अनेकमुखी व्याख्या की, दुर्लभ है।

●

संस्मरण

एक अपूर्व साधक

हृषीकेश

यह बात साठ का दशक बीतने के बाद की है । तब प्रायः हर प्रमुख हिंदू त्यौहारों के अवसर पर पौराणिक कथाओं की सामग्री के आधार पर 'धर्मयुग' साप्ताहिक में जिस लेखक के ललित निबन्ध प्रकाशित दिख जाते थे उनका नाम था, कुबेरनाथ राय । सम्भव है वे और पहले से लिखते रहे हों, लेकिन उनकी खोज लगभग तभी की है ।

ललित निबन्धों में बहुत रुचि न होने के बावजूद मेरे जेहन में अंग्रेजी और हिन्दी के ललित निबन्धों की परम्परा का आकर्षण था और कुबेरनाथ राय के पौराणिकता समर्थित लेखों से मेरा बहुत तादात्म्य नहीं बन पाता था । जानकारी में यह बात भी थी कि वे ग्रेजुएट स्तर के कालेज में अंग्रेजी साहित्य के व्याख्याता हैं, अतः निबन्धों की विषय-सामग्री, संवेदना, भाषा आदि अनेक स्तरों पर आधुनिकता के संस्कारों से पूरी तरह परहेज बरतते हुए जिस तरह कुबेरनाथ राय सायास प्राचीनताग्रही आवेश से तत्सम क्लिष्टता में कूट निबन्धों की रचना करते रहे उसकी एकरूपता और 'मोनोटोनी, पहचान कर आश्चर्य होता था । बहुत बाद के वर्षों में उनकी 'वैष्णवी चेतना' के चलते यह पहचान इतनी दुर्बोध हो गयी कि उनके निबन्धों में वैष्णवी चेतना के वेदांती-पौराणिक आग्रह भले ही क्लासिकी सन्दर्भों में गहन-गम्भीर लगते रहे हों, पर निबन्धों का लालित्य खत्म हो गया । बहुत नामी लेकिन उतने ही अपठनीय–चार्ल्स लैम्ब के निबन्धों की तरह, कुबेरनाथ राय के निबन्ध पुरोहिती संस्कृति की मानसिकता में प्रायोजित होकर, आधुनिक जीवन की सारी सलाहियतों से निरपेक्ष, आध्यात्मिक अवगुंठन में बेहद रोमांटिक, शब्दजीवी, अलौकिक निष्पत्तियों में रसान्वेषी होते गये । उनके रसवाद ने उनकी सारी निषेधात्मक 'रेटरिक' को उजागर कर दिया । मुझे लगता है प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट से लेकर विद्यानिवास मिश्र तक के ललित निबंध लेखन की परम्परा का यह सहज विकास बिंदु नहीं है । कुबेरनाथ राय की सांस्कृतिक समझ इस कदर प्रत्ययी आध्यरूप से अनुभवाश्रित, देकार्तियन है कि उनकी ज्ञान मीमांसाएं अनैतिहासिक आम संकल्पनाओं पर आश्रित लगती हैं । अपनी प्राचीनता की अवधारणाओं को सुरिक्षत रखने की उनकी कचोट उन्हें आज के सामाजिक-राजनीतिक संकटों से सरोकार बनाने से विरत करती है । भारतीय तथा भारतीय

मनीषा की जिस अस्पष्ट धार्मिक व्याख्या का मिथ वेदांती-औपनिषदिक उहापोह का रसायन बनता है उसके प्रभापुंज में ही कुबेरनाथ राय का साधक, एकांतिक, रेवल्यूज, निरपेक्षतावादी व्यक्तित्व बना था। निपट गाँव के आदमी होकर भी वे गाँव की रोमांटिक संस्कारशीलता तक ही लगाव रखते थे और शहराती थे नहीं और अपने इस कहीं का भी मुकम्मल न होने के सत्य को जानते होने के कारण ही वे क्लासिकी इल्हामों में बहुत खुशफहम थे। अंग्रेजी और हिंदी की रोमांटिक कविता और राजनीतिक झुकावों में गांधी के लिए अतर्कित विनीतता उनके आधुनिक होने की सीमा थी। इसके आगे उन्होंने कभी जानना नहीं चाहा, और इससे स्वाभाविक रूप से जो सारतत्व उनकी आत्मगतवादी प्रयत्यशीलता का कारण वना, उसके होते प्रभूत जानकारी और विधिवत विश्लेषण के अभाव के बावजूद बहुत प्रोफेशनल तेवर से मार्क्सवाद-निंदक के रूप में जाने जाते रहे, जिसकी उनके तईं कोई जरुरत नहीं थी। उनकी जो स्पष्ट वस्तुगत स्थिति थी, उसके होते ऐसी प्रसंगहीन मुठभेड़ों में पड़ना उनकी बाध्यता क्यों बनी, यह बताने से वे प्रत्यक्षतः बचते रहे। संभवतः एक कास्मिक अस्तित्ववादी नीतिशास्त्रीयता का आत्मानन्दवाद उन्हें बहुत पसन्द था।

कुबेरनाथ राय को व्यक्तिगत रूप से जानने का मौका बहुत बाद में मिला, जब हम दोनों के बीच अत्यन्त मैत्रीपूर्ण और सौहार्द्रता से घण्टों बातें होतीं, और उनके निबंधों-लेखों को पढ़ने के आधार पर उनके मूल्यांकन को मैंने सही ही पाया। करीब ३० वर्ष से भी पहले की बात है। कानपुर में कांग्रेसी नेता–व्यवसायी–लेखक अथक भाषणकर्ता, मेरे मित्र नरेशचन्द्र चतुर्वेदी, जो 'आलोचना' पत्रिका की सतही अनुकृति में 'समालोचना' पत्रिका का सम्पादन कर चुके थे, 'जन्मभूमि' नामक साप्ताहिक का सम्पादन कर रहे थे। 'जन्मभूमि' के एक अंक के बीच के पन्नों पर विवेकानन्द के वेदांतदर्शन पर कुबेरनाथ राय का लेख छपा था। ध्यानपूर्वक पढ़ गया और अखबार के सम्पादक से सीधा–सा सवाल पूछा कि क्या सोचकर उन्होंने वह लेख छापा था। उन्हें तुरंत उचित उत्तर नहीं सूझा तो कह दिया कि लेखक कुबेरनाथ राय को छापना था, अतः लेख छप गया। लेकिन सच्चाई यह है कि नरेशचन्द्र जी की मानसिकता कहीं से भिन्न नहीं थी। पुरोहितवादी भारतीय प्राचीनता के लिए लगाव और हिंदुत्व की परिभाषा में अपनी सोच का अच्छा समर्थन उन्हें कुबेरनाथ राय के लेख में मिला था। मेरे लिये कुबेरनाथ राय को आत्यन्तिक रूप से समझने के लिए यह लेख काफी था। मैंने केवल अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिए एक लंबा पत्र उन्हें तब भेजा था। वर्षों बाद मिलने पर जिसका उन्होंने विस्तृत उल्लेख करते हुए सराहना की, तो मुझे उनकी बाहरी

उदारता की झांकी मिली । यह बाहरी उदारता एक शालीन और स्फटिक हृदय की स्वतः स्फूर्त अभिव्यक्ति मानी जा सकती है, जो आज के जमाने में बड़ी मुश्किल से किसी में दिखती है और बाहरी उदारता इसलिए भी कि कुबेरनाथ राय की सोच और मान्यताओं से बुनियादी तौर पर एकदम वैपरीत्य के स्तर पर कहीं से भी असहमतिपरक स्थिति होने जैसी बात को निपटा लेने की सहूलियत नहीं थी । तय बात है कि कुबेरनाथ राय अपने उत्कट पूर्वाग्रहों को सुरक्षित रखते हुए भी इतने विनम्र, सहज और मित्रवत लग लेते थे कि दूसरे पक्ष के साथ आत्मीयता बन जाती थी । इसके पीछे उनके प्रतिभाशाली विवेक की निस्वार्थ निश्छलता थी । पुराने मत के अनुसार वे अपनी विद्वत्ता के अनुरूप विनम्र और निरभिमानी थे, दोहरेपन से लगभग मुक्त । बहुत जरूरी होने पर ही, नपातुला बोलते थे । चूँकि अनवरत आत्मश्लाघा की प्रवंचनाओं और हस्तक्षेपजीवी वाचालता के उत्साहवाद की कोई झलक उनके व्यक्तित्व में नहीं थी अतः स्वाभाविक लगता है कि वे इस बारे में सतर्क थे कि निरुद्देश्य वाक्यपटुओं की तनाव भरी संगत से दूर रहा जाय तो बेहतर । दुनियादारी के प्रचलित व्यवहारों में कोई रुचि न होने के कारण उनके समक्ष स्पर्धाएं न थीं । अपनी पंसद का ही पढ़ना और बराबर लिखना उनके अपने होने की प्राथमिकता थी और यह निर्णय ही किसी भी लेखक को मौलिक और रचनाकार बनाता है । ऐसे निर्णयों के लेखक अधिक संख्या में नहीं होते, इस दौर में तो विरल ही हैं ।

मैंने अपनी पत्रिका 'जनाकांक्षा' के पहले अंक की एक प्रति कुबेरनाथ राय को भेजते हुए उनकी सम्मति तथा अगले अंक के लिए विशेष रूप से एक निबन्ध शीघ्र देने को लिखा था, पूरी आश्वस्ति के साथ कि निबन्ध वे जरूर देंगे । दो हफ्तों के भीतर उनका पोस्टकार्ड मिल गया । पत्रिका के स्वरूप और सामग्री की भरपूर तारीफ की थी, यद्यपि सच बात यह है कि उनकी रुचि और विचार के मुताबिक ऐसी कोई बात पत्रिका में नहीं थी । यह भी उनके सहज व्यक्तित्व की पहचान थी । निबन्ध देने का वायदा कर लिया था, लेकिन कहीं कोई जड़ीभूत अन्तर्विरोध रहा होगा जिसके होते 'जनाकांक्षा' के अधुनातन सोच-विचार को निशाना बना कर उन्होंने अपने संशय को व्यक्त करते हुए जानना चाहा था, या कहना चाहा, कि भई, मैं तो आधुनिक व्यक्ति होने का दंभ कर नहीं सकता, अस्तु, हमारे आपके बीच ऐसा कौन सा 'मीटिंग' प्वाइंट' हो सकता है जिसके नाते उनका निंबध माँगा गया होगा ! कुबेरनाथ राय पूरी पकड़ में आ गये । कानपुर से उन्हें पत्रिका पसन्द करने और निबंध देना स्वीकार कर लेने का आभार व्यक्त करते हुए लिखा कि हम दोनों के बीच 'मीटिंग प्वाइट' क्या हो सकता है, इस तरह का उनके जैसा संशय मेरे मन

में कभी नहीं रहा, फिर भी मुलाकात होने पर इसका यथोचित स्पष्टीकरण कर दूँगा। रही दंभ वाली बात, तो सबके पास, खासकर बुद्धिजीवी रचनाकार के पास अनिवार्यतः उसका कोई अपना दंभ रहता है जिसका उसके लिए औचित्य भी हुआ करता है, और इसमें कोई हर्ज भी नहीं।

गाजीपुर आकर कुबेरनाथ राय से मिलने गया, प्रमुखतः निबंध प्राप्त करने के उद्देश्य से। अपने कमरे का दरवाजा उन्होंने खोला और मुलाकात की अप्रत्याशितता से थोड़ी देर के लिए निर्वाक् रहे। फिर बड़े आत्मीय ढंग से भीतर ले गये जहाँ करीब ३ घण्टे हम खूब बातें करते रहे। वे निबंध और मुक्त मन से, पूरी दिलचस्पी के साथ अनेक विषयों पर अपनी बात कहते रहे। शायद 'मीटिंग प्वाइंट' की खोज करते रहे हों, जिसकी चर्चा हम दोनों में से किसी ने नहीं उठाई। उन्होंने बताया कि मेरा लिखा उन्होंने काफी कुछ पढ़ रखा था और उसके आधार पर उन्होंने मेरी जो 'इमेज' सोच रखी थी वैसा कुछ भी मुझमें दिख नहीं रहा था। मेरा कहना था कि हम ऐसी 'इमेज' सोचें ही क्यों ? 'इमेज' स्वयं कोई वस्तुगत यथार्थ नहीं होती, इसलिए अधिकतर भावोन्मेषी, अस्पष्ट, आकस्मिक और आंतरिक होती है। कुबेरनाथ राय ने बड़ी सहृदयता और साफगोई से कई बार कहा कि क्यों न एक 'ट्रिलॉजी' लिखूँ क्योंकि वैसे लेखन लायक मेरी भाषा उन्हें बहुत पसन्द थी और मेरी अत्यन्त लम्बी कहानी 'शिविर' का उल्लेख करते हुए उन्होंने बताया कि भाषा का आनन्द लेने के लिए उन्होंने कई बार पढ़ा था। वे मेरी बात से सहमत थे कि वैसी भाषा की संरचना बेहद कठिन होती है। मैंने उनके सुझाव को स्वीकार करते हुए भी जताया कि मैं कभी बहुत अध्यवसायी, नियमित लेखन नहीं कर सका और 'ट्रिलाजी' के लिये डॉस पैसॉस सरीखी अन्वेषी दृष्टि और जिंदगी की सूक्ष्मताओं की पकड़ हो तब तो बात बन सकती है। वे अड़े रहे कि मुझे जरूर लिखना चाहिये या कोई आत्मकथा ही लिखा जाय। उन्होंने कई आत्मकथाएँ पढ़ रखी थीं। जब मैंने पूछा कि वे स्वयं क्यों नहीं लिखते तब उन का बड़ा सरल जबाब था कि उनका जीवन बड़ा सपाट, एकरेखीय, घटनाविहीन रहा है, उनके संपर्क बहुत सीमित रहे, सभा-सम्मेलनों आंदोलनों, कला-जगत की हलचलों से उनका कोई परिचय नहीं रहा, केवल प्राचीन वाङ्मय पढ़ने और सोचने में ही उनका मन रमता है तथा वे बहुत महत्वाकांक्षाओं वाले व्यक्ति नहीं रहे। महत्वाकांक्षा वाली बात पर मैंने एतराज में कहा कि ऐसा वे कैसे 'क्लेम' कर सकते हैं क्योंकि सांसारिक सफलताओं के प्रति वे अनासक्त हों, ऐसा तो कुछ नहीं दिखता। वे मौन रहे। उन्हें लगा कि उनका यह 'क्लेम' बहुत 'कन्विन्स' नहीं करेगा। एकटक देखते रहे और जब मैंने उनसे पूछा कि भारतीय संस्कृति की ज्ञात अवधारणा में ज्ञान के 'इलीटिज्म' का जो अध्यात्म-

वादी कवच है, क्या वह व्याख्या संस्कृति की सर्वातिशायी अभिव्यक्ति के लिये पर्याप्त है, क्योंकि अपने सारे सन्दर्भों के साथ यह संस्कृति इस कदर संप्रभु है कि उसकी वैचारिक परिणतियाँ समग्र भरतीय जन के लिए कभी उपयोगी नहीं रही, तो कुबेरनाथ राय संकेत रमझ गये थे । मैंने फिर जब कहा कि संस्कृति की चिंताएँ ज्यादा किसे होती हैं, यह बताना चाहिये क्योंकि जिन कारकों के हवाले हम भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता की बात कहते हैं उसमें महती महत्वाकांक्षाओं का योग है जो नितांत वर्गीय है तब कुबेरनाथ राय ने बेबाक भाव से कहा 'हम जन संस्कृति होने का दावा सचमुच कैसे कर सकते हैं?'

कई बार की मुलाकातों में ये सारी चर्चाएँ अनवरत चलती रहीं, लेकिन एक बार भी कभी तिक्तता का अहसास नहीं आया । देखा कि कुबेरनाथ राय इन चर्चाओं में इतने डूब जाते थे कि कब कितना समय बीत गया, पता ही न चलता । बहुत निस्संग संपृक्ति से बातें करते और जब मैं विदा लेने को होता, तो दुबारा शीघ्र आने को कहते हुए भावविभोर होकर कहते–"सच कहूँ भाई साहब, ऐसी बतकहीबाजी में बड़ा मजा है ।"

'जनाकांक्षा' के लिए बड़े मनोयोग से निबन्ध लिखा और देते हुए कहा कि पसन्द न आये तो कहिएगा, दूसरा लिखूँगा, और जहाँ जो सुधार संशोधन जरूरी लगे, कर लेंगे । अगली मुलाकात में मैंने बताया कि निबन्ध पसंद आया, प्रकाशित करूँगा । निबन्ध में दो एक ऐसे वाक्य हैं जिनके बारे में सोचता हूँ, क्या सोच कर उन्होंने वैसा लिखा होगा । उनके बारे में प्रचलित राय के ठीक उलटे विचार हैं । मेरा ख्याल है वह उनका अंतिम गम्भीर निबंध होगा । उनके अवकाश ग्रहण के समय मैं भी आमंत्रित था, वही आखिरी मुलाकात थी, जबकि कुबेरनाथ राय कह चुके थे–रिटायर होने के बाद गाँव से जब भी शहर आऊँगा, आपसे अवश्य मिलूँगा और अपने गांव भी लिवा चलूँगा ।

मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि वे इस तरह बिना जताये इतनी जल्दी, इतनी अचानकता में हमारे बीच से चले जायेंगे । मैंने यों भी अपने इने-गिने मित्रों में, उन्हें अपूर्व साधक के रूप में पाया था और वह अदद भी कम हो गई । सुख इसी का है कि 'जनाकांक्षा' उनका निबंध प्रकाशित कर गौरव का अनुभव करेगी ।

●

भारतीयता और उसके घटकों में अटूट आस्थावान

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

श्री कुबेरनाथ राय की प्रथम जानकारी मुझे उनके साहित्यिक निबंधों से मिली। यह जानकारी उत्तरोत्तर श्रद्धा में परिणत होती गई। उनके निबंध अत्यन्त वैदुष्यपूर्ण लगते थे–गहरी अनुसंधान वृत्ति से जुड़े रहते थे। जब यह मालूम हुआ कि वे असम स्थित नलवाड़ी के किसी महाविद्यालय में अंग्रेजी के अध्यापक हैं तो श्रद्धा और बढ़ गई। उनमें 'विरुद्धोंका सामंजस्य' अद्भुत था। निबंध और निबंधों की भूमिका से लगता था या है कि 'भारतीयता' और उसके घटकों में उनकी अटूट आस्था है। मुझे ऐसे लोग ज्यादा आत्मीय लगते हैं। आत्मीय इसलिए ज्यादा लगते हैं कि 'भारतीयता' उन लोगों की वृत्ति है–जिनमें से 'पंचशील' का नारा निकलता है, जिनमें से 'जिओ और जीने दो' की आवाज सुनाई देती है, जो लोग 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'–को मानते हैं, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को मान्यता देते रहे हैं, मानवता के हित की निरन्तर सोचते हैं, ध्वंस के पक्षधर नहीं होते, धर्म और अध्यात्म के प्रति निष्ठावान और समर्पित रहते हैं और सबका हित चाहते हुए भी 'पद्धति' में अपनी 'पहचान' बनाए रखते हैं। अंग्रेजी के प्राध्यापक होते हुए भी वे आचार, विचार, वेष-भूषा और रक्त-श्वास में भी भारतीय थे। भारतीय होने का अर्थ ही होता है जिसमें सौमनस्य हो। मैं जब ऐसा कहता हूँ तो मेरा मतलब इसकी औसत मानसिकता से है। उपर्युक्त लक्षण अन्यत्र भी मिल सकते हैं पर औसतन ये सब लक्षण एक आदर्श भारतीय में सहज ही मिल सकते हैं। प्रो. कुबेरनाथ राय ऐसे ही भारतीय थे।

मेरी उनसे पहली भेंट लखनऊ में हुई। संदर्भ था हिंदी संस्थान, लखनऊ की ओर से हिंदी दिवस पर आयोजित विद्वानों के सम्मान-पुरस्कार का। वे 'साहित्यभूषण' से विभूषित होने के लिए आमंत्रित थे और मैं अपनी 'संतमत : साधना और सिद्धान्त' पर पुरस्कृत या सम्मानित होने के लिए। इसे एकदम संयोग ही कहिए कि उन्हें पूर्वनिर्धारित उसी होटल के कक्ष में रुकने का निर्देश हुआ जिसमें मैं पहले से ही रुका हुआ था। मैं किसी कार्यवश कमरा यों ही खुला छोड़कर अन्यत्र चला गया था। लौटकर जब कमरे में प्रविष्ट हुआ तो देखता हूं कि स्नान करके एक ऐसा व्यक्ति हाथ में धोई हुई धोती पकड़े– दूसरी धोती पहने नंगे वदन पूजा-प्रार्थना-समुचित मनोदशा और मुखमुद्रा में कमरे में आ रहा है। सारी मनोदशा, वेष और मुखमुद्रा से भारतीयता टपक रही थी। सिर के अधपके छोटे छोटे बाल इस धारणा को और पुष्ट कर रहे थे। मुझे देखकर उनके चेहरे पर कुछ

और नीलकंठी पाखी उड़ गया...

प्रो. सत्यमित्र दुबे
पूर्व अध्यक्ष, समाजशास्त्र विभाग
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

नई दिल्ली के तीनमूर्ति पुस्तकालय में हिन्दी के अखबारों को उलट पुलट रहा था तो एक छोटी सी खबर ने मुझे अन्दर तक हिला दिया– 'हिन्दी साहित्य में ललित निबंधों के शलाका पुरुष कुबेरनाथ राय नहीं रहे । गंगा-तट का नीलकंठी पांखी उड़ गया ।' लेकिन हिन्दी भाषा के नाम पर मुनाफा कमाने वाले अखबार और उनमें बैठे लोगों की खबर की समझ की कृपणता पर मन मसोसकर रह गया । बाद में तो अखबारों में वाराणसी, इलाहाबाद तथा दिल्ली में उनके निधन पर आयोजित शोक-सभाओं की रपट ठीक से प्रकाशित हुई ।

शाम को काफी हाउस में बैठा था । साहित्यिक और पत्रकार मित्रों से कुबेरनाथ राय के निधन की चर्चा हुई । उसी प्रसंग में गाजीपुर का जिक्र आया । किसी ने कहा राही 'मासूम रज़ा भी तो गाजीपुर के ही थे । उनका 'आधा गाँव' भी तो गाजीपुर का ही एक गाँव है ।' मैंने कहा कि 'गंगौली' का 'आधा गाँव' राही का है लेकिन कुबेरनाथ का 'मतसा', पूरे ब्रह्माण्ड के साथ जुटा है । कहा गया है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' । जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है । पंजाबी में और संस्कृत परंपरा में पिण्ड का अर्थ गाँव होता है । जो गाँव में है वही ब्रह्माण्ड में भी है । कुबेरनाथ राय एक ही साथ गाँव, देश और ब्रह्माण्ड, लोक परंपरा, शास्त्रीय परंपरा और आध्यात्मिकता से आजीवन संपृक्त रहे । यही उनके लेखन का केन्द्र-बिन्दु था ।

पचास के दशक में कलकत्ता विश्वविद्यालय में अंग्रेजी साहित्य में एम. ए. करने के बाद कुबेरनाथ जी निचले असम के एक अत्यंत सुसंस्कृत एवं प्रख्यात कस्बे नलबारी के महाविद्यालय में अंग्रेजी के प्रवक्ता होकर चले गये थे । गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रायः नौ वर्ष अध्यापन करने के बाद सन् 1968 में डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग का अध्यक्ष होकर मैंने भी पूर्वोत्तर भारत की ओर प्रस्थान किया था । धर्मयुग के माध्यम से कुबेरनाथ जी के ललित निबंधों के रस में मैं धीरे धीरे पगता गया । उनके निबंधों के शिल्प, परंपरा के बोध और आधुनिकता की विवेकपूर्ण समझ पर तो मैं मुग्ध था ही लेकिन सुदूर पूर्वोत्तर में रहते मन के किसी कोने में बैठा मेरा 'गाजीपुरी भाव' और उसके साथ ही जुटा पूर्वोत्तर के अनुराग ने मेरे मन में कुबेरनाथ जी के प्रति एक अनजाने गर्व की अनुभूति पैदा कर दी थी ।

संकोच का सा भाव भी निरायास उभर आया–मुझे कुतूहल हुआ । मुझे लगा कि आखिर ताम-झाम रहित यह व्यक्ति है कौन ? कुतूहल निवृत्ति के लिए मैंने पूछ ही लिया–आप ? अत्यंत विनम्र और संकुचित मुखमुद्रा में कहा–कुबेरनाथ राय ! फिर क्या कहना–हृदय गद्‌गद हो गया । लगा, वाह ! अंग्रेजी का एक स्वनामधन्य प्रोफेसर और हिंदी साहित्य का लब्धप्रतिष्ठ निबंध लेखक और इतना ठेठ भारतीय जो जीवन भर अंग्रेजी का प्रोफेसर रहकर पुनः उनके अन्तिम दिन काटने गाँव में आकर रहना पसन्द किया ! कदाचित् वहाँ का परिवेश उनके मूल संस्कार कें अधिक नजदीक लगा होगा ।

पुरस्कार लेकर मैं, डॉ. रामचन्द्र तिवारी और प्रो. राय तीनों एकजुट हुए । मेरा आकाशवाणी और विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में जाना पूर्व निर्धारित था । आतिथेय डॉ. रामफ़ेर त्रिपाठी ने इन दोनों को भी साथ में जोड़ लेना उचित समझा और साग्रह प्रार्थना की कि वे दोनों मनीषी भी कार्यक्रम में भागीदार बनें । दोनों 'हाँ-ना' के सकते में । अन्ततः साथ देना ही पड़ा । राय साहब को संकोच ज्यादा था–वे दोनों जगह अपने को पीछे ही रखे रहे–पर भागीदार तो होना ही था ! ऐसे अयाचित प्राप्त मनीषियों को कौन छोड़ता ? फलतः आकाशवाणी और विभाग दोनों स्थानों के पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों में स्तरीय योग दिया । सभी प्रसन्न थे ।

वापसी में राय साहब और मैं साथ रहा । दोनों को काशी होकर अपने-अपने गंतव्य को ज़ाना था । रास्ते में राय साहब ने कहा–स्टेशन पर ही कहीं रुक जाऊँगा–सबेरे गंतव्य पर प्रस्थान होगा' । मेरा भी वाराणसी वाला घर अब बिक चुका था–अतः एक आश्रम में ही रुकना था । मन में यह हुआ कि एक तो बाहरी और एक और बाहरी को लेकर कैसे जाऊँ ? पर आश्रम का मेरे ऊपर इतना स्नेह है कि मेरी इच्छा का वहाँ कभी अनादर हो ही नहीं सकता था । इस विश्वास पर राय साहब से अनुरोधं किया कि वे भी मेरे ही साथ चलें और आश्रम में रात्रि बिताएँ । उन्होंने मेरे प्रस्ताव को सहर्ष मान लिया । आश्रम सुथरा और स्तरीय है । जिस कमरे में उन्हें ठहराया गया वह सब तरह उपस्कर युक्त और शोभन था । रायसाहब कुछ खा-पीकर वहीं सो रहे । प्रातः महात्माओं को भी अपनी बातचीत से अत्यन्त प्रभावित किया । परस्पर आत्मीयता समृद्ध हो गई । फिर मैं उन्हें बेनियाबाग तक बाहर छोड़ने साथ-साथ गया । अत्यन्त स्निग्ध भाव से हम सब अलग हुए ।

कुछ ही दिनों बाद वज्राघाती संदेश अखबारों में पढ़ा । लगा कि इसी आघात को गहरा बनाने की विधि ने इतना सारा संभार रचा था ? कई पत्र-पत्रिकाओं में उनके निबंध भी (मृत्य के बाद) पढ़े । मुझसे भी पाणिनि के एक सूत्र 'अ–अ' का आशय पूछा था । मैंने लिख कर भेंज भी दिया । पर इस सबका पर्यवसान क्या इसी दिन के लिए था ? अब तो नियतिवश इन्हीं शब्दों में उन्हें श्रद्धांजलि ही देनी रह गई ।

●

नलबारी के पास एक छोटी नदी बहती है जो पावस के पहाड़ी पानी के स्पर्श से इठला कर 'पगला दह' कही जाती है । कुबेरनाथ राय जी का एक निबंध 'पगला दह' पर भी प्रकाशित हुआ था । पगला दह के रेलवे पुल से ट्रेन से यात्रा करते हुए जब-जब में गुजरता था तो उनकी याद आती थी और मैं पूरे आह्लाद के साथ नलबारी कस्बे, उसके सुन्दर नामघर और महाविद्यालय के परिसर की ओर देखा करता था ।

सन् 1986 में वे सहजानंद महाविद्यालय के प्राचार्य होकर गाजीपुर चले आये । प्रायः उसी समय अपने तीन वर्षों के दिल्ली प्रवास के बाद मैं पुनः डिब्रूगढ़ विश्वविद्यालय वापस चला गया था । 'पगला दह' के पुल से गुजरते हुये बाद के दिनों में मेरे मन में हमेशा एक रिक्तता सी रही । जब-जब मैं गाजीपुर गया, उनसे मिलने की उत्सुकता थी । दो या तीन बार उनसे मिलने अपने मित्र श्री दीनानाथ शास्त्री और अपने भतीजे श्री अमिताभ अनिल दुबे के साथ महाविद्यालय गया भी, लेकिन उनसे भेंट न हो सकी । इसका मुझे हमेशा मलाल रहा । उनके निधन के बाद तो यह मलाल एक तरह की आत्म-ग्लानि में बदल गया । उनके निधन के कुछ सप्ताह बाद ही मेरे मित्र और हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद के अध्यक्ष डॉ. राम कमल राय, एकेडेमी द्वारा लक्ष्मीकांत वर्मा के सम्मान में राष्ट्रपति भवन में आयोजित समारोह के सिलसिले में दिल्ली में थे । हम लोग कुबेरनाथ जी के साहित्यिक-सांस्कृतिक अवदान पर बहुत देर तक चर्चा करते रहे थे । डॉ. राम कमल राय ने उक्त अवसर पर कुबेरनाथ जी द्वारा एकेडेमी के तत्त्वावधान में इलाहाबाद में दिये गये भाषणों का संग्रह 'चिन्मय भारत' (आर्ष चिंतन के बुनियादी सूत्र) की एक प्रति मुझे भेंट की थी । उसे आद्योपांत पढ़ने के बाद, अनेक स्थलों पर व्याख्यागत असहमति के उपरांत भी, लोक परंपरा और शास्त्रीय परंपरा की कुबेरनाथ राय के गहन-बोध एवं सदियों से उनके बीच की समन्वय की प्रक्रिया की उनकी समझ और व्याख्या से मेरे मन में एक पुलकन सी हुई ।

अपने लेखन-विधा और विषयवस्तु के विषय में उनकी दृष्टि बड़ी ही स्पष्ट और ईमानदारी से परिपूर्ण थी । भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रदत्त 'मूर्तिदेवी पुरस्कार' को ग्रहण करते समय उन्होंने कहा था : "साहित्यिक लेखन में मेरी विधा है निबंध, विशेषतः ललित निबंध ।" अतिरेकी आधुनिकता की अपच से पीड़ित लोग परंपरा को अतीत जीवी बोध मात्र मान कर उसके चिर-नूतन स्वरूप को समझने में अपने को अक्षम घोषित कर देते हैं । आधुनिकता का भाव-बोध भी किसी परंपरा की भाव-भूमि में ही जन्म लेता है । मार्क्स का चिंतन भी जर्मन दार्शनिक परंपरा और यूरोपीय राजनीतिक-आर्थिक चिंतन की परंपरा के बीच से निकला है । इतिहास अतीत से संबंधित है और सीमित है । उसकी घटनाओं को तोड़ना मरोड़ना इतिहास के साथ न्याय नहीं होगा । परंपरा अपनी व्याख्या का अनवरत अवसर प्रदान करती है । बौद्ध, जैन, वेदांत, गोरखपंथी, शैव, वैष्णव और संत-चिंतन ने भारतीय चिंतन परंपरा की अपने-अपने ढंग से व्याख्या की । 'गीता' की शंकराचार्य, तिलक, गांधी और विनोबा की व्याख्यायें एक समान नहीं हैं लेकिन फिर भी वे सभी 'गीता' की

ही व्याख्या हैं क्योंकि परंपरा अपनी तरह की व्याख्या और विश्लेषण का अवसर और स्वतंत्रता प्रदान करती है । भारतीय चिंतन की इस शक्ति को महावीर, बुद्ध, शंकराचार्य, गोरखनाथ, तुलसी, कबीर, रैदास, राममोहन राय, दयानंद, तिलक, गांधी, विनोबा और राम मनोहर लोहिया ने गहराई से समझा था । वैष्णव भक्त कवियों के लिये राम, कृष्ण, और यमुना के अपने अर्थ और प्रतीक हैं । लेकिन परंपरा की इसी अपनी आंतरिक शक्ति के कारण राम मनोहर लोहिया के लिये इनके संदर्भ, राम, कृष्ण, शिव, गंगा, यमुना, सरयू समकालीन चिंतन और राजनीति के साथ भी जुड़े हैं । कुबेरनाथ राय के निबंध इसी पंक्ति में हैं ।

कुबेरनाथ राय के लेखन में गहरा मानवीय और सामाजिक सरोकार है । यह सरोकार एक साहित्यकार का, साहित्य की भाषा में, अपनी नागरिकता की पूरी पहचान के साथ परिलक्षित होता है । उन्होंने स्वयं कहा है "मेरा सारा लेखन एक आर्त्तनाद है । आर्त्तनाद है इस हिन्दुस्तान का, भले ही वह ऊपर से ललित लगे ।" लेकिन यदि कोई यह प्रश्न करे कि अपने इस आर्तनाद को उन्होंने ललित निबंधों के माध्यम से क्यों व्यक्त किया ? तो इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि वे किसी पार्टी के दिखावटी घोषणा-पत्र अथवा किसी विचारधारा की डोर से बंधे मानसिक दास नहीं थे बल्कि एक स्वायत्त व्यक्तित्व और चिंतक साहित्यकार थे जिसे अपनी विधा और विषयवस्तु, चुनने की स्वायत्तता थी । स्वयं स्पष्ट किया है–

"मैं साहित्य को राजनीति का अनुचर मानने के लिये कत्तई तैयार नहीं हूँ"

वह मानते हैं कि आधुनिकीकरण आवश्यक है, साथ ही आवश्यक है अपनी देशी पहचान यानी भारतीय अस्मिता की रक्षा करना । वे अनुकरण मूलक प्रगति की भ्रांति को तिरस्कृत करने के पक्षधर हैं । वे मानते हैं कि श्रमविहीन समाज की आत्मा मर जाती है । गांधी के शब्दों में 'आवश्यकतानुसार झाड़ पोंछकर' आधुनिक संस्कृति के वरण के वे समर्थक हैं ।

भारतीय परंपरा की चर्चा करते हुये कुबेरनाथ राय की दृष्टि बड़ी साफ है । वह निषाद, किरात, यक्ष, नाग, द्रविण वेदांत, शैव, वैष्णव, संत, सूफी धाराओं की साझी विरासत है । शब्दों, उनकी व्युत्पत्ति, संस्कारों, रीति-रिवाजों और लोकसंस्कृति के माध्यम से इनकी पारस्परिक अन्तर्क्रिया और समन्वय की वे सटीक व्याख्या करते हैं । गांधी और लोहिया के चिंतन की प्रतिध्वनि बार-बार उनकी व्याख्याओं में सुनाई पड़ती है ।

आज के घटाटोपी कोलाहल, प्रचार, राजनीतिक अवमूल्यन, भ्रष्टाचार, अपसंस्कृति, सामाजिक बिखराव, ग्रामीण जीवन के कलह, नगरीय जीवन में नकल की बढ़ती प्रवृत्ति, बौद्धिक उपनिवेशवाद और नागरिक की चेतना का 'मतदाता' की मंद बुद्धि के जहर के बीच, वे अपनी एकांत साधना में सृजन और रचना की प्रक्रिया में अनवरत जुटे रहे । इस अर्थ में वे स्वयं 'नीलकंठ' थे । गंगातट का यह नीलकंठी अनंत में विलीन हो गया । लेकिन उनके लेखन, चिंतन और सृजन का अजस्र प्रभाव और प्रवाह गंगा की धारा की तरह चिरस्थायी है ।

●

एक हमदम दोस्त : कुबेरनाथ राय

डॉ. इन्द्रदेव
प्राचार्य, श्री महन्थ रामाश्रय दास स्नातकोत्तर
महाविद्यालय भुड़कुड़ा, गाजीपुर ।

सन् 1962 से 1996 तक प्रायः 34 वर्षों तक की कालावधि में मुझे एक ऐसी शक्सियत के सम्पर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा है जो आयु में बड़ी थी, जेहनियत में बड़ी थी, बोध में बड़ी थी, रूप-स्वरूप जिसका मुझसे बढ़कर था । वह व्यक्ति शब्दशिल्पी था, एक महान निबन्धकार था जो गद्य के अन्दर बिम्ब उकेरता था । ऐसा लेखक था जिसको पढ़ने के लिए एक साथ दर्जनों पुस्तकें पढ़नी पड़तीं । जिसको समझना समुद्र के बीच गोते लगाने जैसा और कभी ऊँचे पर्वत शिखर पर चढ़ने जैसा था । जो सभा-भीरु था, जो अतिशय संकोची था, जो भारी भीड़ में एकाकी रहने का अभ्यासी था । जो कभी किसी को प्रसन्न करने के लिए ठकुरसोहाती बोलता ही नहीं था । जो अपनी कुछ-कुछ कजरारी आँखों के बीच सामने वाले को बटोर लेता था और सामने वाले को डीपरसनलाइज करके निचोड़ देता था, वह बेजोड़ हँसोड़ था तो अतिशय चुप्पा था । यदि नहीं बोलता था गूंगा गूंगा लगता था और जो कभी खुल गया तो घण्टों बस बोलता ही चलता था और नहीं तो विष्णुसहस्र नाम अथवा दुर्गा सप्तशती का जाप करने लगता था । जो एक एक निबन्ध को लिखने के लिए कुम्हार की माटी की तरह अपने विचारों को गूँधता था, काटता-छांटता था । फिर लोंदा काटकर चाक पर चढ़ाता था और घुमाकर मनमाना आकार देता था । तब कहीं धागे से काटता था कूंची से काबिस लगाता था और फिर अवें में पकाकर बाजार में उतारता था । ऐसे निबन्धों के कुम्हार कुबेरनाथ राय को मैंने कभी अपनी अंकवार में पकड़ने लायक नहीं पाया । पर, वे थे कि उन्होंने मुझे कभी छोटा करके देखा ही नहीं । चिट्ठियों में जब भी मैं उन्हें 'आदरणीय भाई साहब' सम्बोधित करता, उनका उत्तर आता, "तुम्हारा 'आदरणीय' और 'साहब' मैंने स्वीकार नहीं किया । तुम भाई ही लिखा करो ।" मैं उनसे कहता– "आप संस्कृत जैसी क्लिष्ट भाषा जानते हैं । कैसे पढ़ लिया आपने यह संस्कृत? मुझे आती ही नहीं । आपने अंग्रजी साहित्य का अध्ययन किया । अंग्रेजी पढ़ाते हैं, अंग्रेजी लिख सकते हैं । आप असमियां साहित्य का इतना अध्ययन कर लेते हैं इतने सारे ग्रन्थ खोज-खोज कर पढ़ डालते हैं । मुझे अंग्रेजी आती ही

नहीं, हिन्दी लिखने का सऊर नहीं और मैं आप जैसा गम्भीर नहीं । अनेक तरह के अनुष्ठान जो आप करते रहते हैं वह सब मैं तो नहीं कर सकता ।' वे कहते तुम– "भूगोल बोलते– बतियाते हो, एन.सी.सी. कराते हो । मेरे बस में नहीं है यह सब ।" जब भी मैं उनकी ऊँचाई लखता; वे मेरा कद ऊँचा करने लगते थे । मुझको अपना भाई, अपना दोस्त कहते और जब कभी वे मुझे 'तुम' सम्बोधित करते, मैं गदगद् होता और जब वे मुझे कभी 'आप' कहते तो लगता, उनके द्वारा मेरी उपेक्षा हो रही है ।

कुबेरनाथ राय नलबारी कालेज नलबारी में सन् उनसठ से प्रवक्ता पद पर कार्यरत थे और मैं सन् इकसठ में गुवाहाटी में प्रवक्ता नियुक्त हुआ । हमारी पहली मुलाकात बरौनी स्टेशन पर आरक्षण की खिड़की पर हुई । हम दोनों को असम मेल से यात्रा करनी थी, वे आगे थे, मैं पीछे था । वे धोती, कुर्ता, पम्प, सदरी, शिखाधारी थे, मैं शर्ट पैन्ट में था । वे कद काठी में मुझसे कुछ छोटे, पर थोड़े स्थूलकाय तो मैं उनसे छरहरा । वे गम्भीर और मैं चंचल, वे साहित्य धर्मी, मैं भूगोल का अध्यापक । वे बाहर से ब्राह्मण, भीतर से ब्राह्मण और मैं बाहर-भीतर से क्षत्रिय था । वे चुप्पा और मैं वाचाल । साम्य एकदम नहीं था । यही कारण था कि हममें दोस्ती थी, भाई चारा था । मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा थी और उनका मेरे प्रति स्नेह ।

पहली मुलाकात भारत-चीन युद्ध के तुरन्द बाद हुई थी । जब से हमारी मुलाकात हुई तब से सन तिहत्तर तक अर्थात् जब तक मैं गुवाहाटी में था हम प्रायः गाड़ी में गाँव साथ आते । आरक्षण साथ-साथ होता । मैं गुवाहाटी में चढ़ता वे नलबारी में । बीच में ब्रह्मपुत्र नदी का अलगाव था । एक पखवारे अथवा महीने के भीतर राय साहब नलबाड़ी से गुवाहाटी की यात्रा पर निकलते । पढ़ने के लिए किताबें और जलपान के लिए बिस्कुट, नमकीन आदि और एकाध दिन के लिए मेरे आवास पर ठिकाना । कहीं न आना-जाना और न किसी से मिलना-जुलना । जब भी आते, कोई न कोई अनुष्ठान ठान चुके होते ।

एक बार किसी शनिवार की शाम गुवाहाटी आए । आते ही बोले, "इन्द्रदेव, कल एक कैमरा लो, गुवाहाटी के आस-पास स्थित धार्मिक स्थलों की यात्रा करेंगे । तै पाया गया कि प्रातः जलपान के बाद दोपहर के लिए पैकेट लंच ले लिया जायेगा और सन्ध्या ढलने तक घूमा जाएगा । सबेरे हम लोग वशिष्ठाश्रम पहुँचे । गुवाहाटी के दक्षिणी पूर्वी छोर पर पहाड़ियों के मध्य सरिता जल जहाँ प्रपात बन जाता है, वहीं पर स्थित है वशिष्ठाश्रम । असम में यह किंवदन्ती ख्यात है कि वशिष्ठ मुनि ने उसी स्थान पर तपस्या की थी और उन्होंने वहीं एक आश्रम स्थापित किया था । मैं

तो वहाँ उस समय उपस्थित सैलानियों के बीच एक व्यक्ति हो गया था और वे आश्रम में एक निर्जन सा स्थान तलाश करके वहाँ समाधिस्थ हो गये । देर तक मूर्तिवत बैठ चुके कुबेरनाथ राय को छोड़कर मैं कभी प्रपात, कभी लोगबाग, कभी बन प्रान्तर, वनस्पति और पक्षियों का कलरव गान सुनने में व्यस्त हो चुका था ।

जब तक उन्होंने चाहा तब तक वहाँ ठहरना पड़ा । जब सहज होकर उठे, मैंने कहा, "इस तरह तो हम लोग गुवाहाटी का पूर्वी भाग भी नहीं देख पाएँगे ।" उन्होंने कहा "यही तो तुमसे कहता हूँ । ढेर सारी पुस्तकें पुस्तकालयों में भरी पड़ी हैं । पढ़ने लगोगे तो कई जन्म लगेंगे और ढेर सारे आकर्षक स्थान विश्व में भरे पड़े हैं, उन्हें देखने चलोगे तो एक मनुष्य का एक जीवन नाकाफी होगा । इसलिए श्रेष्ठतम साहित्य और श्रेष्ठतम स्थल का चुनाव करो । श्रेष्ठतम लोगों से दोस्ती भी करो । चुनाव करो । चुनाव करने की लिबर्टी तुम्हारी । गुवाहाटी के आस-पास बहुत कुछ देखने को है, सरनिया आश्रम, नूनमाटी, नारंगी, चिड़ियाखाना, राज्य संग्रहालय, ब्रह्मपुत्र नदी के बीच टापू पर बना उमानन्द का मंदिर, ब्रह्मपुत्रनदी के घाट, शुक्रेश्वर महादेव, स्वयं ब्रह्मपुत्र नद तथा नद के किनारे चहलकदमी करना भी कम सुखकर नहीं है । पश्चिमी छोर पर पहाड़ी के ऊपर का कामाख्या मंदिर और उसी पहाड़ी के शिखर पर भुवनेश्वरी मंदिर, पांडुघाट, फिर झालुकबारी स्थित विश्वविद्यालय परिसर, बोरझार का हवाई अड्डा, मध्यभाग में दघिली पोखरी अर्थात् बड़ा तालाब और भी बहुत कुछ मिलाकर गुवाहाटी बनता है । यह सब देखना-घूमना न उस दिन लक्ष्य था और न संभव था ।

आकर्षण के सभी केन्द्रों को छोड़ उन्होंने शुक्रेश्वर महादेव की ब्रह्मपुत्रतटीय पहाड़ियों और कामाख्या पहाड़ी के शिखर और ब्रह्मपुत्र नदी के बीच नौका के ऊपर चढ़कर, ब्रह्मपुत्र के बीच सूर्यास्त का दृश्य देखने का निश्चय किया गया ।

शुक्रेश्वर महादेव के मंदिर के भीतर विद्यमान अतिविशाल शिवलिंग की पूजा अर्चना करके हमलोग मंदिर से बाहर, ब्रह्मपुत्र के किनारे से लगी पहाड़ियों के ऊपर अंकित चित्रों को देखने के लिए पहुँचे । नग्न शिलाओं के ऊपर विष्णु, शिव तथा लक्ष्मी-पार्वती के चित्र उकेरे गये हैं । ये कब बने होंगे इस विषय पर चिन्तन मनन करने के पश्चात् हम लोग अपराह्न कामाख्या पहाड़ियों के नीचे ब्रह्मपुत्र में नौक-विहार के लिए पहुँचे । ब्रह्मपुत्र के किनारे के कई दृश्यों का चित्रांकन कैमरे में किया गया । उधर सूर्य ब्रह्मपुत्र की मध्यधारा में अस्त हो रहे थे । नदी के दोनों किनारे हरी चादरें ओढ़े पहाड़ी शिखर और आकाश में सिंदूरी आभा से युक्त बादलों के टुकड़े और एक मल्लाहविहीन नौका के ऊपर बैठे दो शैलानियों में एक ध्यानस्थ बैठकर विष्णु सहस्रनाम का जाप करने लगा । मैं टुकुर-टुकुर कभी ऋषिवत

भाई को देख रहा था कभी वहाँ विद्यमान प्राकृतिक परिदृश्य के भीतर विराट ब्रह्म का दर्शन कर रहा था । रात गहराने के साथ साथ हम घर लौट चुके थे । भाई ने मुझसे उस दिन लिये गये फोटोग्राफों की प्रतियां मांगी थी । लगभग 6 महीने बाद 'धर्मयुग' के किसी अंक में गुवाहाटी की एक दिवसीय यात्रा का विवरण एक निबन्ध में प्रकाशित हुआ था और उसमें उस दिन लिए गये चित्रों में से कुछेक ने स्थान पाया था जिन पर छायाकर के रूप में मेरा नाम छपा था, तब मैंने जाना कि एक निबन्ध को आकार देने में राय साहब कितना तप करते हैं ।

वे कहते थे, 'एक निबन्ध लिखने में मुझे कम से कम 6 महीने और कभी कभी 1 वर्ष की योजना बनानी होती है । ऐसा इसलिए नहीं होता कि मुझे वह निबन्ध लिखना है, वरन् इसलिए होता है कि मैं उस निबन्ध को लिखे बगैर रह ही नहीं सकता । उसकी रचना के लिए मुझे पीड़ा झेलनी पड़ती है । एक तनाव के बीच से गुजरना पड़ता है, वे कहते 'साहित्य-सृजन की पीड़ा प्रसव-पीड़ा के समान ही एक अलग तरह की अनिर्वचनीय पीड़ा होती है ।'

मैं मानता हूँ वे सामान्य मापदण्ड के अनुसार व्यवहार करने के आदी नहीं थे । इसलिए उन्हें लोग व्यवहार के क्षेत्र में अकुशल कहेंगे अथवा अहंकारी । वे सरलता पूर्वक ना कह सकते थे । रामधारी सिंह दिनकर के एक दिल्ली बुलावे को उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया था कि वे निर्वासित (इक्साइल्ड) रहकर लेखन करना चाहते हैं और किसी भी सरकारी सेवा से कालेज के अध्यापक के कार्य को लघुतर नहीं मानते । एक बार लक्ष्मीचन्द्र जैन, कल्याणमल लोढ़ा और कुन्था जैन कलकत्ते से गुवाहाटी गए हुये थे । एल. ओ. जी. के प्राचार्य कक्ष में उन लोगों ने राय साहब को रमेश बक्षी के स्थान पर 'ज्ञानोदय' नामक साहित्यिक पत्र के सम्पादन का भार सौंपना चाहा था जिसे उन्होंने सहर्ष अस्वीकार कर दिया था । आकाशवाणी में प्रसारण के लिए लोग-बाग प्रयास करते और प्रसन्न होते हैं कि उनकी वार्ता आकाशवाणी से प्रसारित होने जा रही है । कुबेरनाथ राय मेरे आग्रह पर आकाशवाणी के कार्यक्रम अधिशासी एन. आर, टण्डन जी द्वारा दिया गया कन्ट्रेक्ट स्वीकार करके अपनी रचना रेकार्ड करवाने के लिए केन्द्र में पहुँचे थे । मैं भी साथ था । टण्डन जी ने उनकी वार्ता के कुछ अंश जिसमें पंडित जवाहरलाल नेहरू के ऊपर टिप्पणी थी, निकाल देना चाहा था । कुबेरनाथ राय ने कहा था कि बेहतर यह होगा कि यह वार्ता ही प्रसारित न की जाय क्योंकि, उक्त टिप्पणी ही इस वार्ता की आत्मा है । उसे निकाल देने के बाद इसमें कुछ शेष नहीं बचता । उन्होंने टण्डन जी के सामने ही मुझसे कहा कि आकाशवाणी एक प्रकार से सरकारी दस्तावेज प्रसारित करवाने और नेतृवर्ग की प्रशस्तिवाचन करने का माध्यम है ।

इसलिए किसी लेखक को अपनी रचनाएँ आकाशवाणी के माध्यम से प्रसारित नहीं करवानी चाहिए ।

कुबेरनाथ राय जी अपने व्यक्तिगत संसार के प्रति उदासीन से थे । जागरूक तो नहीं ही थे । पुत्र ने विश्वविद्यालयीय शिक्षा ग्रहण नहीं किया तो उसकी चिन्ता ने उन्हें नहीं सताया । परिवार अर्थात् पत्नी तक उनके साथ नहीं रही । इसके पीछे उनका यही तर्क था कि साथ तो पुस्तकों का किया तो गृहस्थी बसाने का कार्य कैसे करें ?

नलबारी और गुवाहाटी में उनके गिनती के साथी थे । त्रैलोक्यनाथ गोस्वामी, मनोरंजन शास्त्री समेत दो-चार बस । कहीं आने जाने का एकदम शौक नहीं । यात्रा मन मस्तिष्क के भीतर उभर रही रचना के लिए । पुरस्कार प्राप्त करने के लिए भी पुरस्कार प्रदान करने वाली एजेन्सी को अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित न करने की मानसिकता ।

कुबेरनाथ राय के लिए राम और गांधी भारत के पर्याय रहे हैं । डॉ. राम मनोहर लोहिया की दृष्टि 'भारतीयतावाद की ओर' उनके ख्याल से बहुत हद तक सही रास्ता दिखाने वाली रही है ।

वामपंथ का भारतीय मानदण्ड उन्हें स्वीकार नहीं था । वे संस्कारों के प्रति आस्थावान थे । उनके राम राजा, भाई, पति तथा सभी भारतीय मूल्यों के प्रतीक हैं । उनके अनुसार गांधी के रास्ते ही मार्क्सवाद और बामपंथी विचार भारत में अवतरित हो सकते है ।

गाजीपुर में स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर कुबेरनाथ जी आएँ, इसके लिए उनसे बात हुई कई एक बार । पहले तो यू.पी. में लौटकर काम करना उनके लिये असुविधाजनक होगा, कहकर वे टाल जाते थे । पर, अन्ततः यहाँ आ ही गए तो प्राचार्य पद जैसे उनके लिए काटने दौड़ने वाला धंधा हो गया । एक बार मैंने देखा अपने कार्यालय में वे एकदम अकेले दिखलाई पड़ रहे थे । निरा अकेले थे । यद्यपि उन्हें सहयोग प्रदान करने वाले अनेक लोग थे । पर उनका जैसे किसी के ऊपर विश्वास ही नहीं हो । मेरी उपस्थिति में उन्होंने आलमारी के भीतर से परीक्षाफल का चार्ट निकाला और तब जाकर अंकपत्र पर हस्ताक्षर किया । मैंने पूछा, "यह क्या कर रहे हैं, मैं तो बाबू जिसने अंकपत्र बनाया हो उसका तथा किसी एक अध्यापक, जिसे जाँच करने के लिए अधिकृत किया है उसका हस्ताक्षर देखकर साइन कर देता हूँ ।" वे बोले "नहीं जानते हो, फरेब हो जाएगा ।"

मेरे ज्येष्ठ पुत्र का निधन हो गया था। बहुत से लोग मुझे सान्त्वना देने आए, वे नहीं आए। उनका एक पत्र आया। उसमें लिखा था कि मैं तुम्हारे तथा तुम्हारी पत्नी के सम्मुख उपस्थित हो सकने का साहस नहीं जुटा पा रहा हूँ।

उन्होंने कालेज में प्राचार्य का आवास इसलिए बदल दिया कि उन्हें साँप सता रहे थे। उनके अनुसार वे दो प्रकार के साँपों से त्रस्त थे। एक तो साँप नामक जन्तु से दूसरे द्विजिह्व मानव साँपों से। जहाँ प्रबन्ध तन्त्र के सम्मुख प्रतिवद्धता को धर्म मानते थे वहीं गलत वाउचर बनाने के भय से यू. जी. सी. से अनुदान तक प्राप्त करने में संकोच करते थे।

सबसे ज्यादा परेशान इस बात से थे कि कुछ लोगों से इस लिए नाराजगी लेनी पड़ती है क्योंकि कुछ लोगों का सहयोग प्राप्त किया जा रहा है। यदि दो लोगों में झगड़ा है तो आप भी उसे उसी रूप में स्वीकार करके पक्ष बन जाइये और नहीं तो दोनों पक्षों के शत्रु बनिए। आपके किसी कार्य से किसी का भला हुआ तो वह तो उसका पावना था। पर, यदि फैसला एक व्यक्ति के मनोनुकूल नहीं हुआ तो उसके लिए दोषी आप हैं। इस तरह की जिंदगी जीने को बाध्य होता है बेचारा प्राचार्य, सो वे भी बाध्य थे।

प्राचार्य पद पर कार्यरत रहते हुए उन्हें आत्मघात करना पड़ता था। ऐसा उन्होंने मुझसे कई एक अवसरों पर कहा था। वे कलम के भीतर ही अपनी समूची मानवीय शक्ति को समेटे चले गये। उनको सकून मिलता था तो बस पुस्तक, कागज और कलम के बीच और सब कुछ जैसे परिवार, समाज, महाविद्यालय और सहयोगी, यह सब उनके लिए बोझ थे, असंगत से थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन सब के साथ संगति वे सम्भवतः कर ही नहीं सके। उनके अनुज के अनुसार वे अपना व्यक्तित्व अपने पौत्र और पौत्री के बीच अवश्य उतारना चाहते थे। उनके प्रति उनके राग में निश्चित प्रगाढ़ता बढ़ रही थी। जहाँ तक मुझे ज्ञात है राग उनका अपनी बहनों और अनुजों के प्रति भी यथेष्ट था।

सूरज ढलने के पहले ही अस्त हो गया, अब और क्या कहा जाय ? एक भाई, एक दोस्त चला गया। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता था जब वे मुझे अपना स्नेहपात्र मानते थे। मुझे गौरवबोध था कि भाई कुबेरनाथ राय जी से मेरा नैकट्य है।

●

दीपक की सूर्य नीराजना–एक स्मरणांजलि

श्री राजेन्द्र प्रसाद
आकाशवाणी

मेरे लिए बन्धु कुबेरनाथ राय की स्मृति को शब्दांकित करने की चेष्टा वैसी ही है जैसी बरसों पूर्व मुग्ध-भाव से आघ्राणित किसी पुष्पगन्ध या कभी अचानक अनुभूत किसी समीरस्पर्श की स्मृति को शब्दांकित करने की चेष्टा । उनका प्रसन्न-गम्भीर व्यक्तित्व बड़े से बड़े मानसिक क्षितिज को पूरी तरह आच्छादित कर सकता था, फिर मेरे छोटे से मनाकाश की तो बात ही क्या ? उनका मेरा स्नेह-संबंध १९६९-७० से लेकर उनके जीवनान्त तक भाव-जगत में बना रहा परन्तु उसमें घटना-प्रधान कुछ भी नहीं । इसलिए वर्णन में कठिनाई है ।

मेरा लगभग पूरा सेवाकाल आकाशवाणी में बीता । मीडिया से जुड़े लोगों में निरहंकारिता की हजार चेष्टाओं के बावजूद प्रायः यह अहंकार प्रच्छन्न रूप में ही सही, बना रहता है कि ज्ञान की धारा उनसे चलकर औरों तक प्रवाहित होती है । संभवतःयह अहंकार मुझमें भी रहा है किन्तु मेरी स्मृति में दो व्यक्तित्व ऐसे हैं जिनके सम्मुख उस धारा का प्रवाह उलटा हो गया, लगने लगा कि नहीं, धारा उनसे बहकर मुझ तक पहुँच रही है । पहुँच ही नहीं रही है, बहाए ले जा रही है । इन दो में से एक व्यक्तित्व स्व. कुबेरनाथ राय का था और दूसरा झाँसी के प्रसिद्ध क्रांतिकारी, चंद्रशेखर आजाद के साथी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, अंग्रेजी, बुन्देली और हिंदी के विद्वान और इन सब भाषाओं के कवि स्व. डॉक्टर भगवान दास माहौर का ।

हिंदी में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, आचार्य चतुरसेन शास्त्री तथा डा. भगवत शरण उपाध्याय जैसे दो चार बहु-आयामी ज्ञान संपन्नों को छोड़कर कुबेरनाथ राय जैसा ज्ञान के विस्तार और उसकी गहराई दोनों में सीमातिक्रमणकारी शायद ही कोई अन्य हो । किंतु जहाँ पूर्वोक्त महामनीषियों ने अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्तिं को भी बहुत बड़ा क्षेत्र विस्तार (कहानी, उपन्यास, इतिहास, आलोचना आदि में) दिया, वहाँ कुबेरनाथ राय ने थोड़ी सी स्फुट कविताओं को छोड़कर अपनी मेधा के सम्पूर्ण ताप और प्रकाश को ललित-निबन्ध के आतिशी शीशे (कान्वेक्स लेंस) तक ही सीमित रखा जिससे हिंदी के साहित्य-पटल पर अभूतपूर्व सौंदर्य फोकस में आकर रूपायित हुआ । यह रूप हिंदी में पहले कभी

नहीं देखा गया था । खेद इस बात का है कि क्षुद्र छल-प्रपंचपूर्ण हिंदी-राजनीति के चलते इस रूप की वह सराहना नहीं हुई जिसका वह अधिकारी है । फिर भी पुरानी पीढ़ी के विद्वान पं. श्री नारायण चतुर्वेदी से लेकर सामान्य किंतु संग्राहक पाठक तक ने कुबेरनाथ राय के साहित्यिक घन-सुन्दर रूप को देखा है और इसका एक न एक दिन प्रभाव होगा ही–

कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

अब कुछ व्यक्तिगत बातें । १९५०-५१ के हाई स्कूल वाले दिनों में गाजीपुर (उ. प्र.) शहर के ही दो विभिन्न स्कूलों में कुबेरनाथ राय और मैं विद्यार्थी थे । मैं था सिटी हायर सेकेण्डरी स्कूल में विज्ञान - वर्ग में और वे थे संभवतः विक्टोरिया स्कूल में कला वर्ग में । परस्पर कोई सम्पर्क नहीं और न ही जान-पहचान । वर्षों बाद (१९६९-७२) में मैं गुवाहाटी (असम) के आकाशवाणी केंद्र में प्रोग्राम एक्जेक्यूटिव के रूप में आकाशवाणी जयपुर से स्थानांरित होकर आया । उस समय राय साहब नलबारी (असम) के किसी कालेज में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे । आत्मगोपन का भाव इतना कि साथ के किसी अन्य असमिया सहकर्मी को यह पता तक न था कि वे कुछ लिखते भी हैं । किंतु डाक से जब विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के लिए लेखों की माँग तथा किसी पुरस्कार आदि की सूचनाएँ आने लगीं तब लोगों को पता चला कि ये लेखक भी हैं । उन्होंने असमिया संस्कृति का गहन अध्ययन किया और उस संस्कृति के शेष भारत से अटूट जुड़ाव के वे मेरी दृष्टि में बेजोड़ जानकार थे ।

आकाशवाणी गुवाहटी का हिंदी विभाग अपने आप में एक स्वतन्त्र संसार था क्योंकि शेष केंद्र उससे प्रायः कोई सरोकार ही नहीं रखते थे ।

हिंदी विभाग द्वारा फौजी भाइयों हेतु प्रतिदिन लगभग ढाई घण्टों का एक कार्यक्रम भी चलाया जाता था । उसमें देश - विदेश की समसामयिक घटनाओं की एक छोटी सी समीक्षात्मक चर्चा भी प्रतिदिन होती थी जिसके लिए गुवाहाटी और आस-पास के हिंदी भाषी जानकारों को बुलाया जाता था । गुवाहाटी स्थानांतरण के पश्चात् हिंदी विभाग मेरे पास आया । इस प्रकार मैं श्री इन्द्रदेव सिंह (जो सम्प्रति भुड़कुड़ा डिग्री कालेज के प्राचार्य हैं) असम में बस गये । असमिया और हिंदी दोनों में लिखने वाले श्री नवारुण वर्मा, गुवाहाटी विश्वविद्यालयमें हिन्दी के विभागाध्यक्ष डॉ. हीरालाल तिवारी तथा अन्य विद्वानों से सम्पर्क हुआ । कुछ असमिया हिन्दी विद्वानों से भी परिचय हुआ । और, सर्वोपरि हिन्दी के विख्यात हो रहे ललित निबन्धकार श्री कुबेरनाथ से मिलने का सौभाग्य हुआ । यहां यह उल्लेख कर देना

आवश्यक है कि राय साहब उपर्युक्त 'सामयिक चर्चा' में नहीं बल्कि हिन्दी कार्यक्रमों में कभी - कभार आते थे । 'सामयिक चर्चा' में बुलाने पर एक बार उन्होंने कहा कि वे अखबार नहीं पढ़ते क्योंकि कोई न कोई 'मूर्ख' मुख्य समाचारों को स्वतः ही उगल देता है ।

पहली बार की मुलाकात में मुझे बड़ी शर्म आई जब विद्यार्थी जीवन का उल्लेख करते ही उन्होंने मुझे तत्काल पहचान लिया जबकि मैं उनके लिए ऐसा न कर सका । परन्तु उनके आत्मगोपन के सहज स्वभाव, बाहर से साधारण दिखने वाले व्यक्तित्व और लगभग पूर्ण अहंकार रहितता के बावजूद कुछ मिनटों की बातचीत से ही यह अनुभव हो गया कि मेरे बौने अस्तित्व के सम्मुख एक प्रतिभा सुमेरु खड़ा है । एक ऐसा प्रतिभा सुमेरु जिससे भेदक ज्ञान, आप्यायिनी कल्पनाशीलता, अध्ययन की शीतल, शांत किंतु गहरी त्रिवेणी बहती हुई मेरी ओर आ रहीं है ।

फणीश्वर नाथ 'रेणु', राहुल सांकृत्यायन और निराला की चर्चा आई । प्रथम दो के प्रति मैं गहरी-श्रद्धा–जो अन्ध श्रद्धा की सीमा को छू जाती थी–रखता था । निराला जी के प्रति धारणा खराब थी । इस धारणा की गाठें श्री कुबेरनाथ राय ने खोल दीं । प्रथम पुस्तक 'प्रिया नीलकण्ठी' के 'चण्डी थान' में ही वे उद्घाटित करते हैं कि वंग और वंग पूर्व को छोड़कर, समस्त उत्तर भारत का साहित्य 'पुरुष' की उपासना को समर्पित है । हिंदी में 'निराला' अपवाद हैं अपनी शाक्त दृष्टि के कारण जो 'राम की शक्ति पूजा' में तीव्रतम रूप में दिखाई देती है ।

परंतु, राहुल सांकृत्यायन की अगाध विद्वत्ता का समादर करते हुए भी उन्होंने कहा कि साम्यवादी पक्षधरता के कारण सांकृत्यायन ने जान बूझकर गलत निष्कर्ष दिये हैं । इसके कई उदाहरण उन्होंने दिये । भारतीय संस्कृति के अध्यात्मपरक मूलाधार की साम्यवादियों द्वारा न केवल उपेक्षा बल्कि उपहास से राय साहब को बड़ी विरक्ति होती थी । भारतीय संस्कृति के प्रति उनका मुग्धभाव था । मैं सदा से इस विचार का रहा हूँ कि अंतर्राष्ट्रीयता और अखिलमानवऐक्यभाव के लिए उत्कट राष्ट्रीयता एक प्रबल अवरोध है । उधर कुरबेरनाथ राय जी का ख्याल था कि एक भारतीय के लिए भारतीयता को छोड़कर इन भावों तक पहुँचना सम्भव ही नहीं । देश के अधिकांश अंतर्राष्ट्रीयता समर्थकों को वे छिछली मानसिकता का दोषी मानते थे । इस सम्बन्ध में एक संस्मरण है जब वे असम छोड़कर गाजीपुर वापस आ चुके थे । एक बार मैं उनसे मिलने गया । उन्हीं दिनों मैंने अंग्रेज तन्त्र-विद्या विशारद सर जॉन उडरफ की 'सर्पेण्ट पावर' (कुण्डलिनी शक्ति) नामक पुस्तक के कुछ अंशों का अध्ययन किया था । इसलिए उसकी चर्चा चलाई । कुबेरनाथ राय जी ने उडरफ की एक अन्य तन्त्र-पुस्तक 'गार्लेण्ड आफ लेटर्स' (वर्णमाला) का उल्लेख करते हुए कहा कि बिना भारतीय बने भारतीयता को यथार्थतः समझना किसी भी विदेशी के लिए

असम्भव है, पर उडरफ ऐसा विदेशी है जो मात्र शरीर से विदेशी रह गया था, मन से पूर्ण भारतीय बन चुका था। इसीलिए उसकी रचनाओं में प्रामाणिकता आ सकी।

कुबेरनाथ राय की साहित्यिकता का उत्स उनकी प्रच्छन्न आध्यात्मिकता में ही ढूँढ़ पाना संभव है। वैसे उन का अध्ययन अपार विस्तीर्णता और अथाह गम्भीरता दोनों आयामों को समेटता है। गुवाहाटी में ही एक चर्चा के दौरान पता चला कि चीनी और जापानी साहित्य को छोड़कर शेष विश्व के साहित्य का (अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही सही) उन्हें घनिष्ठ परिचय प्राप्त था।

यद्यपि उन्होंने विज्ञान का विधिवत अध्ययन नहीं किया था फिर भी उसके दार्शनिक पक्ष का उन्हें गम्भीर ज्ञान था। इस सदी के बीसादि के दशक में महान अंग्रेज गणितज्ञ और ख़गोलशास्त्री सर जेम्स जीन्स की ब्राह्माण्ड-विज्ञान पर एक अति महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई थी 'आउट लाइन्स आफ दि यूनिवर्स' ('विश्व की रूपरेखा)। उसके प्रकाशन के लगभग चालीस वर्ष बाद गुवाहाटी में मैं वह पुस्तक पढ़ रहा था, यद्यपि उसके अनेक निष्कर्ष पुराने पड़ चुके थे। कुबेरनाथ जी से उसकी चर्चा की तो पता चला कि वह उसे बहुत पहले ही पढ़ चुके थे।

थोड़ा प्रसंगान्तर हो गया। बात चल रही थी कुबेरनाथ राय की रचनाधर्मिता के आध्यात्मिक उत्स की। वे महाकाली के उपासक थे यद्यपि इस तथ्य का प्रकाशन वे नहीं करते थे। दो चार साल पहले मैंने उनसे जानना चाहा कि सुषुम्ना स्थित षट् पद्मों के दलों पर नागरी वर्णमाला के जो अक्षर स्थित हैं, उनमें प्रत्येक पर अनुस्वार क्यों लगा है। वर्णमाला तो है क, ख, ग...आदि, फिर चक्रों में उनका स्वरूप कं, खं, गं..... क्यों हो जाता है ? उनका उत्तर था, "इसे समझने के लिए साधना करनी होगी।"

गाजीपुर में कालेज की जातिवादी राजनीति और शिक्षा जगत की अशांति झेलते-झेलते वे कभी-कभी निराश हो जाते थे। एक बार उन्होंने कहा कि गाजीपुर वापस आकर उनकी साहित्यक मृत्यु हो गई है। हमारे लेख तो मृत्युंजय थे। किंतु वे जो कुछ कर सकते थे और जो कुछ उन दमघोंटू परिस्थितियों में कर पा रहे थे, उनके अंतर को लक्ष्य करके ही उन्होंने ऐसी हताशा प्रकट की थी। टैगोर के शब्दों में 'बाँसुरी से डण्डे का काम' लिया जा रहा था। बांसुरी को फटना ही था।

सेवा-निवृत्ति के पश्चात् जबकि उक्त परिस्थितियाँ नहीं रहतीं, वे बहुत कुछ दे सकते थे, लेकिन सम्भवतः हिंदी जगत को कुछ दरकार ही न थी। उनके असामयिक निधन की जिम्मेदारी सिर्फ काल की नहीं, हम सब हिंदी वालों की भी है। एक शब्दशिल्पी—नहीं वे शब्द-विधाता थे। वे शब्द का निर्माण भी करते थे और उनमें अपूर्व सौन्दर्य-रूपायन भी। 'प्रिया नीलकंठी'; 'रस आखेटक', 'निषाद-बाँसुरी', 'लौह मृदंग'.....ये अद्भुत शब्द उपादान भी हैं और पूर्वअदृष्ट, नव उद्घाटित एवं अर्थ-सौन्दर्य-रूपायित निर्माण भी।

●

कल की कहि कैं गयौ सामरौ

डॉ. दरवेश सिंह
रीडर, हिन्दी विभाग
जवाहरलालनेहरू स्नातकोत्तर महाविद्यालय, महाराजगंज

वर्तमान, पलक झपकते ही अतीत बन जाता है और अतीत कभी मरता नहीं । वह स्मृतियों में समा जाता है, अनुभूतियों में रम जाता है और अभिव्यक्तियों का रूप लेकर साहित्य बन जाता है–इतिहास बनकर अमर हो जाता है । ऐसा साहित्य और इतिहास जो फिर से वर्तमान की आँख खोलता है और भविष्य का निर्माण करता है । कुछ अनुभूतियाँ स्मृतियों के झोंकों में बिम्बों को छिपाये में आती हैं । उन विम्बों में कुछ ऐसे बिम्ब होते हैं, जो हृदय पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाते हैं और जब उनका जीवितरूप संसार से तिरोहित हो जाता है तो वे यादें नश्तरों की तरह दिल मे चुभन पैदा करती हैं, कसकती हैं । कुबेरनाथ रायजी के साथ गुजारे कुछ क्षणों की यादें इसी प्रकार की है ।

जब-जब उनका साहित्य सामने आयेगा, तब-तब ये नश्तर कसकेंगे । 'साहित्य अमृत' के अप्रैल ९६ अंक में श्री कुबेरनाथ जी का सांस्कृतिक (ललित) निबंध 'अग्नि धीरोदात्त : अग्नि धीर ललित" छपा था । इससे संदर्भित मैं ने उन्हें एक पत्र लिखा । मुझे उत्तर भी नहीं मिला था कि समाचार पत्र में यह खबर छपी– "श्री कुबेरनाथ राय का निधन" । यह समाचार किसी घन की तरह मेरे हृदय पर टूट पड़ा । विस्मृति फिर से स्मृति बन गयी और सिनेमा की रील की तरह उनसे मुलाकातं का एक-एक क्षण मेरे जहन में कौंध गया । सचमुच एक धीर प्रकृति के ललित निबंधकार को, धीरे को भी विदीर्ण कर देनेवाली और सबकुछ जलाकर शान्त कर देनेवाली अग्नि की लपटें निगल गयीं । ले गयी जान हिन्दी– निबंध साहित्य के महारथी की । अचानक मार गया पाला उस चमन को, जिसे अभी पूर तरह पल्लवित और पुष्पित होते हुए देखने के लिए आँखों ने पलकें खोली थीं ।

मैं ढहा पड़ा था और यादों का सिलसिला शुरू हो गया था । यहाँ से वहाँ तक, जाते वक्त का एक-एक लमहा, जो कभी उमंग और उत्साह के साथ बीता था, आज वही लमहा किसी अनजानी तड़पन और टीस को जगा रहा था । ५ जून' ९६ का वह कम्बख्त दिन कुबेरनाथ जी को झेल नहीं पाया और धरती के इस लाल को उठा ले गया ।

२० दिसंबर ९४ को मैं उनके दर्शनार्थ ग़ाज़ीपुर गया था । वाराणसी मंडल का यह गाजीपुर नगर मुझे उस सीपी की तरह लगा, जिसने कई सच्चे मोती पैदा किये हैं । तो लगभग छह बजे शाम मैं पहले मोती डॉ. विवेकीराय जी के यहाँ पहुँचा । जैसा उनका साहित्य पढ़ा था, वैसा ही उनको मैंने पाया । उनको देखकर लगा कि जैसे उस शहर में एक गाँव अपनी पूरी सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक धरोहर को लिये, पुश्त दर पुश्त अपनी कहानी सुना रहा हो । साधारण रूप, किसान जैसा-असाधारण स्वरूप विद्वान् जैसा । एक पतली सी गली मे बच्चों की किलकारियों से भरा घर और बड़ी सड़क का नाम "डॉ. विवेकी राय मार्ग ।" किसी की हैसियत का पता घर में नहीं, बाहर लगता है ।

बड़े वत्सल भाव से विवेकी राय जी ने मुझे बिठाया । उन दिनों वे कुछ अस्वस्थ थे, फिर भी किसी भी स्वस्थ को उनसे ईर्ष्या हो सकती थी । पूरे आह्लाद के साथ उन्होंने मुझे वक्त दिया । कुछ साहित्य की बातें, कुछ इधर-उधर की बातें । बातें इतनी रसपूर्ण हो गयीं कि ढाई घंटे रात कब बीत गयी, हमें पता न चला । उनसे मिलने के बाद मुझे कुबेरनाथ राय जी से मिलने ज़ाना था – सो बीच में थोड़ा सा अवसर पाकर मैंने कुबेरनाथ जी का पता पूछा । कुबेरनाथ जी उस समय 'सहजानन्द महाविद्यालय" में प्राचार्य पद पर कार्यरत थे । विवेकीरायजी ने कहा– "हाँ, गाजीपुर आना आपका तब तक सार्थक नहीं है, जब तक आप कुबेरनाथ जी से न मिलें । वे साहित्य के मुनि हैं और आसन जमाए कॉलेज के गेट पर ही एक कमरे में साधनारत रहते हैं । पर रुकिए, जरा पहले पता करलें कि कहीं वे गांव तो नहीं चले गये ? और पूछने पर किसी ने बताया कि वे कह तो रहे थे आज शाम को गाँव जाने के लिए । हो सकता है, चले गये हों । सुनकर मुझे धक्का लगा– अरे ! यह तो गड़बड़ हुआ । विवेकी रायजी ने कहा, "घबराइए मत, उनका गाँव बहुत दूर नहीं है । आप वहीं जाइए सुबह, कोई परेशानी नहीं होगी । मेरे बड़े पुत्र ज्ञानेश्वर उसी रूट से ड्यूटी जाते हैं, वे आपको 'मतसा' तक साथ ले जाएँगे ।" और उन्होंने कुबेरनाथ जी के गाँव 'मतसा' की दूरी, बस, किराया, गाँव की गली, मकान, सबका का पता नोट करा दिया और कहा कि अब यहीं रुकिए । लेकिन मैं पहले ही होटल में कमरा बुक करा चुका था । मैंने विवेकीरायजी से आज्ञा ली और चला आया ।

इक्कीस दिसंबर प्रातःकाल । कोहरे से ढकी भोर । मैंने छह बजे होटल छोड़ दिया । ज्ञानेश्वर जी तब तक नहीं आये । सात बजे बस जमानिया रोडपर सरपट दौड़ रही थी । लगभग आधेघण्टे बाद, बस 'मतसा' गाँव रुकी । छोटा सा गाँव, धुमारी ओस में नहाया हुआ । सड़क पर कोहरे की लहरें चल रही थीं । कोई

धुँधली सी आकृति आयी और हमने कुबेरनाथ जी का मकान पूछा । सामने की गली की ओर इशारा पाकर हम अन्दर गये ।

गेरुआ वस्त्रधारण किये एक भद्रपुरुष एक घर के सामने मार्ग बुहार रहे थे । मैंने उनसे कुबेरनाथ जी का मकान पूछा । वे बड़ी निर्मल मुस्कान के साथ, अपने संग आने का संकेत कर, उसी दरवाजे में प्रविष्ट हुए । हम उनके पीछे-पीछे, दरवाजे को पार कर एक बड़े मैदान में पहुँच गये । वह जैसे गाँव के किसी बड़े आदमी का 'किचेन गार्डन' था । कई तरह के मौसमी फूल, कुछ मूली, कुछ कद्दू या लौकी की बेलें आदि गाँव की प्रदूषण रहित हवा में बेतरतीब फैली-फूली थीं । सामने पश्चिम मुखी, बड़ी चौड़ी चौखट चढ़ा ऊँचा दरवाजा था और दाएँ हाथ को उत्तरमुखी, खपरैल का एक बड़ा दालान और उसीका एक कमरा । दालान में एक तखत और तीन-चार कुर्सियां । महात्माजी ने तखत पर चद्दर बिछायी और हमें बैठने के लिए कहकर बड़े दरवाजे से अन्दर चले गये ।

मैं उस कैम्पस को देख रहा था और मन ही मन उस माटी की वन्दना कर रहा था, जिसने एक लाल पैदा किया । सोचते ही सोचते मुझे "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" कथन की सार्थकता समझ में आ गयी । महात्माजी अब तक नहीं आये तो हमने सोचा कि कुबेरनाथ जी दैनिक क्रिया में व्यस्त होंगे, इसलिए देरी हो रही है अथवा ऐसा तो नहीं कि सुबह-सुबह हमने परेशानी पैदा कर दी हो । थोड़ी देर बाद महात्माजी अपने हाथों में चाय की ट्रे लिये आये । एक बच्ची उनके साथ थी ।

सर्दी कुछ अधिक थी । सुबह के पौने आठ बजे थे । सूर्य देव अभी कोहरे की रजाई से बाहर नहीं निकले थे । चाय की हुड़क तो हमें लग रही थी, लेकिन हमने कहा कि बेकार आप पेरशान हुए, इसकी क्या जरूरत थी । महात्माजी ने बड़ी करुण निगाहों से देखा और बोले कि इस समय इसी की जरूरत है । हमारे बड़े भाग्य कि आप सुबह-सुबह पधारे । अभी तक उन्होंने न तो हमारा परिचय पूछा था और न अपना बताया था । चाय जब हमारे कंट से नीचे उतरने लगी तो संतजी की वाणी कंठ से बाहर आयी । अब बताइए आप कहाँ से पधारे हैं ? प्राचार्य जी (कुबेरनाथ जी) मेरे बड़े भाई हैं । और हाँ, वे तो गाजीपुर में ही हैं ? कल उनको आना था, किन्तु नहीं आये । हो सकता है आज .... ।" अब तक तो हम समझे बैठे थे कि कुबेरनाथ जी यही हैं, लेकिन यह जानकर हमें बड़ा भारी पछतावा हुआ । एक मायूसी छा गयी ।

कुबेरनाथ जी के वहाँ न मिलने का दुख तो हमें बहुत हुआ, लेकिन एक महान् साहित्यकार के परिवार की सांस्कृतिक गरिमा को देख हार्दिक आह्लाद भी हुआ ।

स्वागत-शिष्टाचार प्रायः दो प्रकार का देखा जाता है, एक–पहले परिचय, फिर स्वागत और दूसरा–पहले स्वागत, फिर परिचय । कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें कौन सा श्रेष्ठ हैं । संत जी ने पहले हम अजनबियों का स्वागत किया और फिर हमारा परिचय पूछा । यह उनका अकलुष आतिथ्य, आवभगति और विशुद्ध प्रेम का नमूना था । हमारे मन का आदर भाव अब श्रद्धा की सीमा रेखा को छूने लगा था ।

कुबेरनाथ जी से मिलने की उत्कंठा हमें विचलित किये दे रही थी, अतः हमें चलने की आज्ञा माँगनी पड़ी । महात्मा जी सड़क तक हमारे साथ आये । अपने हाथों का सहारा देकर बस में चढ़ाया और जब तक हमारी बस आँखों से ओझल न हो गयी, तब तक भगवा वस्त्र हमें दिखाई देता रहा ।

बस में भीड़ की धक्का मुक्की थी और मेरे हृदय में तीन भावों का अन्तर्द्वन्द्व मचा था–एक महात्माजी के विछोह की विह्वलता, दूसरे कुबेरनाथजी से मिलनेकी उत्कंठा और तीसरे यह आशंका कि कहीं कुबेरनाथजी इधर न चले आएँ ? इसी ऊहापोह में, बस ने गाजीपुर लाकर उतार दिया ।

महाविद्यालय का गेट । गेट से सटा बाँई ओर एक कमरा । कमरे में सुईखनक शान्ति । दरवाजे पर पर्दा । उस शान्ति को मैंने भंग किया भीतर आने का आदेश माँगकर । भीतर देखा तो एक व्यक्ति तखत पर बैठा हुआ । सामने मसनद । हाथ में कलम । भरी-भरी बोझिल आँखों पर चश्मा । साँवला सा ताम्रवर्णी रंग, सिर पर मुँहदार मुड़ा हुआ टोपा, चद्दर से लिपटा शरीर, उसके नीचे सामान्य कुर्ता, बास्कट और धोती धारण किये, भारी-भरकम डील-डौलवाले,–ज्ञान के कुबेर श्री कुबेर नाथ राय मुझ नये आगन्तुक की ओर जिज्ञासा की दृष्टि से देख रहे थे । एक बारगी मैं अचकचा गया कि दोनों भाई एक ही रूपाकार के । यदि एक से वस्त्र पहना दिये जाएँ दोनों को, तो दो महात्मा अथवा दो कुबेरनाथ सामने खड़े हो जाएं ।

उन्होंने मुझे बैठने के लिए कुर्सी की ओर इशारा किया । बैठने से पहले मैंने अपना नाम बताया । मेरा नाम सुनकर उनके गंभीर चेहरे पर मुस्कान आ गयी और अब वे पूरी तरह मेरी ओर मुड़कर बैठ गये । चपरासी को चाय के लिए भेज दिया । बोले "मेरा पत्र मिला?" मैंने स्वीकृत में सिर हिला दिया । दो मिनट में ही उनके मृदुल-सौम्य व्यवहार ने मेरे भीतर की सकपकाहट को बुहार दिया । अब मैं अपने आपको इतना हल्का महसूस कर रहा था, जैसे किसी आत्मीय बड़े भाई, किसी आदरणीय सुहृद अथवा किसी प्यारे गुरु के पास बैठा होऊँ ।

चाय पीते रहे, बातें होती रहीं । मैंने बातों का रुख उनके वर्तमान लेखन की ओर मोड़ा और जानना चाहा कि आजकल वे क्या लिख रहे हैं ? पता चला कि

उन दिनों वे गाजीपुर के निकट गंगा के 'ददरी घाट' पर लगनेवाले मेले पर शोध पूर्ण निबंध लिख रहे हैं । उसी पर बताने लगे । मुझ जैसा अल्पबुद्धि कुबेरनाथजीके ज्ञान की थाह नहीं ले सकता । बहुत गहरे डूबे हुए थे । उन्होने कहा– "दरवेश जी यहां ददरीघाट पर एक मेला लगता है । उसे मैं प्राचीन साहित्य में खोज रहा हूँ– इस ददरी शब्द को, इस मेले के प्रारम्भ और विकास को । दो-तीन दिन पहले मुझे एक ऐसी चीज मिली, जिसे मैं अबतक नहीं जानता था । अच्छा बताइए, गंगा क्या है ?" मैंने कहा 'गंगा एक नदी का नाम हैं ।' उन्होंने कहा, "नहीं, गंगा नाम नहीं, नदी शब्द का पर्यायवाची है । गंगा शब्द 'कुङ्ग' शब्द से विकसित है और 'कुङ्ग' का अर्थ नदीं है । अतः जब हम कहेंगे कि 'गंगा एक नदीं है' तो इसका अर्थ होगा कि नहीं एक नदी है ।" बाद में यह निबन्ध "ददरीघाट पर अपराजित सूर्य" शीर्षक से 'साहित्य अमृत' के अगस्त ९५ अंक में छपा, जिसमें 'कुङ्ग' शब्द का उल्लेख नहीं है ।

मैंने कहा डॉ. साहब आपके निबंध इतने क्लिष्ट और इतने गूढ़ होते हैं कि एक ही निबन्ध पढ़कर कम से कम मुझे तो माथा पकड़ कर बैठ जाना पड़ता हैं । वे बोले "हाँ, यह तो है, पर मैं क्या करूँ ?"

इस साहित्यक समागम में लगभग डेढ़ घण्टे बीत गये थे । मुझे वहां से वाराणसी जाना था । मैं कुबेरनाथजी को डाक्टर साहब कहकर संबोधित कर रहा था तो उन्होंने कहा, "मैं केवल एम. ए. हूँ । पी. एच. डी. नहीं कर पाया । मुझे लोग डॉक्टर कहते हैं तो बड़ी शर्म महसूस होती है ।" उनकी इस महानता और भोली विद्वत्ता पर मेरा मन श्रद्धानत हो गया । सचमुच मेरे सामने एक ऐसा व्यक्तित्व बैठा था, जो अंग्रेजी पढ़ाता रहा, संस्कृत और अन्य भारतीय भाषाओं में डूबता रहा और हिन्दी पर तैरता रहा ।

प्रसंग बदल कर मैंने उनकी 'हाबी' के बारे में जानना चाहा तो उन्होंने कहा– "वस मुझे कमरा बन्द करके पढ़ना अच्छा लगता है । कहीं भी जाने आने से मेरा मन बहुत कतराता हैं । मुझे सभा-सम्मेलनों, गोष्ठियों में जाना पसंद नहीं ।" इन डेढ़-पौने दो घण्टे की अवधि में हम दोनों कई बार इतने भावुक हुए थे कि दोनों के कंठ अवरुद्ध और आँखें भर आयी थीं । उनके व्यक्त्वि की इस संवेदनशीलता को मैंने उनके कृतित्व में भी यथावत आचरित होते देखा है । वे लिखते हैं, "यदि संवेदना आवेग न भरे तो मात्र बुद्धि के हुकुम से इन्द्रियाँ हिल-डुल थोड़े सकती है । जो भाव और उसके पूर्वरूप संवेदना को निरस्त करके केवल बुद्धि की बात करते हैं, वे आत्मप्रवंचक हैं ।" (साहित्य अमृत अगस्त ९५)

न चाहते हुए भी मुझे उनसे विदा लेनी पड़ी । दरवाजे के बाहर तक साथ आये । जैसे ही मैं उनके चरण स्पर्श के लिए झुका, उन्होंने मुझे सीने से लगा लिया और "अरे भइया" बस ये ही अन्तिम शब्द उनके गले में अटके रह गये । वे आँखें मसलते भीतर गये और मैं आँख पोंछता बाहर चला आया ।

जब व्यक्ति दिखाई नहीं देता और दिखाई देने की संभावना भी नहीं रहती तो उसकी विशिष्टताएँ दिखाई देने लगती हैं । कुबेरनाथजी को लोक और शास्त्र के निरीक्षण की गजब की आँख मिली थी । महाभारतकार ने कहा है, "प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ।" लोक का निरीक्षण करनेवाली जिसकी तीसरी आँख खुल जाती हैं, उसे अतीत, वर्तमान और भविष्य सब दिखायी देने लगते हैं । उसे 'होनी' का इलहाम हो जाता है । कुबेर नाथ जी ऐसी ही दृष्टा साबित होते हैं । उनके अन्तिम दो निबंध "ददरी घाट पर अपराजित सूर्य" और "अग्नि धीरोदात्तः अग्नि धीरललित" से ध्वनित होता है कि उन्हें लगभग दो वर्ष पहले ही अपना ५ जून ९६ दिखायी देने लगा था और बेखौफ होकर उन तत्त्वों (सूर्य और अग्नि) से अपना आत्मीय संबंध स्थापित कर लिया था अथवा उन्हें अपने भीतर प्रकट कर लिया था, जिनमें उनको विलीन होना था । वे लिखते हैं, "अग्नि तो घर-परिवार का, कुटुम्ब का सदस्य है; दीपशिखा में, चूल्हे में, होम कुंड में, वह घर में निवास करता है अतः अपना कुटुम्बी है, बहुत नजदीक है ।" अब देख लीजिए कि जो अग्नि उनके भौतिक शरीर को खा जाने वाली थी, उस अग्नि को उन्होंने अपना आत्मीय पहले ही बना लिया । और जो सूर्य दूर है, उससे ईश्वर का संबंध स्थापित कर लिया, "सूर्य आसमान में रहता है, दूर है, अतः ईश्वर है ।" परन्तु उस ईश्वर को दूर और अलग ही मान लेते कुबेरनाथ जी तो फिर भारतीय दर्शन और अध्यात्म की साख ही उखड़ जाती, जिसकी अटल मान्यता है, " सोऽहं" अर्थात् ईश्वर मुझसे अलग नहीं, वह मैं ही हूँ । इस प्रकार उस ईश्वर रूप सूर्य की, पहले वे अभीप्सा, (प्यास) जगाते हैं और फिर उसे अपने भीतर प्रकट कर लेते हैं, "सूर्य के लिए मन तृषित है । यह सूर्य-तृषा मन में अद्भुत सपने रचती है । ....मन में सूर्योदय हो चुका है । यह सूर्य मित्र है, परम बान्धव है । सुन्दर है।" फिर अपना अन्तिम संदेश देते हुए इसी ईश्वर की वाणी से वे कहते हैं, "जब यह संध्या को विदा होने लगता है, तो लगता है कि कोई प्रिय कुटुम्बी या आत्मीय मित्र कह रहा हो, "**घबराना मत, कल ही लौटूँगा**" परन्तु हे वाग् देवी के वरद पुत्र ! हे ददरीघाट के अपराजित सूर्य ! हम जानते हैं कि कल कभी नहीं आता । अरे बेपीर । आज इतने दिन बीत गये कहाँ गया, कल का वादा? और युग बीत गये, वह यही कहकर गया था, पर, " **कल की कहि कैं गयौ सामरौ अब तक नाहिं आयौ** ।"

●

सर्जनं परमं तपः

डॉ. वेदप्रकाश पाण्डेय

प्राचार्य, पी. जी. किसान कालेज

तमकुहीरोड, पडरौना

सर्जना को परम तप कहा गया है । यदि सर्जना परम तप है तो सर्जक परम तपस्वी होता है । श्री कुबेरनाथ राय एक ऐसे ही तपस्वी थे । तपस्वी क्यों, परम तपस्वी थे । सरस्वती के परम आराधक । निगूढ़ चिन्तन के धनी । अध्ययन के मानदण्ड । मनीषी । विचारक । ललित एवं वैचारिक निबंधकारों में वरेण्य । मनुष्यों में मनुष्य । गृहस्थों में गृहस्थ ।

वर्ष १९८६ में कुबेरनाथ राय नलवारी छोड़कर गाजीपुर आ चुके थे । आये थे प्राचार्य होकर । उनके जैसे साहित्यिक पुरोधा का प्राचार्य होना मुझे अजीब सा लगा था । 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभं' के आधार पर मैंने निर्णय लिया कि निश्चय ही उनसे अतीत में (वह पूर्वजन्म में भी हो सकता है ?) कुछ अपकर्म हुए होंगे जिसका भोग भोगने के लिये नियति ने उन्हें प्राचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया है । बाद में यह जानकर संतुष्ट हो गया कि उन्हें गाँव, गाजीपुर, गंगा और गंगातीरी लोकजीवन ने खींचकर यहाँ ला पटका है । अपनी धरती और अपने लोगों का आकर्षण होता ही ऐसा है ।

मैंने उनके निबंध पढ़े थे । उन्हें देखा न था । उन्हें जानता था । पहचानता था । निकट आ जाने के कारण देखने-सुनने की लालसा बलवती हो उठी ।

इसी बीच भुड़कुड़ा कालेज के प्राचार्य डॉ. इन्द्रदेव सिंह की अस्वस्थता की सूचना मिली । मन निकल हो उठा ।

दोनों महानुभावों के समवेत दर्शन की तीव्र उत्कंठा लिये वर्ष १९९२ के ग्रीष्म की एक दोपहर में अपने मित्र डॉ. मान्धाता राय के गाजीपुर स्थित आवास 'निशालोक' के द्वार पर उपस्थित हुआ । जलपानोपरान्त, दोपहरी की परवाह किये बिना ही, आचार्य प्रवर कुबेर नाथ राय के दर्शनार्थ भाई मान्धाता जी के साथ चल पड़ा । स्वामी सहजानन्द कालेज मैं इसके पूर्व भी गया था किन्तु उसकी अमराइयों में जाने का अवसर नहीं मिला था । आज रिक्शा आम्रवन से गुजर रहा था । मैं रिक्शे में दम साधे मौन बैठा था । जाने कैसे-कैसे भाव मन में तैर रहे थे । कैसे होंगे राय साहब? इतना बड़ा लेखक ! इतना नाम ! इतनी धाक ! मैं ठहरा एक अदना सा व्यक्ति । कैसे उन्हें फेस कर सकूँगा? कुछ पूछ बैठे तो ? इन्हीं विचारों में डूबता-उतराता परिसर-स्थित उनके आवास पर पहुँच गया ।

नगर के कोलाहल से दूर आम्रवृक्षों के सघन बगीचे में स्थित उनके आवास का द्वार खुला था । सामान्य धोती व बाँहदार बंडी में विस्तर पर बैठे श्री राय शायद भोजनोपरान्त विश्राम की तैयारी में थे कि हम उनके समक्ष हाजिर हो गये ।

कमरे की सादगी, एक देहातीनुमा सेवक की उपस्थिति और बगल में रखा जलभरा फूल का लोटा मेरी आश्वस्ति का कारण बना। किसानपुत्र होने के कारण वे मुझे कुछ अपने जैसे ही लगे। मेरे मन से आतंक का भूत लगभग उतर चुका था। एक लम्बी साँस ली और उन्हें प्रणाम किया। डॉ. मान्धाता राय ने परिचय दिया। आसन और आर्शीवाद साथ-साथ मिले। आसनस्थ ही नहीं हुआ, आत्मस्थ भी हो गया। सामान्य कुशलक्षेम के अनन्तर उन्होंने आगमन का प्रयोजन पूछा। यह जानकर शायद प्रमुदित हुए कि मेरी उपस्थिति का प्रयोजन भौतिक नहीं था, उनका दर्शन था। उनके दर्शन के बहाने भारतीय साहित्य, संस्कृति, धर्म, दर्शन, इतिहास, आधुनिक विश्व और व्यापक लोकानुभव की सुरसरिता बहाने वाले भगवान भगीरथ सदृश विद्या के इस महान साधक के व्यक्तित्व की शीतल छाँव का लाभ लेना था। कितनी अच्छी थी वह दोपहर जिसमें एक ओर था ग्रीष्मकालीन ऊष्मा का ताप और दूसरी ओर विद्या-वारिधि का तापमुक्त करने वाला वह शीतल-शान्त-गम्भीर व्यक्तित्व। अमराई की छाया अलग से। पेड़ों पर लदे हुए फल और पक्षियों के कल गुंजन की तो कहिए ही मत।

जलपान के बाद मैंने श्री राय के सम्पूर्ण लेखन के ग्रन्थावलीनुमा प्रकाशन का सुझाव दिया। उन्होंने इसके प्रति कोई खास रुचि नहीं दिखाई। मैंने विषय बदल दिया। लगा कि उनकी रुचि लिखने में है। सामग्री होगी और उसमें शक्ति भी, तो वह प्रकाशित होगी ही, चाहे उसका कलेवर कैसा भी हो।

बातचीत में दोपहर ढलने को आई। उनके समय की मूल्यवत्ता का अन्दाज था ही। मैं विदा लेने को खड़ा हो गया। उन्होंने भोजन के लिये पूछा। वह तो डॉ. मान्धाता राय के यहाँ होना था।

भाई मान्धाता जी के साथ उनके घर की ओर जाते हुए स्वभाव से ही मुखर मेरा 'मैं' मौन था। मन पर कुबेरनाथ जी की सहजता, साधुता, विद्वत्ता, विनम्रता और स्नेहिल सत्कार का सात्विक भार था। विद्या का कोई दम्भ नहीं, बड़ा होने का कोई आतंक नहीं। मैं पूरी तरह–भीतर तक भींग गया था। यह भींगना सूर्य के प्रखर ताप से उत्पन्न स्वेद से सिक्त होना नहीं था प्रत्युत् गाजीपुर की मानसी गंगा में भरी दोपहरी में डूबने के बाद का शीतल-उच्छल आनन्द था जो तन-मन को कहीं बहुत भीतर तक भिंगोये दे रहा था। लौटते हुए लग रहा था कि मैं, पल भर के लिये ही सही, बहुत बड़ा हो गया हूँ।

मन में था कि अपनी संस्था में वर्षों से चली आ रही हिन्दी–सेवियों की सम्मान-परम्परा में किसी हिन्दी-दिवस पर राय साहब का भी सम्मान किया जाय। उनके सम्मान का तो एक बहाना था। उन्हें सम्मानित कर के अपने को गौरवान्वित करना था। यह गौरव मुझे मिलना न था। नादानी में 'शुभस्य शीघ्रम्' का अर्थ न जान सका था। गौरवान्वित तो होना था महाकाल को जिसने उन्हें असमय ही लूट लिया।

●

ललित निबन्ध का इकलौता नक्षत्र

पाण्डेय हूबनाथ
इ. पु. वरिष्ठ व्याख्याता
शासकीय महाविद्यालय मुंबई

बेहद अफसोस के साथ मुझे यह कटु तथ्य स्वीकारना पड़ रहा है कि श्री कुबेरनाथ राय के संग ही हिंदी-रचना-जगत् से ललित-निबंध की विधा भी विदा हो गई। यहाँ मेरा तात्पर्य 'ललित-निबंध से है न कि ललित-निबंध के नाम पर की जाने वाली वाक्‌चातुरी या शाब्दिक बाज़ीगरी से। यह एक अतिविशिष्ट विधा है जिसके लिए प्रतिभाशाली होना ही काफी नही प्रत्युत् रचनाकार को विविध कला-शास्त्रों का गहन रसज्ञ-मर्मज्ञ अध्येता होना भी अनिवार्य है। हिंदी ललित-निबंधों के प्रस्थान बिंदु आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस विधा को बाकायदा प्रतिष्ठित किया। वैसे पं. श्रीचंद्र धर शर्मा 'गुलेरी' के 'कछुआ धर्म' और 'मारेसि मोंहि कुठाँव' में इसके पल्लव अँखुआने लगे थे। ललित-निबंध लिखना, संस्कृति की तनी रस्सी पर रस और बोध को दाएँ-बाएँ संतुलित रखते हुए कलात्मक 'ढंग' से ललित-मुद्रा में चलना है। ज़रा-सा चूके नहीं कि विधा विकृत हुई। यह चूक कई स्थानों पर कुबेरनाथ जी से भी हुई है। पं. विद्यानिवास मिश्र भी काफी बरसों तक संतुलन बनाए रहे, पर ब्रह्मरंध्र में शास्वत अवस्थिति व अनवरत अनहद नाद न तो हठयोग में संभव है न ललित-निबंध में। शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, अज्ञेय, विवेकीराय, कृष्णबिहारी मिश्रा आदि ने भी इस सुर को साधने की कोशिश की जिसे मैं सिर्फ़ कोशिश ही मानता हूँ, क्योंकि जो विधागत एकाग्रता, एकनिष्ठता व आस्था इसके लिए अपेक्षित थी वह इनमें यथोचित अनुपात में नहीं आ पायी। यह आचार्य द्विवेदी की भीषण प्रतिभा व व्यापक अध्ययन के ही बस में था कि इतिहास, आलोचना, भाषा, ज्योतिष, अनुवाद, संस्कृति, कला आदि विविध क्षेत्रों में अपनी अद्वितीय उपस्थिति दर्ज़ कराई और इन सबका दाय लेकर ललित-निबंध विधा को समृद्ध किया। आचार्य द्विवेदी और श्री राय में एक समता जो मुझे नज़र आती है वह यह है कि संस्कृति के स्तर पर दोनों ही का झुकाव आर्येतर संस्कृति की ओर कुछ अधिक ही था। यदि कुबेरनाथ जी को प्रमाण मानें तो 'लालित्य-तत्त्व' मूलतः अनार्य देन ही है, आर्य तो ओजमय-प्रसादमय हैं। भारतीय-संस्कृति की मूलभूत प्रकृति को जानने-समझने में जितनी मदद मुझे

ललित-निबंधों, विशेषतः रवींद्र ठाकुर, दुर्गाभागवत, आचार्य द्विवेदी और कुबेरनाथ राय के निबंधो से मिली उतनी पंडितों की पोथियों से नहीं मिली ।

हिंदी में बेशक मैं श्री कुबेरनाथ राय को सर्वश्रेष्ठ ललित-निबंधकार मानता हूँ । इस विधा के साथ अपनी सीमाओं के भीतर उन्होंने जितने विविध प्रयोग किए, इस विधा को जो गरिमा, जो समृद्धि प्रदान की, वह अद्वितीय व अविस्मरणीय है । अपनी समस्त सर्जनात्मक प्रतिभा को उन्होंने इसी एक बिंदु पर एकाग्र कर दिया, बीच-बीच में कुछ कविताएँ भी चलती रहीं क्योंकि जो कवि नहीं होगा, कवि हृदय नहीं होगा वह ललित-निबंधकार नहीं हो सकता । यह सिर्फ हिंदी नहीं, बल्कि समस्त भारतीय ललित-निबंधकारों के लिए समान रूप से लागू होता है ।

हिंदी ललित-निबंध विधा के सीमित क्षितिज पर गत दो दशकों से एकमात्र नक्षत्र प्रकाशमान था । शेष या तो बुझ चुके थे या मंद पड़ गए थे । मेरा यह वक्तव्य कुछ विद्वानों को अखरेगा या अतिरंजित लगेगा, पर मेरा दुखद विश्वास है कि कालदेवता मेरा ही समर्थन करेंगे ।

काव्य-कला-जगत् ही नहीं बल्कि पूरी दुनियाँ की ही रीति बन चुकी है कि व्यक्ति को अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए मरना पड़ता है । कुछ लोग तो इसी से श्रेष्ठ मान लिये गये क्योंकि वे असमय ही दिवंगत हो गए । मृत्यु से कम पर हम मूल्यांकन को तैयार ही नहीं होते । पर कुछ ऐसी विभूतियाँ भी होती हैं जिनका मूल्यांकन उनके दुनियाँ से चले जाने के बाद भी नहीं होता क्योंकि न तो वे किसी खूँटे से बँधे होते हैं और न ही किसी ख़ेमे के झंडाबरदार होते हैं । और जगहों की तो नहीं जानता, पर महाराष्ट्र के किसी भी अखबार में १४ जून तक श्री राय के अकाल निधन की खबर प्रकाशित नहीं हुई थी, मूल्यांकन और शोकसभाओं आदि की तो बात ही दूर है । यह हमारे संस्कृतिबोध के दरिद्रतर होते जाने का ठोस प्रमाण है । यह दीगर बात है कि कुबेरनाथ जी की सर्जना इस तरह के किसी भी छद्‌म मूल्यांकन या समालोचना की कभी मोहताज नहीं रही । भवभूति की परंपरा का यह रचनाकार यशः प्रार्थी ही होता तो जितना लिखा उसका आधा ही लिखकर किसी दरबार में हाजिरी लगाकर कइयों की तरह 'अमर' हो गया होता, किंतु तब वह 'साहित्य-देवता' की नज़रों से गिर चुका होता । श्री कुबेरनाथ राय उस मिट्‌टी से बने थे जिससे वाल्मिकी-तुलसी-निराला बने थे ।

इस ठोस, सुदृढ़ व सहज व्यक्तित्व का प्रथम व अंतिम साक्षात्कार मैने २ जून ९६, उनके महाप्रस्थान से मात्र तीन दिन पूर्व किया । जब मैंने उन्हें बताया कि उनके ललित-निबंधों पर शोध कर रहा हूँ और इसी संदर्भ में कुछ बातचीत करना चाहता हूँ तब सबसे पहले उन्होंने यही पूछा था कि आम तौरपर जैसे शोध किये जा

रहे हैं उसी तरह का कर रहा हूँ या सचमुच शोध या संधान की जिज्ञासा है? हिंदी-साहित्य में हो रहे शोध को लेकर न सिर्फ़ वे बेहद क्षुब्ध थे बल्कि बुरी तरह निराश भी थे। जब मैंने शोध के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया तब भोजपुरी में समझाते हुए बोले कि पी एच. डी. विद्वत्ता का मानदंड नहीं है बल्कि अन्य डिग्रियों की ही तरह एक डिग्री मात्र है जिसके अपने हेतु व प्रयोजन हैं। अतः मुझे व्यावहारिक दृष्टिकोण अपना कर यथाशीघ्र इस निरर्थक कार्य से मुक्त हो जाना चाहिए। शायद वे मुझे जाँच रहे थे और मैं अपने शोध-संबंधीं आदर्शों की वकालत करता रहा। ललित-निबंधकार भी अपनी विधा की ही तरह किसी एक विषय या बिंदु पर स्थिर नहीं रह पाता। उस रोज मध्य दोपहर में जेठ की तपती लू में उन्हीं के दालान में मैं, राममूर्ति यादव (मेरे मित्र) तथा राय जी के अनुज श्री नागेश्वरप्रसाद राय उस अंतिम 'काव्यशास्त्रविनोद' के साक्षी रहे। मैं अपने प्रिय रचनाकार को सामने पाकर वैसे ही अभिभूत था। उनसे बहुत कुछ पूछना था, जानना था, कहना था पर सिर्फ सुनता रहा। धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, संस्कृति, शिक्षा, परिवार पर सुव्यवस्थित, सुचिंतित, सुलझे विचारों की अजस्र धार लगभग ढाई घंटे बरसती रही। शिक्षा-समाज-राजनीति पर टिप्पणी कुछ तल्ख़ हो जाया करती। अपने समय और समाज से घोर निराश थे वे। यह निराशा एकाध बार उग्र होकर क्रोध की रेखाओं में बदल जाती। मैं और राममूर्त्ति दोनों ही मुग्ध थे। जेठ की जलती दोपहर 'कार्तिक पूर्णिमा' सी शीतल लग रही थी, उपमा नहीं, यह हकीकत है जिसे आज भी महसूस करता हूँ।

मैंने शिकायती लहज़े में उनसे पूछा कि क्या वजह है कि उनकी पुस्तकों में संस्कृत के उद्धरण प्रायः अशुद्ध व त्रुटिपूर्ण रहते हैं; उन्होने निःसंकोच स्वीकारा कि संस्कृत भाषा की प्रामाणिक व परंपराबद्ध जानकारी उन्हें नहीं है। अधिकांश उद्धरण अंग्रेजी की सहायता से ही लिए गए हैं और जो त्रुटियाँ अंग्रेजी संपादन में थीं वे इन ग्रंथो में भी रह गईं पर उनकी संख्या उतनी नहीं जितना मैं समझ रहा हूँ। उन त्रुटियों में बहुलांश मुद्रण-दोष है और वे हिंदी के प्रकाशकों की घोर व्यावसायिकता, नीतिभ्रष्टता आदि पर क्षुब्ध होकर बोलने लगे।

वह समय शायद उनके लेटने या आराम करने का था क्योंकि जब मैं वहाँ पहुँचा तब वे भोजनोपरांत टहल रहे थे साथ ही नीम की सींक से दाँत 'खोद' रहे थे। उनके दाँत में दर्द हो रहा था जो बीच-बीच में उनके चेहरे पर झलक भी जाता था। जब अभिवादनस्वरूप मैंने उनके चरण छुए तो पैरों के अँगूठे में पड़ी लोहे की 'मुँदरी' पर ध्यान गया। ऐसी ही एक मुँदरी उनकी दाईं तर्जनी में भी थी। दाँत के

दर्द से राहत पाने के लिए उन्होने थोड़ी-सी सुरती दबा ली थी । उनके बौद्धिक ओज तथा सहज निश्छल स्वभाव से इस कदर प्रभावित था कि ठीक से उनकी तस्वीर भी नहीं खींच सका । पहली दफा हाथ हिल गया और दूसरी बार 'फोकस' ठीक नहीं रख पाया । पर अभी तो मुझे दस-पंद्रह दिन और भी बनारस में रहना था । किसी भी रोज़ आकर इनसे बात की जा सकती है और अबकी बार आऊँगा तब सपरिवार ढेर-सी तस्वीरें भी लूँगा, मैंने सोचा दोपहर के तीन बज चुके थे । भगवान मार्तण्ड की लीला पूरे यौवन पर थी । इस लीला-ताप के रस्तस्वादन की इच्छा तो नहीं थी पर अब और परेशान नहीं करना चाहता था अपने प्रिय निबंधकार को । गाढ़ी-नीली लुंगी और श्वेत-महीन बनियान में समाई उस दिव्य विभूति से यह सोचकर विदा ली कि बस अगले हफ्ते ही मुलाकात होगी । उन्होंने सलाह भी दी कि अब आना तो प्रश्नावली तैयार करके ले आना जिससे बातचीत केंद्रित रहे । भटके नहीं । मैंने हामी भी भरी ।

६ जून की शाम मैं अपने ननिहाल गया तब मामाजी ने ख़बर दी – 'कुबेरनाथ जी नहीं रहे ।' मुझे यकीन तभी हुआ जब 'दैनिक जागरण' में प्रकाशित वह अशुभ खबर अपनी आँखों से देखा । मामाजी उनके गहन–व्यापक अध्ययन व मौलिक चिंतन की चर्चा कर रहे थे और मुझे सुनाई पड़ रही थी अपने निबंधकार की विवश वाणी– "यहाँ अच्छी पुस्तकों का बेहद अभाव है । इस वज्र देहात में संदर्भ-ग्रंथ की कौन कहे, सामान्य पुस्तक भी दुश्वार है । कुछ पुस्तकें महाविद्यालय (सहजानंद डिग्री कॉलेज) में हैं जिनसे काम चल जाता है पर अब वहाँ भी जाना नहीं हो पाता । बनारस हिंदू युनिवर्सिटी ही एकमात्र स्रोत हो सकती है, पर रोज़ ६०-७० किलोमीटर जाना-आना संभव नहीं । अतः लेखन ठप्प पड़ा है । खेतीबारी देखना और नातियों को पढ़ाना; इसी में दिन बीत रहा है । कभी-कभी व्याख्यानमाला के लिए चला जाता हूँ जैसे कि पिछले दिनों हिंदुस्तानी एकेडमी द्वारा आयोजित 'धीरेंद्र वर्मा व्याख्यान माला' में 'चिन्मय भारत' पर व्याख्यान देने गया था ......।"

मेरे मित्र मुझसे पूछते हैं कि मैं जब भी श्री कुबेरनाथ राय का ज़िक्र करता हूँ, उन्हें 'स्वर्गीय' क्यों नहीं लिखता, अब मैं उन्हें कैसे समझाऊँ कि मैंने आज तक वाल्मिकी, भवभूति, कालिदास, तुलसी, कबीर, प्रेमचंद, प्रसाद, निराला किसी को 'स्वर्गीय' न लिखा, न कहा ।

कुबेरनाथ रायः एक अप्रतिम व्यक्तित्व

जितेन्द्र राय
अध्यक्ष–राजनीतिशास्त्र विभाग
स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
गाजीपुर

किसी समकालीन विशिष्ट व्यक्ति पर कुछ अन्तरंग लिखना एक कठिन कार्य है। ऐसे व्यक्तियों के चतुर्दिक एक प्रभामण्डल बन जाता है जो उनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं को अतिक्रमित भी कर जाता है। अतः ऐसे व्यक्तियों के आकलन मूल्यांकन में थोड़ा धैर्य ही लाभकर होता है।

कुबेरनाथ राय से मेरा परिचय तब हुआ जब सातवें दशक के प्रारंभिक वर्षो में उनके लेख साप्ताहिक 'धर्मयुग' में छपते थे। उस समय उनकी रचनाओं को मैं श्रद्धा भाव से पढ़ा करता था। मेरे मन में उनका एक विशिष्ट प्रकार का बिंब बना था। हिन्दी और संस्कृत में समान रूप से अद्‌भुत भाषिक क्षमता और विरल पांडित्य युक्त उनके लेखन के प्रभाव से यह बिंब एक संभ्रांत पश्चिमी वेशभूषा वाले अत्याधुनिक प्राध्यापक के रूप में उभरता था। लेकिन उनके अनुज शंभुनारायण जो मेरे छात्र थे, ने जब उनसे भेंट कराई तो मैंने अपने सामने जिस वास्तविक कुबेरनाथ राय को सद्यः खड़े पाया वह बाह्यतः मेरी कल्पना से बिल्कुल भिन्न थे। मोटी खादी का धोती-कुर्ता पहने, ग्राम सुलभ झिझक से पूर्व मितभाषी, अत्यन्त सरल तथा निरहंकार इस व्यक्ति से मिल कर सहज सम्मान का भाव उत्पन्न होता था। उनको मैंने सादर नमस्कार किया और कुछ देर तक बातचीत भी हुई। इस प्रत्यक्ष दर्शन से उनके प्रति मेरा श्रद्धाभाव और भी गहरा हो गया। १९८६ में वे प्राचार्य के रूप में महाविद्यालय में आये। इतने ख्यातिलब्ध व्यक्ति का महाविद्यालय में प्राचार्य रूप में आना हम सभी के लिए गौरव की बात थी।

कुबेरनाथ राय के व्यक्तिगत जीवन और प्राचार्य के रूप में उनके कार्यकाल में कुछ उल्लेखनीय नहीं है। अध्यापक के रूप में अपने असम-प्रवास के दौरान उन्होंने अपने जीवन की श्रेष्ठ रचनाएँ दीं। साहित्य सृजन के इस महायज्ञ में उन्होंने अपने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की मानो आहुति दे दी थी। पत्नी और परिवार से दूर उनकी युवावस्था निपट एकांत में बीती। अपने एकमात्र पुत्र की शिक्षा-दीक्षा की उचित व्यवस्था भी वे नहीं कर पाए। यह एकांतवास उनके साहित्य सृजन के

लिए रास तो आया, किन्तु उन्हें इसका भारी मूल्य चुकाना पड़ा । धीरे-धीरे एकांत सेवन उनका स्वभाव बन गया था । अपने निबन्ध "गं-गं गच्छति गंगा" में उन्होने लिखा है– "मेरा स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि एकांत में मुझे सुख मिलता है । एकांत मेरा वामी है ।"

उनके सम्पूर्ण जीवन-दर्शन एवं साहित्य पर इस आत्मनिर्वासन और ऐकांतिकता की गहरी छाप है । किन्तु उन्होंने निर्वासित यक्ष की भांति गगनचारी मेघ से प्रिया को प्रणय निवेदन में अपनी शक्ति और क्षमता का अपव्यय नहीं किया । आत्मनिर्वासन के इस विष को शिव की तरह आत्मसात् कर उन्होंने सदियों से उपेक्षित और पीड़ित सामान्य जन तथा ग्रामीण एवं जनजातीय समाज के दुखों, आवेगों तथा उनकी अपेक्षाओं को अपने लेखन में रेखांकित किया तथा उन्हें आधुनिक अभिजन के सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया । आत्म पीड़ा का ऐसा उदात्त वैश्वीकरण हिंदी साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है ।

दो दशकों से अधिक की उनकी प्राध्यापकीय सेवा असम में होने के कारण उत्तर-प्रदेश में संयोजन के लिए अस्वीकृत कर दी गई । स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय गाजीपुर में लगभग दस वर्ष की सेवा के उपरांत वे घर गये तो पारिवारिक खेती-बारी के अतिरिक्त उनके पास आजीविका के लिए विशेष कुछ नहीं था । किन्तु उनके जीवन और चिंतन पर इन विपरीत परिस्थितियों का कोई विशेष प्रभाव परिलक्षित नही हुआ । वस्तुतः उनमें कोई भौतिक महत्वाकांक्षा थी ही नहीं । संस्कार और आचरण में वे गांधीवादी थे जिसके आदर्शवाद ने उन्हें अभाव के दंश से बचाया और अपनी साहित्य साधना को उन्होंने व्यक्तिगत जीवन से सदैव ऊपर रखा । असम की गौड़ीय संस्कृति में 'एडजस्ट' हो चुके थे, अतः गाजीपुर आना उनका दूसरा निर्वासन था, जिससे वे कभी 'एडजस्ट' नही हो सके । परिणामतः न केवल उनके साहित्य-सृजन की अविराम गति भंग हुई, बल्कि जीवन के बहुत सारे खट्टे-तीखे अनुभव भी प्राचार्य के रूप में उन्हें बटोरने पड़े जिससे उनके सहज साहित्यिक मन को बड़ी ठेस पहुंची ।

प्राचार्य के रूप में कुबेरनाथ राय का जीवन, दरअसल सामाजिक जीवन की वास्तविकता के साथ उनके उदात्त साहित्यिक मन के घात-प्रतिघात की कथा मात्र है । वस्तुंतः वह प्राचार्य जैसे किसी पद के लिए बने ही नहीं थे । ललित साहित्य की मनोरम उपत्यकाओं में विचरणशील उनका सहज साहित्यिक मन जब जीवन और समाज की वास्तविकताओं से टकराता था तो उन्हें गहरी ठेस लगती थी । महाविद्यालय की प्रशासनिक समस्याओं की जटिलता से वे अक्सर अत्यन्त दुःखी और असंयत हो उठते थे ।

प्राचार्यकक्ष में शांत स्थिरचित बैठे हुए वे प्रायः कोई पुस्तक पढ़ते रहते थे। किसी व्यावहारिक समस्या पर ध्यान आकर्षित करने पर वे ध्यानपूर्वक बातचीत तो प्रारम्भ करते थे, पर प्रवृत्या किसी साहित्यिक सन्दर्भ या भाषा शास्त्रीय विश्लेषण की ओर मुड़ जाते थे। वास्तव में मन, वचन और कर्म से वे विशुद्ध साहित्यकार थे। अतः जीवन की कठोर व्रास्तविकताएँ उन्हें विचलित कर देती थीं। वास्तविकताओं से टकराने और उन्हें दिशा दे पाने की सामर्थ्य उन्होंने अर्जित ही नहीं की थी। उनकी चाह एक घटनाविहीन जीवन की थी, अतः अपना यह कार्यकाल उन्होंने भविष्य के साहित्य सृजन की तैयारी के रूप में ही व्यतीत किया। सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं का अनुभव उन्हें प्राचार्य के रूप ही मिला था। यदि उन्हें समय मिला होता तो उनका लेखन निश्चय ही सामाजिक सन्दर्भों से अपेक्षाकृत अधिक संपृक्त हुआ होता।

कुबेरनाथ राय का दार्शनिक चिंतन-परमसत्ता के वैश्विक और परावैविश्क रूपों के बीच मानवीय चेतना की विस्तार यात्रा है। सामाजिक विसंगतियों में अस्तित्व के लिए संघर्षरत सामान्य जन की असहायता से वे आत्मिक रूप से परिचित थे। उनकी मान्यता थी कि चरम पीड़ा के क्षणों में मनुष्य को स्वविवेक की अपर्याप्तता का एहसास होता है। हताशा की स्थिति मनुष्य को उस संत्रास की स्थिति में ले जाती है जिधर अस्तित्ववाद संकेत करता है। परन्तु कुबेरनाथ राय के लिए मनुष्य की यह स्थिति दुर्निवार नहीं है। अन्तिम समाधान यद्यपि मानवीय बुद्धि के पास नहीं है, किन्तुं वैयक्तिक से वैश्विक और पुनः परावैश्विक सत्ता की ओर प्रयाण मानव-मुक्ति का सुनिश्चित मार्ग है। जीवन की निपट ऐकांतिकता तथा मन और बुद्धि की सीमायें उसे अस्तित्ववाद की स्वीकृति तक तो ले जाती हैं किन्तु वे उसे मानव की नियति नहीं मानते। परावैश्विक सत्ता के रूप में मानवं की मुक्ति का द्वार उन्मुक्त है।

इसीलिए लोक जीवन में विभिन्न उपासना पद्धतियों को उन्होंने अत्यधिक महत्व देकर रेखांकित किया है। गंगातीर के सामान्य जन से लेकर असम की जनजातियों तक प्रचलित नदी, वन, पर्वत और देवी देवताओं की उपासना पद्धतियों का ललित और सूक्ष्म विवरण उन्होंने अपने लेखन में प्रस्तुत किया है। आध्यात्मिक जीवन में राम उनके आराध्य थे। समाज की टूटती मर्यादाओं एवं विघटित होते हुए मूल्यों का समाधान उन्हें राम के मर्यादा पुरुषोतम स्वरूप में प्राप्त हुआ था। गोस्वामी तुलसीदास के बिना वे आधुनिक भारतीय संस्कृति की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। रामकथा पर उनका गहन चिंतन, पथभ्रष्ट भारतीय संस्कृति को मर्यादा की उस पृष्ठभूमि से जोड़ने का प्रयास था, जहां उनके आराध्य राम दृढ़तापूर्वक खड़े हैं।

कुबेरनाथ राय का सांस्कृतिक चिंतन उनकी सामान्य बातचीत में भी अभिव्यंजित होता रहता था। भारतीय संस्कृति को वे आर्य तथा आर्येतर संस्कृतियों का समन्वय मानते थे। इसके विकास में वे किरात और निषाद संस्कृतियों के योगदान का गम्भीर रेखांकन करते थे। असम के लंबे प्रवास के कारण वहाँ के जनजातीय जीवन से उनका गहरा लगाव था और उन्होंने बड़ी सूक्ष्मता से उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन किया था। आर्येतर भाषाओं से हिन्दी में आयातित शब्दो का वे बड़ा सूक्ष्म एवं प्रमाणिक विवरण देते थे। शब्दों की व्युत्पत्ति के संबंध में उनकी प्रतिभा अत्यन्त ऊर्वर एवं सूक्ष्मग्राही थी। सामान्य बातचीत में भी वे प्रायः शब्दों पर ठहर जाते थे और उनकी व्युत्पत्ति तथा भारत के विभिन्न क्षेत्रों में उनके भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोगों आदि की विद्वतापूर्ण मीमांसा में खो जाते थे। वे शब्दों के शिल्पी थे और इस सन्दर्भ में वे बड़ी ही स्वच्छन्दता तथा कल्पनाशीलता से काम लेते थे। इस दृष्टि से भी हिदी साहित्य को उनका अवदान अति विशिष्ट है। उन्होंने बताया था कि संस्कृत के विधिवत शास्त्रीय अध्ययन का अवसर उन्हें कभी नहीं मिला। हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवादों के माध्यम से ही उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया था, किन्तु जिस अधिकार के साथ वे बातचीत या लेखन में संस्कृत का प्रयोग करते थे, वह चकित करने वाला था।

कुबेरनाथ राय की राजनीतिक विचाराधारा एक सुनिश्चित प्रतिबद्धता के बाहर नहीं ज़ाती थी। राजनीतिक चिंतन में वे पूर्णतः गांधीवादी थे। गाँधीवादी विचारधारा उनके चिंतन और व्यक्तिगत रहन-सहन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती थी। समाज में व्याप्त आर्थिक-सामाजिक विसंगतियों से वे अत्यन्त क्षुब्ध रहते थे। नैतिक मूल्यों के निरंतर क्षरण के एहसास ने उनमें खिन्नता का भाव भर दिया था। भारतीय समाज की विसंगतियों पर बातचीत करते समय वे अत्यधिक उदास हो उठते थे। सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियां उनके भीतर तीव्र आक्रोश उत्पन्न करती थीं।

जन साधारण की पीड़ा और नैतिक मूल्यों के क्षरण का उपचार उन्होंने गाँधीवादी राजनीति और जीवन पद्धति में खोजा था। अंतर का क्रोध और हाहाकार उन्हें राजनीतिक विचाराधारा के क्षेत्र में डा. लोहिया तक ले गया। दलित और पीड़ित मानवता के लिये डा. लोहिया के संघर्षों को वह बड़े मनोयोग से याद करते थे। पर इसके आगे मार्क्सवाद की सीमा रेखा पर पहुंच कर वह प्रत्यावर्तित हो जाते थे, क्योंकि मार्क्सवादी दर्शन में परमसत्ता का अस्वीकार है। यह दर्शन उनकी मानसिक-सांस्कृतिक संरचना के पूर्णतः प्रतिकूल था। मार्क्सवाद की द्वन्द्वात्मक पद्धति को वे मानवीय समस्याओं का एक अति सरलीकृत समाधान मानते थे, जिसमें किसी भी विचार या तथ्य को ठोकंपीट कर फिट किया जा सकता है। स्वामी सहजानद की विचारधारा से ठीक इसी बिदु पर वे पूरी तरह असहमत थे।

विचार एवं लेखन में उनकी भंगिमा कभी-कभी अहंवादी लगती है। सामाजिक राजनीतिक गतिविधियां उनकी प्रकृति के प्रतिकूल पड़ती थीं। साहित्यिक गुटबंदियों से वे आजीवन दूर रहने का प्रयास करते रहे। उनकी मान्यता थी कि लेखन के लिए एकांत आवश्यक है और मोर्चे तथा संस्थाएँ एकांत को खण्डित करते हैं। उनके गाजीपुर आगमन के उपरांत अनेक साहित्यिक महारथियों ने उन्हें विभिन्न आयोजनों में सम्मिलित करने का प्रयास किया, किन्तु वे विनम्रता पूर्वक सबसे विरत रहे। कई बार तो शालीनतावश आमंत्रण स्वीकार करके भी अंतिम समय में सम्मिलित होने का विचार बदल देते थे। ऐसे आयोजनों के विषय में वे बड़े विनोदपूर्ण और हल्के-फुल्के ढंग से इनके पीछे निहित स्वार्थों एवं गोलबंदियों का विवरण दिया करते थे।

वैचारिक स्तर पर समझौता उनके लिए असंभव था। अपने निकट अकेलेपन में उन्होंने जो जीवन-दृष्टि विकसित की थी, उसके प्रति वे आजीवन प्रतिबद्ध रहे। किसी स्थापना को नकारने में उन्हें एक क्षण की भी देर नहीं लगती थी। कभी-कभी यह दंभ जैसा प्रतीत होता था। पर यह वास्तविकता नहीं थी। वस्तुतः यह अस्वीकृति उनकी एकांत साहित्यिक साधना और गांधीवादी जीवन पद्धति से अर्जित वैचारिक आत्मनिर्भरता और महत्वाकांक्षा विहीन जीवन का परिणाम थी। महत्वाकांक्षा को वे मानवीय जीवन एवं मूल्यों के पतन का कारण मानते थे। आजीवन वे इस प्रचलित प्रवंचना से बचकर स्वयं को वैश्विक और परावैश्विक सत्ता से जोड़ने के प्रयास में रत रहे। हिन्दी साहित्य के उनके महत्वपूर्ण अवदान के मूल में उनका यही महत्वकांक्षारहित गांधीवादी जीवन-दर्शन है और यही उनकी अप्रतिमता का राज भी है। उनके लेखन में जो 'युनिफार्म इक्सीलेंस' है वह अन्यत्र दुर्लभ है और यही उनकी साहित्य-साधना की सिद्धावस्था है इतना तृप्त और आत्मनिर्भर जीवन मैंने अन्यत्र नहीं देखा है। कई बार उनको समझने में चूक भी हुई। शायद उनको समझने का पैमाना हम बहुतों के पास नहीं था। अप्रतिमता की अपनी शर्तें होती हैं और उन्ही शर्तों के सदर्भ में वह पहचानी जा सकती हैं। आश्चर्य नहीं कि किसी किस्म की महानता की सम्यक समझ के लिये— एकांतिकता और कामनसेंस के दायरे से बाहर जाना पड़ता है। जैसे-जैसे यह बोध गहरा हुआ है वैसे-वैसे उनकी अप्रतिमता का एहसासभी मजबूत हुआ है। यहीं कृति द्वारा व्यक्तित्व का अतिक्रमण है। कुबेरनाथ राय अब हाड़-मांस वाले व्यक्ति नहीं बल्कि मानवीय मनीषा की बोध साधना और भाव साधना की परंपरा के एक संदर्भ बिन्दु हैं। 'चिन्मय भारत' के एक अप्रतिम व्याख्याता एवं विचारक के रूप में वे सदैव स्मरणीय है।

●

ज्योतिषशास्त्र के विलक्षणज्ञाता

डॉ. रामनारायण राय
रीडर, अर्थशास्त्र विभाग
स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

हिन्दी साहित्य में कुबेरनाथ राय जी ललित निबन्धकार के रूप में प्रख्यात हैं। पर उनकी साहित्यिक व्यापकता और दार्शनिक चिन्तन का मूल्यांकन होना अभी बाकी है। जब उनके सारे साहित्य का प्रकाशन हो जाय, उसके पश्चात् उसका मंथन हो तभी कोई मनीषी बतला सकेगा कि साहित्य नभ मण्डल में उस नक्षत्र की स्थिति कहाँ है। 'रामयण महातीर्थम्', जिसको बात चीत में वे अपनी मनोवांछित रचना मानते थे, और जिसको 'बाणभट्ट' की 'कादम्बरी' की तरह अपनी सर्वोत्तम कृति मानते थे, अभी प्रकाशित ही नहीं हुई। निकट सम्पर्क एवं साहचर्य के कारण वे अपने साहित्य, अपने घर परिवार और निजी जीवन के सुख दुःखों की चर्चा प्रायः किया करते थे। उनके साहित्य की चर्चा करना मेरा अभीष्ट नहीं है। उनके निकट रहने का सौभाग्य रहा। हमलोग एक पड़ोसी की तरह महाविद्यालय परिसर में रहे। अक्सर साथ-साथ उठना-बैठना, वार्त्तालाप करना चलता रहता था। चिन्तन और लेखन के पैमाने पर हमलोग इतने बड़े छोटे थे कि सहज ही गुरु शिष्य-का भाव मेरे मन में पैदा हो गया और अपनी निजी समस्याओं पर प्रायः मैं उनसे सुझाव लिया करता था। कुछ ऐसी ही स्मृतियाँ, जो उनके ज्योतिष एवं अध्यात्मज्ञान से जुड़ी हैं, उनका स्मरण करना चाहता हूँ।

कुबेरनाथ राय जी 'ज्योतिष शास्त्र' के बहुत अच्छे जानकार थे, यह बात कम लोगों को ज्ञात है। वे सामान्यतः इसे किसी को जानने देना भी नहीं चाहते थे। वे कहते थे कि इससे मेरी परेशानी बढ़ जायेगी। लोग मुझे इसी में उलझाये रखेगें। मुझे इसका कोई आर्थिक लाभ तो लेना नहीं है, उल्टे पढ़ने लिखने में व्यवधान उपस्थित होगा। जो लोग उनके अत्यन्त निकट थे उनके लिए इससे कोई परहेज नहीं था। बात-चीत से तो जान ही गया था कि ज्योतिष की गणना भी ये करते हैं। एकबार मेरी लड़की की जन्म-पत्री की समस्या आई। शादी की चर्चा चली तो वर पक्षवालों ने कन्या की जन्म कुण्डली मांगी। मेरे पास लड़की की जन्म-कुण्डली थी नहीं। प्राचार्यजी से यह बात मैंने बतलाई। उन्होंने कहा कि जन्मतिथि और समय ज्ञात हो तो कभी भी कुण्डली बन सकती है। आप किसी अच्छे जानकार ज्योतिषी

से बनवा लें । मैने एक ज्योतिषी जी का पता लगाया और उनसे जन्म-कुण्डली वनवाई । यह कुण्डली मैंने उन्हे देखने के लिए दी । उन्होंने जन्मपत्री हाथ में लेकर देखी और क्षण भर में ही कहा कि है तो यह कन्या भाग्यवान पर यह कुण्डली तो अभी आधी ही बनी है । कागज-कलम उठाकर उन्होने तुरंत दूसरा चक्र स्वयं बनाया और उसके भावी जीवन की बहुत सारी बातों को बतलाया, पुनः इसके भाई वहन कितने हैं, तथा उसके जीवन और भाई-बहनों के जीवन में घटनेवाली घटनाओं को भी बतलाया, जो बिलकुल सही थी । मुझे यह विश्वास हो गया कि वे ज्योतिर्विज्ञान के भी बहुत बड़े आचार्य हैं।

जैसे-जैसे सम्पर्क बढ़ा, धीरे-धीरे सारे औपचारिक संबन्ध शिथिल होते गये । मैत्री संबन्धो में वृद्धि होती गई । बहुत सारे व्यक्तिगत और पारिवारिक विषयों पर विचार विमर्श होते रहते थे । जब उनका मन एकान्त से ऊब जाता था या महाविद्यालय की कोई समस्या आ जाती थी तो प्रायः आकर चारपाई पर बैठ जाते और बगल में उसी चारपाई पर बैठाकर बातें करने लगते । 'राम' हमारे परिवार के 'आराध्य' और 'रामचरित मानस' पूजाग्रन्थ है । एक दिन हमलोग सहजभाव में बैठे कुछ हरि चर्चा कर रहे थे तभी मैंने राम की अराधना के विषय में जिज्ञासा प्रकट की । सामने हमारी डायरी पड़ी हुई थी । उन्होंने डायरी खोली और राम-अराधना का स्वरूप मुझे समझाने लगे । यथाः आराधना का मंत्र, उस की विधि, उस मंत्र के बीजाक्षरों का अर्थ, फिर जाप की विधि, पाठकी पुस्तक प्रारम्भ कैसे करें, अन्त कैसे करें सब समझाया । वह आज भी उनकी हस्तलिपि में मेरी डायरी में अंकित है जो मेरे लिए अमूल्य धरोहर है । तबसे अबतक यह क्रिया अविच्छिन्न रूप से मेरे जीवन का अंग बन गई है, मैं कभी भी उसे किए विना अन्न नहीं ग्रहण करता हूँ । इसने मुझे आत्मदम्भ से बहुत दूर तक ठेलकर हटा दिया है । उनकी प्रेरणा से मैं रामाभिमुख मुख हो सका, यही उनका मेरे लिए सबसे वड़ा आर्शीवाद है ।

आषाढ़ मास था । बेहद तपन और ऊमस थी । शाम को बिजली गायब थी । मैं कालेज परिसर में ही टहल रहा था । अन्धेरा छा गया था । प्राचार्यजी भारी ऊमस और अन्धेरे के कारण बाहर ही चारपाई पर बैठे थे । मुझे देखकर आवाज लगाई, "डाक्टर साहब! आइए ।" पास आने पर उन्होंने चारपायी पर बैठाया, बोले, "आज बेहद गर्मी है । बिजली भी चली गई है ।" मैंने पूछा, "क्यों इस समय इतनी गर्मी क्यों पड़ती है ?" आसमान साफ था और आकाश में पूरा नक्षत्र-मण्डल जगमगा रहा था । उन्होंने ऊपर ऊँगली उठाकर कहा "देखिये हमलोगों के माथे से थोड़ा पश्चिम और उत्तर जो ये छः सात तारे विशेषरूप में चमक रहे हैं, वह

"मृगशिरा" है । उससे थोड़ा दक्षिण जो सात आठ चमकीले तारों का समूह है वह 'वृश्चिक नक्षत्र' है । है न वृश्चिक जैसी आकृति? इस समय सूर्य का संचरण इसी नक्षत्र में है । इसी से हमारे यहाँ कहा जाता है कि मृगडाह (मृगशिरा) खूब तपता है ।" फिर देर तक मुझे नक्षत्रों की चाल और उनकी गणना समझाते रहे । जितनी जानकारी उनकी पुस्तकीय ज्योतिष की थी उतनी ही जानकारी आकाश में संचरण करनेवाले तारों और ग्रहों की भी थी ।

वे बार-बार कहा करते थे कि यहाँ आकर बुरा फंसा । अब तक काफी कुछ लिख चुका होता । इसी क्रम में मथुरा के एक सांसद का उल्लेख किया जिन्होंने उन्हें तीन चार पत्र लिखकर आग्रह किया था कि वे इधर ही चले आवें और 'भागवत् साहित्य' पर लिखें । वे सांसद कई डिग्रीकालेजों से संबद्ध थे और कहते थे कि आप जहाँ चाहेंगे, समायोजित कर लिया जायेगा । पर उस समय उनको काकद्वीप (कामरूप) बहुत भाता था । कामरूप की देवी की समीपता लेखन के लिए प्रेरणा-स्रोत प्रतीत होती थी । बाद में 'असमिया' और 'गैरअसमिया' के आन्दोलन ने वहाँ गैर असमिया होने के कारण इनका आर्कषण कम कर दिया । अब इधर आने की सोचने लगे । वे आये भी तो महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर जो उनके लेखकीय स्वभाव के प्रतिकूल था । कहते थे, "यहां तो चित्त ही नहीं शान्त होता है, लेखन एकदम ठप पड़ गया है । मेरी हार्दिक इच्छा है कि कम से कम अपनी 'रामायण महातीर्थम्' रचना पूर्ण कर लूँ । इसमें मैं 'नर', वानर', 'राक्षस' और 'यक्ष' चारों संस्कृतियों पर लिखना चाहता हूँ । 'रामायण' इन चारों संस्कृतियों का संगम है । तीन संस्कृतियों पर तो बहुत कुछ लिख भी चुका हूँ, पर यक्ष संस्कृति पर लिखना अभी बाकी है । इसे ही पूरा करना चाहता हूँ ।"

आपस की चर्चाओं में मैं बराबर उनसे कहता था कि आप भी क्यों नही किसी साहित्यिक केन्द्र या संस्था से जुड़कर दिल्ली, कलकत्ता या वाराणसी में रहने की वात सोचते हैं ? इस पर वे कहते थे कि बड़ी बाजारू हो गई है, साहित्यिक दुनिया । सब जगह साहित्यिक गुट या मठ हैं, जिनके ऊपर विशेष साहित्यिक ट्रेड मार्क–वामपंथी, दक्षिणपंथी, प्रगतिशील आदि के ठप्पे लगे हुए हैं और एक दूसरे को गिराने उपेक्षित करने की मुहीम चल रही है । मैं कभी किसी गुट-पार्टी से जुड़ा नहीं। अब वह मुझे नहीं करना है, चाहे जो भी है । घर भी मेरे लिए खराब नहीं मेरे लेखन के लिए जिन आधार ग्रंथों की आवश्यकता हो सकती है, उनका संग्रह मैंने कर लिया है । यहाँ की किचकिच से मुक्ति पाकर अब गाँव पर शान्ति से वैठकर लिखूँगा ।

महाविद्यालय से सेवामुक्ति के पश्चात् कुबेरनाथ जी कभी भी महाविद्यालय प्रांगण में नहीं लौटे । आखिरी बार जब हम लोग मिले थे तो अप्रैल का महीना था। गाजीपुर रोडवेज-बस स्टेशन पर बैठे वे जमानिया जाने वाली बस की प्रतीक्षा कर रहे थे । मैं गाँव की ओर जाने वाली बस की जानकारी करने के लिए जल्दी में जा रहा था । उनकी दृष्टि मेरे ऊपर पड़ी । उन्होंने आवाज दी–"अरे डाक्टर साहब, आइए, आइए ।" मैं मुड़ा तो देखा प्राचार्य जी हैं । अत्यन्त प्रसन्न-मुद्रा और काफी अच्छी वेश भूषा में । इतनी दिव्यता उनके चहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी । प्रणाम करते ही उन्होंने हाथ पकड़कर बैठा लिया । कुशल समाचार के बाद मैंने पूछा, "अच्छा बताइए आप लगभग एक साल से गाँव पर है । इस बीच क्या लिखा है ?" हंसने लगे–" अरे भाई, क्या लिखा, लगभग पांच छः निबन्ध लिखा जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं । अब 'यक्ष संस्कृति' पर भी कुछ लिख लिया हूँ । 'ज्ञानपीठ से बात-चीत हो गई है। वह उस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए तैयार है । उसे मैं जरूर प्रकाशित कराना चाहता हूँ ।" फिर उन्होंने मेरे बच्चों की पढ़ाई तथा 'मैं कुछ लिख-पढ़ रहा हूँ कि नहीं' इस पर चर्चा की । मैंने प्राचार्य जी से पूछा कि सेवा निवृत्ति के बाद आप के खर्च कैसे चलते हैं? इस पर उन्होंने असम (नलवाड़ी) से मिलने वाले पैसे से लेकर मूर्ति देवी पुरस्कार और इस महाविद्यालय से मिले पैसों की चर्चा कर बतलाया कि लगभग साढ़े तीन-चार लाख रूपये हो गये हैं उसी से अब काम चलता रहेगा । बसों के जानेका समय हो गया था, हम लोग जाने के लिए उठ पड़े । अन्त में उन्होंने कहा कि "सहजानन्द समग्र" की मेरी भूमिका ९६ पेज की थी । बड़ा श्रम करके मैंने उसे लिखा था, वह फंस गई है । वैसे बिहटा आश्रम ट्रस्ट, के सचिव श्री केदारनाथ सिंह का पत्रोतर आया है कि आप जब चाहें वह भूमिका आप को सौप दी जायेगी । उन्होंने कहा कि यह भूमिका तो स्वयं भी पुस्तक के रूप में छापी जा सकती है ।

ऊपर जो भी चर्चायें आयी हैं क्या वे उनके भविष्य जीवन के आत्म निर्णय का संकेत नहीं देती ? किसी अन्य जगह नगर में अपने लिए आवास न बनवाकर गाँव पर बनवाना । भविष्य में लेखन की सुविधा के लिए किसी संघ, संस्थान या पत्र-पत्रिकाओं के संपादकीय विभाग से जुड़ने के लिए चेष्टा न करना जिससे यहाँ से सेवा मुक्त होने के बाद लेखन के साथ-साथ आर्थिक स्रोत भी कायम रहे, बच्चों के सहारे के लिए मिली विभिन्न पुरस्कार राशियों एवं बचतों को सावधि ब्याज पर लगाना, ये सारे निर्णय यह अनुमान लगाने के लिए हमें सूत्र देते हैं कि उन्होंने ज्योतिष गणाना से अनुमान लगा लिया था कि निकट भविष्य में ही उनकी जीवन यात्रा समाप्त होने वाली है, इसलिए सेवामुक्ति के बाद के लिए कोई लम्बी योजना बनाना अनावश्यक है । वह सरस्वती पुत्र साहित्य, भाषा-विज्ञान के साथ-ही-साथ ज्योति विज्ञान का भी महापण्डित था ।

●

यह कैसी विडंबना है 'प्रिया नीलकंठी'

आनंद पाण्डेय

यह कैसी विडंबना है ! जैसा उनका संकोची स्वभाव वैसा ही निधन । कलकत्ता पूरे हिंदुस्तान की खबर रखता है और कलकत्ता को पांच दिन बाद खबर । कुवेर नाथ राय का पूरा व्यक्तित्व हठात् सामने आ जाता है ।

विद्वान बिना पूछे उत्तर नहीं देते, इस पुष्ट धारणा को व्यक्त करता व्यक्तित्व या संकोची स्वभाव, इसका आभास नहीं होने देते थे श्री राय । घंटों बैठे रहिए, चुप-चाप बैठे रहते थे और जब आपसे बात शुरू करते थे, तो घंटों बतियाते थे । पर विषय को अपने ढंग से 'मोड़' देते हुए । लोक संस्कृति, पुराण, दर्शन और अंग्रेजी - हिन्दी साहित्य पर बात करते हुए, संस्कृत के वेद–वेदांत और श्रुति स्मृति को लोक जीवन से जोड़ते हुए श्री राय एक चमत्कार दे जाते थे ।

एक बातचीत में उन्होंने बताया था–बस से घंटे भर में गांव पहुंच जाता हूँ और पुरानी यादें कुछ लिखवाती रहती हैं । १५ जून '९४ को उनके अभिनंदन के मौके पर मैं गाजीपुर पहुंचा था । लेखन की शुरुआत के बारे में उन्होंने बताया–'चचेरे बाबा पत्रकार थे । लेखन परंपरागत ढंग से मुझ में आया है । मेरा लेखन मौलिक है । इसलिए आप सब के मन को भाता है ।' सहज हिन्दी में बात करते कुबेर नाथ राय ने कहा था । तब पूछा था– 'आपकी पुस्तकों की भाषा लोगों को दुर्बोध लगती है ।' जवाब मिला–'जिन्हें मेरी भाषा दुर्बोध लगती है, उन्हें पूरी भारतीय संस्कृति दुर्बोध लगती है । साधारण सा व्यक्ति, भारतीय चेतना के ग्रंथ, पुराण, संस्कृति को जानने वाला मेरी भाषा को समझ सकता है । मैं तुलसी सा जनसाधारण के लिए लिखता हूँ । बस जरूरत है, एकांत में बैठकर मेरे साहित्य को पढ़ने की, सब कुछ साफ-साफ दिखता जाएगा ।'

१५ जून' ९५ को वे कलकत्ता आए थे । हावड़ा स्टेशन पर उन्होंने दक्षिणेश्वर जाने की इच्छा जताई । स्टेशन से सीधे दक्षिणेश्वर, स्नान ध्यान वहीं कर आद्यापीठ का दर्शन । फिर लौटे अपने मेजबान के घर ।

जीवन का यह भक्तिभाव 'त्रेता के वृहत् साम' में उभरा तो अनुरक्ति 'प्रिया नीलकंठी' में । जीवन की जागती तस्वीर खींचने, चिंतन को रस रूप देने का प्रयास ही उन्हें ललित निबंधकार के सफर तक ले गया, यह राय जी कहा करते थे ।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परंपरा के ललित निबंधकार ५ जून को निर्बंध हो गए । ललित लोक को गएं फिर उनसे भेंट नहीं होगी । इसी पंद्रह जून को उनसे मुलाकात होने वाली थी ।

लेकिन उनकी थाती भारतीय संस्कृति को नए कलेवर के साथ बहुत कुछ दे दे जाती है । उनके ललित निबंधों के संग्रह भारतीय साहित्य खासकर हिन्दी साहित्य का बहुमूल्य खजाना है । उनके निबंध भारतीय लोक जीवन के चिंतकों व संस्कृति प्रेमियों को संजीवन देते रहेंगे ।

●

सन्त साहित्यकार श्री कुबेरनाथ राय

विन्ध्याचल राय 'अचल'

यशस्वी भोजपुरी-कथाकार

हिन्दी के ख्यातिलब्ध निबन्धकार श्री कुबेरनाथ राय से मेरी प्रथम भेंट सन् १९८३ ई. की विजयादशमी के दिन उनके गाँव 'मतसा' में उनके दरवाजे पर हुई। उस समय तक दस निबन्ध संग्रह प्रकाशित हो चुके थे। ललित निबन्ध-साहित्य के इतिहास में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. विद्या निवास मिश्र के साथ उनका उल्लेख किया जाने लगा था। बैठक के ओसारे में उनके अनुज, साहित्य-प्रेमी और कवि नागेश्वर प्रसाद राय जी (नागानन्द वात्स्यायन) एक पलंग पर विराजमान थे। देखते ही आह्लादित से मेरे स्वागत-सम्मान में उठ खड़े हुए। मुझे एक पलंग पर बैठाकर मुझे जलपान लाने के लिये वह जाना ही चाहते थे कि मैंने उत्सुकतापूर्वक प्रश्न कर दिया-"कुबेरनाथ जी हैं?"

हर्ष-हँसी की ज्योति छिटकाते हुए उन्होंने उत्तर दिया-"हैं, दालान में एकान्त में उनका अध्ययन चल रहा है।"

मैंने अपनी इच्छा प्रकट की-"उनसे भेंट करना चाहता हूँ।"

"अभी सूचित कर देता हूँ।" इतना कहकर वे ओसारा से लपक कर दालान में गए और वहाँ से लौटकर मुझे जलपान लाने के लिये बखरी में प्रवेश कर गए।

कुछ क्षण बीते होंगे कि श्वेत गंजी-धोती पहने तथा कंधे पर अंगोछा रखे हुए, मध्यम कद की गौर वर्ण की, सामान्य कटे-छँटे-सजे केश-मंडित कपाल की, मूँछ-मुड़ित, मांसल सी, सुकुमार-स्निग्ध, सुदर्शन तेजस्वी तथा प्रसन्न चित्त एक मानवाकृति मेरे ओर बढ़ते आकर मुझे विनम् स्वर में करबद्ध प्रणाम कर मेरे सामने की पलंग पर बैठ गई। वे थे हिन्दी के नामी ललित निबन्धकार श्री कुबेरनाथ राय। नाम से पूर्वपरिचित था; आकृति से भी परिचित हो गया। हम दोनों के पास इधर-उधर की बातें करने की न तो बुद्धिमानी थी और न तो समय। अभीष्ट विषय छिड़ गया।

अपनी भाव-भंगिमा से मेरी वयोवृद्धता के प्रति सहजतः श्रद्धा सी व्यक्त करते हुए आत्मीयता पूर्वक श्री कुबेरनाथ राय ने पूछा- "आजकल क्या पढ़ा लिखा जा रहा है ?

"भोजपुरी साहित्य।"

"अच्छा, अच्छा । क्या इधर कोई रचना तैयार हुई है ?"

"हाँ, कारी लउरिया चितकाबरि हो', भोजपुरी निबन्धों का एक संग्रह । मैं चाहता हूँ कि आपके हाथ से इसकी भूमिका लिखी जाय । "

तुरंत सहज भाव से उन्होंने कहा– "मैं भोजपुरी का लेखक नहीं हूँ । कोई भोजपुरी का लेखक लिखता तो अच्छा रहता । मैं लिखूँगा तो खड़ी बोली में ही ।"

"खड़ी बोली में ही लिखिए । इसकी भूमिका आपको ही लिखनी है । भोजपुरी के लेखक आप भले ही न हों किन्तु उसके असंदिग्ध विज्ञ हैं ।"

"भोजपुरी मेरी मातृभाषा है । उसी की क्रोड़ में यह जीवन पला है और पल रहा है । अतः उसका जानकार होना स्वाभाविक है ।"

आत्मीयता जताते हुए मैंने जोरदार शब्दों में कहा– "पुस्तक की यह पाण्डुलिपि लीजिए । इसे पढ़कर इसकी भूमिका आप लिख दें और मुझे बताइए कि कब में आकर इसे ले जाऊँ ?"

मुझे समादर देते हुए हाथ बढ़ाकर वह पाण्डुलिपि उन्होंने ग्रहण कर ली । कुछ देर तक सोचते रहे । फिर मंद-मधुर स्वर में कहा– "शीघ्र ही असम प्रस्थान करने का विचार बन रहा है । यहाँ अध्ययन-लेखन भली-भाँति नहीं चल पा रहा है । पाण्डुलिपि रखना ठीक नहीं समझता । कल-परसों मैं आपको दौड़ाऊँ, यह भी मुझे पसन्द नहीं । यदि आप दो घण्टे यहाँ विश्राम करें तो इसे पढ़कर अभी भूमिका लिख दूँ ।"

मैं उनकी बात से सहमत हो गया । वे पाण्डुलिपि लिए हुए दालान में प्रवेश कर गए ।

उनके अनुज जलपान मेरे समीप रखकर उसके ग्रहण किए जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे । मैंने मिष्ठान्न का स्वाद लिया तथा छककर जलपान किया । तदुपरान्त नागानन्द जी के साथ बतरस में निमग्न हो गया ।

प्रायः दो घण्टा का समय बीता होगा कि वह साहित्य-साधक अपनी उस अध्ययनशाला से बाहर आया तथा मेरे हाथों में भूमिका सहित वह पाण्डुलिपि देते हुए इन शब्दों से समादृत किया– "भलीभाँति पढ़ लीजिएगा । यदि इसमें कहीं सुधार-संशोधन अपेक्षित हो तो कर दीजिएगा ।"

इतना कहते हुए विनत हो गए । उस सहज विनतता एवं निरहंकारता ने उस प्रतिभाशाली विद्वान् तथा यशस्वी ललित-निबन्धकार की भव्य-दिव्य छवि मेरे हृदय-पटल पर सदा-सदा के लिये अमिट रेखाओं में अंकित कर दी ।

श्री कुबेरनाथ राय से मेरी दूसरी भेंट ५ जनवरी सन् १९८८ को इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद में हुई जब वे इण्टर कालेज के स्वर्ण जयन्ती-समारोह में

सम्मिलित होने के लिये आये हुए थे । उस समय वे असम के नलबारी कालेज को छोड़कर स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय गाजीपुर के प्राचार्य-पद पर प्रतिष्ठत हो गए थे । यहाँ कार्य करते हुए उन्हें एक दो वर्ष ही व्यतीत हुए थे । स्वर्ण जयन्ती की समारोहपूर्ण सभा का सभापतित्व करने के उपरान्त वे कालेज के प्राचार्य डा. अवध बिहारी राय के साथ आचार्य-कार्यालय में बैठ गए । उन लोगों के संग मैं भी था । वार्तालाप-क्रम में उनसे अवगति हुई कि वे गाजीपुर के जीवन से बहुत सन्तुष्ट नहीं थे । उनकी साहित्य-साधना के निमित्त असम में जो एकान्तता उनको उपलब्ध थी वह गाजीपुर में दुर्लभ थी । यहाँ उन्हें द्वन्द्वमय जीवन जीना पड़ रहा था । असम की बदली विषम. राजनीतिक परिस्थितियों ने उन्हें उसे त्यागने को विवश किया था, अन्यथा उसे त्याग कर साहित्य साधना स्थली नहीं छोड़ते ।

इण्टर कालेज के प्राचार्य ने उत्साह-उल्लास में कहा– "इस वर्ष विद्यालय-पत्रिका 'सोमरस' का विद्यालय-'स्वर्ण जयन्ती विशेषांक' निकालेगा । उसके लिये आपकी एक रचना हमें अवश्य मिलनी चाहिए ।"

वे हम लोगों की इच्छा को त्वरित पूर्ण करने के निमित्त बोल उठे– "आप लोगों ने आज की सभा में मेरा लिखित भाषण सुना है । यदि वह आप लोगों को पसन्द आया हो तो वही पत्रिका में छप जाय, उसे मैं लिखकर लेता आया हूँ ।"

उनके सारगर्भित भाषण की सभी प्रबुद्ध श्रोताओं ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी । उस भाषण को छापने को हम सहमत हो गए ।

अपना लिखित भाषण मेरे हाथों में देते हुए उन्होंने मेरी वयोवृद्धता को सम्मानित किया–इसे भली भाँति पढ़ लीजिएगा । जल्दी में लिखा हूँ । दुहरा तक नहीं पाया । इसे जाड़े के छोटे दिन में आज सबेरे ही इसे लिखा हूँ और यहाँ समय से पहुँचने की चिन्ता में इस पर और समय न दे पाया ।"

मैंने नस्संकोच उस असंदिग्ध शीघ्र बुद्धि, सिद्ध हस्तलेखक के उस लिखित भाषण को श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लिया । शीघ्रता में लिखे जाने पर भी उसमें अभाव-त्रुटि का कोई प्रश्न ही नहीं था । वह तो मेरी वयोवृद्धता के स्नेह को अनुप्राणित करने के लिये उस साधु साहित्यकार की हार्दिक विशालता, उदारता तथा विनम्रता की एक चेष्टा थी । उस पाश्चात्य एवं भारतीय वाङ्मय के पंडित की निरहंकारता, विनतता, सरलता तथा स्वभाव-ऋजुता देखकर मैं उसके गुलाबी मुख-मंडल को निहारता रह गया जिसमें प्रशस्त ललाट का रोरी-तिलक बंधूक सुमन की गहरी ललिमा बिखेर कर आह्लादित था ।

●

वाण-भूमि का स्पन्दन

कुमार शैलेन्द्र

'धर्मयुग' में प्रकाशित श्रद्धेयरू कुबेरनाथ राय के एक समसामयिक अन्तःस्पर्शी ललित निबन्ध की प्रतिक्रिया स्वरूप बम्बई से मेरे प्रेषित पत्र के उत्तर में उन्होंने 'श्रुतं में गोपाय' की अपनी चिन्तनधारा से मेरी साहित्यिक संवेदना को जो संबल दिया, उससे मैं आज तक अभिभूत हूँ । महर्षि जमदग्नि की वाण-भूमि की सांस्कृतिक परम्पराओं के स्वस्थ संवाहक के रूप में इस साहित्यकार-मनीषी का योगदान अद्वितीय है । अपने महाप्रयाण के लगभग एक माह पूर्व मेरे ही एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने व्यक्त किया था, "द्विवेदी जी (पं. हजारी प्रसाद) तथा पंडित विद्यानिवास जी के निबन्धों की चिन्तनदिशा और मेरे निबन्धों के मूलभूत उद्देश्यों में रंचमात्र अन्तर नहीं है । मैं पूर्वोत्तर सांस्कृतिक मूल्यों को भी झाड़-पोंछकर अपनी अक्षुण्ण गरिमामयी चिरंतन संस्कृति में आत्मसात कर लेने को अन्यथा नहीं मानता ।" तव मुझे प्रथम बार उनके हृदय की उदारता और विशालता की अनुभूति हुई । मुझे लगा कि विश्वामित्र और भगवान परशुराम की सांस्कृतिक अस्मिता की जीवन्तता का यहीं वैश्वाकार दार्शनिक स्वरूप है ।

इसके लगभग दो वर्ष पूर्व, जब उन्हें 'मूर्ति देवी-सम्मान' मिला था, मैं उनसे एक 'काव्य-समारोह' का मुख्य-आतिथ्य स्वीकार कराने के निमित्त आग्रह किया था तब उन्होंने इस प्रस्ताव को अपनी बेलाग सहजता के साथ अस्वीकार कर दिया था । मेरे साथ श्री शंभूनाथ राम, अधिवक्ता और मेरे मित्र श्री वीरेन्द्र सारंग भी थे । उनकी अस्वीकारोक्ति से मैं किंचित् हतप्रभ और हतोत्साहित नहीं हुआ । मुझे भान हो गया कि मंच और प्रपंच के अवसरों पर साहित्यकार-मनीषी की साधना अवश्यमेव खण्डित होती है । आंग्ल-साहित्य के अध्येता होने के बावजूद उनकी लोक-संस्कृति की साधना ने हिन्दी की जिस विधा को एक नूतन आयाम दिया है वह अभिनन्दनीय है । 'महाकवि की तर्जनी' के माध्यम से उभरता हुआ 'विषादयोग' लोकजीवन के वर्तमान सन्दर्भों में उत्पन्न मूल्यहीनता के परिवेश को झकझोरता हुआ प्रतीत होता है ।

साहित्य-सृजन के नाम पर मात्र 'स्व' को प्रगतिशीलता के स्तम्भ पर प्रतिष्ठापित करने वाला तथाकथित बौद्धिक वर्ग भी हमेशा उनसे कन्नी काटता रह गया । लोक की वास्तविक छवि को एक विस्तृत फलक प्रदान करने वाला यह मनीषी सस्ती लोकप्रियता पाने के कुत्सित प्रयासों को ठोकर लगाता रहा । उन्होंने अपने स्वाभिमान को कभी गिरवी नहीं रखा । अपेक्षा और आकांक्षा के आकर्षण से अनावृत ऋषि साहित्यकार सिर्फ सृजन के प्रति समर्पित रहा । मेरी कल्पना साकार

होती लगी और सहस्रार्जुन द्वारा बलपूर्वक ले जायी गयी 'कामधेनु' पुनः जमदग्नि के आश्रम में वापस आ गयी । यही सृजन की व्यथापूर्ण चिन्तन प्रक्रिया की उपलब्धि है । इस प्रकार अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के महिमामण्डन का आनन्द-वोध लोकमानस पर मेघकुसुमों की भाँति आच्छादित होने लगा । शाकुन्तल-संस्कृति- गर्भ-मणि दुष्यंत-कुमार 'भरत', कंण्व का आध्यात्मिक तेजपुंज धारण कर, जैसे 'चिन्मय भारत' के पथ पर गतिमान होता है वैसे ही हिन्दी साहित्य के क्षितिज पर ललित निवन्धकार श्री कुबेनाथ राय का व्यक्तित्व उभर कर यशस्विता की पराकाष्ठा को चूम लेता है ।

मेरे काव्य -संग्रह के प्रकाशन में विलम्ब के कारणों से अवगत होकर उन्होंने मुझे न कुछ प्रकाशन समूहों से संपर्क साधने का मंत्र दिया बल्कि अपने एक अनपेक्षित निर्णय से मुझे सकते में डाल दिया, "यद्यपि मैं भूमिका लेखन में विश्वास नहीं करता किन्तु आपके संग्रह की भूमिका मैं लिखूँगा,अपनी पाण्डुलिपि दे दीजिए ।" मन ही मन मैं उनकी कृतज्ञता से दब गया और क्षणभर को बूँद की अभिलाषा प्राणवन्त हो उठी सागर के अंक में समाने की कल्पना मात्र से । यद्यपि वह संग्रह अब भी अधर में ही है लेकिन उनके स्नेह की मुहर ने मुझे समाधान दे दिया ।

अपनी अपरिपक्व साहित्यिक कसौटी पर जब भी उनके चिन्तनपूर्ण निबन्धों को कसता हूँ तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि अपनी सनातन संस्कृति के प्रति उनका समर्पण भाव ही सृजन के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है । वर्तमान संदर्भों को पौराणिक प्रतीकों और मिथकीय बिम्बों में समेटकर गम्भीर कथ्य को लालित्यपूर्ण आयाम देना उनकी लेखनी के कुशल और पैने तेवर का दिग्दर्शन कराता है । साहित्य-बोध के धरातल पर वे एक ओर जहाँ टैगोर की व्यथा को आत्मसात करते हुए प्रतीत होते हैं वही होमर की जिजीविषा से लेकर सम्पाती की अति महत्वाकांक्षा के नितान्त अस्थायी संचारी भाव को प्रतिपादित करते हैं । पूरब और पश्चिम के अलग-अलग मानवीय संवेदनाओं और प्रतिमानों को आधिपत्यपूर्ण ढंग से प्राचीन आर्यत्व के केन्द्र बिन्दु में स्थापित करने का संकल्प लेकर निर्वासित प्रियानीलकण्ठी के द्वारा भारतीय मूल्यों की चिंरतनता को संबल प्रदान करते हैं ।

वर्तमान सृजन-अवधि की तथाकथित प्रगतिशील चुनौतियों का प्रसंगानुकूल समुचित साहित्यिक उत्तर देने वाले ऋषि-परम्परा के संवाहक कुबेरनाथ राय कभी कालिदास की मुद्रा में द्वैत-अद्वैत को परिभाषित करते हुए प्रतीत होते हैं तो कभी जनक-मण्डप में अष्टावक्र की भूमिका में शास्त्रार्थ कर जल-समाधि दिए गये पितरों को श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं । शास्त्र एवं साहित्यमर्मज्ञ स्व.कुबेरनाथ राय की श्रद्धांजलि में शब्दचुक गये हैं – यह भाव व्यक्त कर पाना विषम है ।

●

आसमाँ कैसे कैसे

डा. ओबैदा बेगम
रीडर, उर्दू विभाग
स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गाजीपुर

हिन्दी अदब में श्री कुबेरनाथ राय का नाम मोहताजे तआरुफ नहीं । वह एक बुलन्द पाया मज़मून निगार थे । उनकी तहरीरें हिन्दुस्तानी तहज़ीबो तमद्दुन में रचीं-बसी और अपने वतन की मिट्टी की बूबास से पूरी तरह मोअत्तर (सुगन्धित) हैं । उनकी हिन्दुस्तानियत और इल्मियत ही वह नुमायाँ खुसूसियत है जो उन्हें दूसरे मज़मून निगारों से मुमताज़ करती है । अपने उसलूबे निगारिश और मख़सूस ज़ेहनी खैर के सबब उन्होंने हिन्दी अदब में एक नुमायाँ मोक़ाम हासिल किया है ।

राय साहब इत्तेहाई शरीफ़, नेक नफ़स, खलीक़ और श्फ़ीक़ इन्सान थे । एक अदीब जिस कदर बाशऊर और मोहज्ज़ब हो सकता है वह इसकी मिसाल थे, अपने तौर तरीकों और वज़ा क़ता में इत्तेहाई सादा और सादा मेजाज थे खद्दर की धोती कुर्ता, जैकेट और शाने पर तह की हुयी चादर यही उनका लेबास था । हथेली पर सुरती की पत्तियों को मसलते हुए वह इल्मो अदब के कितने ही पहलुओं पर इज़हारे ख्याल किया करते और ज़बानों बयान के कितने ही रमूजो नेकात (बारीकियों) पर से पर्दा उठाते ।

एक बुलन्द पाया अदीब की तमाम खुसूसियत उनके अन्दर बदरजए अतम मौजूद थीं । उनका रुतबा बड़ा था लेकिन वह अपने आप को वड़ा नहीं समझते थे । उन की शराफ़त और नेक नफ़सी का यह आलम था कि अपने स्टाफ़ के किसी भी रुक्न (सदस्य) से मैंने उनको कभी तेज़ लहजे में बात करते या सरजनिश (डांट-फटकार) करते नहीं देखा । अगर कोई बात ख़िलाफे मेजाज होती तो एक नागवारी उनके चेहरे पर फैल जाती थी, बस । आम तौर से वह अपने स्टाफ़ से हल्के फुल्के और कभी कभी मजाहिया अन्दाज में गुफ़्तुगू किया करते थे । उन की जबान से कभी कोई ऐसा कल्मा सुनने में नही आया जो किसी की दिल आजारी (दिल दुःखाने) का बाइस हो ।

नमोदो नुमाइश (दिखावा) उनको छूकर नहीं गया था । गुरुर या अपनी बड़ाई का शाएबा तक उन के अन्दर नहीं था । मैंनें उन को कभी अपनी या अपनी तसानीफ (पुस्तकों) की बड़ाई करते नहीं देखा । बहस करके अपनी फ़जीलत जताना और एशारे कनाए में दूसरों की तहक़ीर और दर पर्दा अपनी बड़ाई दिखाना उन में बिल्कुल न था । हाँ अगर किसी मौजू परक उन से गुफ़्तुगू होती तो उन के इल्म मालूमात की बुसअत देखने के क़ाबिल होती । ऐसा लगता कि इल्म का एक दरिया बह रहा हो ।

जब्त और ऐतदाल उनके बहुत बड़े औसाफ़ (खुशियाँ) थे । अक्सर तोल्वा (छात्र) उनसे गैर मोहज्जब अंदाज में बातें करते लेकिन मैंने उनको को कभी डाँटते फटकारते नहीं देखा । उनकी नामाकूल बात और कठहुज्जती पर गुस्सा आता था लेकिन वह जब्त का दामन हाथ से जाने नहीं देते । कालेज की मुलाजेमत के दौरान कितने ही ओमूर उनके मेजाज के खेलाफ़ होते लेकिन उन्होंने हमेशा सब्रो जब्त से काम लिया । हाँ, कभी कभी ढँके-छुपे अल्फाज में या जेरे लब अपनी नागवारी या नाइत्तेफाकी का इज़हार भी कर जाते थे ।

मुझे फख्र है कि उन के साथ काम करने का मुझ को मौका मिला । मेरे साथ वह हमेशा बेहद शफकत (स्नेह) से पेश आते । मैं अगर किसी अम्र में अपनी दिक्कत या परेशानी का इजहार करती तो वह हमेशा मोखलिसाना रवैया इख्तेयार करते । जब तक खास मजबूरी न हो वह किसी की दरखास्त रद्द नहीं करते थे ।

हिन्दी अदब तो उनका मैदान ही था । इस मैदान के वह शहसवार थे । कदीम हिन्दुस्तानी अदबो शायरी, आलमी तारीख, फलसफा-लेसानियात (भाषा-विज्ञान) और अंग्रेजी अदब पर उन की निगाह बहुत गहरी थी । हिन्दी अदव और उस से मोताल्लिक (संबंधित) तमाम शाखों पर उन को बेपनाह मालूमात हासिल थी । इसी के साथ-साथ उर्दू और फ़ारसी जबानों अदब से भी उनकी वाकफियत थी । अक्सर इन दोनों जबानों के अदब पर मुझ से गुफ़्तुगू होती । और हैरत होती कि उनके जेहन में कितनी बुसअत (फैलाव) है और इल्म का कैसा बहरे बैकराँ (गहरा समुद्र) इस शख्स के वजूद में मौज जन (लहरें मारना) है । एक जमाने में वह 'मोसद्दस हाली' पर कुछ काम करना चाहते थे । इस गरज से उन्होंनें मोताले (अध्ययन) के लिए मुझ से "मोसद्दस हाली " को मुस्तआर (माँगना) लिया भी था ।

वह एक हस्सास और बाशऊर अदीब थे । प्रिंसिपल से ज्यादा उन को अपनी अदीबाना हैसियत अजीज थी । मजमून निगारी उनके लिए एबादत का दर्जा रखती थी । गालेबन यही वजह है कि अपनी मोलाजेमत के आखिरी ऐय्याम (दिनों) में वह वेहद बददिल हो चुके थे । मोलाजेमत उन के वास्ते महज एक बवाल हो कर रह गयी थी और इस से वह जल्द अज़ जल्द छुटकारा हासिल करने के ख्वाहिशमन्द थे । उन को इस बात का बहुत मलाल (दु:ख) रहता था कि वह तसनीफो तालीफ (लिखना) के कामों पर पूरी तवज्जह और वक्त नहीं दे पाते । मोलाजेमत से सुबुकदोशी (अवकाश-प्राप्ति) के चन्द माह बाद एकदिन इत्तेफाकिया मेरी मुलाकात उन से स्टेट बैंक की मिश्र बाजार बाका शाख में हुयी । दरयाफ्ते हाल के बाद मैने उन से पूछा कि सुबुकदोशी (रिटायरमेन्ट) के बाद अब उनकी क्या मसरुफियात है ? मेरे इस सवाल पर उन्होंने पुरमोसर्रत लहजे में वताया कि वह सुबह को बच्चों को (जो गालेबनद उनके अपने ही घर के थे) अंग्रेजी और रेयाजी (गाणित) की तालीम देते हैं क्योकि गाँव में इन मजामीन (विषय) के अच्छे ओस्ताद नहीं मिलते । इस के बाद दोपहर से रात तक वह तसनीफ़ो तालीफ के कामों में

मसरुफ रहते हैं । उन की बातों से मुझे अन्दाजा हुआ कि अपने मौजूदा शबोरोज (दिनरात) से वह बेहद मुतमइन और खुश हैं लेकिन अफ़सोस कि ज़िन्दगी ने वफ़ा न की और मोलाज़ेमत से सुबुकदोशी के एक साल बाद ही वह इस दुनिया से रोख़सत हो गये । वरना इल्म और कलम का यह जादूगर न जाने कितने और कैसे कैसे गुलबूटे खिलाता और कैसे-कैसे कारहाए नुमायाँ अन्जाम देता ।

उनके पुरमग्ज मज़ामीन की सबसे बड़ी खूबी इल्मियत है । इनमें उनका बेपनाह इल्म, जिन्दगी के तजुरबात और वसी मुताला और मोशाहेदा मजा मिलायें मीन की शक्ल एखतियार कर गये हैं । यह मजामीन नहीं है, मालूमात का एक समुन्दर है । इनमें अदब है, अफसाना है, फलसफा है, शाएरी है और कदीम लोक कथाओं और असातीर (मिथ) का रंग भी है । उनके मजामीन के बेश्तर किरदार हिन्दू असातीर और वैदिक शास्त्रों से माखूज (लिये गये) हैं । अगर आप इन किरदारों के पसमंजर से वाकिफ़ नहीं हैं तो फिर उन के मज़ामीन से लुत्फ अन्दोज़ होना मुश्किल है । उन के मज़ामीन के मौज़ूआत (विषय) में तनव्वो तो है लेकिन इन सब का सिलसिला किसी न किसी तरह हिन्दू असातीर, वैदिक अदब और फलसफ़ा से जाकर मिल जाता है ।

तकरीबन हर मज़मून में मोसान्निफ (लेखक) का अपना किरदार भी किसी न किसी मरहले पर जरूर नज़र आता है । कहीं मोसान्निफ़ अपने बचपन के किसी वाकए का जिक्र करता है, कहीं फ़लसफ़ियाना नेकात बयान करता है, कहीं लेसानियात की गुत्थियाँ सुलझाता है, कहीं तरह-तरह के किरदारों से मोतआरिफ (परिचय) करवाता है और कहीं नयी तश्रीहों तफहीम (व्याख्या) पेश करता है । बाज़ मोक़ामात पर क़दीम असातीर की बुनियाद पर नयी इमारत तामीर करता है और जदीद तश्रीहों तफसीर वज़ा (बनाना) करता है । राय साहब खुद एक जगह लिखते हैं कि असातीर पर नज़्र सानी (दोबारा गौर करना) और उस को नयी शक्ल देने का हक़ किसी भी छोटे बड़े अदीब को हासिल है ।

उनके मज़ामीन आमफ़हेम (सामान्य भाषा) नहीं ताहम बेहद दिलचस्प और पुरकशिश हैं । यह मज़ामीन एक ख़ास मेज़ाजो ज़ौक (पसन्द) के पढ़े लिखे लोगों के लिए है । इन मज़ामीन में जो तलमीहात और इस्तेजारात है, जो फ़लसफ़ियाना तख़ैय्युलात है, जो अलामते हैं और जो असातीरी कलाए है उनको समझना उनके मज़ामीन की असल रुह को गिरफ़्त (पकड़) में लेना हर एक के बस की बात नहीं । उन की तलमीहात, इस्तेआरात, फ़लसफ़ा और असातीरी कनाए आम क़ारी के लिए एक चीस्ताँ (पहेली) की हैसियत रखते हैं । इन मज़ामीन को वही समझ सकता है जो हिन्दी और संस्कृत जबानों अदब से वाकिफ़ होगा । जिस की निगाह हिन्दुस्तानी असातीर पर होगी, जिस का मोतालां वसी होगा, जो फ़लसफ़े से भी वाकिफ होगा और लेसानियात से भी, वही इन मज़ामीन की अस्ल रूह तक पहुँच सकता है । ताहम उन की कोई तसनीफ अगर हाथ में आ जाये तो उसे पढ़ने की बेइख्तेयार ख्वाहिश होती है ।

राय साहब की ज़बान बेहद संस्कृत अमिज़ (संस्कृत मिली हुयी) है । लेकिन इस ज़बान में बहद शीरीनी और हुस्न है । संस्कृत अल्फ़ाज का खूबसूरत इस्तेमाल ही उन के मज़ामीन की जान है । उन्होंनें हिन्दी और संस्कृत के इम्तेजाज (मिलावट) से जो इबारतें वजा की हैं वह राय साहब की ही खुसूसियत है । इस इन्फ़रादियत (विशेषता) में कोई उनका शरीक नहीं । चूंकि उनका वतन ग़ाज़ीपुर ज़िला के 'मत्सा' गाँव में था इस लिए मोकामी अल्फ़ाज़ और बोली-ठोली का रंग भी उनकी अदबी ज़बान में घुल गया है । ये अल्फाज अपना एक अलग हुस्न रखते हैं और एबारत को बहुत बामज़ा और मानूस बना देते हैं । संस्कृत आमेज एबारतों और जुम्लों के दरमियान जब कोई मोकामी लफ़्ज आ जाता है तो उस के मुनासिब और मौजूँ इस्तेमाल पर हैरत होती है ।

मज़कूरा वाले बयान में जबान का मोकामी रंग भी है, असातीर भी और मोसन्निफ़ के अपने तजुरबात भी । ऐसे आम फ़हेम और सादा बयानात उन के हर मज़मून के किसी न किसी हिस्से में नज़र आ जाते हैं ।

यह देख कर बड़ी हैरत होती है कि संस्कृत अल्फ़ाज के दरमियान उन्होंने कहीं कहीं फ़ारसी, अरबी और उर्दू के अल्फाज का खूबसूरत इस्तेमाल किया है और यह अल्फ़ाज जुम्लों की साख़्त (बनावट) में कहीं से बेजोड़ नहीं मालूम होते ।

राय साहब के आलेचकों का ख्याल है कि उन्होंने अपने इब्तेदायी मजामीन में मौजू (विषय) और उसलूब का जो अन्दाज़ एख़्तेयार पार किया है वह बाद के मज़ामीन में मफकूद (नहीं मिलना) है बल्कि बाद की तसानीफ़ तो ललित निबन्ध के ज़ुम्रे (श्रेणी) में रखी ही नहीं जा सकती । मुमकिन है कि उन का ख्याल दुरुस्त हो लेकिन एक बाशऊर अदीब खुद को एक दायरे में कैद नहीं रख सकता । जैसे-जैसे शऊर में पोख्तगी आती है , तजुरबात वसी होते हैं, वह नये-नये तजुरबात करता है । इसके अलावा आसपास जो तब्दीली होती है, उन सबसे अदीब मोतास्सिर (प्रभावित) होता है और इन सब का असर उस की तहरीर में नज़र आता है । यही वजह है कि उन की इब्तेदाई तरहरीरों में जो अफ़सानवीयत है, जो मोकामी रंग है, उसने बाद की तसानीफ़ में अफसानवीयत के साथ-साथ इल्मियत और शास्त्रों के गहरे मोताले का असर वाजेह तौर पर नुमायाँ किया है । उन्होंनें एक जगह खुद ऐतेराफ़ किया है कि वह ललित-निबन्ध नहीं तखलीक करते बल्कि वह 'आगम' यानी आला दर्जे का अदब तख़लीक़ करते हैं ।

मोख़तसर यह कि श्री कुबेरनाथ राय के आलेमाना मज़ामीन हिन्दी अदब में एक नई जेहत का पता देते हैं । उन्होंनें अपने मज़ामीन से हिन्दी अदब के जख़ीरे में गेराँकद्र एज़ाफ़ा किया है । उन्होने अपने बुलन्द पाया मज़ामीन में जहाँ एक तरफ तारीख़ (इतिहास) पेश की है वहीं दूसरी तरफ सक़ाफ़ती और समाजी इश्रतेक़ा का जाएज़ा भी लिया है । इसके साथ ही हिन्दुस्तानी तहज़ीबो तमद्दुन की नशोनुमा में फ़आल अनासिर का मोफ़स्सल बयान भी किया है ।

●

तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है !

डॉ. अवधबिहारी राय
पूर्व प्रधानाचार्य
इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद, (गाजीपुर)

तब तक मैं कुबेरनाथ राय का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर पाया था, पर, उनकी कोई प्रकाशित पुस्तक ऐसी नहीं थी जिसे सजग और तन्मय भाव से न पढ़ गया होऊँ। उनके निबंधों को पढ़ते समय प्रायः हर बार ऐसा अनुभव होता जैसे कोई व्रण आरोग्यलाभ करता जा रहा है, भीतर का कोई क्षत भरता जा रहा है, जैसे मैं समृद्धतर और विस्तीर्ण होता जा रहा हूँ, देश-काल के गुंजलक में आबद्ध मेरी देह के सारे जड़ बंधन चटाक्-चटाक् टूटते जा रहे हैं और सृष्टि के आदि क्षणों से लेकर अनागत के अदृश्य अनन्तिम छोर तक प्रसरित संपूर्ण शाश्वत का मैं प्रत्यक्षदर्शी सहचर बनता जा रहा हूँ और हर निबंध को पढ़ने के बाद यह धारणा बद्धमूल होती जाती थी कि कुबेरनाथ राय को पढ़ने के बाद और कुछ पढ़ना शेष नहीं रह जाता। हो सकता है कि मेरी इस धारणा में किसी चतुर-चालाक साहित्यकार अथवा साहित्य-समीक्षक को अतिशयोक्ति की गंध मिले, किन्तु कम से कम मुझे ऐसा ही लगता था। आज भी लगता है। मैं उनकी अगली पुस्तक का बेसब्री से इन्तजार करता और प्रयास यही होता कि उसका प्रथम पाठक मैं ही बनूँ। यद्यपि छोटी जगह पर होने के कारण ऐसा हो पाना सम्भव नहीं था। मेरे हाथों में पहुँचने तक अनेक विद्वान उसे पढ़ लिये होते। उनके साहित्य के प्रति मेरी ललक जितनी तीव्र थी, उससे कम तीव्रता उनके अन्य साहित्यप्रेमियों में भी नहीं होती थी। उनके लेखन की महिमा और उदात्तता को देखकर मेरी उन पर अगाध श्रद्धा हो चली थी, किन्तु, अभी अब तक चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं हो पाया था उनका। इच्छा थी कि कभी ऐसा सुअवसर जुटाया जाय। इच्छा तो यह भी थी कि किसी साहित्यिक कार्यक्रम में उन्हें अपने यहाँ बुलाया जाय, किन्तु, ऐसा सुन रखा था कि वे किसी आयोजन-समारोह में आते-जाते नहीं। मैं 'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान' का विश्वासी रहा हूँ। मन के कोने-अँतरे में कहीं न कहीं यह भाव बहुत गहरे बैठा हुआ था कि सच्चे मन से प्रयास करने पर देवता तक पसीज जाते हैं फिर कुबेरनाथ राय तो एक सहृदय साहित्यकार हैं। मेरी श्रद्धा विवश कर देगी उन्हें यहाँ आने के लिये।

और अभी तो इसके लिये प्रयास भी नहीं किये है मैंने । उन दिनों कुबेरनाथ जी असम के एक महाविद्यालय में अंग्रेजी विभागाध्यक्ष थे, अतः साल में एक-दो बार ही घर आना सम्भव हो पाता था उनका ।

जहाँ चाह, वहाँ राह । अवसर जल्दी ही मिल गया । एक बारात के सिलसिले में मैं बैरनपुर (गाजीपुर) गया था । मेरे विद्यालय के हिन्दी प्रवक्ता डॉ. बरमेश्वरनाथ राय भी मेरे साथ थे । दूसरे दिन प्रातः आपस में इधर-उधर की बातें चल रही थीं । दस-साढ़े दस बजे होंगे । बैठे-ठाले की बातों का कोई ओर-छोर तो होता नहीं । चर्चा चल पड़ी कुबेरनाथ राय की और उसी में यह पता चला कि वे इस समय गाँव पर आये हुए हैं । मतसा, बैरनपुर से मात्र तीन-चार किमी. की दूरी पर अवस्थित है । मेरा हृदय बाँसों उछल पड़ा । जिस अवसर की प्रतीक्षा मैं वर्षों से कर रहा था, वह अनायास ही हाथ लग गया था । फिर हाथ कंगन को आरसी क्या ? मैं बरमेश्वर जी के साथ चल पड़ा मतसा के लिये । बरमेश्वर जी का यह सौभाग्य है कि वे कुबेरनाथ जी के निकटतम संबंधी हैं और उन्हें उनका स्नेह और वात्सल्य उनके विद्यार्थी-जीवन से ही मिलता रहा है ।

आधे घंटे बाद हम लोग कुबेरनाथ जी के दरवाजे पर थे । सबसे पहले मुलाकात हुई उनके अनुज श्री नागानंद वात्स्यायन से । बड़ी तत्परता के साथ उन्होंने हम लोगों का स्वागत-सत्कार किया । बरामदे में बैठते समय मैंने लक्ष्य कर लिया था कि पीछे वाले कमरे में कोई व्यक्ति एकान्त और तन्मय भाव से किसी पुस्तक के अध्ययन में तल्लीन है । चैत्र-वैशाख की प्रचण्ड धूप से छाया में आने के कारण उस व्यक्ति की आकृति तो स्पष्ट नहीं हो सकी, किन्तु अनुमान से यह समझते देर नहीं लगी कि वे भारतीय मनीषा के आर्ष सुचिन्तक श्री कुबेरनाथ राय ही हैं । उस दिव्य पुरुष के इतने समीप होने की अनुभूति से मुझे सहसा रोमांच हो आया । लगा कि जिस पवित्र क्षण की प्रतीक्षा मैं वर्षों से कर रहा था, वह क्षण उपस्थित होने वाला है । उस समय की अपनी मनःस्थिति का बयान मैं किन शब्दों में करूँ ? एक तरफ उस ज्योति-पुरुष के दर्शन की तीव्र लालसा तो दूसरी तरफ अपनी अल्पज्ञता का संकोच । 'मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई' ।

जलपान के बाद मैंने नागानंद जी से अपने आने का प्रयोजन निवेदित किया । उन्होंने मेरी बात कुबेरनाथ जी तक पहुँचा दी । सुनते ही वे कक्ष से बाहर निकल आये और जब तक मैं संभलूँ तब तक सहज मोहक स्थिति के साथ करबद्ध प्रणाम की मुद्रा में मेरे सामने खड़े हो गये । हड़बड़ी में मैं चारपाई से उठ खड़ा हुआ, प्रतिवन्दन में मेरे दोनों हाथ स्वतः ही जुड़ गये, पर मुख से कोई शब्द नहीं फूट सका । उस प्रज्ञा-पुरुष का प्रभाभास्वर बहिरंग जितना तेजस्वी था, अन्तरंग उतना

ही विनम्र और शीलवान । वय लगभग पचास वर्ष की । गौर वर्ण । चिन्तन-पक्व हिमधवल-केशराशि । औसत कद की निरुज समानुपातिक देह-यष्टि । निर्लोम स्वास्थ्य-भास्वर दमकता मुखमंडल । प्रशस्त ललाट । कुछ झुकी हुई उन्नत शुक-चंचु नासिका । बड़ी-बड़ी पारदर्शी आँखें । झपकने पर श्यामाभ पलकें ऐसी, मानो समान रूपाकार के शुक्तियुगल पलट कर रख दिये गये हों । खद्दर की उरेबी बनियान और किनारीदार गैरेय उत्तरीय के बीच उनका भव्य-दिव्य व्यक्तित्व किसी निरंजन देवता की प्रतीति करा रहा था । दैहिक सौन्दर्य, आन्तरिक ऋद्धि और 'आचरण की सभ्यता' का ऐसा विलक्षण सामंजस्य मुझे इसके पहले नहीं दिखायी दिया था ।

कुबेरनाथ जी ने भीतर ही चले आने का संकेत किया और मैं एक आज्ञाकारी बालक की तरह उनके पीछे-पीछे कक्ष में चला गया । वह उनका साधना-कक्ष था जिसमें वे साहित्य-देवता की आराधना किया करते थे, अतः जूते बाहर ही निकाल दिये थे मैंने । कक्ष के भीतर रखी प्रत्येक वस्तु से पवित्रता की गंध फूट रही थी । पश्चिमी दीवाल से लगी हुई लगभग 4' × 4' की चौकी पर एक काष्ठ-निर्मित कलात्मक मन्दिर प्रतिष्ठित था जिसकी ऊँचाई चार-साढ़े चार फीट रही होगी । मन्दिर के भीतर काले पत्थर की ठाकुर जी की मूर्ति विराजमान थी । मन्दिर की दीवारें आपादमस्तक सुनहले रंग के पत्रों से परिवेष्ठित थीं । उसके दरवाजों के ऊपर लाल और हरे रंग की पन्नियों की झालरें लहरा रही थीं । उसी चौकी पर जल से आधी भरी एक तांबे की थाली में ठाकुर जी की धातुमय चरण-पादुका रखी थी । उसके पार्श्व में ही एक शंख तथा वृत्ताकार प्रस्तर-पट्टिका पर एक चन्दन-काष्ठ रखा हुआ था । (बाद में पता चला कि मन्दिर और शंख रामेश्वरम् से लाये गये हैं) । वहीं तीन फीट लम्बे और दो फीट चौड़े एक आयताकार प्रस्तर खंड पर छेनी और हथौड़ी से उकेरा गया हनुमान-विग्रह आरोपित था दीवाल के सहारे, जिसके वाम हस्त में एक विशाल पर्वत-शिखर तथा दक्षिण हस्त में एक भारी भरकम गदा थी । उस मूर्ति पर आपादमस्तक तेल और सिंदूर का लेप किया गया था । पूर्वी और दक्षिणी दीवालों से लगी हुई छः बड़ी-बड़ी आलमारियाँ थीं । पाँच आलमारियों में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, बंगला, असमिया, तमिल आदि भाषाओं के ग्रंथ वर्गीकृत रूप में रखे हुए थे जबकि छठवीं आलमारी में साहित्यिक पत्र-पत्रिकाएँ थीं । दीवालों पर पाँच-छः फ्रेम की गयी तस्वीरें टँगी थीं । एक तस्वीर में ऐश्वर्यरूप सीताराम की युगलमूर्ति थी । बाकी तस्वीरें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रसिद्ध साहित्यकारों की थीं । धूप, दीप और नैवेद्य की गन्ध से सुवासित उस कक्ष में प्रवेश

करने पर ऐसा लगा था जैसे अन्तस् के रज और तम की सारी मलिनता धुल गयी है और मन निरुज तथा निर्माल्य हो गया है ।

'बड़ा सौभाग्यशाली हूँ मैं' जो आप आप जैसे आर्ष पुरुष के दर्शन हुए' और 'क्या लिख रहे हैं आजकल आप ?' जैसे सामान्य व्यावहारिक वाक्यों से बातचीत का सिलसिला मैंने ही शुरू किया । मन के किसी कोने में यह अपराधबोध भी था कि ग्रीष्म की अलसित दोपहरी में किसी एकान्तप्रिय भद्रपुरुष के यहाँ पहुँचकर उसे वार्तालाप करने के लिये विवश करना, उसकी विश्रान्ति में खलल डालना तो है ही, अपनी अभद्रता का भी परिचय देना है, इस कारण प्रारंभ में अपनी बात कहने में मुझे झिझक हो रही थी, किन्तु, कुबेरनाथ जी के मृदुल स्वभाव, अकृत्रिम व्यवहार और सहज आत्मीयता के प्रवाह में मेरा सारा संकोच पल भर में ही बह गया । हम लोगों की वार्ता सामान्य से विशिष्ट और फिर विशिष्टतर होती चली गयी । साहित्य-चर्चा के दौरान बात चल पड़ी शाक्त-साधना और तन्त्राचार की । फिर तो तीन-साढ़े तीन घंटे कैसे निकल गये, पता ही नहीं चला । आद्या शक्ति के सौभाग्यपार्वती, काली, चण्डिका, महामुद्रा, महायोगिनी, भैरवी, उग्रतारा, त्रिपुर-सुन्दरी, मातृका आदि रूपों और दक्षिणाचार एवं वामाचार में निर्दिष्ट उनकी उपासना-पद्धतियों की जो गहन मीमांसा उस दिन सुनने को मिली उससे मैं चमत्कृत हो गया । उसी दिन मुझे यह भी पता चला कि भगवती की सत्ता में कुबेरनाथ जी की असीम आस्था है । मेरी आस्था के केन्द्र-बिन्दु पवन पुत्र हनुमान हैं, इस रहस्य को वे भी जान गये थे उस दिन ।

वार्तालाप के अन्तिम चरण में मैं अपने मूल उद्देश्य पर आ गया था । मैंने उनसे साग्रह अनुरोध किया, "मेरी और मेरे क्षेत्र के साहित्यप्रेमियों एवं बुद्धिजीवियों की हार्दिक इच्छा है कि इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद में आपके एक व्याख्यान का आयोजन किया जाय । सबकी ओर से मेरा यह निवेदन है कि अपनी सुविधा के अनुसार कोई तिथि सुनिश्चित करके आप हमें कृतार्थ कीजिए ।" कुबेरनाथ जी ने बड़ी विनम्रता और शालीनता के साथ यह कहते हुए मेरे अनुरोध को अस्वीकार कर दिया, "साहित्यिक आयोजनों और समारोहों से मैं 'शत हस्तेन वाजिनाम्' दूर ही रहना चाहता हूँ । गंभीर लेखन के लिये एकान्त जरूरी है और सभा-मंच एकान्त को खण्डित करते हैं । इसमें समय बहुत अधिक बरबाद होता है । दूसरी बात यह है कि कहीं जाने-आने पर सन्ध्या-वन्दन में व्यवधान पड़ता है । जगह बदल जाने पर मन एकाग्र नहीं हो पाता और तीसरी एवं सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि आम जन की तरह मैं भी विधाता की एक साधारण सृष्टि हूँ और साधारण बनकर ही रहना चाहता हूँ । बहुत ऊँचाई पर बैठा देने पर शेष लोग मुझे बहुत छोटे दिखायी देने लगेंगे । अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे ऐसे झमेले में न फंसाइए ।"

इस उत्तर से, यद्यपि निराशा तो मुझे बहुत हुई, किन्तु उस ऋषि-धर्मा साहित्यकार के प्रति मेरी आस्था और दृढ़तर हो गयी । कुबेरनाथ जी की बातें शत-प्रतिशत सही थीं, किन्तु 'आरत के उर रहे न चेतू ।' मन हार मानने के लिये तैयार नहीं था । फलतः मैं अनुरोध पर अनुरोध करता ही रहा । और इसे मैं भगवान की कृपा ही मानता हूं कि अन्ततः वे मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लिये, इस शर्त के साथ कि किसी तरह की तड़क-भड़क या दिखावा-प्रदर्शन नहीं होगा । मैंने इसे सहर्ष स्वीकार कर लिया । तिथि निश्चित करने का दायित्व उन्होंने मुझ पर ही डाल दिया । सोच-समझ कर उसी समय एक तिथि निश्चित कर दी मैंने, यह कहते हुए कि उस दिन बरमेश्वर जी एक कार के साथ आयेंगे और आपको लेकर डेढ़–दो बजे तक मुहम्मदाबाद पहुँच जायेंगे । वे छूटते ही बोले थे, "इस व्यवस्था के तहत मैं आपके कार्यक्रम में भाग नहीं ले सकूँगा । सीधी बात यह है कि बरमेश्वर जी के साथ बस से गाजीपुर स्थित आपके निवास पर आ जाऊंगा । वहीं हम लोग भोजन करेंगे और फिर बस से ही मुहम्मदाबाद के लिए प्रस्थान कर देंगे । व्यर्थ का पैसा बरबाद करने से क्या फायदा ? मैं धन्य-धन्य हो गया इस उत्तर से । अहोभाग्य मेरा कि इस महापुरुष के चरण-रज से मेरी कुटिया पवित्र होगी । मैं उनकी सादगी और उनके अंतरंग-बहिरंग की अलभ्य एकरूपता को देखकर विमुग्ध था ।

नियत तिथि को पूर्व निर्धारित व्यवस्था के अन्तर्गत कुबेरनाथ जी इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद में पधारे । विशाल सभा-भवन साहित्य प्रेमियों और प्रबुद्ध नागरिकों से ठसाठस भरा हुआ था । आर्ष चिन्तन और गंभीर लेखन से ललित निबंध के जिस शलाका पुरुष ने हिन्दुस्तान के विराट् रंगमंच पर गाजीपुर जनपद की एक विशिष्ट पहचान निर्मित की थी, उसके भव्य और दिव्य व्यक्तित्व को देखकर लोगों की आँखें जुड़ा गयीं । कुबेरनाथ जी ने 'लोकदेवता हनुमान' विषयक व्याख्यान पढ़ना प्रारंभ किया और वह अनवरत डेढ़ घंटे तक चलता रहा । उनके कथ्य का केन्द्रीय भाव यह था : "हनुमान आदिम भारत के लोकायत देवता हैं जिनका जन्म रामावतार से बहुत पहले हुआ था । भारत की आदिम धर्म-साधना भयाश्रित थी और वह वीर (बरम), यक्ष आदि अपदेवताओं को परम शक्तिधर मानकर उनकी पूजा किया करती थी । 'आदि हनुमान' की उपासना भी 'वीर' या 'बरम' के रूप में ही की जाती थी । उत्तर भारत के लोकजीवन में आज भी 'वीर' या 'बरम' की उपासना अपदेवता के रूप में ही की जाती है । पवन-पुत्र हनुमान तो बहुत बाद में पैदा हुए । उनके अतुलित बल और प्रचण्ड पराक्रम में 'आदि हनुमान' की विशेषताएँ देखकर लोकमत ने उन्हें महावीर, महाबरम या प्रचण्ड बरम' कहना प्रारंभ कर दिया । आज भी पवन-पुत्र हनुमान की उपासना उसी पद्धति से होती

है जिस पद्धति से 'बरमथानों' या 'चैत्यों' की । दोनों को खड़ाऊँ, लंगोट, यज्ञोपवीत, ध्वजा और लड्डू अर्पित किये जाते हैं । हनुमान-विग्रह में तेल और सिन्दूर का लेप करना भी बरम-पूजा का ही अवशेष है । इस प्रकार स्पष्ट है कि राम-कथा में हनुमान का प्रवेश लोकायत पथ से ही हुआ है । लोक और वेद दोनों का बल पाकर ही आज हनुमान सभी देवताओं से अधिक लोकप्रिय और पूज्य हैं ।"

उन्होंने अभिमत दिया था कि 'हनुमान' शब्द की व्युत्पत्ति 'आणुमाल' से हुई है । चूंकि हनुमान दक्षिण भारतीय थे, अतः उनके नाम का मूल दक्षिण भारतीय द्रविड़ भाषाओं में ही ढूँढ़ना समीचीन होगा । तमिल भाषा में 'आणु' शब्द का अर्थ होता है 'पुरुष' और 'माल' का अर्थ होता है 'नायक', 'वीर' या 'योद्धा' । अतः 'आणुमाल' का अर्थ हुआ 'वीर पुरुष' या 'सेनापति' । 'आणुमाल' ही पहले 'हाणुमाल' बना, फिर 'हनुमान' । हनुमान शब्द के प्रचलित अर्थ 'टेढ़ी ठुड्डी वाला' की सटीकता पर उन्होंने सन्देह व्यक्त किया था ।

हनुमत् – कथा के सन्दर्भ में उन्होंने बताया था, "राम-रावण-युद्ध वस्तुतः देवासुर-संग्राम का मर्त्य संस्करण है । देवासुर-संग्राम में देवताओं के सेनापति थे स्वामी कार्तिकेय, तो राम-रावण युद्ध में राम के सेनापति थे हनुमान । कार्तिकेय और हनुमान, दोनों शंकर के पुत्र थे, दोनों आजीवन ब्रह्मचारी थे, और इसीलिये दोनों इतने तेजस्वी, प्रचण्ड तथा वीर्यवान थे । परन्तु लाओस और वियतनाम में राम-कथा के जो रूप प्रचलित है उनमें हनुमान घरबारी हैं । एक जगह वे वानरराज सुग्रीव की दो पुत्रियों के पति हैं तो दूसरी जगह रावणभगिनी शूर्पणखा के जामाता ।" हनुमत्-कथा की गवेषणा में कुबेरनाथ राय की अद्भुत प्रतिभा और अगाध पांडित्य को देखकर लोग दंग रह गये थे ।

व्याख्यान के सम्पन्न हो जाने पर प्राचार्य-कक्ष में उन्होंने मुझसे कहा था, "हनुमान के ऊपर व्याख्यान मैंने इसलिये तैयार किया था क्योंकि मुझे पता था कि आप हनुमान जी के अनन्य भक्त हैं । फिर कुछ रुक कर विनोद की मुद्रा में वे बोले थे, "और सच पूछिए तो आज मैंने जो कुछ कहा है, बरमेश्वर जी के ऊपर ही कहा है । हनुमान अर्थात् महावीर अर्थात् महाबरम अर्थात् बरमेश्वर ।" उनकी इस बात पर बहुत जोरों का ठहाका लगा था । व्याख्यान के निमित्त उनसे आग्रह करने के लिये मैं और बरमेश्वर जी साथ-साथ उनके गांव गये थे, अतः कैसे दोनों को एक ही साथ साध लिया था उन्होंने उक्त बातें कहकर. यह लक्ष्य करने योग्य है ।

मैंने विद्यालय की पत्रिका ' सोमरस' की एक प्रति उन्हें समर्पित की । उलट-पलट कर देखने के बाद उन्होंने कहा, "सोमरस का मुखपृष्ठ इसके नाम के अनुरूप नहीं है ।" उन्होंने आगे बताया था, "वैदिक ग्रंथों में जिस 'सोमलता' का

वर्णन आया है उसमें अधिकतम पन्द्रह पत्तियां होती हैं । शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को इसमें एक पत्ती निकलती है और चन्द्रमा की प्रत्येक कला के साथ, द्वितीया से पूर्णिमा तक प्रत्येक दिन एक-एक पत्ती की वृद्धि होती जाती है । इस तरह प्रत्येक पूर्णिमा को पत्तियों की कुल संख्या पन्द्रह हो जाती है । कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से पत्तियों की संख्या पूर्वोक्त क्रम के विपरीत एक-एक करके कम होती जाती है और अमावस्या को सोमलता पत्र विहीन हो जाती है ।" अन्त में उन्होंने सलाह दी थी,"अपनी पत्रिका 'सोमरस' के मुखपृष्ठ के लिये आप एक ऐसा चित्र वनवाइये जिसमें पन्द्रह पत्तियों से युक्त एक सोमलता हो । उसके ऊपर अपनी संपूर्ण कलाएं बिखेरता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा हो जिससे अमृत की बूँदे (सोम-रस) टपक रही हों । नीचे योगस्थ मुद्रा में आसन लगाए एक वटुक का चित्र हो जिसकी अंजलिवद्ध हथेलियों में चन्द्रमा से झरने वाली अमृत की बूँदे टपक रही हों । वहीं कहीं लिखा हो'मधुवाता ऋतायते' ।" मेरे और इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद के लिये यह एक ऐसी उपलब्धि थी जिसका कोई मूल्य नहीं निर्धारित किया जा सकता । 'सोमरस' के अगले अंक से पहले ऐसा चित्र तैयार करा लिया गया था और आज भी वही चित्र छपता है । कुछ न्यूनताएँ अवश्य रह गयी थीं उसमें ।

1986 में कुबेरनाथ राय स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय, गाजीपुर के प्राचार्य नियुक्त हुए और महाविद्यालय-परिसर में ही रहने लगे । मैं तो गाजीपुर में रहता ही था । अतः उनके सान्निध्य-सुख का मुझे सहज ही अवसर मिल गया । मैं प्रायः उनके निवास पर जाता और साहित्य-चर्चा का आनंद लेता । इस क्रम में मेरे प्रति उनका आत्मीय-भाव बहुत बढ़ गया । इसका प्रमाण यह है कि जो कुबेरनाथ राय लाख अनुनय-विनय करने पर भी जीवन-पर्यन्त किसी साहित्यिक आयोजन-समारोह में नहीं गये[1], वही मेरे अनुरोध पर इण्टर कालेज मुहम्मदाबाद दूसरी बार आये, उसके स्वर्ण जयन्ती समारोह में । यह मेरे लिये कम गौरव की बात नहीं है । अपने अध्यक्षीय भाषण के प्रारंभ में उन्होंने कहा था "प्राचार्य डॉ. अवध बिहारी राय ने जब मुझे इस सभा की अध्यक्षता करने को कहा तो मैं आश्चर्यचकित – सा रह गया । वैसे ही मैं धूपदीप और पुष्पमाल से घबराने वाला आदमी हूँ, और जहां इस संकोच में अपनी अयोग्यता का बोध भी जुड़ा हो, वहाँ तो और घवराने वाली वात हो जाती है । - - - - - - -- -प्राचार्य महोदय मेरे घनिष्ट मित्र हैं । उनके आग्रह को टालना भी मेरे लिये संभव नहीं था, अतः अपनी सीमाओं को जानते हुए भी

1. हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद द्वारा आयोजित 'कुबेरनाथ राय व्याख्यानमाला' इसका अपवाद है ।

आपके समक्ष उपस्थित हूँ ।"[2] उस ज्योतिपुरुष का मित्र होने की योग्यता मुझमें कहाँ थी ? अपनी अतिशय विनयशीलता में ही वे ऐसा कह गये थे । हाँ, मैं उनका प्रीति-पात्र अवश्य था ।

अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में उन्होंने शिक्षा के स्वरूप, उसके उद्देश्य, भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षा-दर्शन, भारतीय शिक्षा की खामियों, नई शिक्षा-नीति की निरर्थकता, शिक्षा-माध्यम को लेकर चल रहे भयंकर कपटाचार एवं माध्यमिक विद्यालयों के समक्ष उपस्थित शिक्षा-सम्बन्धी चुनौतियों की गहन मीमांसा की । उस अभिभाषण में उन्होंने समूचे शिक्षादर्शन को ही निचोड़ कर रख दिया था । 'शिक्षा के उद्देश्य' पर अपने मौलिक विचार प्रस्तुत करते हुए उन्होंने कहा था –"शिक्षा का उद्‌देश्य है व्यक्ति की बीजरूप प्रतिभा को प्रस्फुटित करके उसे पुनर्जन्म देना, द्विजत्व देना"[3] - - - - - - - - "शिक्षा का असली उद्‌देश्य है व्यक्ति की अन्तर्निहित अद्वितीयता अर्थात विशिष्टता को सामाजिक पूर्णता के साथ जोड़ना । एक समाज में सब कुछ चाहिए । किसान, बढ़ई, लोहार, चमार से लेकर कारीगर, क्लर्क, व्यापारी, डाक्टर, इंजिनियर, कवि, लेखक, पत्रकार तक । इन हजार-हजार शिरों के मिलने से एक शेषनाग बनता है जिसे समाज कहते है–"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' समाज । इसके सारे शिरों की सही-सही संरचना के लिये एक आधारभूत प्रशिक्षण चाहिए ।"[4]

30 जून, 1995 को कुबेरनाथ राय सेवा-निवृत्त होने वाले थे । उस समय सहजानन्द सरस्वती महाविद्यालय की प्रबन्ध-समिति का मैं भी एक सदस्य था । आज भी हूँ । प्रबन्धतन्त्र चाहता था कि कुबेरनाथ जी कुछ दिन और प्राचार्य के रूप में महाविद्यालय को गौरवान्वित करें । 30 जून को प्रबन्ध-समिति की बैठक होने वाली थी । उससे एक सप्ताह पहले मुझे उनका एक पत्र मिला । लिखा था, "आगामी 30 जून को मैं सेवानिवृत्त हो रहा हूं । प्रबन्ध-तन्त्र चाहता है कि कुछ दिन और मैं अपने पद पर कार्य करता रहूँ । आपसे अनुरोध है कि 30 जून को होने वाली बैठक में आप अवश्य उपस्थित रहें और सेवामुक्त होने में मेरी सहायता करें । मुझे लोमश-मार्कण्डेय की आयु नहीं प्राप्त है । मुझे अपने अधूरे प्रोजेक्ट पूरे करने हैं ।" अपने लेखन के प्रति कितने सजग और समर्पित थे वे ?

अनेक ऐसी स्मृतियाँ सुरक्षित हैं मेरे मानस में जो मुझे निरन्तर झकझोर रहीं है । किन-किन को शब्दबद्ध करूँ ? सबको लिखने लगूं तो एक अच्छा-खासा ग्रन्थ तैयार हो जायेगा । वे भारतीय वाङ्मय की आभिजात्य परंपरा के लेखक थे । अपने गंभीर

---

2. इण्टर कालेज, मुहम्मदाबाद की पत्रिका 'सोमरस' का स्वर्णजयन्ती विशेषांक, पृष्ठ : 193
3. वही, पृष्ठः 194
4. वहीं, पृष्ठः 198

लेखन से उन्होंने व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, तुलसीदास और रवीन्द्रनाथ की परंपरा में अपने को पंक्तिबद्ध कर लिया था। उनकी प्रतिभा जितनी विलक्षण थी, अध्ययन उतना ही विराट्। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के तो वे प्रकाण्ड विद्वान थे ही, बँगला, उड़िया, असमिया, तमिल, आदि भारतीय तथा अरवी, फारसी, फ्रेंच आदि विदेशी भाषा-साहित्य में भी उनकी अबाध गति थी। उनका संपूर्ण साहित्य पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देने के उद्देश्य से लिखा गया है। जिस प्रकार तपती और संवरण के तेजस्वी पुत्र महाराज कुरु ने हिमालय के प्लक्षवन से निकली सरस्वती नदी की तटवर्ती भूमि को रुद्र के वृषभ (धर्म) और यम के महिष (संयम) की सहायता से सोने के हल से जोत कर और उसमें धर्म के बीज डालकर कामनाओं की खेती की थी, उसी प्रकार कुबेरनाथ राय ने भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य एवं चिन्तन के खेत को धर्म और संयम का आश्रय लेकर अपनी प्रज्ञा के हल से पहले खूब कर्षित किया और फिर उसमें धर्म के आठों अंगों–तप, सत्य, क्षमा, दया, शौच, दान, योग तथा ब्रह्मचर्य के बीज डालकर अपने मनोरथों की खेती की। उनका समग्र साहित्य धर्मबुद्धि अर्थात् क्षमा, दया, तप, अपरिग्रह, सत्य, सहिष्णुता आदि शील के प्रतिष्ठापक गुणों की प्रेरणा से 'स्थित धी' की मनोभूमि में लिखा गया है, फलतः साहत्य-धर्म से वे कहीं भी क्षरित नहीं होने पाये हैं।

भारत और भारतीयता कुबेरनाथ राय के लेखन की केन्द्रीय धुरी है। 'रसआखेटक' की भूमिका में उन्होंने लिखा है' इन निबंधों को लिखते समय मुझे सदैव अनुभव होता रहाः 'अहं भारतोऽस्मि'। 'अहं भारतोऽस्मि' अर्थात्' मैं भारत हूँ।' सचमुच, भारत के तपःपूत व्यक्तित्व की संपूर्ण पहचान थे कुबेरनाथ राय। उस व्यक्तित्व की नहीं जो भारत के मृण्मय उपादानों–नदी, वन पर्वत, समुद्र और मैदानों में अभिव्यक्त होता है, बल्कि उस व्यक्तित्व की जो "ईरान-मिश्र-रोमां" के मिट जाने के बाद भी नहीं मिटा। वह व्यक्तित्व है भारत का 'चिन्मय व्यक्तित्व, जिसे राष्ट्रकवि दिनकर ने 'अदृश्य गन्ध-निकेतन' कहा है। जिन. शब्दों में दिनकर जी ने 'चिन्मय भारत' की अलौकिक विशिष्टताओं को रेखांकित करते हुए उसकी वन्दना की है, उन्ही शब्दों को 'चिन्मय कुबेरनाथ राय' को समर्पित करते हुए मैं उन्हें अपनी प्रणति निवेदित करता हूं :

"तू वह, नर ने जिसे बहुत ऊँचा चढ़कर पाया था,
तू वह, जो सन्देश भूमि को अम्बर से आया था,
तू वह, जिसका ध्यान आज भी मन सुरभित करता है
थकी हुई आत्मा में उड़ने की उमंग भरता है,
गन्ध-निकेतन इस अदृश्य उपवन को नमन करूँ मैं।"

●

साक्षात्कार

'निबन्ध का उद्देश्य पाठकों के बौद्धिक क्षितिज का विस्तार करना है'

(यशस्वी निबंधकार कुबेरनाथ राय से एक बातचीत)

डॉ. मान्धाता 'राय'

हिन्दी-साहित्य के प्रख्यात निबन्धकार श्री कुबेरनाथराय, की यशस्वी कृति 'किरात नदी में चन्द्र मधु' को उत्तर प्रदेश सरकार ने 1983 में प्रकाशित निबंधों की पुस्तकों में श्रेष्ठतम कृति मानकर उन्हें 'आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी' पुरस्कार से सम्मानित किया। उस अवसर पर लेखक से मैंने कुछ बात की जो यहाँ प्रस्तुत है।

–कुछ आलोचकों ने आपकी पहली कृति 'प्रिया नीलकण्ठी' को और कुछ ने 'निषाद बांसुरी' को आपकी सर्वोत्तम कृति माना है। इस सम्बन्ध में आपको क्या कहना है ?

–'प्रिया नीलकण्ठी' मेरी प्रारंभिक रचना है। 'निषाद बांसुरी' में अभिव्यक्ति और विस्तार दोनों दृष्टि से परिपक्वता है। इसका अपना निजी व्यक्तित्व है। प्रकारान्तर से यह हमारी पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक-संस्कृति का व्यक्तित्व है।

–'किरात नदी में चन्द्र मधु' में 'अपनी बात' शीर्षक में आपने इस पुस्तक के निबन्धों को 'प्रिया नीलकण्ठी' और 'पर्ण मुकुट' से भिन्न प्रकृति का बतलाया है। यह भिन्नता किस रूप में हैं ?

–यह भिन्नता विषय के विस्तार को लेकर है। 'प्रिया नीलकण्ठी' से 'पर्ण मुकुट' तक मैं लालित्य से विशेष रूप से जुड़ा रहा परन्तु विषय सामान्य थे जबकि इसके निबन्धों का विषय विशिष्ट है और निबन्ध के भीतर मैंने इतिहास-बोध की नवीनतम दिशा नृतत्व शास्त्र को स्थापित करने की चेष्टा की है।

–'निषाद बांसुरी', 'मन पवन की नौका' और 'किरात नदी में चन्द्रमधु' को कुछ आलोचकों नें सांस्कृतिक निबन्ध कहा है। इन्हें ललित निबन्ध किस आधार पर माना जाय ?

–ललित निबन्ध के विषय की कोई सीमा नहीं होती है। कला-संस्कृति से लेकर नृतत्व शास्त्र तक सब कुछ उसके भीतर आ जाता है। किसी बौद्धिक विषय को रोचक भंगिमा में प्रस्तुत करने पर वह ललित निबन्ध हो जाता है। सांस्कृतिक निबन्ध इसकी एक कोटि मात्र हो सकती है।

–'ललित निबन्ध' और 'गद्य-काव्य' में भिन्नता कहकर आपने इन निबन्धों को ललित निबन्ध कहा है । यह अन्तर आप किस रूप में मानते हैं ?

–निबन्ध का मौलिक उद्देश्य चाहे वह ललित निबन्ध ही क्यों न हो, पाठकों की मानसिक ऋद्धि अर्थात् उनके बौद्धिक क्षितिज कां विस्तार करना है । गद्य काव्य में मात्र रोचकता होती है । उनमें संकल्पतत्व और विचारतत्व के लिए कम जगह है । उसकी भूमिका भाव पर ही समाप्त हो जाती है ।

– ललित निबन्ध में किन तत्वों को आप आवश्यक मानते हैं ?

–ललित निबन्ध में रस तत्व आवश्यक है अन्यथा वह रचना ललित निबन्ध नहीं रह जायेगी । परन्तु रस बौद्धिकता से जुड़कर आना चाहिए । इसके बाद बात आती है भंगिमा की । ललित निबन्ध की भंगिमा में लेखक व पाठकों के बीच एक सहज आत्मीयता होनी चाहिए । वह फतवा दे सकता है परन्तु एक बन्धु की शैली में । गंभीर उपदेशात्मक भंगिमा ललित निबन्ध में वर्जित है । अंग्रेजी के प्रसिद्ध, व्यक्तिपरक निबन्धकार चार्ल्स लैम्ब ने इसकी एक बड़ी दिलचस्प परिभाषा दी है 'Personal Essay is the table talk of a scholar after fourth glass in a dinner'. ललित निबन्धकार के लिए आवश्यक है कि उसके चित्त, गुण या मानसिक-बौद्धिक क्षितिज विस्तृत हों । जितना ही यह विस्तृत होगा उतना ही वह सबल ललित निबन्धकार होगा ।

–आपने इस पुस्तक के निबन्धों का उद्देश्य भारतीय संस्कृति में आर्येत्तर तत्वों की महिमा का उद्‌घाटन बताया है । क्या आप ऐसा मानते हैं कि भारतीय संस्कृति का अधिकांशतः आर्येतर है जिसे आर्यों ने अपनाकर उस पर अपनी छाप लगा दी है ?

–'छाप' शब्द उपनिवेशवादी है । इसे छाप न कहकर हम यों कहें कि आर्य और आर्येतर ने एक दूसरे को रूपान्तरित करके भारतीयता की एक नयी सत्ता उत्पन्न की जो न तो विशुद्ध आर्य है न विशुद्ध आर्येतर । इसी प्रक्रिया को इतिहासकारों ने महा समन्वय या ग्रैण्डसिन्थेसिस कहा है । इसका सर्वोत्तम प्रतीक है अपने कालेज के सामने बहने वाली, गंगा नदी । भारतीय आर्य खूंखार साम्राज्यवादी (नार्डिक) आर्य से भिन्न और सौम्यतर हैं । यही बात भारतीय किरात के लिए भी कही जा सकती है । भाषा-विज्ञान में किरातों की दो श्रेणी ही मानी जाती है– १. भोट किरात या तिब्बती मंगलायट अथवा भारतीय किरात २. चीनी किरात अथवा साइनो मंगला– यट । इसीसे इसको छाप नहीं कह सकते । छाप डालने की कोशिश की थी इस्लाम ने या छाप डालने की कोशिश कर रहा है अमेरिका । छाप डालना एक यांत्रिक प्रक्रिया है जब कि भारतीय इतिहास की समन्वय परंपरा कहीं अधिक मौलिक परिवर्तन है ।

–हिन्दी निवन्ध को जो आपने नयी दिशा दी है उसकी प्रेरणा आपको कहाँ से मिली है ?

–वैसे तो समस्त गद्य साहित्य की प्रेरणा पश्चिम से आयी है –खासकर निवन्ध की । मैं अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी रहा । चार्ल्स लैम्ब, अल्डस हक्सले और लिटन स्ट्रैची के गद्य की भंगिमा से शुरू में प्रभावित था । भारतीय लेखकों में रवीन्द्रनाथ का गद्य ललित भंगिमा के अनुकूल पड़ता है । आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी से हमारी पूरी पीढ़ी प्रभावित रही है, उसमें मैं भी हूँ । परन्तु यह विधा स्पष्टतः पश्चिम से आयी है और मुझे विधागत प्रेरणा वहीं से मिली है । हिन्दी में राजा शिवप्रसाद का 'राजाभोज का सपना' या बालमुकुन्द गुप्त का 'शिवशंभु का चिट्ठा' जैसी चीजें पहले से ही थीं । इतना होते हुए भी इसे मैं मानता हूँ कि आधुनिक हिन्दी गद्य में इस विधा के द्रोणाचार्य पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी ही हैं । यों वे न होते तो भी मैं ललित निबन्ध ही लिखता और बहुत कुछ जैसा लिखता हूँ वैसा ही लिखता ।

–मेरे प्रश्न का अभिप्राय था कि आपने 'निषाद बाँसुरी' से जो एक दिशा वदली उसकी प्रेरणा कहां से मिली ?

– इस दिशा-प्रवर्तन का स्फुरण मेरे अन्दर स्वतः हुआ । परन्तु इसकी पृष्ठभूमि में मेरा असम प्रवास तथा तुलनात्मक भाषा-विज्ञान एवं इतिहास की ओर रुझान है । मैंने भारतवर्ष को नये सिरे से पहचानने की चेष्टा की और उस चेष्टा का ललित रूपान्तर मैंने किया ललित निबन्धों में । असम की कैरात लोकसंस्कृति एवं कुछ भाषाविदों यथा डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के इस दिशा में लेखन से मुझे दिशा-परिवर्तन करने की उत्तेजना मिली । प्रेरणा की जगह मैं जानबूझकर उत्तेजना शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ ।

– पुरस्कृत कृति 'किरात नदी में चन्द्रमधु' की विशिष्टताओं के संबंध में संक्षेप में कुछ बताना चाहेंगे ?

– जैसा पहले कहा है यह भी उसी दिशा-परिवर्तन की एक कड़ी है । 'निषाद बांसुरी' और 'मन पवन की नौका' मूलतः भारतवर्ष की संस्कृति, भाषा और लोकजीवन में विद्यमान आस्ट्रिक यानी निषाद या मालय तत्वों से जुड़ी कृतियां हैं तो 'किरात नदी में चन्द्रमधु' भारत विशेषतः पूर्वी भारत में जीवन्त रूप से वर्तमान किरात परंपराओं से जुड़ी है । जैसे असम में कामाख्या पूजा इस किरात परंपरा से उपजी है जिसका भारतीय आगम के माध्यम से आर्यीकरण कर लिया गया है । इस पर भी एक निबन्ध है परन्तु असम के प्रतिनिधि धर्म वैष्णव धर्म पर इसमें कोई निबन्ध नहीं है । वह इसलिए कि वैष्णवता नव्य आर्य का अधिक प्रतिनिधित्व करती है बनिस्वत आर्येतर के । वैसे इस कृति में किरात–विश्व के एकमात्र महाकाव्य 'केशर गाथा' की चर्चा है । इसे मैं इसकी एक विशिष्टता मानता हूँ केवल विषय की दृष्टि से । ललित निबन्ध की दृष्टि से 'गैंडा और चन्द्रमधु' अथवा 'नौ अक्षरों की विभा' आदि इससे श्रेष्ठतर निबन्ध हैं ।

प्रश्न– आपके निवन्धों को कुछ लोग क्लिष्ट कहते हैं । इस सम्बन्ध में आपको क्या कहना है ?

उत्तर– क्लिष्टता की बात उठायी जाती है परन्तु सही अभिव्यक्ति की दृष्टि से क्लिष्ट और सरल दो भ्रामक कोटियां है । अभिव्यक्ति सही होनी चाहिये, बस । यही उचित कसौटी है । क्लिष्टता का प्रश्न कभी निराला और प्रसाद के वारे में भी उठाया गया था लेकिन जब पाठकों का बौद्धिक मानदंड ऊंचा हो गया तो आज कोई नहीं कहता कि पंत का 'गुंजन' बहुत कठिन है या निराला की कविता और प्रसाद की कामायनी कठिन है । द्विवेदी युग के मानसिक विकास के परिवेश में यह कठिन नहीं रहा । हम यह क्यों मानकर चलें कि हिन्दी-पाठक और शताब्दियों तक आने वाला उत्तर काल इसी बौद्धिक परिपक्वता पर समाप्त हो जायेगा जो गुलशन नन्दा, राजू या बंबइया फिल्म की बौद्धिकता है । जो आज कठिन है वह उत्तरकालीन पाठक के लिए कठिन नहीं रहेगा हम ऐसे आशावादी हैं । सच तो यह है कि आज दिन-पर-दिन हिन्दी-पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार सीमित होता जा रहा है । आज के इस परिवेश में उनको ही साहित्य की कसौटी मानकर क्यों चलें ? मैनें जो कुछ किया है, जैसा भी लिखा है वह सकारण है । उदाहरण के लिये एक वाक्य लीजिए । मैं लिखता हूँ 'मैंने नदी की ओर अनिमेष लोचन-दृष्टि से देखा ।' अब कोई कहे कि 'मैंने नदी की ओर एकटक देखा' से भी तो काम चल जायेगा। किन्तु मेरा काम इससे नहीं चलेगा । मेरा काम इससे भी नहीं चलेगा कि 'मैंने नदी को अनिमेष-दृष्टि से देखा।' हमें लिखना होगा 'अनिमेष लोचन दृष्टि ।' अनिमेष लोचन दृष्टि बौद्ध-साहित्य से आता है । कहते हैं कि गौतम बुद्ध थके-हारे मानसिक रूप से पराजित पहले पहल बोधि वृक्ष के सम्मुख उपस्थित हुए तो उन्हें लगा कि यही वृक्ष उनका परम आश्रय और परम समाधान है । यहीं पर सारी पीड़ाओं का समाधान होगा और तब जिस दृष्टि से उन्होंने वृक्ष को देखा उसे कहा गया 'अनिमेष लोचन दृष्टि' । बोधगया में गौतम बुद्ध के वज्रासन के सम्मुख एक छोटा मंदिर है जिसका नाम है अनिमेष लोचन मंदिर । तो जिस दृष्टि की मैं बात कह रहा हूँ उसका सही ढंग से निष्पादन केवल अनिमेष लोचन दृष्टि कहकर ही किया जा सकता है । मैंने एक उदाहरण दिया इससे मेरे तात्पर्य पर प्रकाश पड़ता है । साफ बात तो यह है कि मैं लेखक हूँ, मेरा काम है हिन्दी में वर्तमान और अनागत पाठकों के मानसिक क्षितिज का विस्तार और इस दृष्टि से जो मैंने किया है उसे मैं सही मानता हूँ । हिन्दी वाले कुछ पढ़ें ही न तो उसके लिये मैं क्या करूँ ? मैं तो यह मानकर लिख रहा हूँ कि मेरी कृतियाँ हिन्दी और उससे बाहर सारा भारत पढ़ेगा । अखिल भारतीय दृष्टि से मेरी भाषा ही सही भाषा है, ऐसा मुझे विश्वास है ।

(वीणा, मई, १९८७)

●

निबन्धकार कुबेरनाथ राय से हारुन रशीद खान की बातचीत

—ललित निबंध के विषय में आपकी क्या धारणा है? इस नाम से कौन सी चीज व्यक्त होती है ?

—मैंने 'दृष्टि अभिसार' की भूमिका में ललित निबंध को ऐसा निबंध बताया है जो एक ही साथ, अलग-अलग नहीं, बल्कि संश्लिष्ट रूपमें काव्य और शास्त्र दोनों हो अर्थात् संवेदना का लालित्य और बुद्धि का चिन्तन दोनों हो । 'ललित' इसका विशेषण मात्र है । है तो वह निबन्ध ही । अतः चिन्तन तत्व को पूर्णतः निरस्त नहीं किया जा सकता । असल बात भंगिमा को लेकर है । ललित और निबन्ध सखा और बन्धु की भंगिमा में कहलाता है और शुद्ध निबंधकार में गुरु, अध्यापक या रिर्पोटर की भंगिमा में होती है । ललित निबंध के पीछे जैसा कि नाम से स्पष्ट है लालित्य रहना चाहिए । लालित्य की कोई सर्वाङ्ग पूर्ण परिभाषा नहीं बन सकती । पर एक मुख्य गुण यह है कि यह मन को सम्मोहित करता है । सम्मोहन भी आवश्यक नहीं कि सर्वदा सुन्दर का ही सम्मोहन हो, क्योंकि वीभत्स, हास्य और क्रोध भी रस ही माने जाते हैं । ललित में उनका भी स्थान है । वीर हनुमान और कुम्भकर्ण में भी एक खास किस्म का लालित्य है जो आनन्द का स्रोत बनता है । शेक्सपीयर का 'इयागो' या 'शाईलॉक' भी अपने में साहित्य की दृष्टि से सुन्दर हैं । यह लालित्य एक संस्कारी चित्त की अपेक्षा करता है जो उसकी सही-सही अनुभूति कर सके । इसी से मैंने 'रस आखेटक' के कुछ निबन्धों को 'क्रुद्ध' ललित कहा था ।

—क्या कारण है कि पूर्वी उत्तर प्रदेश में ही ललित निबन्ध लिखने वाले लोग हैं ? जैसे हजारी प्रसाद द्विवेदी, पंडित विद्यानिवास मिश्र, श्री कुबेरनाथ राय, डॉ. शिवप्रसाद सिंह, डॉ. विवेकी राय, ठाकुर प्रसाद सिंह आदि ?

—ललित निबंध को तो कहीं का आदमी लिख सकता है । इसमें प्रादेशिकता का कोई प्रश्न नहीं उठता । हिन्दी साहित्य में पूर्वी उत्तर प्रदेश का कोटा पश्चिम से हर विधा में बड़ा है । पूर्वी उत्तर प्रदेश या म. प्र. अथवा बिहार मानसिक रूप से समृद्ध हैं । इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रमुख रचनात्मक केन्द्र काशी रहा है । खड़ी बोली और कौर (कुरु) भाषा है । कुरु प्रदेश के लेखक और कवि कम आये । वैसे इधर तो काफी लोग उधर के ही हैं ।

लेकिन उनकी भाषा और संवेदना दोनों में ही शहरी बोध अधिक है । उनका केन्द्र दिल्ली है । खड़ी बोली दरबार और शहर में पली है । वहाँ का लोकर जीवन इसका स्पर्श नहीं कर पाया है । बिना लोक सस्कृति से संश्लिष्ट हुए संवेदना ठीक अभिव्यक्ति नहीं पाती । तो भी, इस विषय में कोई सरलीकरण नहीं किया जा सकता ।

–क्या यह सही है कि ललित निबंध की विधा को पुराने ललित निबंध लेखक 'मरी हुई बंदरिया' के बच्चे की तरह भीतर चिपकाए हुए हैं ?

–कुछ वर्ष पहले प्रचार किया जा रहा था कि 'महाकाव्य; मुर्दा हो चुका है तो भी महाकाव्य लिखे जा रहे थे । और हिन्दी में तो अच्छे महाकाव्य लिखे गये हैं । यही फतवा वृहद् उपन्यासों के बारे में भी सन् तीस के बाद से ही पश्चिम में दिया जाने लगा । परन्तु पश्चिम में ही नोबेल प्राइज से सम्मानित वृहत् उपन्यास लिखे गये, जैसे टामसमान के उपन्यास । यही नहीं ऐतिहासिक थीम का महाभारत शैली में तीन-चार पीढ़ियों तक की गाथा का विकास करने वाले उपन्यास महायुद्ध के बाद में लिखे गये हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि कोई विधा मृत नहीं होती । उसके भीतर भंगिमागत प्रयोग चलते हैं । हाँ, समय के रुचि बोध में परिवर्तन होता है पेण्डुलम की तरह । कभी साहित्य का मौसम बुद्धि प्रधान है । इसीलिए भाव प्रधान सारी विधाएँ ललित निबंध, गीतकाव्य, महाकाव्य आदि जड़िमाग्रस्त लगती हैं । परन्तु बदलती अपेक्षाओं के कारण भविष्य में रुचि परिवर्तन होगा । और ये ही विधाएँ नई भंगिमा धारण करके पुनः जन्म ले लेंगी ।

–आपकी प्रारंभिक पुस्तकों जैसे 'निषाद बाँसुरी', 'प्रिया नीलकण्ठी'में तो शुद्ध ललित निबंध दिखाई पड़ते हैं लेकिन इधर की रचनाओं - जैसे 'कामधेनु', 'मराल' 'उत्तर कुरु' में ललित निबंध की जगह गंभीर निबंध दिखाई पड़ते हैं, इसके बारे में आपको क्या कहना है ?

–पहली बात तो यह है कि लेखक स्वयं 'भवति' की अवस्था में रहता है । 'रस आखेटकट, लिखते समय तो केवल लालित्य था । रस को छोड़कर और कोई उद्देश्य मन में नहीं था । 'निषाद बांसुरी' लिखते समय एक खास किस्म के उद्देश्य का प्रवेश हुआ । 'महाकवि की तर्जनी' लिखते समय दूसरे किस्म का । इन निबंधों की विषय वस्तु ऐसी है कि चिन्तन प्रधान स्वर अनिवार्य आवश्यकता हो जाती है और लालित्य विषय के भीतर नहीं बल्कि भंगिमा के भीतर ही सीमित रह जाता है । यह अधिक परिपक्व खरादा हुआ और धनीभूत हो गया है । फूल सुन्दर होता है, फल नहीं । फल का रस सौन्दर्य में नहीं स्वाद में है । जो लोग ललित को सतही रूप में लेते है यानी ललित माने सुन्दर मात्र । उनकी दृष्टि से इधर के निबंधों में

ललित्य कम है । परन्तु ललित्य की परिपक्व अवस्था में बोध ही ललित्य का रूप ले लेता है । जैसे उपनिषद् , गीता की कुछ पंक्तियाँ , कुरान शरीफ की कुछ आयतें ; बाइबिल के कुछ अंश ।

–क्या आप बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र या भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को भी ललित निबंधकार मानते हैं ?

–इनके निबंधों में यत्र-तत्र (प्रतापनारायण मिश्र में तो कुछ अधिक ही) व्यक्ति-व्यंजकता आ गई है । अतः ये ललित निबंधकार तो नहीं है परन्तु इनमें ललित के कुछ तत्व आ गये हैं । वस्तुतः हिन्दी पाठकों में ललित निबंध के बारे में कुछ गलतफहमियाँ हैं । व्यक्तिव्यंजकता या कथनभंगिमा का बन्धुत्व या सख्य-प्रधान टोन उसकी शैली का अंग हैं । परन्तु मात्र इतने से ही ललित निबंध नहीं बन पाता है । उसके भीतर काव्य की सरस्वती प्रतिष्ठित होनी चाहिये । सही देखने का ढंग यह होगा कि ललित निबंध दो प्रकार के होते हैं । प्रथम जर्नलिस्टिक या सांवादिक और द्वितीय साहित्यिक प्रथम का सर्वाङ्गपूर्ण उदाहरण बालमुकुन्द गुप्त का 'शिव शम्भू के चिट्ठे है, दूसरे का उदाहरण हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल' है। मैं स्वयं अथवा मेरे पूर्ववर्ती द्विवेदी जी या पंडित विद्यानिवास मिश्र या डॉ. शिवप्रसाद सिंह आदि दूसरे कोटि में आते हैं जबकि पहली कोटि में विवेकी राय, हरिशंकर परसाई और रामनाराण उपाधायाय जैसे प्रतिष्ठित लेखक हैं, जिनकी व्यंजना में व्यंग्य या हास्य का प्राधान्य रहता है । इन दोनों कोटियों को अलग-अलग पहचान लेने पर बहुत सी बातें साफ हो जाती हैं । भट्ट जी के निबंध, जहाँ तक मेरा ख्याल है, विचार प्रधान ही हैं । उनका स्वर नैतिक है । प्रतापनारायण मिश्र में हास्य व्यंग्य अवश्य है । भारतेन्दु में दोनों तत्व पाये जाते हैं । लेखक तो किसी खास ढाँचे से बँधा चलता नहीं । उसकी अनुभूति और बोध जो रूप लेकर उतर जाय । शर्त यही है कि पढ़ने वाले को वह रूप असहज न लगे ।

●

ज्ञान और संवेदना का समन्वय है ललित निबन्ध

कुबेरनाथ राय से सुरेश शर्मा की बातचीत

गाजीपुर का प्रसंग चलते ही राही मासूम रजा के साथ ही कुबेरनाथ राय भी याद आते हैं । कुबेरनाथ राय के ललित लेखन का स्रोत भारतीय वाङ्मय केसाथ ही उनका गांव देहात भी है । यही उनकी 'देशी प्रज्ञा' की जमीन है जिसमें तत्सम की ऊँचाइयों के साथ ही तद्भव की गहराइयाँ भी हैं ।

'मूर्तिदेवी पुरस्कार' लेने जब दिल्ली आये तो उनसे भेंट हुई । उनसे बातचीत में एक किसान की सहजता और खुलापन मिला:

लेखन के आरम्भिक दिनों में किन निबन्धकारों ने आपको प्रेरित किया ?

मैं अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी था । इसलिए अंग्रेजी निबन्धकारों को पहले जानने का मौका मिला । चार्ल्स लैम्ब, हैजलीट, हक्सले और कामू ने मुझे एक साथ प्रभावित किया । उन्हीं दिनों हजारी प्रसाद द्विवेदी का 'अशोक के फूल' शीर्षक निबन्ध मैंने पढ़ा और मेरे सामने निबन्ध का नया संसार सामने आया । उन्हीं दिनों बाल मुकुंद गुप्त के 'शिव शम्भू के चिट्ठे' भी मैंने पढ़े । वह आंदोलित करने वाली पुस्तक थी । मैं उसे हिन्दी ललित निबन्ध की पहली पुस्तक मानता हूँ ।

भारतेन्दु युग के निबन्ध पाठकों से सीधे संवाद रखते हैं । बाद के दौर के निबंधों में यह संबादधर्मिता कम क्यों हो गई ?

हिंदी का अपना देशी खांटी रूप प्रताप नारायण मिश्र के निबन्धों में विकसित हो रहा था । लेकिन बीसवीं सदी तक आते-आते हिन्दी गद्य पर बंगला का प्रभाव बड़े पैमाने पर पड़ा। आचार्य द्विवेदी की तत्सम बहुलता पर इसका प्रभाव सहज ही देखा जा सकता है । आचार्य शुक्ल का गद्य भी बंगला की तत्समता से प्रभावित है । उसमें एक खास बनारसी रंग भी मिला हुआ है, जिससे एक नयी हिन्दी सामने आती दिखाई देती है । मुझे अपनी भाषिक संस्कृति का आदर्श तुलसीदास के 'रामचरित मानस' में मिला है । तुलसी की भाषा अवधी होते हुए भी शुद्ध अवधी नहीं है । मेरा तात्पर्य उस तत्सम प्रधान अवधी से है जिसे जायसी ने प्रस्तुत किया है । तुलसी तद्भव के आवरण में भाषा की तत्सम संस्कृति से जुड़े हैं । उनकी अवधी अखिल भारतीय अवधी है, जिसे उन्होंने एक ओर संस्कृत की तत्समता से जोड़ा है तो दूसरी ओर हिन्दी प्रान्त की विभाषाओं से । इसी से उन्हें इतनी व्यापकता मिली । कबीर का यह सूत्र कि 'संसकिरित है कूप जल भाषा बहता नीर' अर्द्ध सत्य है । 'भाषा बहता नीर' तो ठीक है पर संस्कृत महज कूप जल नहीं हैं ।

संस्कृत हिमालय का हिमवाह है और आकाश का मेघ । यह जब पिघलती और बरसती है तभी भाषा की सरिता में नीर आता है । १९वीं सदी के अंत में बंगला की देखा-देखी हिन्दी ने भी यह रास्ता अपनाया और अपने भाषिक मूल यानी संस्कृत के बल पर ही वह पश्चिम के तीन सौ वर्षों की यात्रा को महज पचास वर्ष में पार कर गई ।

रही संवाद की बात तो रचना से संवाद के लिए पाठकों से भी कुछ क्षमता अर्जित करने की अपेक्षा गलत नहीं है ।

हिन्दी की निबन्ध परम्परा को आप किस तरह देखते हैं ?

काका कालेलकर ने मुझे एक बात बतायी थी कि किसी जाति या भाषा के आत्मिक तेज को जाँचना हो तो उसका काव्य पढ़ना चाहिये । अगर उसकी बौद्धिकता की परख करनी हो तो उसके निबन्ध का अध्ययन करना चाहिये । भाषा की जैसी बौद्धिक क्षमता होगी वैसा ही उसका निबन्ध होगा । राहुल सांकृत्यायन, वासुदेवशरण अग्रवाल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबन्ध हिन्दी भाषा की बौद्धिकता के प्रतिमान हैं । हजारी प्रसाद द्विवेदी तो आधुनिक ललित निबन्ध के आदिगुरु हैं । आचार्य द्विवेदी के साथ पंडित विद्यानिवास मिश्र मेरी पसंद के ललित निबन्धकार हैं ।

आपके निबन्धों में अक्सर अति गांभीर्य और गरिष्ठ चिंतन है । क्या सामान्य पाठकों की सापेक्षता में आप अपने लेखन को निर्धारित करना नहीं चाहते ?

सचेत भाव से तो मैं लिखता नहीं । असल में हर लेखक की एक आत्मिक प्रकृति होती है, जिसके आधार पर उसकी भाषिक संस्कृति भी बनती है । शेक्सपियर की कविता में जटिलता है । लेकिन यही उनकी शैली है । वहाँ कवि की अंतः प्रकृति के साथ भाषा एकाकार हो गई है । अपने अध्ययन काल में मेरा भाषा-संस्कार बना । यही स्वाभाविक है । उसे अगर दूसरों की सापेक्षता में मैं लिखूँ, तो वह कृत्रिम हो जायेगा । मेरे लेखन में वह बल नहीं आ पायेगा । दूसरी बात यह भी है कि विषय से भी भाषा निर्धारित होती है । लोगों की जानकारी के बाहर के दो तीन दर्जन से ज्यादा शब्द मैंने इस्तेमाल नहीं किये होंगे । ऐसा मैंने जब भी किया है, सकारण किया है ताकि अर्थ को सम्पूर्णता में संप्रेषित किया जा सके ।

निबन्ध लेखन का आपका उद्देश्य क्या रहा है?

मेरा उद्देश्य रहा है पाठक के चित्त को एक परिमार्जित भव्यता देना और साथ ही उसकी चित्त-ऋद्धि का विस्तार करना । निबन्ध की यह प्रमुख शर्त ही है । अन्यथा निबन्ध क्यों पढ़ा जायेगा ? 'आम आदमी' की भाषा में यह संभव नहीं । निबन्धकार अंतिम विश्लेषण में अध्यपक है । उसका काम है मन बुद्धि के आयामों को विस्तार देना – शब्दों और संदर्भों के माध्यम से । पाठक हिंदी के 'महाकोश' से परिचित होने की चेष्टा करें । हिन्दी का यह महाकोश (१) मूलतः संस्कृत की प्राचीन ऋद्धि और (२) लोक भाषाओं और प्रांतीय भाषाओं के शब्द और मुहावरों के प्रवेश से संभव है । तभी हिन्दी राष्ट्र भाषा बनेगी ।

ललित निबन्ध अन्य साहित्यिक विधाओं से किस तरह भिन्न है ?

राजशेखर ने वाङ्मय को शास्त्र और काव्य दो भागों में विभक्त किया है । ललित निबन्ध एक ही साथ और एक ही बिन्दु पर शास्त्र और काव्य दोनों है । यही इस विधा की निजता है ।

देश का वर्तमान माहौल आपको कैसा लगता है ?

वर्तमान माहौल अपसंस्कृति का है । इससे जुड़ा हर व्यक्ति अपने को विच्छिन्न महसूस करता है । लेकिन इस जन कोलाहल की अभिव्यक्ति को साहित्य धर्म मान कर स्वीकार करना साहित्य धर्म की पराजय होगी । श्रेष्ठ साहित्य को मैं दो शब्द, 'अस्ति' और 'भवति' से परिभाषित करता हूँ । भवति यानी जो घटित हो रहा है । श्रेष्ठ साहित्य इस भवति में अस्ति यानी शाश्वतता का संकेत देता है । हर बड़े लेखक की रचना के केन्द्र में यह अस्ति तत्व है । प्रेमचंद की रचनाओं में आंतरिक भलमनसाहत और सहने केअदम्य बल का चित्रण उन्हें कालजयी रचनाकार बनाता है ।

राजनीति से रचना के रिश्ते का आप विरोध क्यों करते हैं ?

मैं चालू और चुनावमुखी राजनीति से रचना के रिश्ते का विरोध करता हूँ । लेकिन समाज को बदलने के लिए सक्रिय विराट मानववादी राजनीति से तो रचनाकार का रिश्ता होना ही चाहिये । हम किसी के हाथ का हथियार बनने के विरुद्ध हैं ।

राजनीति में धर्म के प्रवेश पर आपकी क्या टिप्पणी है ?

इसका धर्म से कुछ लेना-देना नहीं है । यह मौसमी राजनीति है ।

अयोध्या-विवाद का आप क्या समाधान देखते हैं ?

इस पर मेरे विचार वही हैं, जो एक कट्टर हिंदू के हो सकते हैं । जब 'वंदेमातरम्' को साम्प्रदायिक बताने का षड्यंत्र चल पड़ा हो तो यह कहने का समय आ गया है कि मैं इस गीत को साम्प्रदायिक नहीं मानता और मैं हिन्दू हूँ । पिछले ४0 साल से ऐसा कहने की जरूरत महसूस नहीं हुई थी । अब समय आ गया है ।

लेकिन आप तो 'धर्मनिरपेक्षता' के मूल्य का समर्थन करते रहे हैं ।

करता रहा हूँ । लेकिन धर्मनिरपेक्षता की मेरी परिभाषा राजनीति प्रेरित नहीं है । धर्मनिरपेक्षता की आड़ में पूरे धर्म को अस्वीकार करने का भ्रम फैलाया जा रहा है । उससे भी आगे बढ़कर धर्म से जुड़े भारतीय संस्कृति, भाषा, कला के सारे अवदानों को हेय और क्रिमिनल घोषित किया जा रहा है । यह गलत और असह्य है । धर्मनिरपेक्षता का व्यावहारिक अर्थ है धर्म की कट्टरता से मुक्त चिंतन और परम सहिष्णुता ।

(नवभारत टाइम्स २७.११.९३)

●

मुझमें बहुत कुछ अनगढ़ है

'मूर्तिदेवी पुरस्कार' प्राप्तकर्ता कुबेरनाथ राय से रवीन्द्र त्रिपाठी की बातचीत

आपका पूरा लेखन निबंध की ही विधा में है, विशेषकर ललित निबंध ही आपने लिखे । इस विधा विशेष से इतना रचनात्मक लगाव आपको कैसे हुआ ?

—निबंध से मुझे बचपन से ही लगाव है । मैं तब स्कूल में ही था, जब 'विशाल भारत' और 'माधुरी' में मेरे निबंध छप चुके थे । आगे चलकर अंग्रेजी साहित्य का विद्यार्थी और शिक्षक होने के नाते अंग्रेजी में निबंध लिखने की आदत लगी और मैंने निबंध अंग्रेजी में लिखे । फिर मुझे लगा कि मैं माइकेल मधुसूदन दत्त, सरोजिनी नायडू और तोरुदत्त जैसी अंग्रेजी तो जानता नहीं और जब इन्हीं के लेखन की अंग्रेजी साहित्य में कोई कद्र नहीं है तो मेरे लेखन की क्या होगी ? मैंने तभी देखा कि बँगला में अंग्रेजी के बड़े जानकार भी अपनी भाषा में लिखते हैं । फिर एक और वाकया हुआ । पूर्व केंद्रीय शिक्षामंत्री हुमायूं कबीर की किताब 'आवर हेरिटेज' नाम से छपी । इस किताब की कई स्थापनाएं मुझे ठीक नहीं लगी । जैसे इसमें यह कहा गया कि शंकराचार्य ने वेदांत की शिक्षा इसलाम से ली । यह बिलकुल गलत और इतिहास विरुद्ध है । इसलाम में वेदांत का प्रवेश तो ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में होता है । मैंने इस किताब पर टिप्पणी करते हुए एक लेख 'कलकत्ता रिव्यू' को 'हिस्ट्री ऑर कॉक एंड बुल स्टोरी' शीर्षक से भेजा । लेख वहाँ से इस टिप्पणी के साथ वापस आ गया कि हम इस पूरी किताब की समीक्षा छाप रहे हैं, इसलिये इसे छापना संभव नहीं ।

मैंने फिर उसी लेख को हिंदी में 'इतिहास अथवा शुकसारिका कथा' नाम से भैयाजी श्रीनारायण चतुर्वेदी के पास 'सरस्वती' में भेज दिया । उन्होंने उसे छाप दिया । फिर, १९६४ में एक और निबंध मैंने 'धर्मयुग' में धर्मवीर भारती के पास भेज दिया । न सिर्फ वह निबंध उन्होंने छाप दिया, बल्कि आगे लिखते रहने की प्रेरणा भी दी । इसके बाद मेरे निबंध के पाठक बढ़ते गए और निवंध लिखने का क्रम जारी रहा ।

—हिंदी आलोचना में आपके ललित निबंध लेखन को हजारी प्रसाद द्विवेदी की परंपरा में और विद्यानिवास मिश्र के साथ रखकर देखा-समझा-सराहा गया है । क्या आपको अपने लेखन का यह आकलन उचित लगता है ?

—भगवान की जो सृष्टि है उसमें हर पत्ते का विशेष महत्व है । उसी तरह हर साहित्य की अपनी खासियत होती है । लेकिन अध्ययन की सुविधा के लिए

वर्गीकरण भी किया जाता है । यह याद रखना चाहिए कि यह वर्गीकरण अंतिम नहीं है क्योंकि हर सर्जनात्मक लेखन संपूर्ण और अद्वितीय होता है । हजारीप्रसाद जी और विद्यानिवास जी के साथ मेरे निबंधों को देखने-समझने का कारण यह भी रहा कि हम तीनों भोजपुरी इलाके के हैं । एक ही लोक संस्कृति के अंग हैं । हमारे संस्कार भी एक ही है ।

—लेकिन आप तो लंबे अरसे तक असम में भी रहे, वहाँ की संस्कृति का भी असर आप पर रहा होगा ?

—दरअसल, अवध से लेकर असम तक की संस्कृति एक है । नलबारी को नवद्वीप और कामरूप को असम की काशी कहा जाता है । वहाँ के लोकगीत, लोकनृत्य और पर्व-त्यौहार उत्तर भारत के ही हैं । वह तंत्र-साधना की भूमि रही जरूर, पर तांत्रिक असम अब इतिहास बन चुका है । आज का असम वैष्णव असम है । आचार्य शंकर देव ने असम को वैष्णव बना दिया । उन्होंने तो अपने शुद्ध वेदांत दर्शन में माया और प्रकृति को भी स्थान नहीं दिया । इस कारण असम की वैष्णव भक्ति में राधा को जगह नहीं मिली कि जहाँ राधा को जगह दी, तंत्र आ जाएगा । वहाँ की लोक-संस्कृति में राधा हैं पर वैष्णव भक्तिधारा में नहीं । भोजन भी वहाँ का ठेठ उत्तर भारतीय है । इसलिए असम मुझे कभी अपने क्षेत्र से अलग नहीं लगा । वहाँ रहते मुझे हमेशा लगा कि मैं अपने घर में हूँ ।

—फिर भी, असम में रहते हुए आपने कुछ खास तो पाया ही होगा ?

—वहाँ मैंने बहुत कुछ पाया । एक तो जिस जगह, नलबारी में मैं था वह छोटी थी जरूर, लेकिन साहित्य का परिवेश वहाँ बहुत अच्छा था । जिस कालेज में मैं पढ़ाता था उसी में असमिया के कई प्रतिष्ठित साहित्यकार भी पढ़ाते थे । मेरे बारे में कुछ लोगों की यह राय है कि मैं बहुत बड़ा विद्वान हूँ । यह सही नहीं है । सच तो यह है कि मैंने किताबें कम पढ़ी हैं और विद्वानों के सान्निध्य में रह कर ज्यादा सीखा और पाया है । वहाँ आगम, दर्शन, ज्योतिष और वेदांत के बड़े-बड़े पंडित थे । मैं उनके साथ काफी उठता-बैठता रहा । उनको सुनकर ही मैंने बहुत कुछ जान लिया । असम में विद्वता और अध्ययन की समृद्ध परंपरा है । कामरूप में 'कामरूप संजीवनी सभा' नाम से पुस्तकालय है । वहाँ प्राचीन ग्रंथ बहुत बड़ी संख्या में हैं । तालपत्र और भोजपत्र पर लिखे ग्रंथ भी बड़ी संख्या में हैं। पहले तो असम के घर घर में तालपत्र और भोजपत्र पर लिखे ग्रंथ मिल जाते थे । पर वे भी अब धन के लोभ में बेची जा चुकी हैं । दूसरी बात जो मैंने वहाँ रहकर जानी, वह यह कि हमारी हर जनजाति में बहुत कुछ ऐसा है जो दूसरी और किसी जगह नहीं है ।

यहाँ एक बात मैं और कहना चाहता हूँ कि मेरे जीवन में दो बहुत बड़े दुःख हैं । एक तो यह कि मुझे संस्कृत अच्छी तरह नहीं आती । मैं यह नहीं मानता हूँ कि मानविकी में संस्कृत जाने बिना कोई मौलिक चिंतन नहीं हो सकता । अंग्रेजी जानने के भी अपने लाभ हैं पर वह संस्कृत के अज्ञान की क्षतिपूर्ति नहीं कर सकती । अंग्रेजी एक खिड़की है, दरवाजा नहीं । दूसरा दुख यह है कि मुझे कोई

योग्य गुरु नहीं मिला, जो मुझे परिष्कृत करता । इसी वजह से मुझमें बहुत कुछ अनगढ़ है ! जिस तरह पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी को आचार्य क्षितिमोहन सेन जैसे गुरु का सान्निध्य मिला, वैसा मेरे साथ नहीं हुआ । यह बात मुझे सालती है ।

—आपकी पीढ़ी के बाद हिंदी में निबंध लेखकों की न तो नई पीढ़ी आई है न अपनी विशिष्ट पहचान वाले निबंधकार आए हैं । क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाए कि निबंध की विधा संकट में है ?

—उत्तरपुरुष के बारे में निराश नहीं होना चाहिए । मेरा तो यह विश्वास है कि हिंदी में निबंध आगे भी लिखा जाता रहेगा और अच्छा लिखा जाता रहेगा । फिर संकट क्या कहानी, कविता, उपन्यास की विधा में नहीं है ? पूरा साहित्य आज संकट में है । यहाँ मैं एक खास बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा । हिंदी में 'नई आलोचना' के नाम पर ऐसे आलोचक आए जिन्होंने साहित्य में संवेदना की उपेक्षा की । ये ही लोग विश्वविद्यालयों में हैं और निर्णयक पदों पर बैठे हैं । उन्होंने ऐसा वातावरण बनाया कि साहित्य में भावनाओं और संवेदनाओं की जगह ही न रहे । मेरे नए निबंध संग्रह 'मराल' में पहला निबंध ही प्रेम पर है । लोग आरोप लगा सकते हैं कि इस उम्र में मैं प्रेम पर लिख रहा हूं । लेकिन सवाल उम्र का नही, संवेदना का है । समकालीन राजनीति ने भी हमारी संवेदना और साहित्य को भोथरा किया है । आज आदमी को जाति और धर्म के संकुचित घेरे में सीमित कर दिया गया है । हम आदमी की पीड़ा नहीं देखते, बल्कि यह देखते हैं कि वह किस जाति या किस संप्रदाय का है ।

—इस हालत में जब राजनीति बिखराव पैदा कर रही हो, लेखकों को क्या करना चाहिए ?

जब संकट का समय आता है तो बीज को सुरक्षित रखा जाता है । इस समय गांधीवाद की धरोहर हमारे पास है । हमें निराश नहीं होना चाहिए । भारतीय जीवन के शाश्वत मूल्य हमारे पास हैं । यह साहित्यकार को संबल देने के लिए पर्याप्त हैं । इस अशांत माहौल में परेशान नहीं होना चाहिए और अपना 'धर्म परिवर्तन' नहीं करना चाहिए । मुझे भगवान बुद्ध से संबंधित एक कथा याद आती है । एक बार अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से पूछा कि भगवन्, मैंने एक सवाल केशकंबलि, मक्खलि गोषाल और यहाँ तक कि महावीर से पूछा । उसका जबाव उनसे नहीं मिला । क्या आप उस सवाल का जवाब देंगे ? बुद्ध ने पूछा कि सवाल क्या है ? अजातशत्रु का सवाल था कि संन्यास से इस जीवन में क्या मिलता है ? बुद्ध ने जबाव दिया कि जैसे जंगल में आग लगने पर हाथी जल की खोज में इधर उधर बेचैन भागता है और जलाशय पाकर शांति पाता है उसी प्रकार संन्यास भी आदमी को शांति देता है । संन्यास एक मनोमय क्रिया है । उसका लाभ भी मनोमय लाभ है । उसी तरह साहित्य भी मनोमय लाभ देता है । साहित्यकार को हर संकट में लिखते रहना चाहिए ।

●

'संवेदना को 'वाद' में परोसने से साहित्य नहीं बनता'

कुबेरनाथ राय से आनंद पाण्डेय की बातचीत

कुबेर नाथ राय के ललित निबंध हिंदी साहित्य की धरोहर हैं । जनवादी साहित्य और प्रतिबद्धता पर उनका नजरिया बहुत साफ और अतुलनीय है ।
–प्रस्तुत है उनसे हुई बातचीत का यह अंश–

● जनवादी साहित्य पर आपकी अवधारणा ?

❒ जनवादी साहित्य के नाम पर जो कुछ पढ़ने में आया है, उसमें 'जन' और 'साहित्य' दोनों अनुपस्थित है, केवल 'वाद' है । वाद या विचारतंत्र को लेकर शास्त्र लिखे जा सकते हैं, साहित्य नहीं । साहित्य बनने के लिए संवेदना को महत्व देना होगा और संवेदना को 'वाद' के रूप में परोसने से साहित्य नहीं बनता ।

● जनवादी तो अपने लेखन को साहित्य की प्रतिबद्धता बताते हैं ?

❒ प्रतिबद्धता के प्रश्न पर एक बार डॉ. नामवर सिंह की कुछ बातें सुनने को मिलीं । उन्होंने साफ बताया–'प्रतिबद्ध से मेरा मतलब खूंटा–पगहा नहीं है बल्कि दूध है ।' जनवादी लेखन में दूध तो प्रायः नहीं मिलता, खूंटा-पगहा जरूर है,और मैं खूंटा-पगहा को दूध तो कहूंगा नहीं ।

● प्रतिबद्धता के नारे का इतिहास और साहित्य की प्रतिबद्धता क्या है ?

❒ पहले-पहल १९४६ में फ्रांस में सार्त्र ने प्रतिबद्ध साहित्य का नारा दिया था । 'प्रतिबद्ध' शब्द का जनक वही है । उस समय आंद्रे जीद जिसे नोबेल पुरस्कार मिल चुका है और आंद्रे मालरों जैसे फ्रांस के बड़े-बड़े लेखकों ने इसका विरोध किया । सार्त्र ने इस प्रतिबद्धता को मार्क्सवाद से जोड़कर प्रस्तुत किया । पर हंगरी क्रांति के बाद वह चुप हो गया । पश्चिमी साहित्य ने इस नारे को पहले ही खारिज कर दिया । हिंदी में १९६० के बाद यह नारा आया जबकि प्रतिबद्ध शब्द अपनी जन्मभूमि में ही निरस्त हो चुका था । साहित्य तो हमेशा किसी न किसी विचार तंत्र से प्रतिबद्ध रहा है लेकिन वह प्रतिबद्धता किसी और किस्म की है ।

● क्या ऐसा माना जाए कि 'दर्शन' या 'वाद' का शुद्ध आदर्श साहित्य में नहीं उतर पाता है?

❑ कुछ ऐसा ही है। शुद्ध वेदांत और शुद्ध मार्क्सवाद साहित्य की निजी भूमि में आकर एक भिन्नतर और विशिष्ट रूप ग्रहण करते हैं। वाद और संस्कारों में अंतर है। तुलसी में विशिष्टाद्वैतवादी संस्कार हैं, विशिष्टाद्वैत-वाद नहीं।

● ललित निबंध का भविष्य ?

❑ किसी विधा का भविष्य क्या होगा इस पर तो कुछ कहा नहीं जा सकता। लोग कहते हैं कि अब महाकाव्य का भविष्य नहीं हैं। लेकिन महाकाव्य अब भी लिखे जा रहे हैं और भविष्य में भी लिखे जाएंगे। अवश्य ही भविष्य के महाकाव्य का पिंगल शास्त्र कुछ भिन्न होगा। उसी तरह ललित निबंध भविष्य में भी लिखा जाएगा। एक ही साथ रसबोध और चिंतन दोनों है, इसलिए मैं ललित निबंध के भविष्य को लेकर निराश नहीं हूँ।

❑ यूनेस्को ने एक विश्व लेखक सेमिनार में रिपोर्ट प्रकाशित की थी। उसमें कहा गया था– साहित्य ने सत्य की हत्या की है और 'नई आलोचना' ने साहित्य की। जनसंचार माध्यम ने दोनों का संहार कर दिया है। फिर भी सत्यम्-शिवम्-सुंदरम् का ललित साहित्य बचा रहेगा।

●

प्रमुख साहित्यकारों के पत्र

पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी

५३ खुर्शेद वाग
लखनऊ–४
२-७-८३

प्रिय कुवेरनाथ जी

आपकी अद्यतन पुस्तक 'किरातनदी में चन्द्र मधु' पाकर बड़ी प्रसन्नता हुई । इसके लिए अनेक धन्यवाद । दुर्भाग्य से अब मुझे इस वय में–जब मैं दो महीने बाद ९० पूरे कर लूगा – मुझे Cataract मोतियाबिंद हो गया है । इस वय में यह कोई अनोखी वात या बड़ी विपत्ति नही है पर 12 point की पुस्तक पढ़ने में काफी कष्ट होता है । फिर भी maquifying glass के सहारे जितना हो सकेगा, इसे अवश्य पढूँगा । यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आपकी साहित्य साधना चली आ रही है । इस समय आप और विद्यानिवास ही महत्वपूर्ण, संस्कृतिक , विचारोत्तेजक, ज्ञानवर्द्धक और रोचक साहित्यिक निबन्ध लिख कर हिन्दी के निबंध-साहित्य की श्री वृध्दि कर रहे हैं । मेरी स्पष्ट और दृढ़ सम्मति है कि ये स्थायी महत्व के हैं और भावी पीढ़ियों का मार्गदर्शन करेंगे ।

यद्यपि काफी शिथिल हो गया हूँ तथापि कुछ न कुछ करता ही रहता हूँ । मेरे लिए अपनी पुस्तकें भेजना दुष्कर है । एक तो अल्प पेंशनवाला व्यक्ति दूसरे डाक व्यय अन्धाधुन्ध और तीसरे अकेले । कोई नौकर या सहायक न होने के कारण प्रकाशकों से पुस्तकें प्राप्त करना और भेजना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है । आप कभी आते नहीं । आपसे अभी एक बार भी भेंट नहीं हुई । नव्बे वर्ष पूरे कर रहा हूँ, यदि समय निकाल कर इधर कभी आवें तो जीवन में एक बार तो और भेट हो जाय ।

यह देखते हुए कि मैं ९० वर्ष का हो रहा हूँ भगवान से मुझे कोई शिकायत नहीं । स्वयं भोजन बनाता और अपनी सेवा करता हूँ । –यद् भाव्यं भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम् ।'

आशा है आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे । कभी कभी कुशल समाचार देते रहें ।

पुनश्चः

मैंने 'अपनी बात' (आपकी पुस्तक की भूमिका) पढ़ ली हैं । इससे पुस्तक पढ़ने की उत्कंठा बढ़ गयी है ।

आपका

श्री नारायण चतुर्वेदी

डॉ. बालकृष्ण राव

कुलपति
गोरखपुर विश्वविद्यालय

गोरखपुर
२६.५.१९७१

प्रिय भाई,

११ अप्रैल का कृपापत्र मिला था । अनेक धन्यवाद । कृपया मेरी हार्दिक बधाई स्वीकारें । श्रद्धेय श्री श्रीनारायण जी चतुर्वेदी का और मेरा ध्यान यदि आपकी कृतियों की ओर आकृष्ट हुआ है और यदि आपकी प्रतिभा को हम लोगों ने स्वीकारा है तो इसमें 'अकारण' स्नेह की कोई बात नहीं है, पूरी तरह सकारण है । मुझे आशा ही नहीं, विश्वास है कि आपके द्वारा हिन्दी के निबंध साहित्य की समृद्धि की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान होगा और हिन्दी की गद्य-शैली के विकास के इतिहास में आपका कृतित्व सदैव, सादर स्मरण किया जायगा ।

शुभं भवतु सर्वदा !

स्नेही

(बालकृष्ण राव)

डॉ. प्रभाकर माचवे

17-10-87

प्रिय रायजी,
शुभ दीपावली
१०/१० का पत्र मिला ।

सादानी जी ही आपको लेख की पहुँच , पारिश्रमिक भेजेंगे ।

T.S. Eliet ने कहा है, 'Men live by forgething, women by memories'. पुरानी बातें भूलकर आगे की सुध लें – जीवन थोड़ा है । सब जगह 'खिचखिच' है । मनुष्य अपने प्राप्त lot से कभी खुश नहीं होता । स्वभाव है ।

स्वामी सहजानन्द जी के दर्शन मैंने १९४६ में किये थे । बागपत किसान सम्मेलन मे, उनकी जीवनी-कार्य पर कोई पुस्तक हो तो भेजें । शायद उनकी जन्मशती अगले वर्ष है । लेख लिखूंगा । दिल्ली आएँ तो दर्शन दें ।

सप्रेम

प्रभावक माचवे

श्री रामकृपाल सिंह

राज्य मंत्री, श्रम तथा संसदीय कार्य
भारत नई दिल्ली - ११०००१
21 फरवरी, 1979

प्रिय वंधु,

अर्से से आपका कुछ पता नहीं चला । गत रात ऑल इण्डिया रेडियो से सूरदास और शंकरदेव से सम्बन्धित आपका भाषण सुना, तब आपकी स्मृति ताजा हो आई ।

आशा है, आप स्वस्थ-सानन्द हो़ंगे । अपनी अद्यतन साहित्यिक कृतियों की जानकारी देने की कृपा करेंगे ।

आपका स्नेहाधीन,

(रामकृपाल सिंह)

शंकर दयाल सिंह

स्थायी पता :-
कामता सदन, बोरिंग रोड,
पटना - ८००००१
दूरभाष : २३३६० (पटना)
६१६०६७ (दिल्ली)
9.4.85

प्रिय भाई,

महीनों से नहीं, वर्षों से आपको पत्र देने को सोचता रहा, आज संयोग बन रहा है, वह भी 'गंगानांचल' में 'उत्तर कुरु' पढ़कर । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में संभवतः हम समकालीन रहे । इधर आपको लगातार पढ़ता रहा और मांगलिक अवसरों पर आपकी पुस्तक भेंट में देकर पढ़ाता भी रहा ।

कभी घर को रात में पटना मेरे साथ रहें तो बातें हों तथा पाठकों से भी आपको मिलाऊँ ।

आशा है स्वस्थ -प्रसन्न हैं ।

आपका

शंकर दयाल

सुमित्रा कुलकर्णी
संसद्, सदस्य

७ पुराना किला रोड, नई दिल्ली

१.८.७५

भाई श्री कुबेरनाथ जी,

मैं एक अहिन्दी भाषी हिन्दी-भक्त हूँ। हमारा घर हिन्दी प्रेमी होते हुए भी ज्यादा अंग्रेजीमय है इससे इधर दो तीन दशकों से कोई भी नई हिन्दी कृति पढ़ने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था।

मगर अनायास् एक साहित्य-प्रेमी मित्र ने आपकी 'रस आखेटक' मेरे हाथ में थमा दी। तब से मेरी सुप्त हिन्दी पुनः जागृत हो गई है। बरसों से इतने सुन्दर, विचारशील और रमणीय निबन्ध पढ़ने का योग नहीं हुआ था। आपको मेरी ओर से अनेक अभिनंदन कि आप इन विषयों पर इतनी सुलभ सरस शैली में लिखते हैं। अब तो 'प्रिया नीलकण्ठी' और 'गन्धमादन' भी मेरे हाथ आ चुके हैं। हाल में क्वचित् ही कोई पुस्तक है जिसे मैंने एक आकर्षण और अनुराग से पढ़ा हो। आपकी पुस्तकों को श्रेय है कि मैंने हर पंक्ति को समझकर पढ़ा और उसका रसास्वादन भी कर पा रही हूँ। मुझे भरोसा नहीं था कि मैं आपकी उच्चस्तरीय हिन्दी को समझ पाऊंगी मगर लगता है आपने मेरी खोई हुई हिन्दी को सजीवन कर दिया है। उसके लिये मैं आपकी विशेष ऋणी हूँ।

कभी आप इधर आयें तो मिलकर बड़ी प्रसन्नता होगी।

पुनः बधाई सहित,

भवदीया

सुमित्रा कुलकर्णी

ओदोलेन स्मेकल
चोकोस्लोवाकिया

आत्मीय बन्धु,

3.4.83

नमस्कार।

पिछले वर्ष मुझे आपकी "निषाद बाँसुरी" तथा "प्रिया नीलकण्ठी" नामक दोनों रचनाएँ पढ़ने का अवसर मिला। पढ़कर गद्‌गद हुआ। दोनों, शैली तथा सार की दृष्टि से प्रशंस्य कृतियाँ हैं। उनकी प्रशंसा जितनी भी की जाए, कम है। मेरी बधाई स्वीकार करें।

मैं यूरोप के एक छोटे से देश में हिन्दी सेवी तथा भारतीय संस्कृति प्रेमी हूँ। मुझको ज्ञात नहीं, आपकी कुछ और ऐसी प्रणम्य पुस्तकें पिछले वर्षों में प्रकाशित हुईं अथवा नहीं। यदि आपका कोई दूसरा निबंध संग्रह निकला हो और आपके पास कुछ अतिरिक्त प्रतियाँ हों तो कृपाकर भेज दें।

फिर से मेरी बधाई स्वीकार करें। प्रेम बना रहे।

आपका

ओदोलेन स्मेकल

स्वतन्त्रकुमार पिडारा

३९०० चेस्टनर स्ट्रीट, # ३३७
इफिलाडेल्फिया, पा-१९१०४
६ मार्च, १९८८

श्रद्धेय कुबेरनाथ जी,

नमस्ते ।

कुछ समय पूर्व मेरे भतीजे ने जोकि दिल्ली में रहता है, मेरे अनुरोध पर आपकी कुछ पुस्तकें–'महाकवि की तर्जनी', 'विषाद योग', 'निषाद बाँसुरी' व 'मनपवन की नौका' भेजी । पढ़ा व बारबार पढ़ा व श्रद्धा व आनंद से भर गया । आपने 'विषाद योग' में चर्चा की १५-२० वर्ष और की, और मेरी प्रार्थना है कि यजुष् के 'जीवेम शरदः शतम्' से आपका जीवन संपुष्ट हो ।

सन् ६२ के आसपास, लखनऊ विश्वविद्यालय में जब मैं मास्टर्स कर शोध में जुट रहा था तब हम कतिपय मित्र धर्मवीर भारती–संपादित 'धर्मयुग' के माध्यम से आप, विद्यानिवास मिश्र, इला चंद्रजोशी, रजनीश, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि से परिचित हुये थे कोर्स की बंदिश के बाहर । उन्हीं दिनों बीकानेर के बशीर अहमद मयूख की रचनायें भी पढ़ी । यह सब देखकर मन तो उत्फुल्ल हुआ ही, संबल भी मिला कि हिन्दी भी सजीव भाषा है और भावों का वहन करने में पूर्ण सक्षम ।

पिछले २० वर्षों से मैं यहाँ हूं । नृतृत्व शास्त्र, पुरातत्व आदि पढ़ने व खुदाइयाँ करने के बाद , इधर १० वर्ष से प्रवासी भारतीयों के जीवन को धर्म व दर्शन के परिप्रेक्ष्य से संवरित करने में प्रयासरत हूँ । इसलिये इधर विद्यानिवास जी, हजारी प्रसाद जी की रचनाओं के पढ़ने के साथ ही आपकी रचनाओं से मन को फिर आप्लावित कर रहा हूँ ।

मेरे भांजे का कथन है कि उसको केवल ये ही चार पुस्तकें बड़े प्रयास करने के बाद मिलीं । पर पुस्तक रैपर पर आपकी रचनाओं की एक लंबी सूची है । क्या ये सारी पुस्तकें एक बारगी में प्राप्त हो सकती हैं । यदि हाँ तो कहाँ से । यदि आप से उपलब्ध हो सकती हैं तो आपको पूरा पैसा मय डाक खर्च के आपके पास भेजा जा सकता है व आप दिल्ली भेज सकते हैं । पूर्ण राशि प्राप्त, पेशगी में, होने के बाद ही । अन्यथा क्या दिल्ली के आपके प्रकाशक -प्रभात प्रकाशन या भारतीय ज्ञानपीठ आदि से ?

पत्र, समय निकालकर, अवश्य दें । यही एक पाठक का अनुरोध मानें ।

आपका ही,

स्वतंत्र कुमार पिडारा

रामधारी सिंह दिनकर

५, सफदरजंग लेन,
नयी दिल्ली
अगस्त १९, १९६८

प्रिय भाई कुबेरनाथ जी,

आपका १४/८ का कृपा-पत्र मिला। प्रान्तीयता का विष तो अब हर जगह महसूस होता है। मगर जातिवाद का जहर उससे भी खराब है। पता नहीं, हम लोग कहां जा रहे हैं। आजकल सोचता रहता हूं कि अव्यवस्थाएं अवतारों का आह्वान करती हैं अथवा अवतार ही आकर अव्यवस्था को चरम पर पहुँचा जाते हैं। जिसने भारत को स्वाधीन किया वह आदमी जनमा था, यह सच है। मगर वह पुरुष न जानें कब आयेगा जो आज की अव्यवस्था को चरम तक पहुंचा कर दो चार सौ वर्षों की शान्ति स्थापित करेगा।

आप बिहार, यू. पी. या दिल्ली आना चाहें तो अपने लिए जगह पसन्द करें और मुझे ठीक समय पर रास्ता सुझायें। आपके काम में सहायक होकर मैं अपने को धन्य समझूंगा।

शेष कुशल है, गरचे, करती हुई युद्ध रोगों से देह हारती जाती है।

आपका

रामधारी सिंह दिनकर

हरिवंश राय बच्चन

फोन नं. ३५०५३

एम. ए., पी-एच. डी. (कैन्टब)

१३, विलिंगडन क्रिसेंट, नई दिल्ली - ११

सम्मान्य बन्धु,

जनवरी ६२ के ज्ञानोदय में आपके लेख 'रस-आखेटक' पर अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए आपको पत्र लिख रहा हूं।

लेख पढ़ते ही, मुझे अपना एक गीत याद आता रहा, 'महुआ के नीचे मोती और (निमंत्रिता)। क्या आपने उसे देखा है ? न देखा हो तो अवश्य देखें। आप प्रसन्न होंगे।

शुभ कामनाएँ

सादर

बच्चन

डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु
एम ए., डी. लिट्.
अध्यक्ष, बिहार विधान सभा

फोन न. २-२२३२
२, किंग जार्ज एवेन्यू,
पटना २२ फरवरी, १९६५

पत्र संख्या १६२७ वि. स.

प्रिय श्री राय जी,

आपका ता. १५ फरवरी का पत्र मिला। अनेक धन्यवाद।

आप जानते ही होंगे कि हिंदी को किसी पर लादने का प्रश्न हिंदीवालों के मन में कभी भी नहीं आया। लिखने-पढ़ने, बोलने और समझने की सुगमता के कारण हिंदी को राज भाषा का पद मिला। उसे यदि अहिंदी भाषी राजभाषा न मानें तो मुझे उनसे कुछ नहीं कहना है, पर उन्हें यह भी समझना चाहिए कि हिन्दी देश के बहुत बड़े भूभाग की अपनी भाषा है। अतः हिंदी–भाषियों पर अंगरेजी थोपने का किसी को कोई अधिकार नहीं है। हम किसी के हित की हानि नहीं करना चाहते, पर अब अपनी हानि भी हमें स्वीकार नहीं है, किंतु इसके लिए वातावरण बनाने की आवश्यकता है। आप हिंदी के पक्ष में वातावरण का निर्माण कर के हिंदी की बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं।

भवदीय

(लक्ष्मीनारायण सुधांशु)

पं. भवानी प्रसाद मिश्र

सेवा में -
प्रो. के. एन. राय.,
इंगलिश विभाग, नलबारी डिग्री कॉलेज,
पो. - नलबारी (आसाम) ।

प्रिय भाई श्री कुबेरनाथ जी

कार्यालय से आपका २/१ का पत्र कल ११/१ को मेरे पास भेजा गया । पुरस्कार समिति पर महादेवी जी और मैं—थे । मैंने पर्याप्त पुस्तकें इकट्ठा कीं और पढ़ी 'पत्र : मणिपुतपुल के नाम' श्रेष्ठ है और अभी इस प्रकार की पुस्तकों में कई दिनों तक श्रेष्ठ रहेगी । शायद सदा रहे । सर्दी यहाँ भी तेज है । कष्ट तो आने-जाने में होगा ही । गाड़ी सूचित कर सकें तो कीजियेगा । आप को क़ोई स्टेशन लेने पहुँच जाएगा । पहचानें लें इस ख्याल से आप कुछ विशिष्ट चिह्न को सूचित कर दें मैं उस दिन यहाँ नहीं हूँ । नहीं तो खुद आ जाता और भले ही हमने एक दूसरे को देखा नहीं है, पहचान लेते । २८ को महिलाश्रम वर्धा ही शांतिबाई रानोवाला अपने जीवन के ८० वर्ष पूरे करेंगी । २-३ बरस से बीमार हैं । मुझ पर उनका स्नेह है । मेरा उस दिन वहाँ रहना अनिवार्य सा-हो गया है । आपको थोड़ा बोलना तो है ही । पुरस्कार से आपको गांधी शान्ति प्रतिष्ठान के अध्यक्ष श्री रं. रा. दिवाकर सम्मानित करेंगे । उस दिन हमारा वार्षिक दिन भी होता है । जिसमें किसी का दो-सवा दो घंटे का भाषण रखते हैं । इस बार श्री पालकीवाला बोलेंगें । मैं कोशिश करूँगा कि २९ को ही वर्धा से निकलकर ३० को यहाँ आ जाऊं । वैसे रुक गया तो कोई कष्ट नहीं होगा – नहीं को मन में मुझे लगता तो रहेगा ही । आपको ठहराने का प्रबन्ध गांधी शांति प्रतिष्ठान के अतिथि गृह में ही है । मेरा बच्चा अनुपम कह रहा है कि आप सामान लेकर डब्बे के सामने ही रुके रहें । वह वहाँ पहुँचेगा । वह भी शांति प्रतिष्ठान में मेरे साथ ही है । मैं कंभी कार्यालय नहीं जाता । 'गगनांचल' के भी नहीं । अमरेन्द्र ने अभी तक लेख मुझे नहीं दिखायें हैं । अगर लौट आया तो मिलने पर बैठना भी होगा । लौटने का आरक्षण करा रहे हैं ।

गाँधी स्मारक निधि
नयी दिल्ली-२

विनीत

भवानी प्र.

सोहनलाल द्विवेदी

बिन्दकी, फतेहपुर उ. प्र.
२.४.८०

प्रियवर कुबेरनाथ राय जी,

नमस्कार

आपका ६.२.८० का पत्र यथा समय आया था। मार्च भर मैं .... आनंद लेता रहा, अब अप्रैल में पूर्णतः स्वस्थ हो पाया तब पत्रोत्तर लिखने बैठा हूँ।

आपके पत्र को मैंने दो तीन बार पढ़ा । मेरे संदर्भ में जो पंक्तियां आपने लिखी हैं, उनके लिए आभार व्यक्त करता हूँ . हम लोग नयी पीढ़ी के हैं साहित्य उन्हें हल्की फुल्की रचनाएँ रुचिकर न लगें, स्वाभाविक हैं। आप तो शाश्वत साहित्य की ही सर्जना करें, जो देशकाल की परिधि पार कर, पाठकों को प्रेरणा तथा उदात्त भावभूमि पर ले जाए। सरदार पूर्णसिंह के निबन्धों के पश्चात् मुझे आपके निबंध बड़े ही मार्मिक लगे। मेरी शतशत बधाइयां स्वीकारें।

मैं दिल्ली जाता रहता हूँ , श्री ईश्वर चन्द्र से आग्रह करके आपकी कृति 'कामधेनु' के प्रकाशन की व्यवस्था करा दूंगा।

कहीं कोई कठिनाई हो तब, 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' से उसका प्रकाशन करा दिया जाएगा। ये दोनों ही दिल्ली के दिग्गज प्रकाशक हैं।

मैं अपनी कुछ कृतियाँ पत्रोत्तर आने पर आपके पते पर भेजूँगा।

इस वर्ष मैं ७५वें वर्ष में हूँ, कुछ मेरे स्नेही–शुभैषी मित्र बंधु, इस वर्ष अमृत महोत्सव मनाना चाहते हैं। आपकी कुछ पंक्तियाँ भी इस में जा सकें तो मुझे व्यक्तिगत बड़ी प्रसन्नता होगी। आप जैसे दूरस्थ बंधु के स्नेह को पाकर मेरी सर्जना भी सार्थक हो जायेगी। 'महाकवि की तर्जनी' के संदर्भ में पुनः लिखूंगा। इसी वर्ष दिसंबर ८० में आप कानपुर आ सकेंगे क्या ? प्रत्येक वर्ष 'मानस संगम' रामकथा के लेखकों को पुरस्कृत तथा सम्मानित करता है। मैं ही उसका अध्यक्ष हूं। 'मानस का हंस' पर अमृतलाल को सम्मानित किया गया था। आपकी कृति पढ़ कर मैं कृतार्थ हो गया।

मात्र इतना ही– मेरी कुछ कृतियाँ पहुँचेगीं, रुचिकर लगे, तभी, एक लघु निबंध के रूप में अपनी स्पष्ट प्रतिक्रिया, मनोस्थिति अनुकूल होने पर लिखकर भेज दें। अभी असम की स्थिति से तो हम सभी चिन्तित हैं। भगवान कोई समाधान निकालेंगे, प्रधानमंत्री, इंदिराजी से बड़ी आशाएँ हैं।

पुनः सद्भावनाओं सहित,

सस्नेह,

सोहनलाल द्विवेदी

डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय

कुलपति, कानपुर विश्वविद्यालय

दूरभाष : कार्यालय–244350
आवास–248263

22.3.92

प्रिय बंधुवर्य

आपका मनोबलवर्धक, गुणग्राहक कृपापात्र । आश्चर्यमिश्रित आनन्द हुआ क्योंकि आज तक हम कभी परस्पर उन्मुख नहीं हो सके । यों मैं आपके ललित निबंधों को पढ़ता रहा हूँ और उनका प्रशंसक भी हूँ । पाठ्यक्रमादि में वे पढ़ाए जाएँ, ऐसा मैं अवसर पर कहता रहा हूँ ।

आपमें जो अंतदृष्टि है, उसने विक्षुब्ध की अन्तश्चेतना को पहचान ही लिया और आपका उसमें प्रस्तुत, विकल्प से सहमत न होने पर भी, उसकी भावना की सच्चाई को भी परखा, मेरा भ्रम और अंतर्दहन कृतार्थ हुआ, मैं आपका आभारी हूँ ।

आपने जो संकेत किया है उससे सीख लूंगा । यों मुझे लगता यह है कि जैसे जैसे आम आदमी और खास आदमी में ध्रुवीकरण बढ़ेगा, जो बढ़ रहा है (क्योंकि विकास का लाभ खास लोगों (अवलिक) वर्गों को ही मिल रहा है) उसके प्रसंग में पथभ्रष्ट जड़वादियों आदि का अनावरण होगा ही । यह तो एक "शिष्ट-शुभारम्भ" मात्र है....'अस्तु' ।

आपके सम्मुख एक प्रस्ताव रखता हूँ... आप अपने ताज़े तथा अप्रकाशित निबंध का पाठ यहाँ कानपुर विश्वविद्यालय में करें तो हम सबको हर्ष होगा । हम औपचारिक पत्र आपको भेज रहे हैं । इस बहाने हमें वार्त्तालाप का अवसर मिलेगा और अब तक के अधनिष्ठता के दूरीकरण का भी ।

आपने इतना ध्यान दिया, लिखा, इसके लिए आभार, पुनः पुंनः ।

भवदीय

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

डा. रामलाल सिंह
कार्यकारी उपाध्यक्ष

पत्र सं.–। हि. सं. । (का. उ. का.) ।८१
लखनऊ, दिनांक १३ मार्च, १९८१

प्रिय बन्धु राय साहब,

आपका पत्र मिला । आपके 'पर्ण मुकुट' पर हिन्दी संस्थान ने ३,००० रुपये का पुरस्कार दिया है । आप अपने को मुकुट-छत्र-विहीन क्यों कहते हैं ? आप तो शाश्वत साहित्य शिरोमणि के मुकुटधर हैं ।

'क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणं'

अतः आपका वाग्मुकुट शाश्वत् है । वह कभी क्षीण या शोभाविहीन नहीं होगा । आपके निबन्ध-संग्रहों को मैं पढ़ गया हूँ । मुझे तो काव्य जैसा आनन्द उनमें मिला, साथ ही अमूल्य ऐतिहासिक तथ्य भी ।

आशा है आप सपरिवार सानन्द होंगे । जब कभी लखनऊ पधारें दर्शन देने की कृपा करें । सस्नेह

आपका

रामलाल सिंह

मूर्ति देवी पुरस्कार-1992
लोकसभा अध्यक्ष श्री शिवराज पाटिल से पुरस्कार
ग्रहण करते हुए कुबेरनाथ राय
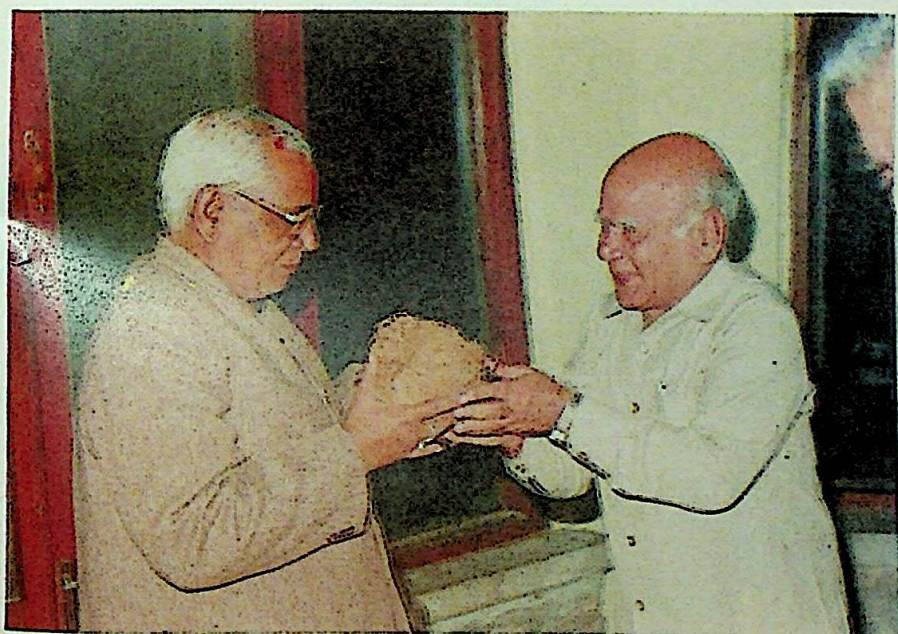
स्वामी सहजानन्द सरस्वती हितकारी समाज, नयी दिल्ली की ओर से डॉ. राम करण शर्मा
पूर्व कुलपति संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी श्री कुबेर नाथ राय
को सम्मान स्वरूप नारियल भेंट करते हुए

साहित्य भूषण-1995
राज्यपाल श्री मोतीलाल वोरा से साहित्य भूषण पुरस्कार
लेते हुए कुवेर नाथ राय, साथ में है नेता प्रतिपक्ष
श्री अटल विहारी वाजपेयी

वार्षिक खेलकूद-1996-97

दस दिवसीय विशेष शिविर समापन

1995-96

सत्र- 1996-97

राष्ट्रीय सेवा योजना के दस दिवसीय विशेष शिविर के समापन में छात्रों को संबोधित करते हुए जिला विकास अधिकारी श्री अमरेन्द्र राय

दीप प्रज्वलित कर रजत जयंती समारोह का शुभारंभ करते हुए
उत्तर प्रदेश शासन के प्रमुख सचिव श्री सुवोध नाथ झा
पास में खड़े प्राचार्य डॉ. मान्धाता राय

हिन्दी और राजनीति शास्त्र में स्नातकोत्तर कक्षाओं का फीता काटकर
उद्घाटन करते हुए उत्तर प्रदेश शासन के प्रमुख
सचिव श्री सुवोध नाथ झा

रजत जयंती वर्ष के द्वितीय चरण में पूर्व प्राचार्य डॉ. के. डी. राय को
तिलक लगाकर सम्मानित करते हुए सचिव श्री के. एन. शर्मा,
दाये हैं बैठे श्री रामायन राय अध्यक्ष प्रबंधक समिति एवं
वाये हैं श्री रामजनम राय पूर्व अध्यक्ष

सत्र-1996-97

अध्यापन मण्डल एवं कर्मचारी गण
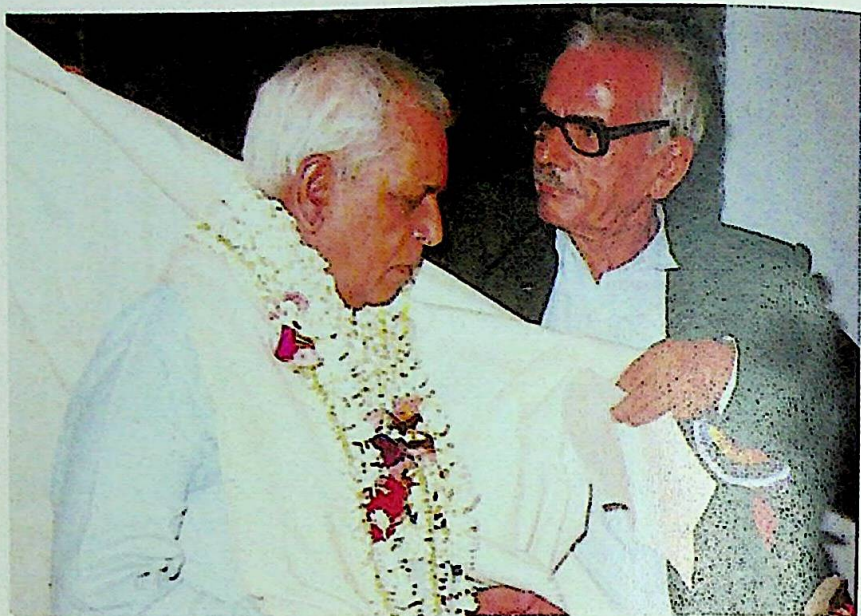
विदाई समारोह 30 जून 1995 को स्वामी सहजानन्द महाविद्यालय गाजीपुर के प्राचार्य पद से सेवा निवृत्त होने पर आयोजित विदाई समारोह में प्रवंध समिति के अध्यक्ष श्री रामायन राय अंगवस्त्रम् प्रदान करते हुए

'त्रेयाकावृहत्साम' पर भारतीय भाषा परिषद्, कलकत्ता की ओर से श्री कुबेर नाथ राय अखिल भारतीय हिन्दी पुरस्कार ग्रहण करते हुए साथ में बंगाल के शीर्षस्थ कवि श्री सुभाष मुखर्जी

यशस्वी कथाकार डॉ. शिवप्रसाद सिंह को 1992 में साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलने पर महाविद्यालय में आयोजित सम्मान समारोह में मंच पर बायें से डॉ. आंजनेय, डॉ. विवेकीराय, प्राचार्य कुवेर नाथ राय, डॉ. शिव प्रसाद सिंह और माइक पर डॉ. मान्धाताराय ।

4 मार्च, 1990 को दीक्षान्त समारोह के अवसर पर मंच पर बायें से डॉ. मान्धाता राय, श्री कुबेर नाथ राय (प्राचार्य), महामहिम काशीराज डॉ. विभूतिनारायण सिंह (मुख्य अतिथि), श्री रामजनम राय (अध्यक्ष), डॉ. परमानन्द राय (मंत्री/सचिव)

रजतजयंती समारोह

हमारी यात्रा

वर्ष 1997 महाविद्यालय का रजत जयंती वर्ष है । पच्चीस वर्षों में हमने अपेक्षा के अनुरूप तो प्रगति नहीं की किन्तु इस वर्ष हिन्दी और राजनीतिशास्त्र में स्नातकोत्तर कक्षाएं आरंभ हो जाने से कद बढ़ा है । इसे आरंभ ही मानना ठीक रहेगा । वाणिज्य संकाय हेतु निर्धारित ढाई लाख रुपये जमा करने के साथ-साथ सभी शर्तें पूरी कर दी गयी हैं । सम्बद्धता हेतु प्रपत्र प्रस्तुत कर दिया गया है । निकट भविष्य में इसके मिल जाने की आशा है । भूगोल और समाजशास्त्र में स्नातकोत्तर तथा विधि संकाय की संबद्धता अगले चरण में प्रस्तावित है ।

1972 में कला संकाय के सात विषयों–हिन्दी, अर्थशास्त्र, संस्कृत, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र और अंग्रेजी से आरंभ शैक्षणिक यात्रा में दूसरे ही वर्ष तीन विषयों–राजनीति शास्त्र, मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र के जुड़ जाने से संस्था का आकार तेजी से बढ़ा । संस्था लोगों की कसौटी पर खरी उतरने लगी । 1979 में चार और विषयों–उर्दू, प्राचीन इतिहास, दर्शनशास्त्र और सैन्य विज्ञान की सम्बद्धता मिलने के साथ ही कला संकाय के सभी विषय पूरे हो गये । जब हम स्नातकोत्तर की ओर बढ़ने वाले थे कि साढ़ेसाती लग गयी, वह भी एक नहीं दो-दो बार– 1980 और 1987-1988 में हुए प्रबंधकीय विवाद से संस्था जड़ हो गयी । अपने क्षेत्र के दो-दो विख्यात प्राचार्यों–डॉ. के. डी. राय (1972-1986) और श्री कुबेरनाथ राय (1986-1995) का आगमन हमारी उपलब्धि रही किन्तु अकादमिक उपलब्धि कुंठित रही । 1994 में इस जड़ता को धार दिया तत्कालीन कुलपति प्रो. यू. पी. सिंहजी ने । उनकी प्रेरणा का फल है स्नातकोत्तर । गाड़ी चल पड़ी है–

इस अवसर पर हावड़ा के धार्मिक अनुष्ठान में अपने गुरु स्वामी सहजानन्द सरस्वती की स्मृति में गृहजनपद गाजीपुर में इस महाविद्यालय की स्थापना हेतु प्रेरित करने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती, उनके विचारों को मूर्तरूप देने के लिये समर्पित भाव से जुड़ने वाले कर्मनिष्ठ स्व. केशव प्रसाद शर्मा, श्री रामनगीना राय, श्री ब्रजबिहारी राय, स्व. सिंहासन राय सिद्धेश, ठाकुर राधेश्याम सिंह, स्व. रामाशीष राय, श्री बीरबल राय तथा कलकत्ता में इस यज्ञ हेतु सहयोग देने वाले उन सभी सज्जनों के प्रति हम सादर नमन करते हैं ।

कलकत्ता से चलकर संकल्प को मूर्त रूप देने के लिये गाजीपुर पहुँचने पर इस टीम को यहाँ के राजनेताओं, बुद्धिजीवियों और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का भरपूर सहयोग मिला। इन लोगों में प्रमुख रहे–स्व. बाबू विजयशंकर सिंह, स्व. वशिष्ठ नारायण शर्मा, स्व. विन्ध्याचल राय, श्री बृजमंगल राय, श्री राम जनम राय, डा. परमानन्द राय, श्री के. सी. राय, स्व. रमाकान्त राय, स्व. वीरेन्द्र कुमार सिंह प्रधानाचार्य, स्व. जगदीश राय वकील, स्व. ब्रह्मानन्द राय, श्री रामायन राय, श्री आर. पी. सिंह, श्री गोरखनाथ राय, श्री राम आदर्श राय शर्मा, श्री ऋषि केशराय, पं. श्री कृष्ण राय हृदयेश, श्री महेन्द्र प्रसाद राय, श्री कैलाश नाथ राय, श्री विजय नारायण राय, श्री राजेन्द्र नारायण राय और श्री रामआधार राय। किन्तु इस संकल्प को अंतिम रूप देने में स्मरणीय सहयोग दिया भूतपूर्व काशी नरेश डा. विभूतिनारायण सिंह ने। काशिराज ने गंगा माँ की गोद में अवस्थित चहारदीवारी के घिरे 18 एकड़ के विशाल कम्पाउण्ड को ट्रस्ट हेतु मात्र एक लाख चालीस हजार रुपये लेकर सुरम्य स्थान उपलब्ध कराया। कैम्पस में स्थित चार विशाल भवनों में जीर्ण दो को गिराने एवं शेष दो की मरम्मत, जंगल-झाड़ की सफाई और संवद्धता हेतु शर्माजी ने अथक प्रयास किया। 1972 में नियुक्त सात शिक्षकों, दो लिपिकों और पाँच परिचारकों में से पतिराज, सादीक खां और सुखराम हमारे बीच नहीं हैं। इन सबके प्रति हम हार्दिक नमन करते हैं। आज हमारी स्थिति बीस शिक्षकों, आठ तृतीय श्रेणी और पन्द्रह चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की है।

मुख्य भवन में तीन शिक्षण कक्ष, तीन लैब, प्राचार्य कक्ष, कार्यालय अधीक्षक एवं कार्यालय कक्ष, द्वितीयभवन में तीन शिक्षणकक्ष, शिक्षककक्ष और एक लैब के अतिरिक्त पुस्तकालय भवन, और स्नातकोत्तर खण्ड में दो शिक्षण कक्ष, विभागीय कक्ष और सभागार हैं। 25 कमरों का एक सुन्दर छात्रावास भी कैम्पस में है। गंगा का निर्मल किनारा, अमराइयां और कैम्पस की हरियाली इसे दूसरे शान्ति निकेतन का स्वरूप देती है। संस्था के उद्‌घाटन के समय प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पं. कमलापति त्रिपाठी ने यहाँ की रमणीयता पर मुग्ध होकर कहा था 'मन करता है सब कुछ छोड़कर एक कुटिया डालकर यहीं रह जाऊँ।'

रजतजयंती एवं स्नातकोत्तर उद्‌घाटन

महाविद्यालय का रजत जयन्ती समारोह एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं का उद्‌घाटन उ. प्र. शासन के प्रमुख सचिव वरिष्ठ आई. ए. एस. अधिकारी श्री सुबोधनाथ झा ने 5:1.97 को किया। अपने भाषण में श्री झा ने कहा–यदि किसी समाज को दिशा देनी है तो शिक्षा ही पहला बिन्दु होगा। शिक्षा का असली अर्थ आगे देखना

होता है । शिक्षा ही किसी भी देश की सबसे सस्ती प्रतिरक्षा है । बुद्धि-विवेक से सामाजिक संरचना में जुड़ने वाला ही भविष्य का यात्री होता है । जिन देशों को हम पिछड़ा समझते थे आज शिक्षा के बल पर हमसे आगे हो गये हैं । जापान और कोरिया की आय हमसे बारह गुनी अधिक है । जापान कुल योजना का दस प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करता है जबक्षि हम दो प्रतिशत । इंगलैण्ड में वारह किलोमीटर के भीतर बावन कालेज है । वहाँ दुनियां के लोग पढ़ने जाते हैं । उच्च शिक्षा सचिव के कार्यकाल में इसी लिये पूर्वांचल में कालेज का जाल फैलाना चाहा था, उस समय पचपन नये कालेज खुले । आपने कहा कि यदि सौ वर्ष की योजना वनानी हो तो शिक्षा की योजना बनानी चाहिए क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में गुणात्मक संबर्द्धन होने पर ही विकास की गति आगे बढ़ सकती है । शिक्षा का अर्थ होता है संकल्प लेना । बिना संकल्प के देश आगे नहीं बढ़ सकता है । और संकल्प तभी होगा जव विद्या और चरित्र दोनों का समन्वय होगा ।

स्वामी सहजानन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए मुख्य अतिथि ने कहा कि स्वामीजी ने दिल और दिमाग को जोड़कर ही समाज बनाया था । नवयुवकों और उपस्थित जन समुदाय से आपने अपील किया कि बुद्धि और विवेक से सामाजिक संरचना में जुड़कर भविष्य का यात्री बनिये । सादगी पर बल देते हुए श्री झा ने कहा कि हमारी ऋषि संस्कृति है कि अपनी आवश्यकता कम करिये । आज के छात्रों को इससे सीख लेकर अपना व्यय कम करना चाहिए ।

तकनीकी शिक्षा को विकास का आधार बताते हुए आपने कहा कि जापान में बाईस प्रतिशत, अमेरिका में सोलह प्रतिशत तथा यूरोप में अठारह प्रतिशत लोग तकनीकी शिक्षा ले रहे हैं जबकि अपने यहाँ पचास लाख पढ़ने वाले छात्रों में मात्र डेढ़ लाख टेक्निकल एजुकेशन में है । शिक्षा के द्वारा ही जनसंख्या वृद्धि, कुपोषण और आवास जैसी समस्याओं का समाधान हो सकता हैं । रवीन्द्र नाथ टैगोर की एक कविता को उद्धृत कर आपने अपनी बात समाप्त की और कहा कि हर व्यक्ति को सूर्य बननेकी आवश्यकता है क्योंकि वह सबको समान रूप से प्रकाश देता है । यही काम अपने लघु रूप में दीपक भी करता है ।

कार्यक्रम के आरंभ में महाविद्यालय के प्राचार्य डा. मान्धाता राय ने मुख्य अतिथि एवं अन्य आगन्तुकों का स्वागत किया और श्री झा को मानपत्र भेंट किया । सचिव श्री के. एन. शर्मा ने प्रगति आख्या प्रस्तुत की । मुख्य अतिथि ने दीप प्रज्वलित कर रजतजयंती समारोह का तथा फीता काटकर स्नातकोत्तर कक्षा का उद्घाटन किया । डा. विवेकी राय, श्री गंगा राय, डा. इन्द्रदेव सिंह और डा. अवधविहारी राय ने भी स्वागत किया । प्रवन्धतंत्र के अध्यक्ष श्री रामायान राय ने

आगंतुकों को धन्यवाद दिया । सभा की अध्यक्षता श्री बृजमंगल राय ने की तथा संचालन श्री जितेन्द्र राय ने किया ।

सम्मान-समारोह

रजत जयन्ती-समारोह के द्वितीय चरण में दि. 9.3.97 को आयोजित सम्मान समारोह में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वरिष्ठतम प्रोफेसर एवं विज्ञान संकाय के डीन प्रो. डी. के. राय ने कहा-इतनी उर्वरा भूमि और पर्याप्त शक्ति के बावजूद पूर्वांचल में पिछड़ापन और गरीबी का कारण छोटी-छोटी बातों में परस्पर उलझना है । आज की लड़ाई शिक्षा की लड़ाई है जिसे पहले की बहादुरी से नहीं जीत सकते हैं । आज ज्ञान, बुद्धि और शिक्षा की लड़ाई है । इसमें व्यवधान आने के कारण हम कम्प्यूटर और अन्य आधुनिक ज्ञान में बहुत पीछे हो गये हैं । आपने कहा कि जिस दिन हम इस कमी को दूर करेंगे पूर्वांचल आगे निकल जायेगा ।

इस अवसर पर सम्मानित होने वाले महाविद्यालय के पूर्व प्राचार्य डॉ. कपिलदेव राय ने लगन से ईमानदारी पूर्वक फल की आकांक्षा से ऊपर उठकर कार्य करने का आह्वान किया । सम्मानित होने वाले आजाद हिन्द फौज के सेनानी श्री गफ्फार खाँ ने द्वितीय विश्वयुद्ध और आजाद हिन्द फौज के जीवन्त संस्मरण सुनाकर श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर दिया । सम्मानित होने वाले चौथे व्यक्ति दण्डि स्वामी विमलानन्द सरस्वती ने संस्था की मंगलकामना की । आरंभ में प्रमोद कुमार श्रीवास्तव प्रवक्ता हिन्दी ने कुलगीत प्रस्तुत किया । अतिथियों का स्वागत महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. मान्धाता राय ने किया और महाविद्यालय का विहंगम परिचय दिया । अध्यक्ष श्री रामायन राय ने स्वामी सहजानन्द सरस्वती के तैल चित्र का अनावरण किया और कहा कि जिसको अपनी महानता का ज्ञान न हो वह सबसे महान है । आज के सम्मानित व्यक्ति इसी प्रकार के है । कार्यक्रम का संचालन श्री जितेन्द्र राय ने किया तथा सचिव श्री के. एन. शर्मा ने धन्यवाद दिया ।

महाविद्यालय-परिवार

प्रबन्ध-समिति

1. श्री रामायन राय–अध्यक्ष
2. श्री ब्रजबिहारी राय–उपाध्यक्ष
3. श्री विजयनारायन राय "
4. श्री कवीन्द्रनाथ शर्मा– मंत्री । सचिव

5. श्री रामजी राय–संयुक्त मंत्री
6. श्री उमाशंकर राय–"
7. श्री आनन्द शंकर राय–कोषाध्यक्ष
8. श्री रामजनम राय–माननीय सदस्य
9. श्री रामनगीना राय– "
10. श्री अजय कुमार राय–"
11. डॉ. सुरेश चन्द्र राय– "
12. डॉ. अवध बिहारी राय "
13. श्री सुरेश चन्द्र सिन्हा –"
14. श्री उमेश चन्द्र राय – माननीय सदस्य
15. श्री रमाकान्त राय शर्मा –"

अध्यापक-मण्डल

1. डॉ. मान्धाता राय – एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्–प्राचार्य
2. डॉ. रामनारायण राय – एम. ए. पी-एच. डी. (रीडर, अर्थशास्त्र)
3. श्री रामचन्द्र शर्मा – एम. ए., एम. फिल्. (प्रवक्ता–संस्कृत)
4. डॉ. जगदीश्वर प्रसाद राय – एम. ए. पी-एच. डी. (रीडर भूगोल)
5. श्री अजित बहादुर सिंह – एम. ए. (प्रवक्ता इतिहास)
6. डॉ. तेज बहादुर सिंह – एम. ए., पी-एच. डी. (रीडर, समाजशास्त्र)
7. श्री जितेन्द्र राय – एम. ए. (अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र)
8. श्री विद्याशंकर मिश्र – एम. ए. (प्रवक्ता–अंग्रेजी)
9. श्री ज्ञान सिंह – एम. ए. (अध्यक्ष, मनोविज्ञान)
10. श्री राम विनय राय – एम. ए., एम. फिल्. (प्रवक्ता–शिक्षाशास्त्र)
11. डॉ. ओबैदा बेगम – एम. ए., पी-एच. डी. (रीडर, उर्दू)
12. डॉ. अशोक राय – एम. ए. पी. एच. डी. (रीडर, प्राचीन इतिहास)
13. डॉ. शशि कान्त राय – एम. ए. पी-एच. डी. (रीडर, दर्शनशास्त्र)
14. श्री रवीन्द्रनाथ राय – एम. ए. (प्रवक्ता–सैन्य विज्ञान)
15. डॉ. रामनगीना सिंह यादव – एम. ए., पी-एच. डी. (प्रवक्ता–मनोविज्ञान)
16. श्री प्रमोद कुमार श्रीवास्तव (अंशकालिक प्रवक्ता–हिन्दी)
17. डॉ. मदन मोहन पाण्डेय (" ")
18. श्री विश्व मोहन सिंह (अंशकालिक प्रवक्ता–राजनीतिशास्त्र)
19. श्री राजेश सिंह (अंशकालिक प्रवक्ता–राजनीतिशास्त्र)
20. डॉ. कुसुम राय (अंशकालिक प्रवक्ता–हिन्दी)

तृतीय श्रेणी

1. श्री नागेन्द्र राय – पुस्तकालयाध्यक्ष
2. " सुभाष चन्द्र राय – कार्यालय अधीक्षक
3. " ओमप्रकाश राय – सहायक लेखाकार
4. " ओमप्रकाश राय – आशुलिपिक
5. " हरे राम राय –नैत्यिक लिपिक
6. " संकर्षण राय – " पुस्तकालय
7. " राधेश्याम – "
8. " रमेश प्रसाद सिंह – "

कर्मचारी गण

1. श्री गोरखनाथ
2. श्री अवधबिहारी पाण्डेय
3. श्री बेचन राम
4. श्री गिरधारी राय
5. श्रीमती दुलारी देवी
6. श्री ज्वाला प्रसाद राय
7. श्री शिवपूजन राय
8. श्री प्रेमनाथ गुप्ता
9. श्री सुरेन्द्र राय
10. श्री रामानुज राय
11. श्री सुरेन्द्र प्रसाद
12. श्री मंसूर खां
13. श्री अरविन्द कुमार राय
14. श्री बांके राम
15. श्री अभयनारायण सिंह यादव (तदर्थ)

छात्रसंघ (1995-96)

1. वृजलाल सिंह यादव – अध्यक्ष
2. रामबाबू सिंह यादव – उपाध्यक्ष
3. महेन्द्र सिंह यादव – महामंत्री
4. अरविन्द कुमार उपाध्याय – संयुक्त मंत्री
5. वृजनाथ दुबे – वित्तमंत्री
6. अखिलानन्द राय – क्रीड़ा मंत्री

7. अखिलेश कुमार गुप्त – समाज कल्याण मंत्री
8. दयाशंकर सिंह यादव– सांस्कृतिक मंत्री
9. कक्षाप्रतिनिधि–बी.ए. भाग एक–अमला सिंह यादव, संतोष कुमार सिंह कुशवाहा, लाल बहादुर राय

बी. ए. भाग दो–वीरेन्द्र राय

बी. ए. भाग तीन–राम अशीष सिंह यादव

छात्रसंघ (1996-97)

अध्यक्ष – युधिष्ठिर राय
उपाध्यक्ष – अजय कुमार राय
महामंत्री – कमला सिंह यादव
संयुक्त मंत्री – रविशंकर राय
वित्तमंत्री – संतोष कुमार मिश्र
क्रीड़ा मंत्री – संतोष कुमार राय
समाज कल्याण मंत्री – चन्द्रशेखर आजाद
सांस्कृतिक मंत्री – उमाकान्त चौबे
कक्षाप्रतिनिधि बी. ए. भाग एक – शार्दूल शंकर राय, देवमुनीराय, दीनदयाल सिंह यादव,
कक्षाप्रतिनिधि बी. ए. भाग दो – रमेश सिंह यादव
कक्षाप्रतिनिधि बी. ए. भाग तीन – अशोक कुमार यादव
कक्षाप्रतिनिधि एम. ए. प्रथम वर्ष – देवव्रत राय

●